श्रमणोपासक

आचार्य श्री नानेश दीक्षा अर्द्धशताब्दी के उपलक्ष्य में

संयम साधना विशेषांक

△

सम्पादक मण्डल

डॉ. नरेन्द्र भानावत — भूपराज जैन
डॉ. सुभाष कोठारी — गणेश ललवानी
डॉ. शांता भानावत — जानकीनारायण श्रीमाली

△

संयोजक

सरदारमल कांकरिया — भंवरलाल कोठारी

△

प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.) ३३४००१

★ श्रमणोपासक

संयम साधना विशेषांक

दीक्षा अर्द्ध शताब्दी पौष शुक्ला अष्टमी
४ जनवरी, १९९० के उपलक्ष्य में
२५ मार्च १९९० को प्रकाशित
वर्ष २७ अंक २४ विक्रम संवत् २०४६
रजिस्ट्रेशन संख्या आर. एन. ७३८७/६३
रजि. नं. आर. जे. १५१७ पहले डाक व्यय दिये बिना
अंक भेजने की अनुमति संख्या Bik-2

★ शुल्क

आजीवन सदस्यता	:	२५१ रुपये
वार्षिक शुल्क	:	२० रुपये
वाचनालय एवं पुस्तकालय के लिये		
वार्षिक शुल्क	:	१५ रुपये
विदेश में वार्षिक शुल्क	:	१५० रुपये
इस अंक का शुल्क	:	५० रूपये

★ प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.) ३३४००१
तार : साधुमार्गी : फोन : ६८६७

★ मुद्रक
जैन आर्ट प्रेस, समता भवन, बीकानेर (राज.)

महान् संयम साधक

ज्ञानी-ध्यानी, समत्व योगी

धर्मपाल प्रतिबोधक

परम श्रद्धेय

आचार्य श्री नानालालजी म.सा. के

दीक्षा अर्द्धशताब्दी के

स्वर्णिम मंगलमय प्रसंग पर

उनके युगान्तरकारी कृतित्व

एवं

ओजस्वी व्यक्तित्व

को

सादर सविनय समर्पित

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ के
पदाधिकारीगण

अध्यक्ष

श्री गणपतराज बोहरा, पीपलियाकलां

उपाध्यक्ष

श्री सोहनलाल सिपानी, बैंगलोर

श्री केवलचन्द मूथा, रायपुर

श्री फतेहलाल हिंगर, उदयपुर

श्री ईश्वरलाल ललवाणी, जलगांव

श्री सुजानमल बोरा, इन्दौर

मंत्री

श्री पीरदान पारख, जयपुर

सहमंत्री

श्री चम्पालाल डागा, गंगाशहर
श्री केशरीचन्द सेठिया, मद्रास
श्री समीरमल कांठेड़, जावरा
श्री सागरमल चपलोत, निम्बाहेड़ा
श्री केशरीचन्द गोलछा, बंगाईगांव
श्री गौतमचन्द पारख, राजनांदगांव

कोषाध्यक्ष

श्री भंवरलाल बडेर, बीकानेर

श्री सु. सां. शिक्षा सोसायटी अध्यक्ष

श्री भंवरलाल बैद, कलकत्ता

मंत्री

श्री धनराज बेताला, नोखा

महिला समिति अध्यक्ष/मंत्री

श्रीमती रसकुंवर सूर्या, उज्जैन

श्रीमती कमलादेवी बैद, जयपुर

समता युवा संघ, अध्यक्ष

श्री उमरावसिंह ओस्तवाल, बम्बई

समता बालक मण्डली अध्यक्ष

श्री अजित चेलावत, जावद

संयोजकीय वक्तव्य

परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर की दीक्षा के यशस्वी पचास वर्ष की समाप्ति के उपलक्ष्य में प्रकाशित श्रमणोपासक का यह संयम-साधना विशेषांक प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष हो रहा है।

पांच दशक की यह संयम साधना अपने आपमें बेजोड़ एवं अद्वितीय है। हर पल जागरूक रहकर आत्म साधना में लीन रहने के साथ सांसारिक जीवों का हितचिन्तन करना एवं श्रमण भगवान महावीर की धर्म देशनाओं एवं वाणी का अनवरत प्रचार-प्रसार करना ही जिसका जीवनलक्ष्य रहा है, उस महापुरुष श्रद्धेय आचार्य प्रवर के सम्बन्ध में कुछ भी लिखना सूरज को दीपक दिखाने के बराबर है।

युवाअवस्था में संयम लेकर जैन दर्शन एवं साहित्य का, आगमो का, भारतीय दर्शन का गहन अध्ययन किया एवं अपने गुरु संत शिरोमणि, शान्तक्रान्ति के कर्णधार आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. की शिक्षाओं को न केवल अपने जीवन में उतारा वलिक वृद्धावस्था में उनकी सेवा कर जिस महान आदर्श को चरितार्थ किया, वह अत्यन्त विरल है।

एक्य एवं संगठन के जिस आधार पर श्रमण संघ की नींव रखी गई, वह जब स्वेच्छाचार एव स्वच्छन्दता के कारण लड़खड़ाने लगी तथा भगवान महावीर की धर्म देशनाओं का उल्लंघन होने लगा तो स्वर्गीय आचार्य प्रवर उसे वर्दाश्त न कर सके एवं श्रमण संस्कृति की रक्षा हेतु अपने पद को त्याग दिया और विशुद्ध श्रमण संस्कृति पर आधारित धर्म संघ की स्थापना की। ऐसी कठिन परिस्थितियों में धर्म संघ का भार पं. रत्न श्री नानालालजी म. सा. के सबल कन्धों पर डाला। लगभग सत्ताइस वर्ष हो गये उस दायित्व को वहन करते। अनेक विरोधों एवं अवरोधों को शान्त भाव से सहन करते हुए पवित्र श्रमण संस्कृति की सुरक्षा में हिमालय की तरह अडिग खड़े श्रद्धेय आचार्य प्रवर ने समभाव से विचरण करते हुए समस्त जैन समाज में विशिष्ट स्थान बना लिया है।

कथनी और करनी की एकरूपता का जो महान आदर्श आपने उपस्थित किया है, वह अनुपमेय है। इसलिए आपकी वाणी का जादू-सा असर होता है। संघ का कुशल संचालन, नेतृत्व एवं संत-सतियों की शिक्षा-दीक्षा, अनुशासन, शास्त्रानुसार आचरण आदि ने आपकी प्रतिष्ठा को चार चांद लगा दिये हैं। आपकी सरलता सादगी एवं गहन शास्त्रीय अध्ययन के साथ-साथ सम सामयिक समस्याओं के समाधान में जो मौलिक सूझबूझ आपने प्रदर्शित की है। उससे विद्वत समुदाय भी अत्यन्त प्रभावित है। आपके नेतृत्व में समग्र देश में संत-सती वर्ग विचरण कर भगवान महावीर की पावन वाणी का निरन्तर प्रचार-प्रसार कर रहे हैं।

आपकी धर्म देशनाओं से प्रतिवोधित होकर मालवा के ग्रामीण अंचलों में रहने वाली जाति के हजारों स्त्री-पुरुषों को विकार, व्यसनमुक्त अहिंसक जीवन

जीने की जो प्रेरणा दी है। वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी। यह धर्मपाल प्रवृत्ति एक ऐसी रचनात्मक प्रवृत्ति है जो मानवीय सद्‌गुणों की स्थापना करने वाली है, दानव से मानव वनाने वाली है, रावणत्व पर रामत्व की विजय पताका फहराने वाली है।

भौतिकता की चकाचौंध में जहां आज श्रावक ही नहीं श्रमणवर्ग भी दिग्भ्रमित हो रहे हैं, वहां श्रद्धेय आचार्य प्रवर एवं उनके संत-सती कठोर क्रिया का पालन करते हुए आत्मिक गुणों के विकास के साथ शासन सेवा कर रहे हैं, वह नितान्त अनुकरणीय एवं श्लाघनीय है। ज्ञान दर्शन एवं चारित्र्य के जिस उदात्त स्वरूप की प्रतिष्ठा आपने की है, वह सतत वर्धमान वनेगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

यह महापुरुष शतायु होकर शासन की सेवा करते हुए हजारों लाखों लोगों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्रदान करता रहे। यही हमारी मंगल-कामना है। भौतिकवादी दर्शन से उपजी इस संकटापन्न स्थिति में सतत जागरूक रहकर श्रमण संस्कृति की रक्षा जाज जितनी आवश्यक प्रतीत होती है, उतनी पहले कभी नहीं थी। आज समग्र जैन समाज की दृष्टि आप पर लगी हुई है, विश्वास है कि श्रद्धेय आचार्य प्रवर प्रकाश स्तम्भ की तरह सतत मार्ग दर्शन करते रहेंगे।

यह अंक सभी दृष्टियों से संग्रहणीय बने। यह प्रयत्न किया गया है। इस अंक की सामग्री के सम्बन्ध में सम्पादकीय अभिलेख में प्रकाश डाला गया है। इसे सुरूचि सम्पन्न पठनीय तथा संग्रहणीय बनाने में सम्पादक मंडल ने जो कठोर परिश्रम किया है। उसके लिए किन शब्दों में आभार प्रदर्शित किया जाय। यह समझ में नहीं आता। जिन विद्वानों, विचारकों एवं मनीषियों के आलेखों से यह अंक पठनीय एव संग्रहणीय बना है उसके प्रति अशेष कृतज्ञता ज्ञापन हमारा कर्तव्य है। मुख पृष्ठ की डिजाइन वनाने में श्री गणेश ललवानी से जो सहयोग प्राप्त हुआ तदर्थ हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

इस विशेषांक में प्रकाशित विज्ञापनों, श्रद्धालु परिवारों की शुभकामनाएं संग्रहित करने में हमें श्री भंवरलाल बैद कलकत्ता, श्री सोहनलालजी सिपानी वैंगलोर, श्री उगमराजजी मूथा मद्रास, श्री केशरीचन्दजी गोलछा बंगाईगांव, श्री दीपचन्दजी भूरा देशनोक, श्री फतहलालजी हिंगर उदयपुर, श्री कमलचन्दजी डागा दिल्ली, श्री चम्पालालजी डागा, श्री धर्मचन्दजी पारख, महिला समिति व समता युवा संघ आदि का जो सहयोग प्राप्त हुआ, तदर्थ हम हार्दिक आभारी हैं।

श्री जैन आर्ट प्रेस के मैनेजर, कर्मचारी एवं कम्पोजिटरों ने इसके मुद्रण में जो अथक परिश्रम किया है एवं सहयोग दिया है, उसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी है।

काफी सावधानी के वाद भी प्रूफ संशोधन की भूलें एवं त्रुटि होना स्वाभाविक है, सुधी पाठक उसे क्षम्य मानते हुए अपने विचारों से अवगत करायेंगे, इसी भावना के साथ यह अंक समर्पित करते हुए सहज उल्लसित हैं।

किं वहुना— —सरदारमल कांकरिया, भंवरलाल कोठारी
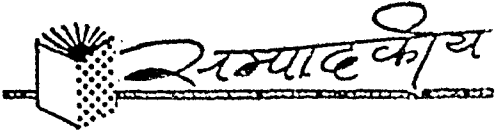
कोई भी राष्ट्र केवल प्राकृतिक सम्पदाओं के कारण महान् नहीं बनता। उसे महान् बनाती है वह विवेक-शक्ति और संयम-साधना, जिसके द्वारा प्राकृतिक सम्पदा का उपयोग मानव-हित एवं लोक-कल्याण में किया जाता है। यह विवेक शक्ति और संयम साधना तभी विकसित हो पाती है जब उसके पीछे निष्काम, सेवाभावी, आध्यात्मिक महापुरुषों का आंतरिक बल हो। भारत को इस बात का गौरव है कि यहां ऐसे महापुरुष समय-समय पर जन्म लेकर विश्व मानवता का पथ प्रशस्त करते रहे हैं। समता साधक आचार्य श्री नानेश ऐसे ही ऋषि-मुनियों की परम्परा में वर्तमान युग के विशिष्ट आध्यात्मिक आलोक पुरुष हैं।

आपका जन्म आज से ७० वर्ष पूर्व वि. सं. १९७७ की ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया को चित्तौड़गढ़ के दांता गांव में श्री मोड़ीलाल पोखरना के यहां हुआ। माता श्रृंगारबाई से आपको ऐसे संस्कार मिले जो आपको आत्मगुणों से श्रृंगारित करने में सहयोगी बने। १९ वर्ष की अवस्था में वि.सं. १९९६ पौष शुक्ला अष्टमी को कपासन में शान्त क्रांति के सूत्रधार जैनाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज के चरणों में आपने जैन भागवती दीक्षा अंगीकृत की। इसी पौष शुक्ला अष्टमी ४ जनवरी सन् १९९० को आपके संयमी जीवन के ५० वर्ष पूरे हुए हैं। देश के विभिन्न भागों में आपका अर्द्धशताब्दी दीक्षा समारोह संयम, सेवा और साधना दिवस के रूप में तप-त्याग पूर्वक मनाया गया।

संवत् २०१९ में माघ कृष्णा द्वितीया को आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. के स्वर्गारोहण के बाद आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। अपने आचार्यकाल में आपने धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में युगान्तरकारी क्रान्ति की। राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों के सुदूरवर्ती गांवों में पद विहार कर आपने जन साधारण के आत्म चैतन्य को जागृत कर सदाचार निष्ठ नैतिक उन्नयनकारी जीवन जीने की प्रेरणा दी।

यद्यपि आपका नाम 'नाना' है। पर अन्तर्मुखीवृत्ति और समत्व भाव में आत्मलीन रहने के कारण आप 'नानात्म' में 'एकत्व' के दर्शन करते हैं। जाति, वर्ण, सम्प्रदाय और मत-मतान्तर से ऊपर उठकर आप सदा अहिंसा,

संयम और तप रूप धर्म का उपदेश देते हैं। आपकी दृष्टि में अहिंसा, केवल किसी को मारने तक सीमित नहीं है। प्राणी मात्र के साथ प्रेम और मैत्री का व्यवहार करना, किसी को कठोर वचन न कहना और मन से भी किसी का बुरा न सोचना, असहाय की सहायता करना, दुखियों की सेवा करना, आवश्यकता से अधिक संग्रह न कर अपनी अर्जित सम्पत्ति को जरूरतमन्दों में निस्वार्थ भाव से बांटना सच्ची अहिंसा है। आपकी दृष्टि में संयम घरबार छोड़कर सन्यास लेना ही नहीं है, बल्कि संसार में रहते हुए भी मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना संयम है। तपस्या केवल भूखा रहना नहीं है। भूख से कम खाकर स्वाद वृत्ति नियंत्रण करना, अपनी गलती को गलती मान-कर प्रायश्चित करना तथा गलती की पुनरावृत्ति न करना, सद्शास्त्रों का अध्ययन करना, परिवार, समाज और राष्ट्र की सेवा करना, वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति के प्रति आसक्ति न रखना भी तपस्या है।

आचार्य श्री नानेश जीवन-रत्नाकर की अतल गहराई में पैठकर असीम शांति का अनुभव करते हैं और अपने भीतर से जुड़कर आत्महित एवं लोकहित के लिए नित नये विचार मुक्ताओं का सृजन करते रहते हैं। आपकी संयम साधना सागर की मर्यादा, गम्भीरता और प्रशान्तता लिए हुए हैं। आपकी संयम-साधना के अनेक आयाम हैं। उनमें मुख्य हैं—समता दर्शन, समीक्षण ध्यान और धर्मपाल प्रवृत्ति।

आज जीवन और समाज का हर क्षेत्र अशान्त, विशृंखलित और विषमता से ग्रस्त है। विषमता का मूल उद्गम स्थल कहीं बाहर नहीं हमारे भीतर है। जब तक मानव का अन्तःकरण समतायुक्त नहीं होता, व्यवहार में समता नहीं आ पाती और आचरण समतामय नहीं हो पाता। समस्त दुर्गुणों और विकारों की जड़ विषमता है। विषमता के उन्मूलन के लिए आचार्य श्री नानेश ने समता दर्शन का चिन्तन दिया। आपके समता दर्शन के ४ मुख्य सूत्र हैं—१. सिद्धांत दर्शन, २. जीवन दर्शन, ३. आत्म दर्शन ४. परमात्म दर्शन।

समता का उपदेश केवल वाणी का विलास बनकर न रहे, पुस्तकों की शोभा बनकर न रहे वरन् अन्तःस्तल को स्पर्श करे। इसके लिए आव-श्यक है कि दृष्टि बाहर से हटकर भीतर की ओर मुड़े। भीतर से जुड़ाव तभी सम्भव है जब शांत स्थिर चित्त से स्वयं को देखने-परखने का अभ्यास हो। इस अभ्यास को ही आचार्य श्री ने समीक्षण ध्यान कहा है। समीक्षण का अर्थ है सम्यक् प्रकार से अपना ईक्षण करना। मन में उठने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकारों को समभाव पूर्वक देखते रहना, बाहर घटित होने वाली घटनाओं के प्रति प्रतिक्रिया न करना। तटस्थ भाव से उनका ईक्षण करते रहना। जब समीक्षण पूर्व एकता का भाव मन में आविर्भूत होता

है तब भेद बुद्धि नहीं रहती । प्रान्तीयता, क्षेत्रियता, साम्प्रदायिक उन्माद, जातिवाद, रंगभेद के आधार पर विग्रह नहीं होता । आज देश में भय, आतंक और साम्प्रदायिकता का जो विद्वेष है, मानसिक तनाव और संघर्ष है उसे दूर करने में समीक्षण ध्यान मार्गदर्शक साधना पद्धति है ।

आचार्य श्री धर्म को वैयक्तिक अनुभूति तक ही सीमित रखने के पक्षधर नहीं है । धर्म, जीवन-व्यवहार और सामाजिक स्वस्थता में प्रतिफलित होना चाहिये । इसी उद्देश्य से आप जहां-जहां विचरण करते हैं वहां-वहां जीवन को व्यसन मुक्त करने का उपदेश देते हैं । आपके उपदेशों से प्रभावित होकर मध्यप्रदेश के मन्दसौर, जावरा, रतलाम, नागदा, उज्जैन आदि के क्षेत्रों के वलाई जाति के ८० हजार से अधिक लोगों ने कुव्यवसनों को छोड़कर सद् संस्कारी सात्विक जीवन जीने का व्रत लिया है ! आपने इन्हें 'धर्मपाल' सम्बोधन किया तभी से अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित यह 'धर्मपाल प्रवृत्ति' सामाजिक नैतिक क्रांति का अंग बनी हुई है ।

आचार्य श्री नानेश का संयमी जीवन सेवा, पुरुषार्थ और समता का जीवन है । बढ़ते हुए भौतिक आकर्षणों से परे रखकर आप भगवान महावीर द्वारा श्रमण धर्म के लिए निर्धारित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच महाव्रतों की मन, वचन, काया से पूर्णतया कठोरतापूर्वक परिपालना करते हैं और अपने शिष्य परिवार से करवाते हैं । नैतिक चकाचौंध भरे आज के वातावरण में भी आपके साधनामय समता जीवन से प्रभावित होकर विगत २५ वर्षों में २५० से अधिक युवक-युवतियों ने सांसारिक मोह-माया से ऊपर उठकर आपके चरणों में श्रमण धर्म स्वीकारा है, जो भोग पर योग, असंयम पर संयम और राग-द्वेष पर वीतरागता की विजय का प्रतीक है । ऐसे महान समता-साधक, समीक्षण ध्यानी आचार्य नानेश को ५०वें दीक्षा वर्ष पर शत-शत वन्दन और दीर्घायु होने की मंगल कामना ।

आचार्य श्री के ५० वर्षीय संयम साधनामय जीवन का अमृत जन-जन में आत्म-चेतना का रस पैदा कर सके, उपभोक्ता संस्कृति के बढ़ते हुए भौतिक जड़ मूल्यों को उपयोगमूलक सांस्कृतिक चेतना का प्रकाश-खाद मिल सके, अनियंत्रित इन्द्रिय-लिप्सा संयम और तप की ओर मुड़ सके, इसी पुनीत भावना से श्रमणोपासक का यह **संयम साधना विशेषांक** पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है ।

यह संयम साधना विशेषांक चार खन्डों में विभक्त है । प्रथम खन्ड में **संयम-साधना** के विभिन्न आयामों पर संयमी आचार्यों, मुनियों, साध्वियों एवं अनुभवी चिन्तक विद्वानों के विचार संकलित है । द्वितीय खन्ड **जिज्ञासा और समाधान** इस विशेषांक का विशेष खन्ड है जिसमें आचार्य श्री नानेश से

संयम और तप रूप धर्म का उपदेश देते हैं। आपकी दृष्टि में अहिंसा, केवल किसी को मारने तक सीमित नहीं है। प्राणी मात्र के साथ प्रेम और मैत्री का व्यवहार करना, किसी को कठोर वचन न कहना और मन से भी किसी का बुरा न सोचना, असहाय की सहायता करना, दुखियों की सेवा करना, आवश्यकता से अधिक संग्रह न कर अपनी अर्जित सम्पत्ति को जरूरतमन्दों में निस्वार्थ भाव से बांटना सच्ची अहिंसा है। आपकी दृष्टि में संयम घरवार छोड़कर सन्यास लेना ही नहीं है, वल्कि संसार में रहते हुए भी मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना संयम है। तपस्या केवल भूखा रहना नहीं है। भूख से कम खाकर स्वाद वृत्ति नियंत्रण करना, अपनी गलती को गलती मान-कर प्रायश्चित करना तथा गलती की पुनरावृत्ति न करना, सद्शास्त्रों का अध्ययन करना, परिवार, समाज और राष्ट्र की सेवा करना, वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति के प्रति आसक्ति न रखना भी तपस्या है।

आचार्य श्री नानेश जीवन-रत्नाकर की अतल गहराई में पैठकर असीम शांति का अनुभव करते हैं और अपने भीतर से जुड़कर आत्महित एवं लोकहित के लिए नित नये विचार मुक्ताओं का सृजन करते रहते हैं। आपकी संयम साधना सागर की मर्यादा, गम्भीरता और प्रशान्तता लिए हुए हैं। आपकी संयम-साधना के अनेक आयाम हैं। उनमें मुख्य हैं—समता दर्शन, समीक्षण ध्यान और धर्मपाल प्रवृत्ति।

आज जीवन और समाज का हर क्षेत्र अशान्त, विशृंखलित और विषमता से ग्रस्त है। विषमता का मूल उद्गम स्थल कहीं बाहर नहीं हमारे भीतर है। जब तक मानव का अन्तःकरण समतायुक्त नहीं होता, व्यवहार में समता नहीं आ पाती और आचरण समतामय नहीं हो पाता। समस्त दुर्गुणों और विकारों की जड़ विषमता है। विषमता के उन्मूलन के लिए आचार्य श्री नानेश ने समता दर्शन का चिन्तन दिया। आपके समता दर्शन के ४ मुख्य सूत्र हैं—१. सिद्धांत दर्शन, २. जीवन दर्शन, ३. आत्म दर्शन ४. परमात्म दर्शन।

समता का उपदेश केवल वाणी का विलास बनकर न रहे, पुस्तकों की शोभा बनकर न रहे वरन् अन्तःस्तल को स्पर्श करे। इसके लिए आव-श्यक है कि दृष्टि बाहर से हटकर भीतर की ओर मुड़े। भीतर से जुड़ाव तभी सम्भव है जब शांत स्थिर चित्त से स्वयं को देखने-परखने का अभ्यास हो। इस अभ्यास को ही आचार्य श्री ने समीक्षण ध्यान कहा है। समीक्षण का अर्थ है सम्यक् प्रकार से अपना ईक्षण करना। मन में उठने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकारों को समभाव पूर्वक देखते रहना, बाहर घटित होने वाली घटनाओं के प्रति प्रतिक्रिया न करना। तटस्थ भाव से उनका ईक्षण करते रहना। जब समीक्षण पूर्व एकता का भाव मन में आविर्भूत होता

है तब भेद बुद्धि नहीं रहती । प्रान्तीयता, क्षेत्रियता, साम्प्रदायिक उन्माद, जातिवाद, रंगभेद के आधार पर विग्रह नहीं होता । आज देश में भय, आतंक और साम्प्रदायिकता का जो विद्वेष है, मानसिक तनाव और संघर्ष है उसे दूर करने में समीक्षण ध्यान मार्गदर्शक साधना पद्धति है ।

आचार्य श्री धर्म को वैयक्तिक अनुभूति तक ही सीमित रखने के पक्षधर नहीं है । धर्म, जीवन-व्यवहार और सामाजिक स्वस्थता में प्रतिफलित होना चाहिये । इसी उद्देश्य से आप जहां-जहां विचरण करते हैं वहां-वहां जीवन को व्यसन मुक्त करने का उपदेश देते हैं । आपके उपदेशों से प्रभावित होकर मध्यप्रदेश के मन्दसौर, जावरा, रतलाम, नागदा, उज्जैन आदि के क्षेत्रों के बलाई जाति के ८० हजार से अधिक लोगों ने कुव्यवसनों को छोड़कर सद् संस्कारी सात्विक जीवन जीने का व्रत लिया है ! आपने इन्हें 'धर्मपाल' सम्वोधन किया तभी से अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित यह 'धर्म-पाल प्रवृत्ति' सामाजिक नैतिक क्रांति का अंग वनी हुई है ।

आचार्य श्री नानेश का संयमी जीवन सेवा, पुरुषार्थ और समता का जीवन है । वढ़ते हुए भौतिक आकर्षणों से परे रखकर आप भगवान महावीर द्वारा श्रमण धर्म के लिए निर्धारित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरि-ग्रह रूप पांच महाव्रतों की मन, वचन, काया से पूर्णतया कठोरतापूर्वक परि-पालना करते हैं और अपने शिष्य परिवार से करवाते हैं । नैतिक चकाचौंध भरे आज के वातावरण में भी आपके साधनामय समता जीवन से प्रभावित होकर विगत २५ वर्षों में २५० से अधिक युवक-युवतियों ने सांसारिक मोह-माया से ऊपर उठकर आपके चरणों में श्रमण धर्म स्वीकारा है, जो भोग पर योग, असंयम पर संयम और राग-द्वेष पर वीतरागता की विजय का प्रतीक है । ऐसे महान समता-साधक, समीक्षण ध्यानी आचार्य नानेश को ५०वें दीक्षा वर्ष पर शत-शत वन्दन और दीर्घायु होने की मंगल कामना ।

आचार्य श्री के ५० वर्षीय संयम साधनामय जीवन का अमृत जन-जन में आत्म-चेतना का रस पैदा कर सके, उपभोक्ता संस्कृति के वढ़ते हुए भौतिक जड़ मूल्यों को उपयोगमूलक सांस्कृतिक चेतना का प्रकाश-खाद मिल सके, अनियंत्रित इन्द्रिय-लिप्सा संयम और तप की ओर मुड़ सके, इसी पुनीत भावना से श्रमणोपासक का यह **संयम साधना विशेषांक** पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है ।

यह संयम साधना विशेषांक चार खन्डों में विभक्त है । प्रथम खन्ड में **संयम-साधना** के विभिन्न आयामों पर संयमी आचार्यों, मुनियों, साध्वियों एवं अनुभवी चिन्तक विद्वानों के विचार संकलित है । द्वितीय खन्ड **जिज्ञासा और समाधान** इस विशेषांक का विशेष खन्ड है जिसमें आचार्य श्री नानेश से

साक्षात्कार उनके सुदीर्घ संयमी जीवन, उनके द्वारा प्रणीत समता-दर्शन समीक्षण ध्यान व अन्य समसामायिक समस्याओं पर जो समाधान (उत्तर) प्राप्त हुए हैं, उनका समायोजन है। इस खन्ड में आचार्य श्री के कतिपय अन्तेवासी शिष्य-शिष्याओं के उन प्रसंगों एवं विचारों को भी सम्मिलित किया गया है जो उनसे प्रश्न करके प्राप्त किये गये हैं। इन विचारों से आचार्य श्री के संयमी जीवन पर अनुभवगम्य मौलिक प्रकाश पड़ता है। तृतीय खन्ड **व्यक्तित्व-वन्दना** में आचार्य श्री के मम्पर्क में आने वाले विभिन्न क्षेत्रों के विशिष्ट एवं सामान्य लोगों के प्रेरक प्रसंग और संस्मरण संकलित हैं। इनसे आचार्य श्री के साधक व्यक्तित्व का अतिशय, वैशिष्ट्य और प्रभाव-गांभीर्य स्पष्ट होता है। चतुर्थ खन्ड **कृतित्व-समीक्षा** में आचार्य श्री की साहित्यिक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक एंव आध्यात्मिक देन पर अधिकारी विद्वानों के समीक्षात्मक-मूल्यात्मक लेख हैं।

इस विशेषांक को वैचारिक दृष्टि से समृद्ध-सम्पन्न बनाने में जिन आचार्यों, मुनियों, साध्वियों अनुभवी चिन्तकों-विद्वानों और श्रद्धानिष्ठ भक्तजनों का तथा सम्पादक-मन्डल के सहयोगी सदस्यों का जो योगदान मिला है, उसके प्रति मैं विशेष रूप से आभारी हूं।

आशा है यह विशेषांक हमें संयम-साधना की ओर प्रेरित-अभिमुख करने में विशेष उपयोगी और मार्गदर्शक सिद्ध होगा।

डॉ. नरेन्द्र भानावत

अनुक्रमणिका

प्रथम खंड

संयम साधना

द्वितीय खंड

भाग १

भाग २

तृतीय खंड

चतुर्थ खंड

विज्ञापन सहयोग

प्रथम खण्ड

भारंड पंखी

संयम-साधना

निर्लिप्तता का मार्ग

❀ आचार्यश्री नानेश

इस अवसर्पिणी काल में अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के शासन में उनकी आत्मोद्धारक वाणी पर अधिकाधिक चिन्तन आवश्यक है। उनकी वाणी का चरम लक्ष्य है—सभी प्रकार के बन्धनों से आत्मा की मुक्ति । यह मुक्ति ही आत्मा की समाधि का चरम बिन्दु है, लेकिन आत्मा की समाधि का आरम्भ मुक्ति मार्ग पर चलने के संकल्प से ही हो जाता है। सूत्र समाधि से आत्मज्ञान का प्रकाश फैलता है तो विनय-समाधि ज्ञान के धरातल पर कठिन आचरण की सफल पृष्ठभूमि का निर्माण करती है। फिर आचार-समाधि एवं तपस्या-समाधि आत्मा को मुक्ति मार्ग पर गतिशील और प्रगतिशील बना देती है।

आत्मसमाधि का यह मार्ग एक प्रकार से निर्लिप्तता का मार्ग है। सांसारिकता से निर्लिप्त बनकर जितनी आत्माभिमुखी वृत्ति का विकास होगा, उतनी ही अधिक शान्ति मिलेगी और मुक्ति-मार्ग पर गतिशीलता बढ़ेगी ।

निर्लिप्तता का मूल मंत्र :

सम्यक् आचरण ही निर्लिप्तता का एवं उसके माध्यम से आत्म-समाधि का मूल सूत्र है। शुद्ध आचार के बिना जीवन शुष्क तथा प्रगतिहीन ही रहता है। शुद्ध आचार एवं व्यवहार की स्थिति सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् श्रद्धा के साथ सुदृढ़ बनती है। ज्ञान एवं क्रिया का भव्य समन्वय बनता है, तब मुक्ति-दायिनी निर्लिप्तता का मार्ग प्रशस्त होता है।

लेप दो प्रकार का होता है। यहां लेप से अभिप्राय किसी शारीरिक लेप से नहीं है, बल्कि उस प्रकार के आत्मिक लेप से है, जो आत्मा पर चढ़कर आत्मस्वरूप को मलिन बनाता है। यह लेप दो प्रकार का इस रूप में होता है कि पहली बार तो विषय एवं कषाय की कलुषित वृत्तियां जब मन में उठती हैं तो उनका विषैला धुंआ मानस को अंधकार से घेर लेता है। एक तो लेप का यह रूप होता है, फिर दूसरा रूप तब प्रकट होता है, जब उन कलुषित वृत्तियों की उत्तेजना में कर्मबंध का लेप आत्मस्वरूप पर चढ़ता है। यह लेप तब तक नहीं उतरता या घटता है, जब तक सम्यक् आचरण को जीवन में नहीं अपनाया जाता है।

इस प्रकार सांसारिक पदार्थों के प्रति जितनी ममता है और उस ममता के आवरण में जितनी कलुषित वृत्तियों की उत्तेजना पैदा होती है उन सबके

कारण यह लेप गाढ़ा और चिकना होता जाता है । तो लेप है वह ममता और जितने अंशों में ममता का त्याग होता है—सम्यक् आचरण की आराधना होती है, उतने ही अंशों में जीवन में समता का विकास होता जाता है । जितनी समता आती है—उतनी ही निर्लेपता या निर्लिप्तता आती है, यह मानकर चलिये ।

लेप उतरता है, लेप चढ़ता है :

मानसिक वृत्तियों एवं कर्मों का यह लेप जहां आत्मस्वरूप पर चढ़ता है तो आचार की शुद्धता से वह उतरता भी है । आचरण जब अशुद्ध होता है तो उसका कारण अज्ञान होता है एवं उस अज्ञानमय अशुद्ध आचरण के फलस्वरूप मन और इन्द्रियों पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता । वैसी दशा में मनुष्य का मन और उसकी इन्द्रियां अशुभ वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में इतनी बेभान होकर भटकने लग जाती हैं कि यह लेप आत्मस्वरूप पर चढ़ता ही रहता है और वह गाढ़ा होता जाता है । जितना अधिक गाढ़ा लेप होता है, उतनी ही संज्ञाशून्यता आत्मा में समाती जाती है । इसी स्थिति को समझकर प्रभु महावीर ने आचार को प्रथम धर्म वताया और आचार को सम्यक् बनाये रखने पर वल दिया ।

आचार में जब सम्यक् रूप से शुद्धता आती है तो उसका निर्देशक सम्यक् ज्ञान होता है । सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान,मन तथा इन्द्रियों को अनुशासित बनाकर उन्हें सम्यक् आचरण में स्थिरतापूर्वक नियोजित करते हैं । इस नियोजन से उनका भटकाव रुक जाता है तथा इनका योग व्यापार शुभत की दिशा में क्रियाशील वन जाता है । तब ममता के बन्धन टूटते रहते हैं ए मन, वचन व काया की वृत्ति-प्रवृत्तियां समत्व में ढलती जाती हैं । अन्तःकरर की समतामय अवस्था में लेप पर लेप नहीं चढ़ता और पहले का चढ़ा हुआ ले भी उतरता जाता है । ज्यों-ज्यों यह लेप पतला पड़ता है, जीवन में निर्लिप्तत आती रहती है तथा आत्मा का मूल स्वरूप चमकने लगता है । यह लेप क आवरण ही आत्मस्वरूप को ढकने और मन्द बनाने वाला होता है । अतः निर्लिप्तता का मार्ग वास्तव में आचार-शुद्धि तथा आत्मोन्नति का मार्ग है । निर्लिप्तता में ही आत्मसमाधि समाहित होती है ।

आचार समाधि की स्थिरता एवं निर्लिप्तता :

जिस जीवन में आचार समाधि स्थिरता को प्राप्त कर लेती है, उस जीवन में निर्लिप्तता का उद्भव हो जाता है क्योंकि आचार की आराधना से लिप्तता के बन्धन टूटते जाते हैं । सम्यक् आचरण के अनुपालन से आत्मा में ऐसी शान्ति की अनुभूति होती है कि आचरण की उच्चता तथा शान्ति की अनुभूति में आगे से आगे वढ़ने की जैसे एक होड़ शुरु हो जाती है । आत्मिक शांति का रसास्वादन आचार-निष्ठा को स्थिरता प्रदान कर देता है । फिर आचार

समाधि का यही प्रभाव दिखाई देता है कि जितनी अधिक निष्ठा, उतनी अधिक कर्मठता और जितनी अधिक कर्मठता, उतनी ही अधिक शान्ति। आत्मिक शांति तब अडिग बन जाती है।

आचार समाधि से जीवन में कितनी शान्ति, कितनी निर्लिप्तता, कितनी समता एवं कितनी त्यागवृत्ति का विकास होता है—यह आचार-साधक का अपना ही अनुभव होता है। किन्तु सामान्य रूप से तो आप भी समय-समय पर अपने अन्दर का लेखा-जोखा लेते रहें कि आप कितनी ममता छोड़ते हैं, कितना लेप हटाते हैं अथवा कितनी रागद्वेष व अहं की वृत्तियों का परित्याग करते हैं तो आप भी आचार समाधि के यत्किंचित् शुभ प्रभाव से परिचित हो सकते हैं। सन्त और सतीवृन्द प्रभु महावीर की आज्ञाओं के प्रति समर्पित होकर चल रहे हैं तथा अपने समग्र जीवन को तदनुसार ढालने का प्रयत्न कर रहे हैं, उनका कुछ न कुछ अनुसरण आप भी कर सकते हैं।

शास्त्रकारों ने संकेत दिया है कि यदि तुम आचार समाधि में स्थिरता प्राप्त करना चाहते हो तो ज्ञान एवं क्रिया के भव्य समन्वय की दृष्टि से अपने जीवन में परिवर्तन लाओ। सन्त सतीवृन्द के लिये तो विशेष निर्देश है कि वे अपने जीवन में आचार एवं विचार की प्राभाविकता को अक्षुण्ण बनाये रखें। इस प्राभाविकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये ही उनके लिये जनपद विहार का विधान है। केवल चातुर्मास में वे एक स्थान पर ठहरते हैं, अन्यथा ग्राम-नगरों में विचरण करते रहते हैं। चार माह चातुर्मास काल में एक स्थान पर रह कर जनता को प्रतिबोध लाभ देना एवं स्वयं की आत्मसाधना करना तथा तदुपरान्त ग्रामानुग्राम विहार करते रहना, यह आचार–समाधि की स्थिरता के रूप में रखा गया है ताकि साधु निर्लिप्त बना रह सके। एक स्थान पर पड़ा हुआ पानी जिस प्रकार गन्दा हो जाता है, लेकिन वही पानी बराबर बहता रहता है तो वह निर्मल बना रहता है। उसी प्रकार साधु एक स्थान पर अधिक ठहरे तो वह वहां के किसी न किसी मोह से लिप्त बन सकता है, परन्तु उसके निरन्तर विहार करते रहने से उसकी निर्लिप्तता अभिवृद्ध होती रहती है।

साधु–जीवन की निर्लेप वृत्ति :

चातुर्मास काल के अन्दर उपदेश के सिलसिले में तटस्थ भावना से वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन के प्रसंग आये, उनमें भी सभी प्रकार की भावनाएं मैं व्यक्त करता रहा एवं संकेत देता रहा, लेकिन किन आत्माओं ने क्या ग्रहण किया— उनके चित्त की यह बात तो ज्ञानी जन ही जान सकते हैं। बड़े रूप में मंत्रीजी ने तपश्चर्या का चिट्ठा पेश किया है। इसके अतिरिक्त इस चातुर्मास की अन्य उपलब्धियों का उल्लेख भी किया गया है। अवशेष स्थिति की दृष्टि से कषाय प्रवृत्ति का जो प्रसंग भूरा परिवारों में चल रहा था—मामले कोर्ट कचहरियों तक

पहुंचे हुए थे और धनाढ्य परिवार अपनी-अपनी खींचातानी के लिये हजारों रुपये खर्च करने की हठ लेकर बैठे हुए थे—उन्होंने अन्तिम समय में उदारता दिखाई और चातुर्मास समापन के वक्त अपने वैमनस्य को कम कर लिया। खींचते गये तब तक मनमुटाव खिचता रहा, किन्तु हतोत्साही नहीं हुए तो आप दृश्य देख ही चुके हैं। वैसा ही दृश्य सरदारशहर के लोगों का भी आप सुन चुके हैं। अच्छे काम के लिये सद् प्रयत्न करते रहें और स्वयं की निर्लेप वृत्ति प्रखर बनाये रखें तो उसका बराबर अच्छा प्रभाव पड़ता ही है।

मेरा मन्तव्य तो यह है कि साधु-जीवन की निर्लेप वृत्ति प्रभावपूर्ण होनी चाहिये। उसके आचार धर्म एवं उसकी चारित्र्यशीलता का यह सुप्रभाव होना ही चाहिये कि सम्पर्क में आने वाला सहज रीति से अपनी विषय-कषाय की वृत्तियों का परित्याग कर ले। विहार के कुछ क्षणों पहले मैं फिर कह रहा हूं कि कहीं कुछ आड़ा-टेढ़ा हो तो अपना-अपना अवलोकन करके चातुर्मास की समाप्ति के प्रसंग से उसे सीधा करलें—इसी में आपका हित है। आप यह न सोचें कि पहल करेंगे तो उन्नीस हो जायेंगे। आप उन्नीस नहीं होंगे बल्कि जो पहले अपने हृदय की उदारता दिखायेगा, वह इक्कीस ही होगा और उसकी वाह-वाही होगी। यह आत्मशुद्धि का प्रसंग है और इसमें किसी को पीछे नहीं रहना चाहिये।

मैं देशनोक संघ की स्थिति को अपनी स्थिति से अवलोकन करता हुआ अवश्य कहूंगा कि देशनोक संघ में संघ की हैसियत से अथवा पंचायत की हैसि–यत से जो कुछ प्रसंग सन्त-समागम से समाहित हुए, उनके रूपक जनमानस के लिये आदर्श बनते हैं। साधु-जीवन के सम्पर्क में आकर आप भी निर्लेप वृत्ति से शिक्षा ग्रहण करें तथा अपने जीवन में उस प्रभाव का समावेश करे—यह सराहनीय है।

चारित्र्य की आराधना से सत्य की साधना :

प्रभु महावीर की सम्यक् चारित्र्य रूपी जो आत्म-समाधि है, उसी के सहारे चतुर्विध संघ सुव्यवस्थित रूप से चल सकते हैं एवं इस प्रकार के चतुर्विध संघ तथा व्यक्तिश: साधु-साध्वी अथवा श्रावक-श्राविका जनता के लिये आकर्षण के केन्द्र बिन्दु बनते हैं। इस समाधि की प्राप्ति में जो भी सहयोग करता है, उसे भी आत्मशान्ति मिलती है। महाराज हरिश्चन्द्र का सम्पूर्ण चरित्र आपने सुन लिया है और आपने हृदय में उतारा होगा कि उन्होंने सत्य पर आचरण किया तो सत्य की कसौटी पर वे खरे उतरे। कठिन से कठिन कष्ट उनके सामने आये, लेकिन सत्य की साधना से वे विचलित नहीं हुए। अन्त में श्मशान में कैसा भव्य दृश्य बना कि सारी काशी की जनता उमड़ पड़ी. देवगण भी उपस्थित हुए तथा विश्वामित्र ने पश्चात्ताप किया। जनता महाराजा और महारानी को अयोध्या

में ले गई, किन्तु वे तो सत्य के साधक बन चुके थे अतः रोहित को राज्य देकर उन्होंने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली। वहां तप संयम की सुन्दर आराधना करते हुए उन्होंने आचार-समाधि की उपलब्धि की तथा केवल ज्ञान प्राप्त किया। अन्त में वे सत्य साधक मुक्तिगामी हुए।

आप भी 'हरिश्चन्द्र-चरित्र से सद्गुणों को ग्रहण करें और यह समझ लें कि चारित्र्य की आराधना करते हुए जो सत्य की सफल साधना करता है, वह निर्लिप्तता के मार्ग पर आगे बढ़ जाता है। सत्य को आप चारित्र्य की रीढ़ की हड्डी मान सकते हैं जो तभी सीधी और स्वस्थ रह सकती है, जबकि निर्लेप वृत्ति का उसमें समावेश हो जाय। सत्य की साधना से सभी आत्मिक गुणों का श्रेष्ठ विकास होता है।

निर्लिप्त बनकर समता के साधक बनिये :

चारित्र्य और सत्य की आराधना से आत्मस्वरूप पर चढ़े हुए लेप उतरते हैं और आत्मा में एक प्रकार का सुखद हल्कापन आने लगता है। यह हल्कापन निर्लेपन वृत्ति अथवा तटस्थ वृत्ति का होता है। मोह ममता के भाव कम होते हैं—विषाय कषय की वृत्तियां पतली पड़ती हैं तो मन में निर्लिप्तता का समावेश होता है। निर्लिप्त बनने के बाद में ही समता के साधक बन सकने का सुअवसर उपस्थित होता है। यदि आप दृढ़ संकल्प ले लें तो समता-दर्शन की साधना क्रमशः चार विभागों में कर सकते हैं, जो इस प्रकार है— (१) समता सिद्धांत दर्शन (२) समता जीवन दर्शन (३) समता आत्म दर्शन तथा (४) समता परमात्म दर्शन। इस रूप में यदि समता की साधना करेंगे तो अपने परिवार एवं समाज से भी आगे वढ़कर राष्ट्र एवं विश्व में आप सच्ची शान्ति फैलाने वाले बन सकेंगे। जहां तक हो सके, आप चारित्र्य एवं सत्य के धरातल पर समता के साधक बनें तथा अपने निर्लिप्त जीवन से दूसरों को भी आत्माभिमुखी बनावें।

याद रखिये कि समता की साधना मुख्यतः निर्लिप्तता पर आधारित होती है। जितनी मन में ममता है, उतना ही रोष, विक्षोभ और असन्तोष है तथा इन भावनाओं से मन में क्लेश तथा कष्ट भरा हुआ रहता है। जिन-जिन व्यक्तियों अथवा पदार्थों के प्रति ममता होती है, उनकी चिन्ता से हर समय मन में व्याकुलता बनी रहती है। पहले चिन्ता उनको सुख देने की कामना से होती है तो बाद में चिन्ता उनके कृतघ्न बन जाने से होती है कि उन्होंने वापिस आपको सुख पहुंचाने की चेष्टा नहीं की। इस प्रकार मोह, ममता में सर्वत्र कष्ट और दुःख ही सामने आते हैं—सुख का क्षण तो शायद आता ही नहीं है और जिस सुख का कभी आपको आभास होता है तो वह आभास झूठा होता है। निर्लिप्त होने का यही अभिप्राय है कि आप इस ममता से अपना पीछा छुड़ावें

तथा हृदय में तटस्थ वृत्ति धारण करें। तटस्थ वृत्ति के आ जाने पर समता की साधना सहज हो जायगी।

जहां निर्लिप्तता वहां आनन्द :

जितना दुःख और कष्ट, जितनी चिन्ता और व्यग्रता हृदय को सताती रहती है, वह ममता के कारण ही। जब ममता छूट जाती है और हृदय समता का साधक बन जाता है, तब जीवन में निर्लिप्तता का प्रवेश हो जाता है। निर्लिप्तता की अवस्था में सहज भाव से समदर्शिता की वृत्ति आ जाती है। सबका कल्याण हो और सबके कल्याण के लिये तटस्थ भाव से प्रयास किया जाय—यह भावना बन जाती है। उस समय में कर्त्तव्य की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की हित साधना के लिये काम किया जाता है किन्तु मोहजन्य व्याकुलता का वहां अभाव रहता है। वहां तो कर्त्तव्य करते रहने तथा सत्य, समता को साधने की पवित्र भावना के कारण आनन्द ही आनन्द व्याप्त हो जाता है।

जहां निर्लिप्तता आ जाती है, वहां आनन्द ही आनन्द आ जाता है—वहां सच्चा आनन्द जो सर्वथा सुखद और स्थायी होता है। यह आनन्द एक बार जब आत्मा को अपनी गहराई में डूबो देता है तो आत्मा फिर उस आनन्द से बाहर निकल जाने की कभी इच्छा तक नहीं करती है। यह चिर आनन्द ही आत्मा को प्रिय होता है, कारण यह आनन्द सत् और चित् से प्राप्त होता है तभी आत्मा को सच्चिदानन्द का पावनतम स्वरूप प्रदान करता है। सच्चिदानन्द बन जाना ही इस आत्मा का चरम लक्ष्य है, अतः जो भी आत्मा इस लक्ष्य की ओर गति करने में अपना पुरुषार्थ करेगी, उसका जीवन आनन्दमय बनता जायगा।

समता रा दूहा

❀ डॉ नरेन्द्र भानावत

(१)

सरदी–गरमी सम हुवै, पाणी परसै बीज ।
सोनो निपजै खेत में, राख्यां संयम धीज ।।

(२)

समता जीवन रो मधु, समता मीठी दाख ।
मन री थिरता नां डिगै, चावै कौड़ी–लाख ।।

(३)

घटना घट सूं नां जुड़ै, सुख-दुख व्यापै नांय ।
ममता री जड़ जद कटै, समता-बेल छवाय ।।

(४)

सबद, परस, रस, गंध में, भीगै नी मन-पांख ।
शुद्ध चेतना सूं सदा, लागी रेवै आंख ।।

(५)

कूप, नदी, सर, बावड़ी, न्यारा–न्यारा रूप ।
सब में पण जल जो लहै, एकज तत्त्व अनूप ।।

(६)

तन री बांबी में बसै, अद्‌भुत आतम–सांप ।
मारो, पीटो दुख नहीं, भीतर सुख अणमाप ।।

(७)

कूड़ा–करकट सब जलै, समता शीतल आग ।
बंजर भू पण पांगरै, साँस-साँस में बाग ।।

(८)

समता सूं जड़ता कटै, जागै जीवन–जोत ।
अन्तस में फूटै नवा, सुख-सम्पता रा स्रोत ।।

(९)

समता–दीवो जगमगै, अंधियारो मिट जाय ।
बिण बाती, बिण तेल रै, घट–घट जोत समाय ।।

(१०)

जतरा दीवा सब जलै, पसरे जोत अनन्त ।
वा'रै वरखा, डूंज पण, भीतर समता सन्त ।।

—सी–२३५ ए, तिलकनगर, जयपुर

संयम का फल–

निष्कर्म अवस्था की प्राप्ति

❀ श्रीमद् जवाहराचार्य

जिसका मन एकाग्र होता है उन्हीं का संयम शोभायमान होता है और जिनमें संयम है उन्हीं के मन की एकाग्रता सार्थक होती है। अतः संयम के विषय में भगवान् से प्रश्न किया गया है:—

प्रश्न–संजमेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर–संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ।

प्रश्न–भगवन् ! संयम से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर–संयम से अनाहतपन (अनाश्रव–आते हुए कर्मों का निरोध) प्राप्त होता है।

संयम के विषय में भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उस पर विचार करने से पहले देखना चाहिये कि संयम क्या है ?

शास्त्र में संयम के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है। उस सब का यहां विवेचन किया जाये तो बहुत अधिक विस्तार होगा। अतएव संयम के विषय में यहां संक्षेप में ही विवेचन किया जायेगा।

आजकल संयम शब्द पारिभाषिक बन गया है। मगर विचार करने से मालूम होगा कि संयम का अर्थ बहुत विस्तृत है। शास्त्र में संयम के सत्तरह भेद बतलाये गये हैं। इन भेदों में संयम के सभी अर्थों का समावेश हो जाता है। संयम के सत्तरह भेद दो प्रकार से बतलाये गये हैं। पांच आस्रवों को रोकना, पांच इन्द्रियों को जीतना, चार कषायों का क्षय करना और मन, वचन तथा काय के योग का निरोध करना, यह सत्तरह प्रकार का संयम है।

दूसरी तरह से निम्नलिखित सत्तरह भेद होते हैं—(१) पृथ्वीकाय संयम (२) अपकाय संयम (३) तेउकाय संयम (४) वायुकाय संयम (५) वनस्पतिकाय संयम (६) द्वीन्द्रियकाय संयम (७) त्रीन्द्रियकाय संयम (८) चतुरिन्द्रियकाय संयम (९) पंचेन्द्रियकाय संयम (१०) अजीवकाय संयम (११) प्रेक्षा संयम (१२) उपेक्षा संयम (१३) प्रमार्जना संयम (१४) परिस्थापना संयम (१५) मनः संयम (१६) वचन संयम (१७) काय संयम। इस तरह दो प्रकार के संयम के सत्तरह भेद हैं। संयम का विस्तारपूर्वक विचार करने में सभी शास्त्र उसके अन्तर्गत हो जाते हैं।

जीवन भर के लिये पांच आस्रवों से, तीन करण और तीन योग द्वारा निवृत्त होना संयम स्वीकार करना कहलाता है। किसी भी प्राणी की हिंसा न करना असत्य न बोलना, मालिक की आज्ञा बिना कोई भी वस्तु ग्रहण न करना, संसार की समस्त स्त्रियों को माता-बहिन के समान समझना और भगवान् की आज्ञा के अनुसार ही धर्मोपकरण रखने के सिवाय कोई परिग्रह न रखना, इस प्रकार पांच आस्रवों से निवृत्त होना और पांच महाव्रतों का पालन करना और पांच इन्द्रियों का दमन करना। पांच इन्द्रियों को दमन करने का अर्थ यह नहीं है कि आंख बन्द कर लेना या कान में शब्द ही न पड़ने देना। ऐसा करना इन्द्रियों का निरोध नहीं है बल्कि इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने ही न देना इन्द्रिय-निरोध कहलाता है। प्रत्येक इन्द्रिय का उपयोग करते समय ज्ञानदृष्टि से विचार कर लिया जाये तो अनेक अनर्थों से बचा जा सकता है।

जब तुम्हारे कान में कोई शब्द पड़ता है तो तुम्हें सोचना चाहिये—मेरा कान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान वगैरह प्राप्त करने का साधन है। अतएव मेरे कान में जो शब्द पड़े हैं वे मेरा अज्ञान बढ़ाने वाले न हो जाएं, यह बात मुझे ख्याल में रखनी चाहिये। जब तुम्हारे कान में कटुक शब्द टकराते हैं तब तुम्हारा हृदय काँप उठता है। मगर उस समय ऐसा विचार कर निश्चल रहना चाहिये कि यह तो मेरे धर्म की कसौटी है। यह कटु शब्द शिक्षा देते हैं कि समभाव धारण करने से ही धर्म की रक्षा होगी। अतएव कटुक शब्दों को धर्म पर स्थिर करने में सहायक मानकर समभाव सीखना चाहिए।

इसी प्रकार कोई मनुष्य तुम्हें लम्पट या ठग कहे तो तुम्हें सोचना चाहिए कि मैं एकेन्द्रिय होता तो क्या मुझे यह शब्द सुनने को मिलते? और उस अवस्था में कोई मुझे यह शब्द कहता। कदाचित् कोई कहता भी तो मैं उन्हें समझ ही न सकता। अब जब मुझे समझने योग्य इन्द्रियां प्राप्त हुई हैं तो इस प्रकार के शब्द सुनकर मेरा क्या कर्त्तव्य होता है? वह मुझे लम्पट और ठग कहता है। मुझे सोचना चाहिये कि क्या मुझमें ये दुर्गुण हैं? अगर मुझमें ये दुर्गुण हैं तो मुझे दूर कर देना चाहिये। वह बेचारा गलत नहीं कह रहा है। विचार करने पर उक्त दुर्गुण अपने में दिखाई न दें तो सोचना चाहिए—हे आत्मा! क्या तू इतना कायर है कि इस प्रकार के कठोर शब्दों को भी नहीं सहन कर सकता? कठोर शब्द सुनने जितनी भी सहिष्णुता तुझमें नहीं! यह कायरता तुझे शोभा नहीं देती। जो व्यक्ति अपशब्द कहता है उसे भी चतुर समझ। वह भी अपशब्दों को खराब मानता है। इस प्रकार तेरा और उसका ध्येय एक है। इस प्रकार विचार करके अपशब्द सुनकर भी जो स्थिर रहता है, उसी ने श्रोत्रेन्द्रिय पर विजय प्राप्त की है।

इसी प्रकार सुन्दरी स्त्री का रूप देखकर ज्ञानीजन विचार करते हैं—इस स्त्री को पूर्वकृत पुण्य के उदय से ही यह सुन्दर रूप मिला है। अपने सुन्दर

रूप द्वारा यह स्त्री मुझे शिक्षा दे रही है कि अगर तू पुण्य का संचय करेगा तो सुन्दरता प्रदान करने वाले पुद्‌गल तेरे दास बन जाएंगे ।

किसी सुन्दर महल को देखकर भी यह सोचना चाहिए कि यह महल पुण्य के प्रताप से ही बना है । मेरे लिए यही उचित है कि मैं इस महल की ओर दृष्टि ही न डालूं । फिर भी उस पर अगर मेरी नजर जा ही पड़ती है तो मुझे मानना चाहिए कि यह महल किसी के मस्तिष्क की ही उपज है। मस्तिष्क से यह महल वना है, लेकिन यदि मस्तिष्क ही बिगड़ जाये तो कितनी बड़ी खराबी होगी ? तो फिर सुन्दर महल देखकर मैं अपना दिमाग क्यों बिगाड़ूं ? अगर मैंने अपना मन और मस्तिष्क स्वच्छ रखकर संयम का पालन किया तो मेरे लिए देवों के महल भी तुच्छ बन जाएंगे ।

महाभारत में व्यास की झोंपड़ी और युधिष्ठिर के महल की तुलना की गई है और युधिष्ठिर के महल से व्यास की झोंपड़ी अधिक अच्छी बतलाई गई है । इसका कारण यह है कि जहां निवास करके आत्मा अपना कल्याण–साधन कर सके, वही स्थान ऊंचा है और जहां रहने से आत्मा का अकल्याण हो, वह स्थान नीचा है । जहां रहने से भावना उन्नत रहे वह स्थान ऊंचा है और जहां रहने से भावना नीची हो जाये वह स्थान नीचा है। अगर तुम इस बात पर विचार करोगे तो तुम्हारा विवेक जागृत हो जायेगा ।

गुरु के प्रताप से हम लोग सहज ही अनेक पापों से बचे हुए हैं । जो श्रावक अपना श्रावकपन पालन करता है वह भी पहले देवलोक से नीचे नहीं जाता । मगर एक-एक पाई के लिए भी झूठ बोलना कोई श्रावकपन नहीं है । क्या मैं तुमसे यह आशा रखूं कि तुम असत्य भाषण न करोगे ? मगर कोई यह कहता है कि झूठ बोले बिना काम नहीं चलता तो उससे कहना चाहिए कि असत्य के बिना काम नहीं चलता होता तो तीर्थंकर भगवान् ने असत्य बोलने का निषेध क्यों किया होता ? क्या वे इतना भी नहीं समझते थे ? वास्तव में यह समझ ही भ्रमपूर्ण है । इस भूल को भूल मानकर असत्य का त्याग करो और सत्य का पालन करो । सत्य की आराधना करने में कदाचित् कोई कष्ट आ पड़े तो उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सहो, मगर सत्य पर अटल रहो । क्या हरिश्चन्द्र ने सत्य का पालन करने में आये हुए कष्ट सहने में आनन्द नहीं माना था ? फिर आज सत्य का पालन करने आये हुए कष्टों से क्यों घबराते हो ? आज लोग व्यवहार साधने में ही लगे रहते हैं और समझ बैठे हैं कि असत्य के बिना हमारा व्यवहार चल ही नहीं सकता । मगर यह मानना गम्भीर भूल है । दरअसल तो सत्य के आचरण से ही व्यवहार सरल बनता है । असत्य के आचरण से व्यवहार में वक्रता आ जाती है । भगवान् ने सत्य का महत्त्व बतलाते हुए यहां तक कहा है कि 'तं सच्चं खलु भगवं ।' अर्थात् सत्य ही भगवान् है । ऐसी दशा में सत्य की उपेक्षा करना कहां

तक उचित है ? सत्य पर अटल विश्वास रखने से तुम्हारा कोई भी कार्य नहीं अटक सकता और न कोई किसी प्रकार की हानि पहुंचा सकता है ।

कहने का आशय यह है कि इन्द्रियों को और मन को वश में करने के साथ व्यवहार की रक्षा भी करनी चाहिए । निश्चय का ही आश्रय करके व्यवहार को त्याग देना उचित नहीं है । केवली भगवान् भी इसलिए परिषह सहन करते हैं कि हमें देखकर दूसरे लोग भी परिषह सहने की सहिष्णुता सीखें । इस प्रकार केवली को भी 'व्यवहार की रक्षा करनी चाहिए' ऐसा प्रकट करते हैं । अतएव केवल निश्चय को ही पकड़ कर नहीं बैठा रहना चाहिए ।

इन्द्रियों और मन को वश में करने के साथ चार कषायों को भी जीतना चाहिए और मन, वचन तथा काय के योग को भी रोकना चाहिए । यह सत्तरह प्रकार का संयम है ।

इस तरह सत्तरह तरह के संयम का पालन करने वाले का मन एकाग्र हो जाता है जिसका मन एकाग्र नहीं रहता, वह इस प्रकार के उत्कृष्ट संयम का पालन नहीं कर सकता । शास्त्र में कहा है—

अच्छंदा जे न भुंजन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ ।

—दशवैकालिक सूत्र

अर्थात्—जो मनुष्य पदार्थ न मिलने के कारण उनका उपभोग नहीं कर सकता, फिर भी जिसका मन उन पदार्थों की ओर दौड़ता है, उसे उन पदार्थों का त्यागी नहीं कह सकते, वह भोगी ही कहा जायेगा । इसके विपरीत जो पुरुष पदार्थ मौजूद रहने पर भी उसकी ओर अपना मन नहीं जाने देता, वह उन पदार्थों का भोगी नहीं वरन् त्यागी कहलाता है ।

तुम इस बात का विचार करो कि हमारे अन्दर संयम है या नहीं ? अगर है तो उसका ठीक तरह पालन करते हो या नहीं ? आज बाहर के फैशन से, बाहर के भपके से और दूसरों की नकल करने से तुम्हारे संयम की कितनी हानि हो रही है, इसका विचार करके फैशन से वचो और संयममय जीवन बनाओ तो तुम्हारा और दूसरों का कल्याण होगा ।

संयम के फल के विषय में भगवान् ने कहा है—संयम से जीव में अनाहतपन आता है । साधारणतया संयम का फल आस्रवरहित होना माना जाता है पर यह साक्षात् अर्थ नहीं है । संयम के साक्षात् अर्थ के विषय में टीकाकार कहते हैं–संयम से जीव ऐसा फल प्राप्त करता है, जिसमें कर्म की विद्यमानता ही नहीं रहती । संयम से आश्रवरहित अवस्था प्राप्त होती है और यह अवस्था प्राप्त होने के वाद जीव निष्कर्म दशा प्राप्त कर लेता है । सूत्रसिद्धान्त वीज रूप में ही कोई बात कहते हैं । अतः उसका विस्तार करके विचार करना आवश्यक है ।

संयम का फल निष्कर्म अवस्था प्राप्त करना कहा गया है। इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि निष्कर्म अवस्था तो तप द्वारा प्राप्त होती है। अगर संयम से ही कर्मरहित अवस्था प्राप्त होती हो तो तप के विषय में जुदा प्रश्न क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वर्णन करने में एक वस्तु ही एक बार आती है। तप और संयम सम्बन्धी प्रश्न अलग-अलग हैं परन्तु दोनों का अर्थ तो एक ही है। चारित्र का अर्थ करते हुए बतलाया गया है कि 'चय' का का अर्थ 'कर्मचय' होता है और 'रित्र' का अर्थ रिक्त करना है। अर्थात् कर्मचय को रिक्त (खाली)करना चारित्र है। चारित्र कहो या संयम कहो, एक ही बात है। अतः चारित्र का फल ही संयम का फल है। चारित्र का फल कर्मरहित अवस्था प्राप्त करना है और संयम का भी यही फल है।

कोई कर्म पुराना होता है और कोई अनागत-आगे आने वाला-होता है। कोई ऋण पुराना होता है और कोई आगे किया जाने वाला होता है। पुराने कर्मों की तो सीमा होती है मगर नवीन कर्म असीम होते हैं। इस कथन का एक उद्देश्य है। जो लोग कहते हैं कि संयम का फल यदि अकर्म अवस्था प्राप्त करना है तो तप का फल अलग क्यों बतलाया गया है ? यदि तप और संयम का फल एक ही है तो दोनों का अलग-अलग प्रश्न रूप में वर्णन क्यों किया गया है ? अगर दोनों का वर्णन अलग-अलग है तो तप और संयम में क्या अन्तर है ? इन प्रश्नों का, मेरी समझ में यह उत्तर दिया जा सकता है कि संयम आगे आने वाले कर्मों को रोकता है और तप आगत अर्थात् संचित कर्मों को नष्ट करता है। संचित कर्मों की तो सीमा होती है पर अनागत कर्मों की सीमा नहीं होती है। संयम नवीन कर्म नहीं बंधने देता और तप पुराने कर्मों का नाश करता है। संयम असीम कर्मों को रोकता है, अतएव संयम का कार्य महान् है। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि संयम से निष्कर्म अवस्था प्राप्त होती है। जो महान् कार्य करता है, उसी का पद ऊंचा माना जाता है।

इस कथन से यह विचारणीय हो जाता है कि जो भूतकाल का ख्याल नहीं करता और भविष्य का ध्यान नहीं रखता, सिर्फ वर्तमान के सुख में ही डूबा रहता है वह चक्कर में पड़ जाता है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह भूतकाल को नजर के सामने रखकर अपने भविष्य का सुधार करे। इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि पहले जो लोग युद्ध में लड़ने के लिए जाते थे और अपने प्राणों की भी बलि चढ़ा देते थे, क्या उन्हें प्राण प्यारे नहीं थे ? प्राण तो उन्हें भी प्यारे थे मगर भविष्य की प्रजा परतन्त्र न बने और कायर न हो जाये, इसी दृष्टि से वे राजपाट छोड़कर युद्ध करने जाते थे और अपने प्राणों को तुच्छ समझते थे।

इस व्यावहारिक उदाहरण को सामने रखकर संयम के विषय में विचार

करो। जैसे योद्धागण अपने राजपाट और प्राणों की ममता त्याग कर लड़ने के लिए जाते थे और भविष्य की प्रजा के सामने पराधीनता सहन न करने का आदर्श उपस्थित करते थे, उसी प्रकार प्राचीनकाल के जो लोग राजपाट त्याग कर संयम स्वीकार करते थे, वे भी आत्मकल्याण साधने के साथ, इस आदर्श द्वारा जगत् का कल्याण करते थे। उनकी संतान सोचती थी—हमारे पूर्वजों ने तृष्णा जीती थी तो हम क्यों तृष्णा में ही फंसे रहें ? प्राचीनकाल के राजा या तो संयम पालन करते-करते मृत्यु से भेंटते थे या युद्ध करते-करते। वे घर में छटपटाते हुए नहीं मरते थे। आजकल के लोग तो घर में पड़े-पड़े, हाय-हाय करते हुए मरण के शिकार बनते हैं। ऐसे कायर लोग अपना अकल्याण तो करते ही हैं, साथ ही दूसरों का भी अकल्याण करते हैं। इसीलिए शास्त्रकार उपदेश देते हैं-हे आत्मा ! तू भूत-भविष्य का विचार करके संयम को स्वीकार कर। संयम आते हुए कर्मों को रोकता है और निष्कर्म अवस्था प्राप्त कराता है।

कोई कह सकता है कि क्या हमें संयम स्वीकार कर लेना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि अगर पूर्ण संयम स्वीकार कर सको तो अच्छा ही है, अन्यथा संसार के प्रति जो ममता है उसे ही कम करो ! इतना करोगे तो भी बहुत है। आज लोग साधन को ही साध्य मानने की भूल कर रहे हैं। उदा-हरणार्थ—धन व्यावहारिक कार्य का एक साधन है। धन के द्वारा व्यवहारोपयोगी वस्तुएं प्राप्त की जा सकती हैं। मगर हुआ यह कि लोगों ने इस साधन को ही साध्य समझ लिया है और वे धनोपार्जन करने में ही अपना सारा जीवन व्य-तीत कर देते हैं। जरा विचार तो करो कि धन तुम्हारे लिए है या तुम धन के लिए हो ? कहने को तो झट कह दोगे कि हम धन के लिए नहीं हैं, धन हमारे लिए है। मगर कथनी के अनुकूल करनी है या नहीं ? सबसे पहले यही सोचो कि तुम कौन हो ? यह विचार कर फिर यह भी विचार करो कि धन किसके लिए है ? तुम रक्त, हाड़ या मांस नहीं हो। यह सब धातुएं तो शरीर के साथ ही भस्म होने वाली हैं। यह बात भली-भांति समझकर आत्मा को धन का गुलाम मत बनाओ। यह बात समझ लेने वाला धन का गुलाम नहीं बनेगा, अपितु धन का स्वामी बनेगा। वह धन को साध्य नहीं, साधन मानकर धनोपार्जन में ही अपना जीवन समाप्त नहीं कर देगा। वह जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न भी करेगा।

अगर आप यह मानते हैं कि धन आपके लिए है, आप धन के लिए नहीं हैं तो मैं पूछता हूं कि आप धन के लिए पाप तो नहीं करते ? असत्य भाषण, विश्वासघात और पिता-पुत्र आदि के बीच क्लेश किसके लिए होते हैं ? धन के लिए ही सब होता है। धन से संसार में क्लेश-कलह होना इस बात का प्रमाण है कि लोगों ने धन को साधन मानने के बदले साध्य समझ लिया है। लोगों की इस भूल के कारण ही संसार में दुःख व्याप रहा है। धन को साध्य मानने के बदले साधन माना जाये और लोकहित में उसका सद्व्यय किया जाये तो कहा

जा सकता है कि धन का सदुपयोग हुआ है। इसके बदले आप साधनसम्पन्न होने पर भी यदि किसी वस्त्रविहीन को ठण्ड से ठिठुरता देखकर भी और भूख-प्यास से कष्ट पाते देखकर भी उसकी सहायता नहीं करते तो इससे आपकी कृपणता ही प्रकट होती है। धन का सदुपयोग करने में हृदय की उदारता होना आवश्यक है। हृदय की उदारता के अभाव में धन का सद्व्यय नहीं हो सकता। धन तो व्यवहार का साधन मात्र है। वह साध्य नहीं है। यह बात सब को सर्वदा स्मरण रखनी चाहिए। धन के प्रति जो मोह है उसका त्याग करने में ही कल्याण है। 'वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते' अर्थात् धन प्रमादी पुरुष की रक्षा नहीं कर सकता। शास्त्र के इस कथन को भलीभांति समझ लेने वाला धन को कदापि साध्य नहीं समझेगा। वह धन के प्रति ममत्व का भाव भी नहीं रखेगा। धन के प्रति इस प्रकार निर्मल बनने वाला भाग्यवान् पुरुष ही संयम के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

धन की भांति शरीर को भी साधन ही समझना चाहिए। शरीर को आप अपना मानते हैं, मगर क्या हमेशा के लिए यह आपका है? अगर नहीं, तो फिर यह आपका कैसे हुआ? श्री भगवती सूत्र में कहा है—कर्मों का बंध न अकेले आत्मा से होता है और न अकेले शरीर से ही होता है। अगर अकेले शरीर से कर्मबंध होता तो उसका फल आत्मा क्यों भोगता? अगर अकेले आत्मा से बंध होता तो शरीर को फल क्यों भोगना पड़ता? आत्मा और शरीर एक दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं—और दूसरी दृष्टि से अभिन्न अभिन्न भी हैं। अतएव कर्म दोनों के द्वारा कृत हैं। ऐसी स्थिति में शरीर को साधन समझकर उसके द्वारा आत्मा का कल्याण करना चाहिए। जो शरीर को साधन समझेगा वही संयम स्वीकार कर उसका फल प्राप्त कर सकेगा जिस वस्तु के प्रति ममता का त्याग कर दिया जाता है, उस वस्तु का संयम करना कहलाता है। अतः बाह्य वस्तुओं के प्रति जितने परिमाण में ममता त्यागोगे, उतने ही परिमाण में आत्मा का कल्याण साध सकोगे।

भगवान् ने संयम का फल निष्कर्म अवस्था की प्राप्ति बतलाया है। कर्मरहित अवस्था प्राप्त करना अपने ही हाथ में है। संयम किसी भी प्रकार दुःखप्रद नहीं वरन् आनन्दप्रद है और परलोक में भी आनन्ददायक है।

संयम में पुरुषार्थ

□ आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि

भगवान महावीर के द्वारा बताई गई चौथी दुर्लभ वस्तु पर कुछ कहना है। वह दुर्लभ वस्तु है–संयम में पुरुषार्थ। उन्होंने अपने अनुभव रस से परिपूर्ण वाणी में कहा–

सुईं व लद्धुं सद्धं च वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि णो य णं पडिवज्जइ ॥

—उत्तराध्ययन अ. ३ गा. १०

"कदाचित् धर्म श्रवण प्राप्त करके व्यक्ति श्रद्धा भी करले, लेकिन संयम में शक्ति लगाना तो बड़ा दुर्लभ है। क्योंकि बहुत से व्यक्ति किसी श्रेयस्कर वस्तु पर रुचि कर लेते हैं, लेकिन उसे जीवन में उतारना स्वीकार नहीं करते।"

संयम में पराक्रम दुर्लभ क्यों ?

प्रश्न होता है, जब व्यक्ति किसी चीज को सुनकर, जान कर, महत्त्व समझ कर उस पर श्रद्धा कर लेता है, तब भी उसका आचरण उसके लिए दुर्लभ क्यों हो जाता है ? श्रद्धा और आचरण के बीच खाई क्यों पड़ जाती है ? जहां तक हमारा व्यावहारिक अनुभव है, इन तीनों में धर्म श्रवण करने वाले सबसे ज्यादा मिलेंगे, उससे कम दृढ़ श्रद्धा वाले मिलेंगे तथा उससे कम मिलेंगे धर्माचरण करने वाले। कहा भी है—

परोपदेशे पाण्डित्यं, सर्वेषा सुकरं नृणाम्।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित् महात्मनः ॥

"दूसरों को उपदेश देने में पाण्डित्य दिखाना सबके लिए सुलभ है। लेकिन धर्म में अपनी सर्वस्व शक्ति लगा देने वाले विरले ही महान् आत्मा होते हैं।"

संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता के कारण :

जिन कारणों को लेकर मनुष्य संयम में पुरुषार्थ नहीं कर पाता, उनमें मुख्य कारण ये प्रतीत होते हैं—(१) भोग का बोलवाला, (२) धन की अधिकता, (३) सत्ता की प्राप्ति, (४) इन्द्रिय विषयों की रमणीयता, (५) कषायों और वासनाओं में शीघ्र प्रवृत्ति, (६) पुनर्जन्म, परलोक आदि पर अविश्वास, (७) सुसंस्कारों का अभाव, (८) सतत, दीर्घकाल तक टिके रहने में अधीरता।

आज संसार के सभी राष्ट्रों में अधिकांश लोगों की रुचि सांसारिक पदार्थों के अधिकाधिक उपभोग की ओर है। जहां देखो वहीं भोग-विलास के

आकर्षक साधन बढ़ रहे हैं। ऐसी दशा में अपने मन और इन्द्रियों पर संयम रखना कितना कठिन है! प्रत्येक इन्द्रिय की तृप्ति के लिए विलासिता के साधन दिनोदिन बढ़ते जा रहे हैं। आंखों की तृप्ति के लिए अश्लील और विकारवर्द्धक सिनेमा और नाटकों के दृश्य, नग्न नृत्य, सुन्दरियों के अर्धनग्न चित्र, कामोत्तेजक वातावरण का दर्शन असंयम को ही बढ़ावा देता है। कानों की तृप्ति के लिए सुरीले मादक गीत, रेडियो, ग्रामोफोन एवं सिनेमाघरों के अश्लील गाने सारे वातावरण को विलासमय एवं असंयमी बना देते हैं। नाक की तृप्ति के लिए मोहक सुगन्धित पदार्थ वातावरण को मादक बनाने के लिए काफी हैं। जीभ को संतुष्ट करने के लिए एक से एक बढ़कर स्वादिष्ट, चटपटी, मीठी और मसालेदार वस्तुएं सामने हों तो जीभ पर संयम कैसे रखा जा सकता है? और स्पर्शेन्द्रिय की तृप्ति के लिए कोमल गुदगुदाने वाली शय्या, चमकीले-भड़कीले मुलायम वस्त्र, स्नो, पाउडर, लवेंडर एवं त्वचा को कोमल, सुन्दर, व लचीली बनाने के लिए प्रसाधन की सामग्री आदि धड़ल्ले के साथ बढ़ती जा रही है। मन को कामोत्तेजना से भर देने के लिए अश्लील साहित्य तथा दृश्य आदि का प्रचुर मात्रा में स्वागत किया जा रहा है और ऐसी दशा में जहां भोगविलास का ही बोलबाला हो वहां त्याग और संयम की ओर झुकना कितना कठिन है, यह हम अंदाजा लगा सकते हैं। यही कारण है कि संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता का प्रथम कारण भोगविलास के साधनों का प्रचुर मात्रा में बढ़ना है।

संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता का दूसरा कारण है—धन की अधिकता। जहां धन अधिक होने लगता है, वहां विलासिता और रागरंग ही सूझता है। संयम के तंग ढीले पड़ने लगते हैं। धन का नशा ही ऐसा है कि मनुष्य उसके नशे में पागल होकर अपने हिताहित, संयम-असंयम, हानि-लाभ के बारे में नहीं सोच पाता। संयम की बात उसे चुभती है। वह चाहता है कि कोई भी मुझे अपने मन और इन्द्रियों पर अंकुश रखने की बात न कहे। वास्तव में धन के साथ यदि विवेक बुद्धि न हो तो वह अर्थ अनर्थकर बन जाता है। इसलिए धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् से यही प्रार्थना करते हैं—

धने मे धर्मबुद्धिः स्यात्।

हे भगवन्! धन प्राप्ति के साथ मेरी धर्मबुद्धि बनी रहे।

परन्तु आजकल प्रायः यही देखा जाता है कि जो व्यक्ति, परिवार, समाज या राष्ट्र अधिक धनिक हो जाता है, वह प्रायः विलासी, अय्याश और शराबी-मांसाहारी बनने में देर नहीं लगाता। इसलिए नीतिकार कहते हैं—

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

अर्थात् जवानी, धन की प्राप्ति, प्रभुता और अविवेक इन चारों में से

हर एक अनर्थ करने वाली चीज है । यदि ये चारों इकट्ठी मिल जाय तो फिर कहना ही क्या है ?

खासतौर से जवानी में संयम तभी रह सकता है जब तक धन प्रचुर मात्रा में न मिले । धन और सत्ता का जोड़ा है । प्राय: सत्ता भी धन वाले के हाथ में जाती है और इन तीनों के साथ प्राय: अविवेक जुड़ ही जाता है जो सारे जीवन को असंयम में ले जाकर बर्बाद कर देता है । इसी कारण धन की अधिक मात्रा प्राय: मनुष्य को संयम के पास फ़टकने नहीं देती ।

संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता का तीसरा कारण सत्ता की प्राप्ति है । मनुष्य जब सत्ता पा जाता है, तो प्राय: वह अपने मन, इन्द्रियों, वासना, क्रोध-अभिमान आदि कषायों पर संयम नहीं रख पाता । वह या तो उच्छृंखल होकर दुराचार के मार्ग में प्रवृत्त हो जाता है या फिर वह सत्ता के मद में आकर दूसरों पर अत्याचार व अन्याय करने लगता है, वह अपने हाथों-पैरों, मन व इन्द्रियों पर संयम नहीं रख पाता । वह यही सोचने लगता है कि मैं जो कुछ करता हूं, वह बिल्कुल उचित है—

प्रभुता पाय काहि मद नांही ।

इन्द्रिय विषयों की रमणीयता भी संयम में पराक्रम करने में दुर्लभता का चौथा कारण है । पांचों इन्द्रियों के विषय जब अपना लुभावना रूप बनाकर मनुष्य के सामने आते हैं तो उनका मोहक रूप देखकर मनुष्य उनमें आसक्त हो जाता है, विषयों में बुरी तरह फंस जाता है । उन पर संयम रखना उसके लिए बड़ा ही कठिन हो जाता है ।

संयम में पुरुषार्थ के दुर्लभ होने का पांचवा कारण कषायों और वासनाओं में शीघ्र प्रवृत्त हो जाना भी है । प्राणियों का ऐसा स्वभाव बन जाता है या बन गया है कि वे कषायों और वासनाओं में तुरंत प्रवृत्त हो जाते हैं । एक तो बचपन से ही घर और समाज का वातावरण ही प्राय: असंयम का मिलता है । फिर मनुष्य के सामने रात-दिन कषायों और वासनाओं की भट्टी में धधकने वाले व्यक्तियों की ही घटनाएं घटित होती हों, वहां जिन्दगी के प्रारंभ से आज तक असंयम से अभ्यस्त व्यक्ति एकाएक संयम के कठोर व कष्टप्रद मार्ग को कैसे स्वीकार कर सकता है ? ऐसे असंयम के वातावरण में भी संयम के पुनीत मार्ग पर विरले ही टिके रह सकते हैं ।

संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता में छठा कारण पुनर्जन्म या परलोक में विश्वास न होना है । बहुत से लोग इस भौतिकवाद के जमाने में यह सोचने लगे हैं कि मनुष्य-जन्म इसीलिए मिला है कि खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ । न मालूम परलोक है या नहीं ? किसने स्वर्ग नरक को देखा है ? जो कुछ विषयों का उपभोग करना हो सो कर लो ।

संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता में सातवां कारण संस्कारों का अभाव है। इसी कारण अच्छे कुल या उत्तम खानदान का बड़ा महत्व समझा जाता है और संबंध जोड़ते समय उत्तम खानदान और पवित्र कुल का विचार किया जाता है। क्योंकि उत्तम खानदान में सुन्दर संस्कार कूट-कूट कर भरे होते हैं। कितने ही भयों या प्रलोभनों के आने पर भी सुसंस्कार प्रेरित व्यक्ति कभी असंयम के रास्ते पर नहीं जाता परन्तु सुसंस्कार भी विरले लोगों को ही मिलते हैं।

संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता में आठवां कारण संयम मार्ग की मर्यादा पर सतत दीर्घकाल तक दृढ़ न रहना है। मनुष्य का सामान्यतया यह स्वभाव होता है कि वह एक ही चीज पर बहुत लम्बे समय तक टिका नहीं रहता, उससे ऊब जाता है, या थक जाता है अथवा हताश हो जाता है जैसे भोजन में भी एक ही चीज आए तो आप उससे अरुचि करने लगते हैं, वैसे ही मनुष्य साधना में भी नये स्वाद को अपनाने के लिए लालायित रहता है। संयममार्ग वैसे तो नीरस नहीं है, परन्तु भौतिकता की चकाचौंध से मनुष्य उसे नीरस और रूखा समझने लगता है और यहां तक कहने लगता है कि अब कहां तक इस संयम की रट लगाते रहेंगे। इस कारण कई वर्ष तक मनुष्य संयममार्ग की मर्यादा पर चल कर फिर उसे छोड़ बैठता है। इसी कारण को लेकर संयम में पुरुषार्थ पर टिके रहना बड़ा दुर्लभ बताया है। कोई भी साधना तब तक आनन्ददायक या सफल नहीं होती जब तक कि दीर्घकाल तक आदर और श्रद्धापूर्वक निरंतर उसका सेवन न किया जाय। योगदर्शन में महर्षि पतन्जलि ने कहा है—

स तु दीर्घतर–नैरन्तर्य–सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।

"चितवृतिनिरोधरूप योग तभी सुदृढ़ होता है, जबकि दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक उसका सेवन किया जाय।"

भाग्यशालियो! संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता के इन कारणों पर गहराई से विचार करें। संयम का जीवन में तो अनिवार्य स्थान और महत्त्व है, उसे समझकर, आदरपूर्वक यदि उसे जीवन का अंग बना लेंगे तो आपके लिए संयम नीरस नहीं सरस बन जायगा, दुर्लभ नहीं, सुलभ हो जायगा। संयम जीवन के लिए अमृत है। असंयम नैतिक मृत्यु है। जिसकी आत्मा सहज संयम में स्थिर हो जाता है, उसके लिए संयम में पुरुषार्थ सरल हो जाता है। बल्कि संयम में पुरुषार्थ को वह स्वाभाविक और असंयम में रमण को अस्वाभाविक समझने लगता है।

संयम में पुरुषार्थ का रहस्य :

संयम में पुरुषार्थ का मतलब कोई यह न समझ ले कि सबको घर-बार, धन-संपत्ति छोड़कर साधु बन जाना है। साधु जीवन की साधना तो उच्च संयम की साधना है ही, लेकिन गृहस्थ जीवन में भी संयम की आवश्यकता होती है।

संयम का अर्थ केवल ब्रह्मचर्य पालन कर लेना भी नहीं है । ब्रह्मचर्य, चाहे वह मर्यादित हो चाहे पूर्ण, संयम का प्रधान अंग जरूर है, लेकिन इतने में ही संयम की इति, समाप्ति नहीं हो जाती । अतः चाहे वह ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो या सन्यासी, साधु हो, प्रत्येक अवस्था में संयम में पुरुषार्थ की जरूरत रहती है, फिर वह चाहे अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार ही क्यों न हो । और संयम का वास्तविक अर्थ यहां पांचों इन्द्रियों, मन, वचन, काया, चार कषाय, हाथ-पैर तथा सांसारिक पदार्थों, यहां तक कि षट् काया (सृष्टि के सभी प्राणियों) के प्रति संयम से है । स्वेच्छा से भली-भांति इन्द्रिय, मन आदि पर अंकुश रखना, नियंत्रण रखना संयम है ।

श्रोत्रेन्द्रिय संयम का अर्थ यह नहीं है कि कानों से आप सुनें ही नहीं या कान की श्रवणशक्ति को खत्म कर दें । अपितु कानों के द्वारा गंदी, निन्दात्मक या अश्लील बात या गायन न सुनें । अगर कभी कानों में पड़ भी जाय तो उस पर से आसक्ति या राग-द्वेष न लावें । फिल्मी गीत सुनने हों तो आपके कान सदैव तैयार रहें और आध्यात्मिक संगीत सुनने में अरुचि दिखाएं तो समझना चाहिए कि श्रोतेन्द्रिय संयम नहीं है । दूसरे की निन्दा की बातें या अपनी प्रशंसा की बातें सुनने के लिए आपके कान सदा तैयार रहें और अपनी निन्दा और दूसरों की तारीफ हो रही हो, वहां मन में द्वेषभाव भड़क उठे तो समझना चाहिए श्रोतेन्द्रिय संयम नहीं है ।

चक्षुरन्द्रिय संयम का अर्थ है—आंखों से किसी वस्तु या व्यक्ति को देखकर राग या द्वेष की भावना न लावें । आंखों पर संयम कैसे होता है, इसके लिए रामायण का एक भव्य उदाहरण लीजिये—

रामचन्द्रजी जब १४ वर्ष के लिए अयोध्या छोड़कर वनवास को गए तब सीताजी तो साथ में थीं ही, लक्ष्मण भी साथ में थे । एक बार जब रावण मर्यादा का उल्लंघन करके पतिव्रता सती सीता को बलात् अपहरण करके ले जाने लगा तो सती सीता ने अत्याचारी रावण के पंजे से छूटने का बहुतेरा उपाय किया । लेकिन जब वह इसमें सफल न हुई तो वह जिस रास्ते से विमान द्वारा ले जाई जा रही थी, उस रास्ते में एक-एक करके अपने गहने उतार कर डालती गई, ताकि भगवान राम उस पथ को जान सकें । इधर जब राम और लक्ष्मण पंचवटी को लौटे और कुटिया को सूनी देखा तो सीता के विरह में राम व्याकुल हो उठे । अपने भाई लक्ष्मण को साथ लेकर वे सीता की खोज में चल पड़े । रास्ते में जब वे बिखरे हुए गहने मिले तो राम ने लक्ष्मण से कहा—"भाई ! मेरा मन इस समय सीता के वियोग में व्याकुल हो रहा है, दृष्टि पर अंधेरा छाया हुआ है, अतः मैं देखकर भी निर्णय नहीं कर पा रहा हूं कि आभूषण किसके हैं ? अब तू ही भली भांति जांच-पारख कर बता कि ये आभूषण तेरी

भाभी के ही हैं या अन्य किसी के ?" यह सुनकर लक्ष्मण ने जो कुछ कहा वह आंखों पर संयम का ज्वलन्त उदाहरण है—

केयूरे नैव जानामि, नैव जानामि कुण्डले ।
नूपुरे त्वभिजानामि, नित्यं पादाभिवन्दनात् ।।

"हे भाई ! मैं बाजूबन्दों को भी नहीं पहिचान सकता और न इन दोनों कुण्डलों को पहिचान सकता हूं । लेकिन मैं इन दोनों नूपुरों को तो जानता हूं, क्योंकि मैं भाभी के चरणों में प्रतिदिन वन्दन करने जाता था तो मेरी दृष्टि नूपुर पर तो सहज ही पड़ जाती थी ।"

यह है नेत्र संयम का पाठ । आज लोगों का आंखों पर संयम बहुत ही दुर्लभ हो रहा है । उसकी नजर चलते-चलते सिनेमा की सुन्दरियों के चित्रों पर दौड़ेगी । इतना ही नहीं सिनेमा की तारिकाओं को देखने के लिए भीड़ उमड़ेगी । पर सन्तों के दर्शन के लिए या भगवान के दर्शन के लिए ? वहां तो समय के अभाव का बहाना बनाया जाएगा । भक्त तुकाराम ने आंखों पर संयम के लिए भगवान् से प्रार्थना की है—

पापाची वासना न को दाउ डोला ।
त्यांहून आंधला बरा च मीं ।।

अर्थात्—"हे प्रभो ! मुझ पर तेरी ऐसी कृपा हो कि मेरी आंखों में पाप की वासना न आए । अगर इतना न कर सका तो मेरा अन्धा बन जाना अच्छा है ।"

रसनेन्द्रिय संयम का अर्थ है, अपनी जिह्वा पर नियंत्रण रखना । जीभ से दो काम होते हैं, बोलने का और चखने का । इन दोनों कामों में सावधानी बरती जाय । बोलने के समय ध्यान रखें कि "मैं जीभ से असत्य, कर्कश, कठोर हिंसाकारी, छेदभेदकारी, फूट डालने वाला, मर्मस्पर्शी, पापवर्द्धक, कामोत्तेजक, अनर्गल वचन तो नहीं कह रहा हूं ।" कई लोग वचन से दूसरों को गाली देकर निन्दा करके, चुगली खा कर असंयम में प्रवृत्त होते हैं । वचन ही आपस में कलह और युद्ध करवाता है । अतः वचन पर काबू रखना बड़ा कठिन है । सम्प्रदायों, जातियों, समाजों, राष्ट्रों में अगर वचन का विवेक आ जाय तो आपस में लड़ना-भिड़ना बंद होकर राग-द्वेष शान्त हो जाय । परन्तु वचन पर असंयम तो आज धड़ल्ले से बढ़ता जा रहा है ।

जीभ से दूसरा काम होता है चखने का, खाने का काम मुंह और दांतों का है । जबान का काम केवल उसे चखना है कि वह खाना ठीक और पथ्य है या नहीं ? लेकिन जबान इतनी चटोरी बन जाती है कि चखने का काम छोड़कर चटपटी, मसालेदार, स्वादिष्ट, मीठी चीजों के खाने के चक्कर में पड़ जाती है, मन को आर्डर देने लगती है कि फलां चीज बड़ी स्वादिष्ट है, वह चीज लाओ ।

यह चीज तो कड़वी, कसायली या फीकी है, नहीं चाहिए। इस प्रकार जीभ जब अपनी मर्यादा का उल्लंघन करके अपने उत्तरदायित्व को छोड़ बैठती है, तब असंयम में ले जाकर मनुष्य का सर्वनाश करा बैठती है।

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय (नाक) पर संयम रखना भी जरूरी है। नाक पर संयम न रखने के कारण ही मनुष्य आज हजारों फूलों को कुचल कर, निचोड़ कर बनाए गए सुगन्धित इत्र का उपयोग करता है। इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय संयम का अर्थ है—कोमल, कामोत्तेजक, गुदगुदाने वाली वस्तुओं का स्पर्श न किया जाय, ऐसी चीजों का उपभोग न किया जाय।

मन पर संयम का रहस्य यही है कि पांचों इन्द्रियां कदाचित् असंयम की ओर ले जाने लगें, लेकिन मन उस समय जागृत रहे और उन पर अंकुश लगा दे तो मनुष्य जगत् को जीत सकता है। गणधर गौतम स्वामी इसी रहस्य को प्रगट कर रहे हैं:—

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं सव्वसत्तु जिणामहं॥

उत्तराध्ययन अ. २३ गाथा ३६

एक मन को जीत लेने पर पांचों इन्द्रियां जीती जा सकती हैं। और पांचों इन्द्रियों पर विजय पा लेने के बाद पांचों प्रमाद और पांचों अव्रतों पर विजय पाई जा सकती है। इस प्रकार इन्द्रियों और मन को शिक्षित बना लेने पर इन दसों पर विजेता होकर मैं सब शत्रुओं को जीत लेता हूं।"

अन्य बातों पर भी संयम आवश्यक :

पांचों इन्द्रियों और मन के अलावा हाथों, पैरों और शरीर पर भी संयम आवश्यक है। हाथों से किसी के थप्पड़, घूंसा आदि न मारना, चोरी व छीना-झपटी न करना, किसी को धक्का न देना, किसी का बुरा न करना हाथों का संयम है। पैरों से किसी के ठोकर लगाना, किसी को कुचलना, रोंदना, दबाना और लात मारना पैरों का असंयम है। उसे रोकना संयम है। इसी प्रकार अपने शरीर से गलत चेष्टाएं करना, दूसरे पर बोझ रूप होना, शरीर को गलत प्रवृत्तियों में लगाना शरीर का असंयम है। उस पर काबू रखना शरीर संयम है। इसी प्रकार पृथ्वीकायादि पर संयम भी जीवन में जरूरी है। जरूरत से अधिक मिट्टी का उपयोग न करना, अग्नि के इस्तेमाल पर कन्ट्रोल करना, हवा का उपयोग भी जरूरत से ज्यादा न करना और वनस्पतिजन्य चीजों का इस्तेमाल भी केवल जीवन-निर्वाह के अतिरिक्त न करना पृथ्वीकाय आदि का संयम है।

इसके अलावा कषायों और वासनाओं पर भी संयम रखना बहुत जरूरी है। यह संयम मन से संबंध रखता है। अगर मनुष्य अपने मन और इन्द्रियों पर स्वेच्छा से संयम कर ले तो काफी चीजों पर संयम हो जाता है।

भाग्यशालियो ! काफी विस्तार से मैं आपको संयम में पुरुषार्थ के बारे में कह चुका हूं । आप अपने जीवन में संयम को स्थान देंगे तो उससे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के लाभ होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं । संयमी जीवन स्वयं ही अमृतमय, सुखमय और संतोषमय होता है । अतः मन में दृढ़ निश्चय कर लें—**असंजमं परियाणामि संजमं उवसंपवज्जामि**—असंयम के परिणामों को भलीभांति जानकर मैं संयम को स्वीकार करता हूं ।

□

संयम : पारदर्शी दोहे

❀ **छंदराज पारदर्शी**

(१)

मन्दिर-मस्जिद चर्च सब, इस तन को ही मान ।
संयम से उपयोग कर, तू खुद ही भगवान ।। १ ।।

(२)

मन उलट नम जायगा, पाएगा आशीष ।
संयम से संसार में, मिल जाते जगदीश ।। २ ।।

(३)

जीव अनेकों जगत में, पैदा हो मर जाय ।
संयम रख जनहित करें, वे ही अमर कहाय ।। ३ ।।

(४)

सुख-दुःख में समता रहे, करें भले सब काम ।
संयम में जीवन रमा, सन्त उसी का नाम ।। ४ ।।

(५)

तन-धन की तकरार है, रूप-मोह बेकार ।
भावना में भगवान हो, कोई नाम पुकार ।। ५ ।।

(६)

मरना सबको आयगा, जीना-जीना जान ।
आत्मा तो मरती नहीं, अमर बना पहचान ।। ६ ।।

(७)

मरघट पर सब देख लें, समता की तस्वीर ।
एक साथ ही जल रहे, राजा-रंक-फकीर ।। ७ ।।

—२६१ ताम्बावती मार्ग, उदयपु

दीक्षाधारी अकिंचन सोहता

❀ आचार्य श्री आनन्दऋषि जी म.सा.

साधु वेषधारक भारतवर्ष में आज लगभग ७० लाख हैं परन्तु इनमें सच्चे साधु या मुनि–दीक्षाधारी कितने हैं ? यह गम्भीर प्रश्न है। अगर सच्चे दीक्षाधारी साधु अल्पसंख्या में भी होते तो वे अपने और समाज के जीवन का कायाकल्प, सुधार या उद्धार कर पाते । परन्तु आज जहां देखें, वहां तथाकथित साधुओं में सम्पत्ति और जमीन जायदाद के लिए झगड़ा हो रहा है, आये दिन अदालतों में मुकदमेबाजी होती है। कहीं जातीय कलह है तो कहीं गांव का, तो कहीं स्थान का है, उनके पीछे तथाकथित साधुओं का हाथ है । ये सब झंझट अपना घर-बार और जमीन-जायदाद छोड़कर साधुदीक्षा लेने वाले के पीछे क्यों होते हैं ? इन सबका एकमात्र हल क्या है ? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को हल करने के लिए महर्षि गौतम ने स्पष्ट शब्दों में कहा है–

अकिंचणो सोहइ दिक्खधारी

'दीक्षाधारी साधु तो अकिंचन ही सोहता है ।'

साधु की शोभा निस्पृहता है :

अब हम इस पर गहराई से विचार करें कि दीक्षाधारी साधु सच्चे माने में कौन है ? वह किस उद्देश्य से दीक्षित होता है ? उसका अकिंचन रहना क्यों आवश्यक है ? साधुदीक्षा लेने के बाद अकिंचन साधु किस तरह परिग्रह या संग्रह की मोहमाया में फंस जाता है ? अकिंचन बने रहने के उपाय क्या हैं ? तथा अकिंचनता के लिए आवश्यक गुण कौन-कौन से हैं ?

सच्चा दीक्षाधारी साधु–जीवन स्वीकार करते समय अपने घर–बार, जमीन–जायदाद, कुटुम्ब--परिवार एवं सोना–चांदी आदि सभी प्रकार के परिग्रह को हृदय से छोड़ता है । वह इसलिए इन सबको छोड़ता है कि इन सबसे संबं–धित ममत्व–बन्धन, आसक्ति और मोह न हो तथा इन दोषों के उत्पन्न होने के साथ ही लड़ाई-झगड़े, कलह, क्लेश, अशान्ति, बेचैनी, चिन्ता आदि पैदा न हों । यह निश्चित है कि जब दीक्षाधारी साधु परिग्रह के प्रपंचों में पड़ जाता है, तब उसकी मानसिक शान्ति, निश्चिन्तता, सन्तोषवृत्ति एवं निर्ममत्व भावना समाप्त हो जाती है, और वह स्व–परकल्याण साधना नहीं कर सकता । भले ही उसका वेश साधु का होगा, परन्तु उसकी वृत्ति से साधुता, निर्लोभता, निर्ममत्व, शान्ति और निश्चिन्तता पलायित हो जाएंगे ।

साधु जीवन अंगीकार करने का जो उद्देश्य था–ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना द्वारा कार्यक्षय करके मोक्ष प्राक्ष प्राप्त करने का, वह इस प्रकार की

परिग्रहवृत्ति–ममत्वग्रन्थि आ जाने पर लुप्त हो जाता है । अतः अगर संक्षेप में सच्चा दीक्षाधारी कौन है ? यह बताना हो तो हम कह सकते हैं—जो निर्ग्रन्थ है, अपरिग्रही है, वही वास्तव में सच्चा दीक्षाधारी साधु है, और उसकी शोभा अकिंचन बने रहने में है । वही जिसके जीवन में बाह्य और आभ्यन्तर किसी प्रकार के परिग्रह की ग्रन्थि न हो, वही सच्चा गुरु है, सच्चा दीक्षित मुनि या श्रमण है ।

केवल घर-बार छोड़ने या धन-सम्पत्ति का त्याग कर देने मात्र से कोई सच्चा साधु नहीं माना जा सकता, जब तक कि उसके अन्तर से त्यागवृत्ति न हो, उन वस्तुओं—सचित्त या अचित्त पदार्थों के प्रति उसकी आसक्ति, मोह या लालसा न छूटे, उसके मन से इच्छाओं, कामनाओं का त्याग न हो । यहां तक कि अपने धर्मस्थान, शरीर, शिष्य तथा विचरण-क्षेत्र, शास्त्र, पुस्तक आदि पर भी उसके मन में ममत्व, स्वामित्वभाव या लगाव न हो । दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है---

लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहिकामे, गिही पव्वइए न से ।।

'निर्ग्रन्थ-मर्यादा का भंग करके जिस किसी वस्तु का संग्रह करने की वृत्ति को मैं आन्तरिक लोभ की झलक मानता हूं । अतः जो संग्रह करने की वृत्ति रखते हैं, वे प्रव्रजित-दीक्षित नहीं, अपितु सांसारिक प्रवृत्तियों में रचे-पचे गृहस्थ हैं ।'

दीक्षा ग्रहण करने से पहले साधु ने जिन मनोज्ञ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयभोगों की मनोहर, प्रिय वस्त्र, अलंकार, स्त्रीजन, शय्या आदि को स्वेच्छा से छोड़ा है, उन्हीं मनोज्ञ,प्रिय एवं कमनीय भोग्य वस्तुओं की मन में लालसा रखना,उनकी प्राप्ति हो सकती हो या न हो सकती हो, फिर भी उनके लिए मन में कामनाएं संजोना, त्यागी का लक्षण नहीं है, वह अत्यागी है ।

वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ।।

—दशवैकालिक अ० २

दीक्षित साधु के समक्ष धन का ढेर लगा होगा, सुन्दर-सुन्दर वस्तुएं पड़ी होंगी, अच्छे-अच्छे खाद्य पदार्थ सामने धरे होंगे, तो भी वह उनको लेने के लिए मन में विचार नहीं करेगा । जैसे कमल कीचड़ में पैदा होते हुए भी उससे अलिप्त रहता है वैसे ही सच्चा दीक्षाधारी साधु पंक-सम संसार और समाज में रहते हुए भी उनकी प्रवृत्तियों से अलिप्त रहेगा । वह अपने मन में संसार नहीं बसाएगा ।

निष्कर्ष यह है कि दीक्षाधारी साधु अपरिग्रही, निर्ममत्व, अनासक्त, निर्लेप, निर्ग्रन्थ एवं अकिंचन होना चाहिए। सांसारिक बातों का किसी प्रकार रंग या लेप उस पर नहीं होना चाहिए। त्यागी बनकर जो उस त्याग की मन-वचन-काया से अप्रमत्त एवं जागरुक होकर साधना करता है, वही सच्चा दीक्षा धारी है; वही स्व-पर-कल्याणसाधक सच्चा साधु है। जो स्वयं संसार की मोह-माया में पड़ जाता है, वह साधु-जीवन के उद्देश्य के अनुसार कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता और न ही संसार की मोहमाया में पड़े हुए तथा कर्मबन्धनों में लिपटे हुए लोगों को सच्चा मार्गदर्शन दे सकता है। साधुदीक्षा ग्रहण करके पुनः सांसारिक प्रवृत्तियों में पड़ने वाला व्यक्ति 'इतोभ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' हो जाता है।

दीक्षा रा दूहा

डॉ. नरेन्द्र भानावत

(१)

दीक्षा तम में जोत ज्यूं, खोलै हिय री आंख।
जीवन-नभ में उडण नै, ज्ञान–क्रिया री पांख॥

(२)

विषय-वासना पर विजय, दीक्षा शक्ति अनन्त।
तन-मन री जड़ता मिटै प्रगटै ज्ञान बसन्त॥

(३)

भव-नद उलझ्या जीव-हित, दीक्षा निरमल द्वीप।
गुण-मोती उपजै सदा, विकसै मन री सीप॥

(४)

करम-लेवड़ा उतरै, तप संयम रो लेप।
आतम वै परमातमा, मिटै बीच रो 'गैप'॥

(५)

भटक्या नै मारग मिलै, अटक्या नै आधार।
मझधारां नै तट मिलै, उतरै भव रो भार॥

धर्म-साधना में जैन साधना की विशिष्टता

❀ आचार्य श्री हस्तीमल जी म. सा.

साधना का महत्त्व और प्रकार :

साधना मानव जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। संसार में विभिन्न प्रकार के प्राणी जीवन-यापन करते हैं, पर साधना-शून्य होने से उनके जीवन का कोई महत्त्व नहीं आंका जाता। मानव साधना–शील होने से ही सव में विशिष्ट प्राणी माना जाता है। किसी भी कार्य के लिये विधि पूर्वक पद्धति से किया गया कार्य ही सिद्धि-दायक होता है। भले वह अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष में से कोई हो। अर्थ व भोग की प्राप्ति के लिये भी साधना करनी पड़ती है। कठिन से कठिन दिखने वाले कार्य और भयंकर स्वभाव के प्राणी भी साधना से सिद्ध कर लिये जाते हैं। साधना में कोई भी कार्य ऐसा नहीं जो साधना से सिद्ध न हो। साधना के बल से मानव प्रकृति को भी अनुकूल बना कर अपने अधीन कर लेता है और दुर्दान्त देव-दानव को भी त्याग, तप एवं प्रेम के दृढ़ साधन से मनोनुकूल बना पाता है। वन में निर्भय गर्जन करने वाला केशरी सर्कस में मास्टर के संकेत पर क्यों खेलता है? मानव की यह कौन-सी शक्ति है, जिससे सिंह, सर्प जैसे भयावने प्राणी भी उससे डरते हैं। यह साधना का ही वल है। संक्षेप में साधना को दो भागों में बांट सकते हैं—लोक साधना और लोकोत्तर साधना। देश-साधना मंत्र-साधना, तन्त्र–साधना, विद्या–साधना आदि काम निमित्तक की जाने वाली सभी साधनायें लौकिक और धर्म तथा मोक्ष के लिये की जाने वाली साधना लोकोत्तर या आध्यात्मिक कही जाती हैं। हमें यहां उस अध्यात्म–साधना पर ही विचार करना है, क्योंकि जैन साधना अध्यात्म साधना का ही प्रमुख अग है।

जैन साधना : आस्तिक दर्शनों ने दृश्यमान् तन-धन आदि जड़ जगत से चेतना सम्पन्न आत्मा को भिन्न और स्वतंत्र माना है। अनन्तानन्त शक्ति सम्पन्न होकर भी आत्मा कर्म संयोग से, स्वरूप से च्युत हो चुका है। उसकी अनन्त शक्ति पराधीन हो चली है। वह अपने मूल धर्म को भूल कर दुःखी, विकल और चिन्तामग्न दृष्टिगोचर होता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्म का आवरण दूर हो जाय तो जीव और शिव में, आत्मा एवं परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता।

कर्म के पाश में बंधे हुए आत्मा को मुक्त करना प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों का लक्ष्य है, साध्य है। उसका साधन धर्म ही हो सकता है, जैसा कि सूक्ति मुक्तावली में कहा है—

त्रिवर्ग संसाधनमन्तरेण, पशोरिवायु विफलं नरस्य।
तत्राऽपि धर्म प्रवरं वदन्ति, नतं विनोयद् भवतोर्थकामौ।

धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग की साधना के बिना मनुष्य का जीवन पशु की तरह निष्फल है। इनमें भी धर्म मुख्य है क्योंकि उसके बिना अर्थ एवं काम सुख रूप नहीं होते। धर्म साधना से मुक्ति को प्राप्त करने का उपदेश सब दर्शनों ने एक-सा दिया है। कुछ ने तो धर्म का लक्षण ही अभ्युदय एवं निश्रेयस,मोक्ष की सिद्धि माना है। कहा भी है—'यतोऽभ्युदय निश्रेयस सिद्धि रसौ धर्म' परन्तु उनकी साधना का मार्ग भिन्न है। कोई 'भक्ति रे कैव मुक्तिदा' कहकर भक्ति को ही मुक्ति का साधन कहते हैं। दूसरे 'शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः संसिद्धि लभते नर' शब्द ब्रह्म में निष्णात पुरुष की सिद्धि बतलाते हैं, जैसा कि सांख्य आचार्य ने भी कहा है—

पंच विंशति तत्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः
जटी मुंडी शिखी वाऽपि, मुच्यते नास संशयः।

अर्थात् पच्चीस तत्त्व की जानकारी रखने वाला साधक किसी भी आश्रम में और किसी भी अवस्था में मुक्त हो सकता है। मीमांसकों ने कर्म काण्ड को ही मुख्य माना है। इस प्रकार किसी ने ज्ञान को, किसी ने एकान्त कर्म काण्ड-क्रिया को तो किसी ने केवल भक्ति को ही सिद्धि का कारण माना है। परन्तु वीतराग अर्हन्तों का दृष्टिकोण इस विषय में भिन्न रहा है। उनका मन्तव्य है कि—एकान्त ज्ञान या क्रिया से सिद्धि नहीं होती, पूर्ण सिद्धि के लिये ज्ञान, श्रद्धा और चरण-क्रिया का संयुक्त आराधन आवश्यक है। केवल अकेला ज्ञान गति हीन है तो केवल अकेली क्रिया अन्धी है, अतः कार्य-साधक नहीं हो सकते। जैसा कि पूर्वाचार्यों ने कहा है—'हयं नाणं क्रिया हीणं हया अन्नाणओ क्रिया'। वास्तव में क्रियाहीन ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया दोनों सिद्धि में असमर्थ होने से व्यर्थ हैं। ज्ञान से चक्षु की तरह मार्ग-कुमार्ग का बोध होता है, गति नहीं मिलती। बिना गति के, आँखों से रास्ता देख लेने भर से इष्ट स्थान की प्राप्ति नहीं होती। मोदक का थाल आँखों के सामने है फिर भी बिना खाये भूख नहीं मिटती। वैसे ही ज्ञान से तत्वातत्व और मार्ग-कुमार्ग का बोध होने पर भी तदनुकूल आचरण नहीं किया तो सिद्धि नहीं मिलती। ऐसे ही क्रिया है, कोई दौड़ता है पर मार्ग का ज्ञान नहीं तो वह भी भटक जायगा। ज्ञान शून्य क्रिया भी घाणी के बैल की तरह भव-चक्र से मुक्त नहीं कर पाती। अतः शास्त्रकारों ने कहा है—'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः'। ज्ञान और क्रिया के संयुक्त साधन से ही सिद्धि हो सकती है। बिना ज्ञान की क्रिया-बाल तप मात्र हो सकती है, साधना नहीं। जैनागमों में कहा है—

नाणेण जाणइ भावं, दंसणेण य सद्दहे।
चरितेण निगिण्हाइ, तनेणं परिसुझंइ।

अर्थात्—ज्ञान के द्वारा जीवाजीवादि भावों को जानना, हेय और उपादेय को पहचानना, दर्शन से तत्वातत्व यथार्थ श्रद्धान करना। चारित्र से आने वाले

रागादि विकार और तज्जन्य कर्म दलिकों को रोकना एवं तपस्या से पूर्व संचित कर्म का क्षय करना, यही संक्षेप में मुक्ति मार्ग या आत्म-शुद्धि की साधना है।

आत्मा अनन्त ज्ञान, श्रद्धा, शक्ति और आनन्द का भंडार होकर भी अल्पज्ञ, निर्बल, अशक्त और शोकाकुल एवं विश्वासहीन बना हुआ है। हमारा साध्य उसके ज्ञान, श्रद्धा और आनन्द गुण को प्रकट करना है। अज्ञान एवं मोह के आवरण को दूर कर आत्मा के पूर्ण ज्ञान तथा वीतराग भाव को प्रकट करना है। इसके लिये अन्धकार मिटाने के लिये प्रकाश की तरह अज्ञान को ज्ञान से नष्ट करना होगा और बाह्य-आभ्यान्तर चारित्र भाव से मोह को निर्मूल करना होगा। पूर्ण द्रष्टा सन्तों ने कहा—साधकों ! अज्ञान और राग-द्वेषादि विकार आत्मा में सहज नहीं हैं। ये कर्म-संयोग से उत्पन्न पानी में मल और दाहकता की तरह विकार हैं। अग्नि और मिट्टी का संयोग मिलते ही जैसे पानी अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। वैसे ही कर्म-संयोग के छूटने पर अज्ञान एवं राग-द्वेषादि विकार भी आत्मा से छूट जाते हैं, आत्मा अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। इसका सीधा, सरल और अनुभूत मार्ग यह है कि पहले नवीन कर्म मल को रोका जाय, फिर संचित मल को क्षीण करने का साधन करें। क्योंकि जब तक नये दोष होते रहेंगे—कर्म-मल बढ़ता रहेगा और उस स्थिति में संचित को क्षीण करने की साधना सफल नहीं होगी। अतः आने वाले कर्म-मल को रोकने के लिये प्रथम हिंसा आदि पाप वृत्तियों से तन-मन और वाणी का संवरण रूप संयम किया जाय और फिर अनशन, स्वाध्याय, ध्यान आदि बाह्य और अन्तरंग तप किये जाय तो संचित कर्मों का क्षय सरलता से हो सकेगा।

आचार-साधना : शास्त्र में चारित्र-साधना के अधिकारी भेद से साधना के दो प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं—१. देश विरति साधना और २. सर्व विरति साधना। प्रथम प्रकार की साधना आरंभ-परिग्रह वाले गृहस्थ की होती है। सम्पूर्ण हिंसादि पापों के त्याग की असमर्थ दशा में गृहस्थ हिंसा आदि पापों का आंशिक त्याग करता है। मर्यादाशील जीवन की साधना करते हुये भी पूर्ण हिंसा आदि पापों का त्याग करना वह इष्ट मानता है, पर सांसारिक विक्षेप के कारण वैसा कर नहीं पाता। इसे वह अपनी कमजोरी मानता है। अर्थ व काम का सेवन करते हुये भी वह जीवन में धर्म को प्रमुख समझकर चलता है। जहाँ भी अर्थ और काम से धर्म को ठेस पहुँचती हो वहाँ वह इच्छा का संवरण कर लेता है। मासिक छः दिन पौषध और प्रतिदिन सामायिक की साधना से गृहस्थ भी अपना आत्म-बल बढ़ाने का प्रयत्न करे और प्रतिक्रमण द्वारा प्रातः सायं अपनी दिनचर्या का सूक्ष्म रूप से अवलोकन कर अहिंसा आदि व्रतों में लगे हुए, दोषों की शुद्धि करता हुआ आगे बढ़ने की कोशिश करे, यह गृहस्थ जीवन की साधना है।

अन्य दर्शनों में गृहस्थ का देश साधना का ऐसा विधान नहीं मिलता, उसके नीति धर्म का अवश्य उल्लेख है, पर गृहस्थ भी स्थूल रूप से हिंसा, असत्य,

अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह की मर्यादा करे ऐसा वर्णन नहीं मिलता। वहाँ कृषि-पशुपालन को वैश्य धर्म, हिंसक प्राणियों को मार कर जनता को निर्भय करना क्षत्रिय धर्म, कन्यादान आदि रूप से संसार की प्रवृत्तियों को भी धर्म कहा है जबकि जैन धर्म ने अनिवार्य स्थिति में की जाने वाली हिंसा और कन्यादान एवं विवाह आदि को धर्म नहीं माना है। वीतराग ने कहा—मानव ! धन-दारा-परिवार और राज्य पाकर भी अनावश्यक हिंसा, असत्य, और संग्रह से बचने की चेष्टा करना, विवाहित होकर स्वपत्नी या पति के साथ सन्तोष या मर्यादा रखोगे, जितना कुशील भाव घटाओगे, वही धर्म है। अर्थ-संग्रह करते अनीति से बचोगे और लालसा पर नियन्त्रण रखोगे, वह धर्म है। युद्ध में भी हिंसा भाव से नहीं, किन्तु आत्म रक्षा या न्याय की दृष्टि से यथाशक्य युद्ध टालने की कोशिश करना और विवश स्थिति में होने वाली हिंसा को भी हिंसा मानते हुए रसानुभूति नहीं करना अर्थात् मार कर भी हर्ष एवं गर्वानुभूति नहीं करना, यह धर्म है। घर के आरम्भ में परिवार पालन, अतिथि तर्पण या समाज रक्षण कार्य में भी दिखावे की दृष्टि नहीं रखते हुए अनावश्यक हिंसा से बचना धर्म है। गृहस्थ का दण्ड-विधान कुशल प्रजापति की तरह है, जो भीतर में हाथ रख कर बाहर चोट मारता है। गृहस्थ संसार के आरम्भ-परिग्रह में दर्शक की तरह रहता है, भोक्ता रूप में नहीं।

'असंतुष्टा द्विजानष्टा:, सन्तुष्टाश्च मही भुज:' की उक्ति से अन्यत्र राजा का सन्तुष्ट रहना दूषण बतलाया गया है, वहाँ जैन दर्शन ने राजा को भी अपने राज्य में सन्तुष्ट रहना कहा है। गणतन्त्र के अध्यक्ष चेटक महाराज और उदायन जैसे राजाओं ने भी इच्छा परिमाण कर संसार में शान्ति कायम रखने की स्थिति में अनुकरणीय चरण बढ़ाये थे। देश संयम द्वारा जीवन-सुधार करते हुए मरण-सुधार द्वारा आत्म-शक्ति प्राप्त करना गृहस्थ का भी चरम एवं परम लक्ष्य होता है।

सर्वविरति साधना : सम्पूर्ण आरम्भ और कनकादि परिग्रह के त्यागी मुनि की साधना पूर्ण साधना है। जैन मुनि एवं आर्या को मन, वाणी एवं काय से सम्पूर्ण हिंसा, असत्य, अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह आदि पापों का त्याग होता है। स्वयं किसी प्रकार के पाप का सेवन करना नहीं, अन्य से करवाना नहीं और हिंसादि पाप करने वाले का अनुमोदन भी करना नहीं, यह मुनि जीवन की पूर्ण साधना है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जैसे सूक्ष्म जीवों की भी जिसमें हिंसा हो, वैसे कार्य वह त्रिकरण त्रियोग से नहीं करता। गृहस्थ अपने लिए आग जला कर तप रहे हैं, यह कह कर वह कड़ी सर्दी में भी वहाँ तपने को नहीं बैठता। गृहस्थ के लिए सहज चलने वाली गाड़ी का भी वह उपयोग नहीं करता, और जहाँ रात भर दीपक या अग्नि जलती हो वहाँ नहीं ठहरता। उसकी अहिंसा पूर्ण कोटि की साधना है। वह सर्वथा पाप कर्म का त्यागी होता है।

फिर भी जब तक राग दशा है, साधना की ज्योति टिमटिमाते दीपक

की तरह अस्थिर होती है। जरा से झोंके में उसके गुल होने का खतरा है हवादार मैदान के दीपक की तरह उसे विषय-कषाय एवं प्रमाद के तेज झटके क भय रहता है। एतदर्थ सुरक्षा हेतु आहार-विहार-संसर्ग और संयम पूर्ण दिनचय की कांच भित्ति में साधना के दीपक को मर्यादित रखा जाता है।

साधक को अपनी मर्यादा में सतत जागरूक तथा आत्म निरीक्षक होकर चलने की आवश्यकता है। वह परिमित एवं निर्दोष आहार ग्रहण करे, अपने से हीन गुणी की संगति नहीं करे। साध्वी का पुरुष मण्डल से और साधु का स्त्री जनों से एकान्त तथा अमर्यादित संग न हो क्योंकि अति परिचय साधना में विक्षेप का कारण होता है। सर्व विरति साधकों के लिए शास्त्र में कहा है—"गिहि संथवं न कुन्जा, कुज्जा साहुहि संथव"।

साधनाशील पुरुष संसारी जनों का अधिक संग-परिचय न करे। वह साधक जनों का ही संग करे। इससे साधक को साधना में बल मिलेगा और संसार के काम, क्रोध, मोह के वातावरण से वह बचा रह सकेगा। साधना में आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि साधक महिमा, पूजा और अहंकार से दूर रहे।

साधना के सहायक :—जैनाचार्यों ने साधना के दो कारण माने हैं, अन्तरंग और बहिरंग। देव, गुरु, सत्संग, शास्त्र और स्वरूप शरीर एवं शान्त, एकान्त स्थान आदि को बहिरंग साधन माना है। जिसको निमित्त कहते हैं। बहिरंग साधन बदलते रहते हैं। प्रशान्त मन और ज्ञानावरण का क्षयोपशम अन्तर साधन हैं। इसे अनिवार्य माना गया है। शुभ वातावरण में आन्तरिक साधन अनायास जागृत होता और क्रियाशील रहता है। पर बिना मन की अनुकूलता के वे कार्यकारी नहीं होते। भगवान् महावीर का उपदेश पाकर भी कूणिक अपनी बढ़ी हुई लालसा को शान्त नहीं कर सका, कारण अन्तर साधन प्रशान्त मन नहीं था। सामान्य रूप से साधना की प्रगति के लिए स्वस्थ-समर्थ-तन, शान्त एकान्त स्थान, विघ्न रहित अनुकूल समय, सबल और निर्मल मन तथा शिथिल मन को प्रेरित करने वाले गुणाधिक योग्य साथी की नितान्त आवश्यकता रहती है। जैसा कि कहा है—

तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध सेवा, विवज्जणा बाल जणस्स दूरा।
सज्झाय एगंत निसेवणाय, सुत्तत्थ संचितणया धिईय ॥

इसमें गुरु और वृद्ध पुरुषों की सेवा तथा एकान्त सेवन को बाह्य साधन और स्वाध्याय, सूत्रार्थ चिन्तन एवं धर्म को अन्तर साधन कहा है। अधीर मन वाला साधक सिद्धि नहीं मिला सकता। जैन साधना के साधक को सच्चे सैनिक की तरह विजय-साधना में शंका, कांक्षा रहित, धीर-वीर, जीवन-मरण में निस्पृह और दृढ़ संकल्प बली होना चाहिये। जैसे वीर सैनिक, प्रिय पुत्र, कलत्र का स्नेह

भूलकर जीवन-निरपेक्ष समर भूमि में कूद पड़ता है, पीछे क्या होगा, इसकी उसे चिन्ता नहीं होती। वह आगे कूच का ही ध्यान रखता है। वह दृढ़ लक्ष्य और अचल मन से यह सोचकर बढ़ता है कि—"जितो वा लभ्यसे राज्यं, मृतः स्वर्गं स्वप्स्यसे। उसकी एक ही धुन होती है—

"सूरा चढ़ संग्राम में, फिर पाछो मत जोय।
उतर जा चौगान में, कर्ता करे सो होय॥"

वैसे साधना का सेनानी साधक भी परिषह और उपसर्ग का भय किये बिना निराकुल भाव से वीर गजसुकुमाल की तरह भय और लालच को छोड़ एक भाव से जूझ पड़ता है। जो शंकालु होता है वह सिद्धि नहीं मिलाता। विघ्नों की परवाह किये बिना 'कार्यं व साधयेयं देहं वापात येयम्' के अटल विश्वास से साहस पूर्वक आगे बढ़ते जाना ही जैन साधक का व्रत है। वह 'कंखे गुणे जाव सरीर भेओ' वचन के अनुसार आजीवन गुणों का संग्रह एवं आराधन करते जाता है।

साधना के विघ्न :—साधन की तरह कुछ साधक के बाधक विघ्न या शत्रु भी होते हैं, जो साधक के आन्तरिक बल को क्षीण कर उसे मेरु के शिखर से नीचे गिरा देते हैं। वे शत्रु कोई देव, दानव नहीं पर भीतर के ही मानसिक विकार हैं। विश्वामित्र को इन्द्र की दैवी शक्ति ने नहीं गिराया, गिराया उसके भीतर के राग ने। संभूति मुनि ने तपस्या से लब्धि प्राप्त कर ली, उसका तप बड़ा कठोर था। नमुचि मन्त्री उन्हें निर्वासित करना चाहता पर नहीं कर सका, सम्राट, सनत्कुमार को अन्तःपुर सहित आकर इसके लिये क्षमा याचना करनी पड़ी, परन्तु रानी के कोमल स्पर्श और चक्रवर्ती के ऐश्वर्य में जब राग किया तब वे भी पराजित हो गये। अतः साधक को काम, क्रोध, लोभ, भय और अहंकार से सतत जागरूक रहना चाहिये। ये हमारे भयंकर-शत्रु हैं। भक्तों का सम्मान और अभिवादन रमणीय-हितकर भी हलाहल विष का काम करेगा।

संयम-जीवन में निर्ग्रन्थ

❀ साध्वी डॉ. मुक्तिप्रभा

आत्मा के चारित्र गुण के विकास में वाधक वनने वाली ग्रंथियां आत्मोन्नति में गति और प्रगति नहीं करने देती अतः इन वाधक ग्रंथियों को तोड़ने वाला ही निर्ग्रन्थ कहलाता है ।

ग्रंथि अर्थात् गांठ । गांठ वस्त्र की होती है, डोरी की होती है, रस्सी की होती है, सांकल की होती है और मन की भी होती है । वस्त्र, डोरी इत्यादि की गांठ स्थूल है, पर मन की गांठ सूक्ष्म है, जो इन्द्रियातीत है । मन की गांठें अनेक प्रकार की हैं—जैसे अज्ञान की ग्रंथि, वैर की ग्रंथि, अहं की ग्रंथि, ममत्व की ग्रंथि, माया-कपट की ग्रंथि, लोभ-लालच की ग्रंथि, राग-द्वेष की ग्रंथि इत्यादि अनेक प्रकार की ग्रंथियां मन में होती रहती हैं जो इतनी सूक्ष्म होती हैं कि जीव खोलने में असमर्थ हो जाता है और संसार परिभ्रमण का आवर्त वर्धमान होता रहता है ।

ये सारी ग्रंथियां निर्ग्रन्थ संत—मुनि महात्माओं की साधना में वाधक होने से साधक अपनी आत्मोन्नति के लिए पराश्रित हो जाता है । पराश्रय स्वावलम्वी साधक के लिए सवसे वड़ी समस्या है, दुविधा है, कलंक है । इन दुविधाओं में साधक जिस प्रवृत्ति में प्रवृत्तमान रहता है, वह सारी प्रवृत्ति वाधक रूप ही है। अर्थात् प्रवृत्ति ही पराश्रय है । "पर" अर्थात् जिससे नित्य सम्वन्ध नहीं है । जो पदार्थ स्वयं नित्य नहीं उसका आश्रय नित्य कैसे हो सकता है ? अतः निर्ग्रन्थ अनित्य के आश्रित नहीं होता पर पदार्थ का उपयोग मात्र स्वीकार करता है । पदार्थ के अभाव का महत्व नहीं है, पदार्थ के त्याग का महत्व है । पदार्थों की सम्पूर्ण उपलब्धि होने पर भी पदार्थ के प्रति जो ममत्व है उसके अभाव का महत्त्व है ।

अज्ञान, विपरीत ज्ञान, संशय, कदाग्रह की ग्रंथियां आत्मा के दर्शन गुण पर आवरण करती रहती हैं । फलतः उन ग्रंथियों द्वारा साधक सम्यक् दर्शन को प्राप्त करने में असमर्थ रहता है ।

विषय—कषायात्मक ग्रंथियां चारित्र गुण पर आवरण करती हैं फलस्वरूप विशुद्धि प्रगट होने नहीं देतीं ।

इन ग्रंथियों द्वारा साधक का आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक तीनों प्रकार से पतन होता रहता है । वह दुःख, वैर, मत्सरभाव का वोझा ढोता रहता है ।

श्रमण के लिए सतत जागरूकता अपेक्षित है। "आचारांग सूत्र" में कहा है कि—

"सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति ।"

साधक असत् प्रवृत्तियों से स्वयं को बचाता हुआ जागरूक अवस्था में सहज समाधिपूर्वक जीवन यात्रा सम्पन्न करे।

सहज समाधि का उपाय है—तीनों योगों को वश में करके शुभ और शुद्ध प्रवृत्तियों में संलग्न हो जाना। जो साधक प्रवृत्ति करते समय जाग्रत होता है, वह प्रवृत्ति में प्रवृत्तमान होने पर भी निवृत्त रहता है जैसे—

"जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयंसये,
जयं भुञ्जन्तो भासंतो, पाव कम्मं न बंधई ।।"

निवृत्त साधक उठते, बैठते, सोते, खाते प्रत्येक प्रवृत्ति करने में जागृत होने के कारण पाप कर्मों से मुक्त रहता है, इसे सहज निवृत्ति कहा जाता है। सहज निवृत्ति अर्थात् समिति-गुप्ति। श्रमण अपनी योग्यता, क्षमता और परिस्थिति के अनुसार ही समिति-गुप्ति की साधना में सफलता प्राप्त कर सकता है।

चित्त विशुद्धि ही विकास केन्द्र है। जिस बिन्दु पर एकाग्रता टिकी हुयी है। वही अशुभ प्रवृत्तियों का शमन और शुभ एवं शुद्ध प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव करती है। शुभ और शुद्ध प्रवृत्तियों के आचरण से, अशुभ और अशुद्ध प्रवृत्तियों के उपशम से समिति और गुप्ति का विधान किया गया है।

गुप्तियां योग की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकती हैं और समितियां चारित्र की शुभ प्रवृत्तियों में साधक को विचरण कराती हैं। इन समिति गुप्तियों की प्रतिपालना श्रमणों के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। क्योंकि श्रमण के महाव्रतों का रक्षण और पोषण इन्हीं से होता है।

सामान्यतः मन को असद् एवं अशुभ विकल्पों से बचाना मनोगुप्ति है। वाणी-विवेक, वाणी-संयम और वाणी-विरोध ही वचनगुप्ति है। इसी प्रकार बाह्य प्रवृत्ति तथा इन्द्रियों के व्यापार में काययोग का निरोध कायगुप्ति है।

मन कभी खाली नहीं रहता, कुछ न कुछ प्रवृत्ति करना उसका स्वभाव है। बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रवृत्ति और निवृत्ति वह करता ही रहता है। अतः साधक समय-समय पर अशुभ प्रवृत्तियों से हटता रहे और शुभ एवं शुद्ध प्रवृत्तियों में प्रवर्तमान होता रहे जिससे आत्म-परिणाम में विशुद्धियों का प्रकर्ष होता रहे और मलिनता विनष्ट होती रहे। यही साधक जीवन का चरम लक्ष है।

विकल्प जनित अशुद्धियों से साधक का मन विक्षिप्त होता है। विक्षिप्त मन राग-द्वेष, वैर-विरोध, मान-सम्मान इत्यादि में गहरे संस्कार जमा करता रहता है, वे ही संस्कार ग्रंथियों का रूप धारण करते हैं—जैसे अमोनिया पर

जल की धाराएं बहायी जाती हैं तो वह बर्फ बन जाती है, पानी जम जाता है। मनोग्रंथियों की भी यही स्थिति है। आत्मतत्त्व में जिन परिणामों का परिणमन होता है उसका प्रभाव चेतन पर पड़ता है, चेतन में जो अध्यवसाय होते हैं वे ही शुभाशुभ के अनुरूप लेश्या, योग और बंध का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार जो भी संवेदनाएं प्रवहमान होती हैं, वे सभी ग्रंथियों का रूप धारण करती रहती हैं और मन में गांठ जमती रहती है।

साधक मात्र के लिये ग्रंथियों का उपयोग जानना आवश्यक है। उसका लक्ष्य क्या है? उस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन क्या है? लक्ष्य उसे कहते हैं जिसकी प्राप्ति अनियार्य हो। यह मानव मात्र का प्रश्न है कि वास्तविक जीवन क्या है? उस जीवन का निरीक्षण करना, परीक्षण करना, खोजना, पाना इत्यादि इस जीवन का परम पुरुषार्थ है। सामान्य जन की अपेक्षा साधक जीवन का यह जीवन अनिवार्य होता है। क्योंकि साधक अपनी साधना द्वारा पर पदार्थों से विमुख होता है और स्वान्तः में सन्मुख होता जाता है। उसे मानसिक, वाच्कि, कायिक प्रवृत्तियों में बुद्धि, इन्द्रियां, मन, पद, प्रतिष्ठा, सामर्थ्य, योग्यता इत्यादि परिस्थितियों से अपने आपकी असंग रखना अनिवार्य है। इस असंगता से ही वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति हो सकती है।

आचार्य हरिभद्र ने 'योग बिन्दु' में अधिकारी साधकों की दो कोटियां बताई हैं—१ अचरमावर्त्ती और २—चरमावर्त्ती।

प्रथम कोटि के साधक की प्रवृत्ति भोगासक्त, संसाराभिमुख तथा विष अनुष्ठान रूप होती है, अतः ऐसा साधक साधना भी करता है तो उसकी वृत्ति क्षुद्र, भयभीत, ईर्षालु और कपटी होती है। इसमें आंतरिक विशुद्धि का अभाव रहता है। जो भी अनुष्ठान वे करते हैं तथा अन्यों को करवाते हैं वे सारे लौकिक कामना की पूर्ति हेतु करवाते हैं जिसका आकर्षण-केन्द्र भी भोग का ही होता है। ऐसे साधक अध्यात्म सन्मुख कभी नहीं हो सकते।

दूसरी कोटि के साधक चरमावर्ती हैं। ऐसा साधक स्व-स्वभाव में ही स्थिर रहता है। जो स्व में स्थिर है उसे पर में पराश्रित होने की आवश्यकता नहीं है, पर पदार्थ मात्र सहायक है। इस प्रकार की उसे वास्तविक अविचल आस्था अनिवार्य होती है।

दूसरी कोटि का साधक ही ग्रंथि-भेद की प्रक्रिया में समर्थ होता है वह राग-द्वेष-मोह आदि मनोविकार-ग्रंथियों से संघर्ष करता है। वह अपने परिणाम को इतना विशुद्ध करता है कि आवेग और उत्तेजना की स्थिति में वह सम-संवेग और निर्वेद के प्रवाह में प्रवहमान हो जाय।

निर्ग्रन्थ की सफलता का प्रथम चरण है समभाव और शान्ति। समभाव

का अर्थ है अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों में तन और मन को संतुलित बनाये रखना।

शान्ति का अभिप्राय है मानसिक संकल्पों-विकल्पों में न उलझना। भौतिक सुख-भोग का संकल्प साधक को शान्ति से विमुख कर देता है।

शान्ति में सामर्थ्य और स्वाधीनता है, समता में सर्व दुःखों की निवृत्ति और अमरत्व है। इस दृष्टि से प्रत्येक श्रमण के लिए शान्ति, समता, स्वाधीनता और अमरत्व का अनुभव अनिवार्य है। शान्ति के अभाव में समता का, समता के अभाव में स्वाधीनता का, स्वाधीनता के अभाव में अमरत्व का प्रादुर्भाव नहीं होता। शान्ति सर्वतोमुखी विकास भूमि है। इस उर्वराभूमि में अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति स्वतः हो जाती है और निर्विकल्प दशा की प्राप्ति हो जाती है।

संकल्प-विकल्प में आबद्ध मानव न तो अपने ही लिए उपयोगी होता है न समभाव और शान्ति का उपयोग कर सकता है। अतः श्रमण का द्वितीय चरण है संकल्प-विकल्प रहित निर्विकल्प अवस्था में जितने समय टिका रहे, उतनी स्थिरता अनिवार्य है। यह मात्र शान्ति के प्रभाव से ही साध्य है।

शुभाशुभ संकल्पों के द्वंद्व से मुक्त होने का उपाय समभाव और शान्ति साधक का सहज स्वभाव है। जो स्वभाव है, विद्यमान है, उसी की अभिव्यक्ति होती है। पर विभाव दशा में अन्तरंग प्रवृत्ति भी ग्रंथियों का ही कारण बनती है। साधक का आचरण वाह्य या ऊपर ही ऊपर रहता है और राग-द्वेष की विभिन्न ग्रंथियां जड़ जमाकर बैठी हैं, वहां धर्म कैसे स्थान पा सकता है ? धर्म तो चेतना के ऊपरी स्तर तक ही रह जाता है, धार्मिक सिद्धान्तों का दोहराना मात्र रह जाता है।

अन्तर में भरी राग-द्वेष की तरह-तरह की ग्रंथियां भले ही ऊपर से सज्जनता का रूप धारण करती हों पर इससे मन विक्षिप्त, विषमता और अशांति रूप हो जाता है फलतः न तो वह व्यावहारिक जगत में सफल होता है और न आध्यात्मिक क्षेत्र में। इस प्रकार असन्तुष्ट जीवन जीने वाला व्यक्ति समभाव और शान्ति कैसे प्राप्त कर सकता है ? वह अहं में जीता है और उसकी तुष्टि न होने पर उसका व्यक्तित्व विखंडित होने लगता है। उसे स्वयं अपने आप पर भी विश्वास नहीं रहता। वह आये दिन विभिन्न प्रकार के विरोधियों का चक्रव्यूह, अखाड़ा तैयार करता रहता है। राग और द्वेष का आधार स्वार्थबुद्धि पर निर्भर होता है। स्वार्थ अपना भी होता है और पराया भी होता है। स्वार्थ होने से अपने पर राग भी होता है और क्रोध भी होता है। जैसे अपने, स्वजन के प्रति आत्मीयता होने से वहां मेरी वात नकारात्मक नहीं हो सकती, अगर होती है तो उसका क्रोध रूप में परिणमन हो जाता है। यह परिणमन रागात्मक ग्रंथि का होता है पर पराया तो पराया ही है। उसके प्रति आत्मीयता का अभाव है,

फिर भी वह टकराता है—वहां द्वेष की ग्रंथि बन जाती है । इस प्रकार अप
पराये, राग-द्वेष, अहंकार-ममकार रूप आधार को समाप्त किये बिना ग्रंथि-
नहीं हो पाता ।

वैज्ञानिकों ने आविष्कार तो प्रचुर मात्रा में किये हैं, सुख-सुविधाओं
साधन भी प्रचुर मात्रा में प्रादुर्भूत हुए हैं, किन्तु वास्तविकता में उपहार स्व
मिली है उनको विभिन्न प्रकार की मनोग्रंथियां/मनोवैज्ञानिकों ने इस विषय
शोध करके निष्कर्ष निकाला है कि मानव इन ग्रंथियों का अन्तर-मानस में प्र
क्षण प्रादुर्भाव करता है और विशेष रूप में उसका संचय करता रहता है । फल
इससे मत्सर भाव का विशेष प्रयोग देखा जाता है ।

इस प्रकार व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मि
क्षेत्रों में भी ये ग्रंथियां अपना प्रभाव दिखाती रहती हैं ।

संयमी श्रमण साधक के लिए इन ग्रंथियों का ग्रंथिभेद हितकर अ
श्रेयस्कर है । कोई भी श्रमण निर्ग्रन्थ तब कहलाता है जब वह ग्रंथि-भेद
ऊपर उठता है । ग्रंथि-भेद से निर्ग्रंथ की चेतना का प्रवाह सहज हो जाता है
किसी भी प्रकार की रूकावटें अब मार्ग में प्रवेश नहीं हो सकतीं । ऐसा साध
बहिरात्मदशा से अन्तरात्मदशा में निरन्तर प्रवृत्तमान रहता है । विशुद्ध चि
वृत्ति होने के कारण साधक क्रमशः अप्रमत्तदशा में अपनी साधना में संल
रहता है ।

इस प्रकार ग्रंथि-भेद से साधक निर्ग्रन्थ बनता है और निर्ग्रन्थ की सह
साधना से मुक्ति—पथ का पथिक बनता है ।

भेद-विज्ञान

❀ श्री लोकेश जैन

महात्मा मंसूर को जल्लाद जब सूली की ओर ले जाने लगे, तब उन्होंने कहा कि यह सूली नहीं, स्वर्ग की सीढ़ी है । जब विरोधियों ने उन पर पत्थर बरसाये तो बोले—"आप लोग मुझ पर फूल बरसा रहे हैं ।" जब उनके दोनों हाथ काट डाले गये, तब बोले—"मेरे भीतरी हाथ कोई नहीं काट सकता, जिनसे मैं अमरता के रस का प्याला पी रहा हूं ।" जब उनके दोनों पांव काट डाले गये तब उन्होंने कहा—"जिन पांवों से मैं इस पृथ्वी पर चलता हूं, उन्हें तो काट दिया गया है, परन्तु जिन पांवों से मैं स्वर्ग की ओर बढ़ रहा हूं, उन्हें कोई नहीं काट सकता ।" हाथों से बहने वाले खून को चेहरे पर लगाते हुए जड़-चिन्तन के भेद के ज्ञाता म. मंसूर ने आश्चर्य में पड़े लोगों से कहा—लोगों को हाथ-पांव से रहित मेरा चेहरा भद्दा न लगे, इसलिये मैं इसे लाल रंग से रंग रहा हूं ।

—७०६, महावीर नगर, टोंक रोड, जयपुर-३०२०१५

संयम : नींव की पहली ईंट

❀ आचार्य श्री विद्यानन्द मुनिजी

संयम का जीवन में बहुत ऊंचा स्थान है। धर्म के क्षमा, आर्जव, मार्दव, आदि सभी अंग संयम पूर्वक ही पालन किये जा सकते हैं। जैसे क्षमा में क्रोध का संयम किया जाता है, मार्दव में कठोर परिणामों का संयम किया जाता है, आर्जव में मायाचार का संयम निहित है वैसे ही सत्य में मिथ्या का नियमन आवश्यक है। सारांश यह है कि जैसे माला के प्रत्येक पुष्प में सूत्र पिरोया होता है वैसे ही धर्म के सभी अंगों में संयम स्थित है। मन, वचन और काय के योग को संयम कहते हैं और कोई भी सत्कार्य त्रि-योग संभाले बिना नहीं होता। कार्य की सुचारुता तथा पूर्णता त्रि-योग पर निर्भर है और त्रि-योग का किसी पवित्र लक्ष्य पर एकीभाव ही संयम है। इसी को सांकेतिक अभिव्यक्ति देते हुए 'इन्द्रियनिरोधः संयमः'—कहा गया है।

इन्द्रियों की प्रवृत्ति बहुमुखी है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए सभी इन्द्रियों के धर्म (स्वभाव) सहायक होते हैं तथापि क्रिया-सिद्धि के लिए उन्हें संयत तथा केन्द्रित रखना आवश्यक होता है। यदि कार्य करते समय इन्द्रिय-समूह इधर-उधर दौड़ता रहेगा, तो यह स्थिति ठीक वैसी ही होगी जैसी रथ में जुते हुए विभिन्न दिशाओं में दौड़ने वाले अश्वों से उत्पन्न हो जाती है। ऐसे रथ में बैठा हुआ यात्री कभी निरापद नहीं रह सकता। नीतिकारों ने तो यहां तक कहा है कि यदि पांचों इन्द्रियों में से किसी एक इन्द्रिय में भी विकार हो जाए तो उस मनुष्य की बुद्धि-बल-शक्ति वैसे ही क्षीण हो जाती है जैसे छिद्र होने पर कलश में से पानी निकल जाता है। 'पंचेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्, ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा हृतेः पात्रादिवोदकम्'—फिर जिन मनुष्यों की इन्द्रिय-क्षुधा इतनी बढ़ी हुई हो कि रात-दिन पांचों इन्द्रियों से भोगों का आस्वादन करते रहें उनमें विनाश के चिह्न दिखायी दें, पतन होने लगे तो क्या आश्चर्य ? इसी को लक्ष्य कर संयम की स्थूल परिभाषा करते हुए इन्द्रिय निरोध को महत्त्वपूर्ण बताया गया है। संस्कृत भाषा, जिसका यह शब्द (संयम) है, बड़ी वैज्ञानिक भारती है। 'यभ्' धातु का अर्थ मैथुन या विषयेच्छा है और 'यम्' धातु का अर्थ दमन या संयम है। 'भ' के पश्चात् 'म' वर्ण आता है। 'यभ' में जो फंस गया उसका उद्धार नहीं और जो 'यम' तक पहुंच गया, उसे यम का भय नहीं। अग्नि, अग्नि को जला नहीं सकती और यम को यम मार नहीं सकता। इसी आशय से वैदिकों ने कहा कि 'कालं कालेन पीडियन्'—काल को ऋषि काल से ही पीड़ित करते थे। जो स्वयं संयमशील नहीं हैं, उन्हें ही यम का भय है। संयमी

व्यक्ति तो घोषणा करता है कि 'न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन'—मैं कभी मृत्यु
लिए नहीं बना। संयम-पालन से इच्छा-मृत्यु होती है।

शास्त्रकारों ने कहा है कि 'व्रतसमितिकषाणाणां दण्डानां त न्द्रि ।
पंचानाम्। धारणपालननिग्रहत्याग जयाः संयमो भणितः। अर्थात् व्रतों का धारण
समितियों का पालन, कषायों का निग्रह, दण्डों का त्याग तथा पांचों इन्द्रियों
जीतना उत्तम संयम कहा गया है। इस पर विचार किया जाए तो सम्पूर्ण मुनि
चर्या संयम के अन्तर्गत परिलक्षित होती है। मुनि के मूल गुणों की रक्षा संय
से ही सम्भव है।

संयम का पालन अपने आध्यात्मिक कोष का संवर्धन है। जैसे संसा
में लोग आर्थिक उपार्जन कर 'बैंक-बैलेंस' बढ़ाते हैं, वैसे ही संयमी अपनी आत्म
को शुभोपयोग में लगाने वाले द्रव्य को परिवर्धित करते हैं। जो लोग अपने रू
बल, पराक्रम, बुद्धि तथा वीर्य को संसार में लगाते हैं, वे मानो अपनी पूंजी
जुए में हार रहे हैं। इन्द्रिय-विषयों ने रूप-राग की जो चौपड़ बिछा रखी है
उस पर उनके सद्गुण, सद्वित्त दांव पर लग रहे हैं; परन्तु आश्चर्य इस बात
का है कि विषय-द्यूत में अपनी वीर्य-रूपी उत्तम पूंजी को हार कर भी, गंवा क
भी लोग दुःखी नहीं होते। साधारण जुए में तो पराजित को दुःख होता देख
जाता है; परन्तु जो संयमी हैं उनका धन सुरक्षित रहता है।

संयम से जो शक्ति प्राप्त होती है, संचय होता है वह मानव-जीवन
ऊंचा उठाता है। असंयम और संयम में यही मुख्य भेद है। असंयम सीढ़ियों
नीचे उतरने का मार्ग है और संयम ऊपर जाने का। 'उन्नतं मानसं यस्य भाग
तस्य समुन्नतम्'—जिसका मन ऊंचा होता है उसका परिणाम शुभ होता है; औ
मन की उच्चता परिणामों पर निर्भर है। संसार के प्राणियों को संचय की
परिग्रह की आदत है; परन्तु संयम-रूप सुपरिग्रह का संचय करने की ओर उनक
ध्यान नहीं है। यदि हम संयम का संचय करने लगें तो आज के बहुत से अभाव
की दुष्ट अनुभूति से बच सकते हैं।

संयम के विरोधी गुणों का वर्गीकरण करें तो पता चलेगा कि
भोग, लोभ, व्यभिचार, अब्रह्मचर्य, मिथ्याभाषण इत्यादि शतशः ऐसे दुर्व्यसन हैं,
जिन्होंने आज के मानव-जीवन को दबोच रखा है। संयम न रखने वाले इनसे
बहुत दुःखी हैं। यदि संयम धारण करलें तो, इन दुर्व्याधियों से मुक्त हो सकते
हैं। अनावश्यक खाने-पहनने की वस्तुओं का संचय करने से मनुष्य पर आर्थिक
भार बढ़ता है और यही सारे अनर्थों की जड़ है। आज के मानव ने अपनी
आवश्यकताएं इतनी असंगत बना ली हैं कि यह अपने ही बुने जाल में फंस गया
है। इनसे त्राण का मार्ग संयम है। परिग्रह-परिमाण भी संयम का ही अंग है।

जैसे सुरक्षित धन संकट के समय काम आता है, वैसे ही सयम मनुष्य-जीवन की प्रगति में सदैव सहायता करता है । जिसने संयम को अपना मित्र बना लिया है, उसके सभी मित्र बनने को तैयार रहते हैं; क्योंकि संयमी की आवश्यकताएं सीमित होती हैं, उसके साहचर्य से कोई परेशान नहीं होता ।

संयम के बिना जो सुखपूर्वक संसार से पार उतरना चाहता है, वह बिना नौका के समुद्र तैरने की अभिलाषा रखता है । संयम महान् तपस्या है, महान् व्रत है और पुरुष के पौरुष की परीक्षा है । संयम-मणि को बलवान् ही धारण करते हैं, दुर्बलों के हाथ से उसे विषय-भोगरूप दस्यु छीन ले जाते हैं । संयम का नाम ही उत्तम चरित्र है । मनुष्य को मनःसंयम, वाक्संयम और काय-संयम रखना चाहिये । मनःसंयम से इन्द्रिय-निरोध होता है । वाक्-संयम से मिथ्याभाषण दोष तथा कायसंयम से असन्मार्ग-गामिता की निवृत्ति होती है । संयम के बिना जप, तप, ध्यान, सामायिक व्यर्थ हैं । संयम-साधना से ही उत्तम मोक्षसिद्धि प्राप्त होती है ।

—श्री वीर निर्वाण विचार सेवा, इन्दौर के सौजन्य से

शांति का पाठ

❀ नीरू श्रीश्रीमाल

एक महात्मा से पूछा गया—आप इतनी उम्र तक असंग, सहनशील और शांत कैसे बने रहे ?

महात्मा ने कहा—जब मैं ऊपर की ओर देखता हूं तब मन में आता है कि मुझे ऊपर की ओर जाना है, तब यहां पर किसी के कलुषित व्यवहार से खिन्न क्यों बनूं ? नीचे की ओर देखता हूं, तब सोचता हूं कि सोने, उठने, बैठने के लिए मुझे थोड़े स्थान की आवश्यकता है, तब क्यों संग्रही बनूं ? आस-पास देखता हूं तो विचार उठता है कि हजारों ऐसे व्यक्ति हैं जो मुझसे अधिक दुःखी हैं, व्यथित और व्यग्र हैं । इन्हीं सब को देखकर मेरा मन शांत हो जाता है ।

अष्ट प्रवचन माता–मुक्तिदाता

❀ साध्वी डॉ. दिव्यप्रभ

"माँ" यह कितना मधुर शब्द है ! याद आती है कभी आपको अपन माता की ! माँ का वात्सल्य कितना मधुर होता है । उसकी गोद में जाते ह वह अपना वात्सल्यमय हाथ फैलाती है, मस्तक पर हाथ रखकर सर्व कषायों मुक्त करती है; पीठ पर हाथ फिराकर सर्व पापों का क्षय करती है !!! अहा एक मीठा चुम्बन करके लोकाग्र की सिद्धावस्था का आनंद प्रदान करती है माँ....माँ वह स्मित देकर दुःख मुक्त करती है। आँखों से आँखें मिलाकर आत्म दर्शन जगाती हैं ।

माँ, सर्व मुनियों की माँ—**"अट्ठपवयण माया"** अष्टप्रवचन माता ! उ एक ही चिन्ता है—मेरा वत्स कब मुक्ति का सम्राट बने ! मैं कब राजमाता ब जाऊँ ! हर पल, हर क्षण वह अपने बेटे की सुरक्षा में अपना सर्वस्व अर्पि करती है । कहीं मेरा लाल कोई पाप न कर डाले । मन से, वचन से, काय से....आहा ! सर्वकरण, सर्वयोग—सर्वत्र उपयोग; सर्वत्र सुरक्षा !

माँ, धन्य है तेरे को ! यदि तू न रहती तो न जाने मेरा क्या होता कौन मेरी रक्षा करता ? कौन मुझे जिनवाणी का दुग्धपान कराता ? माँ माँ ! मैंने तेरे वात्सल्य को नहीं समझा है । वत्स हूं तेरा, पर निर्लज्ज हूं मैंने तुझे कद से नापा, रूप से देखा पर·······पर तेरा वात्सल्य नहीं समझा माफ कर दे—माफ तो माँ ही करती है । माँ ! मुक्ति दे दे । तेरे उपकारों क तेरा वत्स नहीं भूल सकता । अब तेरी पाँच इन्द्रियाँ रूप पाँचों महाव्रतों को मुझ में एक रूप कर दे, तेरी चार आजानु बाहु और वात्सल्यमयी गर्दन रूप पाँच समितियों से मुझे आलिंगन दे दे । माँ – तेरे चरण द्वय और सम्पूर्ण मातृ स्वरू तीनों योगों में मैं नत मस्तक हूं ! मेरी रक्षा कर माँ ! मुझे मुक्ति का दान दे तेरा वत्स अब तेरा विश्वासघात नहीं करेगा ।

मेरे अध्यात्म—जीवन के विकास में तेरी गरिमा अत्यन्त अलौकिक है। सम्पूर्ण द्वादशांगी तुझमें ही समाविष्ट है ।[1] माँ ! तू जगदम्बा है और जिन-भगवन् जगत पितामह[2] हैं । संयम के तथ्यों की वास्तविक अनुभूति पाकर माँ! मैं धन्य हो गया ।

---

१. दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं —उत्तराध्ययन, अ. २४, गा. ३

२. जगणाहो, जगबंधू, जयइ जगप्पियामहो भयवं —नंदीसूत्र, गा. १

"माँ" की सार्थक संज्ञा का विशद और विलक्षण रूप है—पांच समिति रूप पंचांग और तीन गुप्ति रूप रूपत्रय । इसका पालन ही माँ का अनुपम दर्शन और आत्मावलोकन है, इससे ही संयम की सफलता पाना है । उससे प्रकटते-झलकते तथ्यों का पालन करने वाला पावन हो जाता है ।

अष्टप्रवचन माता का निखरता अनुपम रूप इस प्रकार है—

पांच समिति :

१– ईर्या समिति—ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति या वृद्धि के लिए उपयुक्त अवसर में युगपरिमाण भूमि [चार हाथ प्रमाण] को एकाग्र चित्त से देखते हुए प्रशस्त पथ में यतनापूर्वक गमनागमन करना ईर्या समिति है ।

वस्तुतः श्रमण धर्म गुप्ति प्रधान धर्म है । उत्सर्ग मार्ग में काया का गोपन संवर प्रधान माना है, प्रथम ईर्यासमिति कायगुप्ति का अपवाद है ।

प्रश्न होता है कि कायगुप्ति में काया का गोपन होता है तो फिर साधु को चलने की क्या आवश्यकता ?

इस प्रश्न का समाधान करते हुए पूज्यपाद तिलोक ऋषि जी म. सा. ने ईर्या के महत्त्वपूर्ण चार कारण प्रस्तुत किये हैं ।[1]

१– गुरु वन्दन २– विहार
३– आहार ४– निहार

चलने की क्रिया जब शास्त्र विधानयुक्त होती है तब उसे ईर्या कहते हैं। निम्नलिखित आगमोक्त निर्देशों के अनुसार चलने वाले श्रमण का चलना ही निर्दोष चलना माना गया है—

१– श्रमण को चलते समय असम्भ्रान्त रहना चाहिए; क्योंकि भ्रान्त अवस्था में चित्त अशान्त रहता है अतः चलते समय जीव रक्षा नहीं कर सकता ।

२– श्रमण को अमूर्छित–आसक्ति त्यागकर चलना चाहिए, क्योंकि आसक्त व्यक्ति का मन किसी अभिलषित वस्तु में लगा रहता है, अतः वह जीव रक्षा में उपयोग नहीं लगा सकता ।

३– श्रमण को मन्द गति से चलना चाहिए, क्योंकि शीघ्र गति से चलने वाला जीवरक्षा करता हुआ नहीं चल सकता ।

---

१. मुनि चाले चिऊं कारणे, गुरु वन्दन अन्य गामेजी ।
आहार निहारने कारणे ते जावे अन्य ठामेजी ।।

—अष्ट प्रवचन माता–ढाल १, पद–४
—तिलोक काव्य कल्पतरू–भाग ४, पृ. ४४७

४– श्रमण को चलते समय 'अनुद्विग्न'–प्रशान्त रहना चाहिए, क्योंकि– उद्विग्न अवस्था में व्यक्ति भयभीत रहता है अतः वह विवेकपूर्वक नहीं चल सकता।

५– श्रमण को 'अव्याक्षिप्तचित्त' से चलना चाहिए, क्योंकि—विक्षिप्त चित्त, चंचल चित्त वाला व्यक्ति मार्ग पर दृष्टि रखकर नहीं चल सकता।[1]

६– श्रमण को दौड़ते हुए नहीं चलना चाहिए, क्योंकि दौड़ने वाला जीवों को बचाता हुआ नहीं चल सकता।

श्रमण धीर और साहसी होता है अतः उसका दौड़ना व्यावहारिक दृष्टि से भी अच्छा नहीं माना जाता, क्योंकि अधीर या भयभीत व्यक्ति ही प्रायः दौड़ते हैं।

७– श्रमण को चलते समय बातें नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जब मन बातचीत करने में लगा रहता है तब वह जीव रक्षा करने में दत्तचित्त नहीं हो सकता।

८– श्रमण को चलते समय हंसना भी नहीं चोहिए, क्योंकि हंसते हुए मार्ग पर दृष्टि रखकर नहीं चल सकता। इसी प्रकार गाते हुए, खाते हुए या ऐसी ही कोई अन्य क्रिया करते हुए नहीं चलना चाहिए।[2]

९–श्रमण को गवाक्ष, गली, स्नानगृह आदि पर दृष्टि डालते हुए नहीं चलना चाहिए, क्योंकि गवाक्ष आदि की ओर देखते हुए चलने वाला रास्ते के जीव-जन्तुओं को नहीं देख सकता। गवाक्ष आदि की ओर देखते हुए चलने से श्रमण की साधुता के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न होती है। अतः श्रमण को मार्ग पर दृष्टि रखते हुए ही चलना चाहिए।[3]

१०– श्रमण को क्रुद्ध होकर नहीं चलना चाहिए, क्योंकि क्रुद्ध मानव का मन अशान्त होता है, अतः वह विवेकपूर्वक नहीं चल सकता।[4]

११–श्रमण चलते समय अपने साथी–श्रमणादि को पहाड़ पर, समभूभाग पर या सरोवर आदि के किनारे पर चरते हुए पशु तथा पक्षी आदि की ओर अंगुली निर्देश करके या हाथ लम्बा करके न दिखावे। ऐसा करने से पशु-पक्षी भयभीत होते हैं।

१२– श्रमण चलते समय अपने साथी श्रमणादि को पहाड़ पर बने किले आदि की ओर संकेत करके न दिखावे, ऐसा करने से किले आदि के रक्षकों को श्रमण के प्रति गुप्तचर होने की आशंका होती है।

---

१. दशवैकालिक अ. ५, उद्दे. १, गाथा १-२

२. दशवैकालिक, अ. ५, उद्दे. १, गाथा १४

३. दशवैकालिक, अ. ५, उद्दे. १, गाथा १५

४. दशवैकालिक, अ. ८, गाथा २५

१३– श्रमण को मनोहर शब्द सुनते हुए नहीं चलना चाहिए।

१४–श्रमण को मनोहर रूप देखते हुए नहीं चलना चाहिए।

१५–श्रमण को चलते समय सुगन्ध या दुर्गन्ध के सम्बन्ध में राग-द्वेष भरे संकल्प रखकर नहीं चलना चाहिए।

१६–श्रमण को मनहर रसास्वादन करते हुए नहीं चलना चाहिए।

१७–श्रमण को सुखद स्पर्श का संवेदन करते हुए नहीं चलना चाहिए।

इस प्रकार प्रथम ईर्या समिति साधक आत्मा के लिए परम विशुद्धि का कारण है। परन्तु ईर्या की विशुद्धि के भी चार महत्त्वपूर्ण कारण आगम में निर्दिष्ट हैं—

१– आलम्बन २– काल ३– मार्ग और ४– यतना।

आलम्बन–यहां आलम्बन का अर्थ सहारा, उद्देश्य और लक्ष्य है। साधक जीवन में जितनी आवश्यक क्रियाएँ हैं उनका प्रधान लक्ष्य रत्नत्रय की उपलब्धि है अतः ईर्या समिति के आलम्बन ज्ञान-दर्शन-चारित्र हैं।

२– काल—ईर्या समिति के काल के सम्बन्ध में दो विभाग हैं—दिन और रात। ईर्या समिति का पालन दिन में हो सकता है, रात्रि में नहीं। अतः साधक श्रमण-श्रमणियों को रात्रि में नहीं चलना चाहिए।

आगम के अनुसार वर्षाकाल के चार मास हैं—श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक। इन चार मासों में श्रमण-श्रमणियों को ग्रामानुग्राम विहार नहीं करना चाहिए।[1] किन्तु आगमोक्त पांच कारण उपस्थित होने पर आत्मरक्षा के लिए वर्षावास क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र जा सकते हैं। यथा—

१–अराजकता फैलने पर या सुरक्षा-व्यवस्था समीचीन न होने पर।

२–दुष्काल होने पर या शिक्षा दुर्लभ होने पर।

३–किसी के व्यथा पहुँचाने पर।

४–बाढ़ आने पर।

५–अनार्यों का उपद्रव होने पर।[2]

---

१. जे भिक्खू वासावासं पज्जोसवियंसी दूइज्जइ, दूइज्जंयं वा साइज्जइ।

—निशीथ, उद्दे. १०, सू. ६४१

२. क– जो कप्पई निग्गंथाणं वा, निग्गंथीणं वा पढमपाउसंसि गामाणुगामं दुइज्जित्तए।

ख– पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ, तं जहा—१. भयंसी वा, २. दुब्भिक्खंसि वा, ३. पव्वहज्जे वा णं कोइ, ४. दग्रोघंसि वा एज्जमाणंसि, ५. महाय वा अणारिएसु।

—स्थानांग, अ. ५. उद्दे. २, सूत्र ४१२

३–मार्ग—माग दो प्रकार के हैं—द्रव्यमार्ग और भावमार्ग। स्थलमार्ग, जलमाग और नभमार्ग में चलना द्रव्यमार्ग है और अपनी चित्तवृत्ति में लगे हुए संस्कारों में प्रवृत्त रहना–चलना–विचरना ईर्या में भावमार्ग है।

४–यतना—यतना का अर्थ है—प्रत्येक क्रिया को विवेकपूर्वक करना। यतना के चार प्रकार हैं—

१– द्रव्ययतना २– क्षेत्रयतना
३– कालयतना ४– भावयतना

१– द्रव्ययतना—दिन में आंखों से देखकर चलना। रात्रि में रजोहरण से प्रमार्जन करके चलना।

२– क्षेत्रयतना—चार हाथ प्रमाण क्षेत्रों को देखते हुए चलना।

३– कालयतना—जितने समय तक चलना उतने समय तक विवेकपूर्वक चलना।

४– भावयतना—सदा उपयोग पूर्वक चलना। भावयतना से श्रमण के संयम की रक्षा होती है। संयम की रक्षा का अर्थ है—स्वयं श्रमण की रक्षा और अन्य प्राणियों की रक्षा। श्रमण के भाव, विचार-संयम से विचलित न हों, यही भावयतना है।

२– भाषा समिति—मार्ग में चलते हुए मुनि मौन रहे। अत्यावश्यक होने पर जो मर्यादा पूर्वक बोला जाता है वह भाषा समिति है,। इस कारण दूसरी समिति का नाम भाषा समिति कहा जाता है। वचन गुप्ति उत्सर्ग है पर भाषा समिति उसका अपवाद है। मुनि मौनधारी, गुण-ज्ञान का संग्रह करने वाले, कुलीन और आत्मध्यान में लीन गुप्तिवान और उत्सर्ग युक्त होते हैं। इन सर्व दृष्टियों से वचन योग आश्रव स्वरूप है फिर भी पर के कारण, आत्महित के उपदेश हेतु अनुपम उपदेश निर्जरा का कारण बन जाता है। इसी कारण उत्सर्ग रूप वचन गुप्ति का भाषा समिति अपवाद है।

अकारण साधु बोलता नहीं अतः बोलने के कारण पर विशेष स्वरूपी भाषा का प्रयोग स्पष्ट करने हेतु इस समिति में भाषा के प्रकारों द्वारा उसका स्वरूप बताया है। भाषा के विविध प्रकार–स्वरूपों का वर्णन करते हुए सोलह, दस और चार प्रकार की भाषाएँ बताई हैं।

१– साधु द्वारा नहीं बोली जाने वाली १६ प्रकार की भाषाएँ निम्न हैं–

१– कर्कश २– कठोर ३– छेदक ४– भेदक
५– पीड़ाकारी ६– हिंसाकारी ७– सावद्य ८– मिश्र
९– क्रोधकारी १०– मानकारी ११– मायाकारी १२– लोभकारी
१३– रागकारी १४– द्वेषकारी १५– विकथा १६– मुहकथा

२– भाषा के दस दोष टालकर साधु को बोलना चाहिए—

१– कुबोल दोष	२– सहसाकार दोष
३– असदारोपण दोष	४– निरपेक्ष दोष
५– संक्षेप दोष	६– क्लेश दोष
७– विकथा दोष	८– हास्य दोष
९– अशुद्ध दोष	१०– मुणमुण दोष

३– भाषा के चार प्रकार इस प्रकार हैं—

१– सत्यभाषा	२– असत्यभाषा
३– सत्यासत्यभाषा	४– असत्याऽमृषा [व्यवहार भाषा]

इनमें २ और ३ नम्बर स्पष्टतः साधु के लिए निषिद्ध हैं। एक और चार नम्बर की भाषा के प्रयोग का निषेध भी है और विधान भी है।

३– एषणा समिति—जिसने ईर्या समिति के गुणगान किए हैं और जो भाषा का भेद स्वरूप जानता है, उसे यह समझना आसान है कि वेदनीय कर्म के उदय से जीव को भूख की संज्ञा या संवेदना जगती है। इस वेदनीय कर्म के उपशमन हेतु साधु को एषणा समिति का स्वरूप भेद जानना चाहिए। एषणा समिति अनशन तप उत्सर्ग का अपवाद है।

निज गुण को ग्रहण करने वाले आत्मा को अपना चैतन्य स्वरूप निश्चय से गत्यांतर में अनाहारी है, फिर भी काया योग से युक्त होने से उसे व्यवहार से आहार के पुद्गल ग्रहण करने पड़ते हैं। जड़ काया के साथ चैतन्य का यह कैसा नेह–प्रीति है। "इस आत्मा ने देह से प्रीति कर अनन्त पुद्गल स्कन्ध ग्रहण किये फिर भी उसे तृप्ति क्यों नहीं होती ?" ऐसा सोचकर गुणीजन संत आत्मा को वश में कर पुद्गल स्कन्ध को ग्रहण नहीं करते हैं। परन्तु काया को रखने में अशनादि–आहारादि ही कारण सम्बन्ध रूप हैं। आत्मतत्त्व अनन्त शुद्ध स्वरूप होने पर भी वह ज्ञान के बिना जाना नहीं जा सकता और आत्मा के उस ज्ञान स्वरूप को प्रकट करने में सूत्रों का स्वाध्याय ही परम उपाय रूप है और यह उपाय देह के बिना नहीं होता, अतः देह से ही काम लेना है यह सोचकर गुण–वान आत्मा काया को आहार देकर उसकी सुरक्षा करते हैं।[1]

निरुपाय ऐसे मुनि को आहार लेना ही पड़ता है लेकिन उसकी भी विशेष विधि है—

साधु आहार तो करे लेकिन वह आहार ४७ दोष से रहित होना चाहिए और भ्रमर जैसे पुष्प को बिना किलामना उपजाए एक-एक फूल पर से रस पीता

---

१. अष्टप्रवचनमाता—ढाल ३, पद २-६

है वैसे साधु भ्रमरवत् भिक्षा ग्रहण करे और गृहीत भिक्षा भी रूक्ष होनी चाहिए। रूक्ष आहार भी स्वाद लिए बिना और मूर्च्छा भाव से रहित ग्रहण करे। इतना ही नहीं, कभी भिक्षा में आहार शीघ्र मिल जावे तो हर्ष न करे और न मिले तो शोक भी न करे।

'आचारांग' सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में इसे पिंडेषणा कहा है। इसी प्रकार यहां पाणेषणा, शय्यैषणा, वस्त्रेषणा, संस्तारक एषणा, पायपुंछण एषणा, रजोहरण एषणा आदि एषणा के विविध प्रकार बताये हैं।

४– आदान भांड मात्र निक्षेपणा समिति—ईर्या समिति, भाषा समिति और एषणा समिति का समाधिपूर्वक पालन करने वाले गुणवान् साधु को अन्य समितियों का पालन करने हेतु उपधि आदि की आवश्यकता रहेगी, क्योंकि बिना उपधि आहारादि किसमें ग्रहण किया जाय। इसी कारण ज्ञानी महापुरुषों ने भव्य जीवों को निर्वाण सुख प्राप्ति के परम उपाय स्वरूप आदान भांड मात्र निक्षेपणा समिति का भावपूर्वक कथन किया है।

पांच संवर की भावना युक्त मुनि प्रमाद का त्याग कर सर्व परिग्रह से मुक्त हो एकान्त मोक्ष मार्ग की आराधना में संलग्न रहता है अतः वह पर-भाव से मुक्त होता है तो उसे किसी प्रकार के उपकरण की क्या आवश्यकता है? उसे तो देह की ममता का त्याग कर [ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप] तीन रत्नों की सन्निधि की सुरक्षा करनी होती है। यह जो कथन है वह उत्सर्ग स्वरूप है। अब जो अपवाद मार्ग का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है वह उपधि के उपयोग का स्वरूप होने पर भी विकथा प्रमादों आदि के निवारण रूप है।

साधु के प्रत्येक उपकरण के पीछे महत्त्वपूर्ण कारण रहे हुए हैं। प्रत्येक का विधान अपने रहस्य के साथ प्रस्तुत है। जिनवर ने उपदेश प्रदान करते हुए इन सर्व रहस्यों को प्रधानता दी है—

१– रजोहरण—अहिंसा पालन हेतु, याने हिंसा का निरोध करने हेतु।

२– पात्र—आहार ग्रहण हेतु।

३– मुंहपत्ति—अहिंसा पालन हेतु याने वायुकाय रूप जीवों की हिंसा-प्रतिषेध हेतु।

४– वस्त्र—नग्न साधु को देखकर जगत के स्त्री-पुरुष साधु की दुगंछा करते हैं। अतः वस्त्र परिधान संयम-सुरक्षा में सहायक बन सकता है।

इस प्रकार पुद्गल को ग्रहण करना और छोड़ देना ऐसा जिनवर प्रदत्त अपवाद मार्ग बहुत श्रेष्ठ है क्योंकि पुद्गलों का ग्रहण करना सहज है। ग्रहण करते समय ममत्व-त्याग और यतना में विवेक तथा निरूपयोगिता के समय सर्वथा त्याग, यही इस व्यवहार समिति की विशेषता है।

साधु का निश्चल ध्येय कर्म से मुक्ति पाना है और उस हेतु उसे सर्व-उपधियों का त्याग कर मुक्ति से प्रीति बांधकर सर्व आचारों को जीतकर अणगार बनना है । अतः संयमी-आत्मा को उपधि के प्रति ममत्व का त्याग कर श्रेणी पर आरूढ़ हो तत्त्व ज्ञान के परम रस में निमग्न होना चाहिए ।

५– परिष्ठापनिका समिति—साधु अन्तर-बाह्य कोई भी उपधि का ग्रहण करेगा, अन्त में वह त्याज्य ही है अतः वीतराग ने मुक्ति के भाव सुख प्रधान मंगलधाम की प्राप्ति के उपायों में समिति प्रकरण में पाँचवी परिष्ठापनिका समिति का उपदेश दिया है । पूज्यपाद तिलोक ऋषि जी म. सा. ने इस समिति का नाम अभयव्रत भी दिया है ।[१]

साधु को देह से ममत्व नहीं बढ़ाना चाहिए, क्योंकि देह से ममता बढ़ाने से चारों कषाय हमें प्रिय हो जाते हैं । कषायों के प्रिय हो जाने पर देह का ममत्व और स्नेह बढ़ता है और चंचलता भी बढ़ती है । अतः उत्सर्ग मार्ग पर चलने वाले शरीर की ममता का त्याग करते हैं । परन्तु अपवाद मार्ग पर चलने वाले ज्ञानादि हेतु काया का पोषण करते हैं । काया जहां है, वहां मल अवश्य है । आत्मा निर्मल है, शरीर तो मलयुक्त है । अतः काया-पोषण के साथ इस उत्सर्ग की प्रक्रिया भी यदि यतनापूर्वक की जाय तो साधक केवलज्ञान की स्थिति प्राप्त कर सकता है । निष्कर्ष में यतना ही कैवल्य की दायिनी है ।

कल्पों से रहित जिनकल्पी ऋषि, मुनि वस्त्र, पात्र, आहार, शिक्षा आदि को कर्म-वर्धक और संयम-बाधक द्रव्य मानकर उन्हें भी दूर परठा देते हैं, मन के भीतर उत्पन्न कषाय रूप मैल का विसर्जन कर वे किसी भी प्रकार की उपधि से युक्त नहीं होते हैं ।

अपवादमार्गी स्थविरकल्पी मुनि अपवाद मार्ग पर चलते हुए भी किस प्रकार मोक्ष ध्येय को पूर्ण कर सकते हैं, यह इस समिति में समझाया गया है ।

स्थविरकल्पी साधु द्रव्य से दिन में परिष्ठापनिका भूमि मंडल को देखकर और रात को उसी दर्शित भूमि पर प्रस्रवणादि परठाते हैं परन्तु भाव से तो राग-द्वेष रूप भाव-मल का त्याग करते हैं ।

परिष्ठापना हेतु 'उत्तराध्ययन सूत्र' में दस लक्षण युक्त निम्न दस विधान वताये हैं—

१. जहां कोई आता नहीं और देखता भी नहीं ।

---

१. पंचमी सुमति जाणो काइ तस नाम परठावणी मानो हो ।
अभय व्रत वधावो जी, जयणासु परिठावो हो मुनिवर
समिति सदा सुखकारिणी रे..........॥

तिलोक काव्य कल्पतरू, भाग ४, पृ. ४५७

२. जहां पर परठाने योग्य पदार्थ परठने से किसी व्यक्ति को आ न पहुँचे ।

३. परठने की भूमि सम हो ।

४. पोलार रहित अर्थात् तृणादि से आच्छादित व दरारों से युक्त न

५. कुछ समय पहले ही अचित्त हुई हो ।

६. विस्तीर्ण हो (कम से कम एक हाथ लम्बी-चौड़ी) ।

७. बहुत गहराई (कम से कम चार अंगुल नीचे) तक अचित्त हो

८. ग्रामादि से कुछ दूर हो ।

९. मूषक, चींटियाँ आदि के बिलों से रहित हो ।

१०. त्रस प्राणियों एवं वीजों से रहित हो ।[1]

तीन गुप्ति :

१. मनोगुप्ति—समिति श्रेष्ठ है साथ-साथ सरल भी है परन्तु गुप्ति अतीव दुष्कर है । उसके धारण करने वाले मुनि निज गुणों को प्रकट कर निज स्वरूप का ज्ञाता हो अष्टकर्म से रहित सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकता है ।

मन-वचन-काया रूप तीनों योगों में भी मनोयोग की गति अति तीव्र है । मन को स्थिर करना अति दुष्कर होने से तीन दण्ड में मनोदण्ड को ही बड़ा माना गया है । मन रहित (असंज्ञी) जीव क्रूर कर्म करता भी है तो वह मन रहित होने से प्रथम नरक से आगे (दूसरी, तीसरी आदि में) नहीं जाता है । संज्ञी जीव जिसकी अवगाहना मात्र अंगुल के असंख्यात भाग की हो, (वह देह से क्रूर कर्म न भी कर सकता हो तो भी मन से क्रूर कर्म कर) वह सातवीं नरक में उत्पन्न हो सकता है । (असंज्ञी) मत्स्य की काया सहस्र योजन लम्बी-चौड़ी हो और क्रोड़ पूर्व स्थिति का उसका आयुष्य हो तो भी वह प्रथम नरक से आगे नहीं जा सकता है । यही मन का गम्भीर रहस्य है । इसी कारण भव्यात्मा मुनि मनगुप्ति की आराधना कर मन की तीव्र गति को वश में करता है तो आत्मा (जन्म-मरण रूप) रोग से मुक्त होता है ।

योग के द्वारा ही पुद्गल संचय होता है और योग के द्वारा ही कर्मों के साथ आत्मा की सदा नवीन संधि होती है ।

इन्हीं कारणों को जानकर मुनि ! तू निज आत्मगुण में लीन हो शीघ्र निर्विकल्पक स्थिति को प्राप्त कर । सविकल्पक गुण अपवाद मार्ग में साधु का अवश्य है परन्तु उत्सर्ग मार्ग का ज्ञाता हो जाने पर निर्विकल्पक मुनि को क्षण

---

१. उत्तराध्ययन, अ. २४, गा. १७-१८

वार भी अपवाद के प्रति अंश मात्र भी रुचि नहीं होती। शुक्लध्यान के आलंबन को धार कर वह मुनि ध्यानलीन हो आत्म स्वरूप दर्शन में स्थिर हो जाता है।

२. वचन गुप्ति—आगम के अनुसार मनोयोग की अपेक्षा वचन योग की अधिकता बताई गई है। पन्नवणा[1] सूत्र में दो सौ उनचालीस (२३९) वें बोल में वचन योग के स्वरूप में कहा है कि भाषा का संठाण वज्र जैसा है।[2] त्रस प्राणी द्वारा बोली जाने वाली इस भाषा को ग्रहण करते समय शास्त्रोक्त आठ—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श में से चार विरुद्ध स्पर्शों को जीव फरसता है[3] और प्रगट करते समय आठों को फरसता है।

भाषा या ऋद्धियुक्त वचन ये नामकर्म के प्रभाव से ही हैं। ऐसे वचन-योग का गोपन वचन गुप्ति है।

भाषा वर्गणा के पुद्गलों के ग्रहण निसर्ग की[4] उपधि जो आत्मवीर्य को प्रेरित करती है, आत्मा उसे क्यों ग्रहण करती है, इसके उत्तर में कहा है—यह करने का कारण भी आत्मा को शुद्ध करना ही है। इस शुद्धि के साधन १२ प्रकार के तप हैं। इन साधनों के द्वारा काया का गोपन कर आत्मा कर्मों के घातिक वर्ग से मुक्त हो सकता है।

वचन गुप्ति का प्रारम्भ कौन-से गुण-स्थानक से होता है और कौन-से गुणस्थानक तक वह रहती है, इत्यादि समाधान हेतु कहा है—

वचन गुप्ति का उदय सम्यक्त्व (चौथे) गुणस्थानक से होता है और वह अयोगी (१४वें) गुणस्थान तक उपादान रूप स्थिर रहता है। अतः जिन मुनियों के मन में चित्तशुद्धि पूर्वक गुप्ति में रुचि रमणता आती है उनके मन में समिति प्रपंच रूप और गुप्ति निश्चय सम्यक्त्व रूप प्रतीत होती है।

३. कायगुप्ति—योगों में काया योग तीसरा योग है। इसका कंपन स्वभाव

---

१. भाषा पद—पद ११ वाँ सूत्र ८५८

२. पन्नवणा सूत्र—पद ११, सूत्र १५ की वृत्ति

३. पन्नवणा सूत्र—पद ११, सूत्र ८७७

४. विज्ञान ने इस बात को प्रायोगिक रूप प्रदान किया है। आज भी आकाशवाणी में प्रथम शब्दों के ग्रहण निसर्ग के समय ग्राफ के रूप में वे तरंगों के रूप में प्रकट होते दिखाई देते हैं। विशेष स्पष्टीकरण हेतु आगम में इनका मोनोग्राफ इस प्रकार है—

ग्र	ग्र	ग्र	ग्र	ग्र	ग्र	ग्र	०
०	नि	नि	नि	नि	नि	नि	नि

देखिये—पन्नवणा सूत्र, पद—११ सूत्र ८७९

है, इसे स्थिर करना अत्यन्त दुष्कर है । जिस प्रकार जब जोर से पवन चलता हो उस समय नाव को स्थिर करना मुश्किल है, वैसे ही कंपन स्वभाव के कारण काया को स्थिर करना दुष्कर है ।

कंपन के प्रकारों के बारे में गौतमस्वामी और भगवान महावीर का प्रस्तुत संवाद द्रष्टव्य है—

गौतम—भन्ते ! एजना कंपन कितने प्रकार की कही गयी है ?

इसके उत्तर में प्रभु कहते हैं—हे गौतम ! एजना पाँच प्रकार की कही गई है । योग द्वारा आत्म-प्रदेशों का कंपन होना या पुद्गल द्रव्यों का चलना इसका नाम एजना है । इस प्रकार एजना कंपनादि रूप होती है । कंपनादि रूप यह एजना द्रव्यादि के भेद से पाँच प्रकार की है ।

जैसे—द्रव्यएजना—द्रव्यों की एजना नरकादि जीव संपृक्त पुद्गल द्रव्यों का—शरीरों का कंपन ।

क्षेत्रेजना—नरकादि क्षेत्रों में वर्तमान जीवों की अथवा जीव संपृक्त पुद्गल द्रव्यों की जो एजना कंपन है वह क्षेत्र एजना है ।

कालेजना—नरकादि काल में वर्तमान जीवों की अथवा जीव संपृक्त पुद्गल द्रव्यों की जो एजना है वह कालएजना है, ।

भावेजना—नरकादि भव में वर्तमान जीवों की अथवा जीव द्रव्य संपृक्त पुद्गलों की जो एजना है वह भावेजना है ।[1]

मोक्ष प्राप्ति तक काया तो रहती ही है फिर यह कंपन कहाँ तक रहता है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है—

१४ वें गुणस्थानक में शैलेशी अवस्था का प्रारम्भ हो जाता है । 'भगवती-सूत्र' में गौतम स्वामी के यह पूछने पर कि क्या शैलेशी अवस्था प्राप्त होने पर भी कंपन होता है ?

परमात्मा ने कहा—"नोइणट्ठे समट्ठे, नऽन्नत्थेणं परप्पयोगेणं" ।[2]

पूर्व कर्मक्षय हेतु आत्मा प्रयास करता रहे पर जीवात्मा यदि नवीन कर्मों का बंधन करता ही रहे तो फिर मोक्ष कब हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है—

यदि देह को ही स्थिर कर दिया जाय तो नवीन कर्म बन्धन का कारण ही नहीं बनता, क्योंकि काया के स्थिर करने पर भाषा अपने आप स्थिर होती

---

१. भगवती सूत्र, शतक—१७, उद्देशक—३, सु. २—४, पृ. ७८१

२. भगवती सूत्र, शतक—१७, उद्देशक—३, सु. १, पृ. ७०१

है और विषयों के रस-भोग अपने आप समाप्त हो जाते हैं। मन का योग भी न रहने से क्रिया के साथ कर्म भी रूक जाते हैं।

प्रस्तुत विवरण के बाद आत्मा ने यह स्वीकार तो किया कि काया को गुपित करना अत्यावश्यक है, यह श्रेष्ठ भी है, मोक्ष का कारण है परन्तु यह गुप्ति की कैसे जाय ?

अष्टप्रवचनमाता अपने वत्स की सुरक्षा के लिए समाधान देती है—

जीव का स्वरूप चैतन्य निराकार स्वरूप है, उसका स्वभाव सदा उपयोगी है। यह देह जड़ पुद्गल के द्वारा कर्म ग्रहण करता है। अतः यह निश्चय से ध्यान रखना कि इसे छोड़े बिना तुझे सुख की प्राप्ति नहीं होगी। इसके लिए तुझे तप के बारह प्रकारों को जानकर, संयम को १७ प्रकार से समझकर, दस प्रकार के मुनिधर्म का आलम्बन लेकर उसका मन-वचन-काया से पालन कर, २२ परिषह पर विजय प्राप्त करनी होगी। मुक्ति-प्राप्ति का यही एक उपाय है, ऐसा समझकर हे भव्यात्मा ! मन-वचन-काया को वश में कर समिति के पांच प्रकार स्वरूप इस जघन्य ज्ञान आराधना द्वारा तू शीघ्र ही भव-जल संसार से पार हो जा।

इस प्रकार अष्टप्रवचन माता का आशीर्वाद प्राप्त करने वाला साधक शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करता है। ■

अवसर आने पर तुम भी ऐसा ही करना

❀ **श्री मनोज आंचलिया**

एक बार गांधीजी रेल से कहीं जा रहे थे। तब तक वह महात्मा नहीं बने थे। उनके डिब्बे में एक ऐसा व्यक्ति भी बैठा था जो बार-२ फर्श पर थूंक रहा था। बापू ने उससे कुछ नहीं कहा। कागज के टुकड़े से थूंक को पोंछ कर फर्श को साफ कर दिया। उस व्यक्ति ने यह सब देखा तो समझा कि यह सफाई-कर्मचारी मुझे नीचा दिखाना चाहता है। बस, उसने फिर थूंक दिया। गांधीजी ने पहले की तरह फिर पोंछ दिया। अब तो वह व्यक्ति बार-२ थूंकने लगा लेकिन गांधीजी तनिक भी विचलित नहीं हुए। जैसे ही वह थूंकता वे बिना बोले फर्श को साफ कर देते। अन्त में स्टेशन आ गया। लोग गांधीजी की जयजय-कार करने लगे। यह देखकर उस व्यक्ति का पसीना छूटने लगा। उसने लपक कर गांधीजी के चरण पकड़ लिए। बार-२ क्षमा मांगने लगा। बापू बोले—"क्षमा की कोई बात नहीं है। मैंने अपना कर्तव्य पालन किया है। अवसर आने पर तुम भी ऐसा ही करना।"

—सुन्दर स्पोर्टस, चेटक सर्किल, उदयपुर

हो जायें सबसे पार

❀ महोपाध्याय श्री चन्द्रप्रभसागर म. सा.

जीवन का वहिरंग भौतिक साधनों से जुड़ा है और अन्तरंग आध्यात्मिक साधनों से। इसलिये वहिरंग विज्ञान है और अन्तरंग अध्यात्म है। विज्ञान भौतिक प्रयोग है और अध्यात्म ध्यान योग है। विज्ञान का शास्त्र शुरू होता है पर से और अध्यात्म का शास्त्र शुरू होता है खुद से। अध्यात्म और विज्ञान में फर्क तो है, पर वह जीवन के अन्तरंगीय और वहिरंगीय जितना ही। दोनों में प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा तो है, पर राम-रावण जैसा कोई प्रतिद्वन्द्वी-भाव नहीं है। यह तो वैसे ही है, जैसे विद्यालय में प्रतियोगिताएं होती हैं। दस लड़के गीत गाते हैं, कोई एक पुरस्कार पाता है। प्रथम वह जरूर आया, पर प्रथम आने से बाकी लड़के उससे दुश्मनी नही रखेंगे।

जीवन का अन्तरंग और वहिरंग, अध्यात्म और विज्ञान भी भिन्न-भिन्न तो हैं, पर दोनों ही जीवन के अंग हैं, मानवीय मस्तिष्क की उपज हैं। इसलिए दोनों में विरोध और द्वन्द्व नहीं है। व्यतिरिकी तो है, पर मित्र हैं परस्पर।

वैसे अध्यात्म और विज्ञान दोनों ही विज्ञान हैं। अध्यात्मक का आत्मा विज्ञान है और विज्ञान प्रकृति का। अध्यात्म अन्तरंग की धारा का प्रतिनिधि है और विज्ञान बहिरंग धारा का। विज्ञान चलता है अणु से लेकर खगोल-भूगोल आदि के प्रयोगों पर और अध्यात्म चलता है अन्तरंग की गहराइयों पर, चेतना की शक्तियों पर। इसलिए बाहर को समझने के लिए विज्ञान सहयोगी है तो भीतर का समझने के लिए अध्यात्म। दोनों पूरकता लिए हैं।

विज्ञान में तथ्य को समझा जाता है और अध्यात्म में ध्यान से तथ्य का अनुभव किया जाता है। विज्ञान अपने से बाहर की यात्रा है और अध्यात्म बाहर से भीतर की यात्रा है। विज्ञान बाहर की खोज करता है, अध्यात्म-ध्यान भीतर की खोज करता है। विज्ञान परकीय तथ्यों को उभारता है, अध्यात्म स्वकीय तथ्यों को उजागर करता है। वास्तव में अध्यात्म शुद्धात्मा में विशुद्धता को आधारभूत अनुष्ठान है।

'सूत्रकृतांगसूत्र' में कहा है कि जैसे कछुआ अपने अंगों को अपनी देह में समेट लेता है, वैसे ज्ञानी लोग पापों को अध्यात्म के द्वारा समेट लेते हैं।

जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेणं समाहारे।।

अध्यात्म अर्थात् ध्यान। यह वह साधना है जो स्वयं पर लगे हुए परदों

को, ऊपरी आवरणों को, अन्तर-स्रोत की चट्टानों को, घूंघट को हटा देती है। वह घूंघट किसी का भी हो सकता है। मन का भी हो सकता है, चिन्तन-वचन का भी हो सकता है, शरीर का भी हो सकता है। मन, वचन और शरीर के इन तीनों घूंघटों को हटाने के बाद ही आत्मा-परमात्मा के सौन्दर्य का दर्शन होता है अन्यथा कोई कितना भी सुन्दर क्यों न हो, यदि वह घूंघट में है, किसी से आवृत्त है, तो उसका सौन्दर्य ढका हुआ ही रहेगा। आइंस्टीन जैसों ने किये होंगे आविष्कार पर आविष्कार, पर सारे के सारे परकीय पदार्थों का आविष्कार हुआ। दीपक तले तो अंधेरा ही रह गया। स्वयं का आविष्कार कहां हुआ ?

यदि हम केवल विज्ञान को महत्त्व देंगे, तो बड़ी भूल करेंगे। क्योंकि बहिरंग ही सब कुछ नहीं है। जैसे अन्तरंग से सभी को जुड़ा रहना पड़ता है, वैसे ही अध्यात्म से जुड़ा रहना पड़ेगा। जैसा अन्तरंग होगा, वैसा ही बहिरंग होगा। बहिरंग के अनुसार अन्तरंग नहीं हो सकता। जैसा बीज, वैसा फल, जैसा अंडा वैसी मुर्गी। अन्तरंग शुद्ध है, तो बहिरंग भी शुद्ध होगा। जो भीतर से अशुद्ध है, वह बाहर से भी अशुद्ध होगा। पर बाहर से अशुद्ध ही हो यह कोई जरूरी नहीं है। बगुला बाहर से शुद्ध, किन्तु भीतर से अशुद्ध रहता है। इसीलिए यह कहावत प्रसिद्ध है कि "मुख में राम, बगल में छुरी।" बाहर कुछ भीतर कुछ, कथनी कुछ करनी कुछ—दोनों में अन्तर, जमीन-आसमान जितना अन्तर।

आज का युग विज्ञान-प्रभावित युग है। आदमी बहिर्मुखी होता जा रहा है। जो लोग आत्ममुखता की चर्चाएं करते हैं गहराई से देखें तो लगेगा कि उनके जीवन में भी बहिर्मुखता है। बहिर्मुखता प्रधान हो जाने के कारण आत्ममुखता गौण होती जा रही है। यदि कोई आत्म-मुखी होने के लिए प्रयास भी करता है, तो बाहरी वातावरण उसे वैसा करने में अवरोध खड़ा कर देता है। बहिर्मुखता या बहिरंग से मेरा मतलब केवल बाहरी सुख-वैभव आदि से नहीं है, अपितु हमारा शरीर भी, हमारा वचन भी, हमारा मन भी बहिरंग ही है। और सत्य तो यह है कि ये ही सबसे अधिक बहिरंगीय पहलू हैं, जिनसे आदमी जुड़ा रहता है और आकाश में फूल खिलाता रहता है। ये मन, वचन, शरीर ही हमें अपने से, आत्मा से बाहर ले जाते हैं। मरीचिका के दर्शन से जल पाने के लिए हमारे भीतरी हरिण को सारे संसार के वन में दौड़ाते हैं। मन, वचन, काया के योग से अयोग होना ही ध्यान का लक्ष्य है।

मन, वचन और शरीर ये ही तो अन्तरात्मा की मूर्ति को ढके हैं, आवृत्त किये हुए हैं। ध्यान इसे अनावरित करता है, आवरणों को हटाता है, पर्दों को हटाता है। ध्यान की प्रक्रिया वास्तव में आत्मा के स्व-भाव को ढूंढना है। यह शरीर है, शरीर के भीतर वचन है, उसके भीतर मन है और इन तीनों के पार है आत्मा। तीनों के पार तो है मगर सम्बन्ध तीनों से जुड़ा है, क्योंकि आत्मा

शरीरव्यापी है । पर लोग हैं ऐसे, जो शरीर को ही आत्मा समझ बैठते हैं और कायाध्यास हो जाता है, कार्योत्सर्ग की भावना मन से निकल जाती है । इसीलिए मन, वचन, शरीर वास्तव में बाधाएं हैं और हमें ध्यान द्वारा इन पर्दों को काटना है । हमें समझना है, पर्तोंदर पर्तों को, जिनसे आत्म-स्रोत रूंधा पड़ा है।

शरीर स्थूलतम हैं । वचन शरीर से सूक्ष्म शरीर है और मन, वचन से सूक्ष्म शरीर है । तीनों ही पदार्थ हैं, तीनों ही अरगुसमूह हैं । ये तीनों पारमाणविक, पौद्गलिक, भौतिक संरचनाएं हैं । मजे की बात यही है कि इन तीनों में मन सबसे सूक्ष्म है । पर वही इन तीनों में प्रधान है । शरीर और वचन दोनों का राजा मन ही है, मन के ही काबू में हैं ये दोनों । मन जहां कहता है, शरीर वहीं रूक जाता है । जिसके मन ने कहा चलो धर्मस्थल में, वे वहां पहुंच गये। जिसके मन ने कहा, वहां जाने से कोई लाभ नहीं है, चलो दुकान में । तो आदमी दुकान चला जाता है । शरीर की सारी चेष्टाएं मन के आदेश से होती हैं । वचन बेचारा है । मन ने चाहा कि मैं जैसा हूं, वैसा ही वचन हो, तो वचन को वैसा ही होना पड़ता है । मन ने चाहा, कि मैं जैसा हूं वैसा वचन अगर मुंह से न निकला, तो इसमें मेरी बेइज्जती होगी, मेरी हानि होगी तो विचारे वचन को मन की चाह के अनुकूल होना पड़ता है ।

इसीलिए जो मन में है वही वचन में होगा । जो हमारे वचन में है, वही शरीर में घटित होगा । मन तो बीज रूप है, वचन अंकुरण है और शरीर फसल है । फसल से प्राप्त होने वाले अनाज ही उसका अभिव्यक्त रूप हैं ।

यद्यपि बहिर्दृष्टि से शरीर प्रथम है किन्तु अन्तरदृष्टि से मन प्रथम है । पर योजित तो हम होते ही हैं, चाहे बाहर से हों या भीतर से । हम योजित होते ही हैं, यानी हमारी आत्मा योजित होती है, हमारा अस्तित्व योजित होता है । जैसे भूख लगने पर हम कहते हैं—मुझे भूख लगी है । अब आप सोचिये कि भूख किसे लगती है ? भूख का सम्बन्ध इस पेट से है, शरीर से है, किन्तु हम कहते हैं मुझे भूख लगी है । तो हमने शरीर से जुड़ने वाली चीज को आत्मा से जोड़ लिया । इसीलिए क्योंकि शरीर के साथ तादात्म्य है । इसी तरह क्रोध उठा । क्रोध विचारों में आया, किन्तु हम कहेंगे मुझे क्रोध आया । यह विचारों के साथ आत्मा का तादात्म्य है । वासना जगी । वासना मन में जगती है, पर कहते हैं—मैं कामोत्तेजित हूं । हमने मन के साथ 'मैं' को जोड़ा, आत्मा को जोड़ा, पर के साथ स्वयं को जोड़ा ।

यद्यपि मन, वचन, शरीर ये तीन नाम हैं, किन्तु तीनों अलग-अलग नहीं हैं । तीनों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । तीनों एक दूसरे के पूरक हैं, अन्योन्याश्रित हैं । बीज, अंकुर और फसल कोई अलग-अलग स्वरूप नहीं है । तीनों का अपना-अपना स्वरूप होते हुए भी एक दूसरे से जुड़े-पनपे हैं । कारण

सभी मूलतः परमाणु हैं। आत्मा इन तीनों से स्वतन्त्र है। उसका अपना स्वरूप है। आत्मा तो निरभ्र आकाश है। मन, वचन, काया के योग के बादल ही उसे ढके हैं। अगर ध्यान का, अध्यात्म का सूर्य उग गया, तो आकाश निरभ्र होते देर न लगेगी।

जो लोग सत्य के गवेषक/अन्वेषक हैं, आत्मा में प्रवेश करना चाहते हैं, सत्य की खोज करना चाहते हैं, उन्हें शरीर, वचन और मन की गलियों से गुजरना होगा। ये गलियां कोई सामान्य नहीं हैं। अंधियारे से भरी हुई और कांटों से सजी हुई हैं। इसीलिए साधक की शोध-यात्रा/शोभा-यात्रा ऐसे-ऐसे रास्तों से गुजरती है जो बीहड़ है। पर आत्मा की किरण इसी शरीर में से फूटेगी। जो लोग अपने शरीर को ही सर्वस्व समझ बैठे हैं, उन्हें उस किरण की झलक नहीं मिल सकती।

बहुधा होता यही है कि या तो व्यक्ति ध्यान करता नहीं है और कर भी लेता है तो शरीर का ही ध्यान करता है—शारीरिक ध्यान, इसे ही कहते हैं हठयोग। वास्तविक साधना हठयोग से सिद्ध नहीं होती। हठयोग के द्वारा शरीर को काबू में किया जाता है। योगासन भी इसी की देन है। बाहुबली खड़े रहे ध्यान में, पर उनका ध्यान हठयोग से जुड़ा था। अहम् एवं कुण्ठा की दुर्वह ग्रन्थि उनके अन्तरतम में अटकी थी। वे अहंकार के मदमाते हाथी पर बैठे थे, तो ध्यान फल कैसे दे पायेगा? घोर तप करने के बावजूद सत्य को उपलब्ध न कर पाये। जैसे ही अहम् टूटा कि सत्य से साक्षात्कार हो गया। वास्तव में ध्यान तो सत्य की खोज है, हठयोग नहीं।

प्रसन्नचन्द्र भी तो हठयोग की मुद्रा में खड़े थे, साधु का वेश, योगासन की मुद्रा, पर मन में जो भावों के गिरते-बढ़ते आयाम थे, उसी के कारण नरक-स्वर्ग गति के झूले में झूलते रहे। शरीर तो सधा, पर शरीर से सधने से यह कोई जरूरी थोड़े ही है कि विचारों की आंधी शान्त हो जाये। शरीर से हटे, तो विचारों में जाकर उलझ गये। जैसे ही उपशम-गिरि पर चढ़े कि सिद्ध-बुद्ध बन गये।

हठयोग जरूरी तो है, पर वह साधना का अन्तिम रूप नहीं है। चूंकि साधना का पहला सोपान शरीर है और व्यक्ति इससे बहुत अधिक जुड़ा है, अतः शरीर की साधना भी बहुत जरूरी है। पर उसे साधने के लिए लोग ऐसे-ऐसे तरीके अपना बैठते हैं, जिससे शरीर तो शायद सध जाए, पर मन न सधे। शरीर को मैथुन से दूर कर लिया पर मन में विषय-वासना की आंधी उठ सकती है। इसीलिए मैंने कहा कि मन ही प्रधान है। यदि मन में वासना ही नहीं है तो शरीर द्वारा वासना की अभिव्यक्ति कैसे होगी? शरीर तो स्वयमेव सध गया।

घी बनाने के लिए मक्खन पकाते हैं वर्तन में, आग पर। हमारा उद्देश्य मक्खन को पकाना है, न कि वर्तन को तपाना। पर क्या करें? जब तक वर्तन नहीं तपेगा, तब तक मक्खन पकेगा भी कैसे? वैसे हमारा उद्देश्य आत्मा को पाना है, विचारों को शान्त करना है। शरीर को शान्त करना हमारा उद्देश्य नहीं है। पर क्या करें? विचारों को शान्त करने के लिए शरीर को भी विचारों के अनुकूल बनाना पड़ता है। जो लोग केवल शरीर को सूखाते हैं, शरीर का दमन करते हैं, वे तपस्वी और ध्यानी, योगी कैसे हो गए? जिन्होंने केवल शरीर के साथ अपनी साधना को जोड़ा, उनके कारण ही 'गफ' को कहना पड़ा कि यह देह-दंडन है। बुद्ध को भी तप का विरोध करना पड़ा। महावीर के अनुसार तो यह अज्ञान-तप है। इसीलिए कमठ जैसे तपस्वी का पार्श्व ने विरोध किया, क्योंकि उसने तप को, साधना को केवल शरीर से जोड़ा। पंचाग्नि जलाकर उसके वीच में वैठना—यह जान बूझकर कष्ट झेलना है। कष्ट सिर पर आ गिरे तो उसे झेलना परिषह है। आपत्ति आ जाये, तो उसका स्वागत करना तप है। जान-बूझकर संकटों को पैदा करना तो समझदारी नहीं है। "इच्छानिरोधस्तप:" इच्छाओं पर ब्रेक लगाना तप है, अपने मन को काबू में करना संयम है, केवल शरीर को शोषना, दबाना, न तो तप है, न संयम है, यह तो मात्र हठ-योग है।

हठ-योग है ऐसा, जिसमें शरीर को मुख्यता दी जाती है शरीर को साधा जाता है, शरीर को अपने काबू में किया जाता है, विविध आसनों, विविध मुद्राओं द्वारा। ध्यान को साधने के लिए यह जरूरी है कि शरीर भी सुगठित हो, बलवान हो, सशक्त हो, स्वस्थ हो। कारण स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। मन की निर्मलता के लिए शरीर की निर्मलता, खून की निर्मलता आदि भी सहायक हैं। जिसके शरीर में वल है, उसके मन में भी बल होगा। बलवान तन में वलवान मन निवास करता है। इसलिए गहन ध्यान-साधना के लिए हमारा शरीर यदि संयमित, सुगठित हो, तो साधना में आलस्य या प्रमाद के जहरीले घूंट नहीं पीने पड़ते।

शरीर के भीतर एक और सूक्ष्म शरीर है, जिसका नाम है वचन, विचार, कोन्सियस माइन्ड। विचारों को साधने के लिए मन्त्र-योग काम देता है। विचार वह स्थिति है, जब साधक दीखने में लगता है साध्य-स्थित, किन्तु भीतर में विचारों की आंधी उड़ती रहती है। हाथ में तो माला रहती है किन्तु मनवा कहीं और रहता है। कबीर का दोहा है—

माला फेरत जुग भया, गया न मन का फेर।
कर का मनका डारि दे, मन का मनका फेर॥

हाथ में तो माला के मणियें हैं, पर मन में मणियां कहां है? सामायिक तो ले ली, पर विचारों में, मन में समता कहां आयी? प्रतिक्रमण के सूत्र तो मुंह से वोल दिये, पर क्या पापों से हटे? अन्तरात्मा से जुड़े? मन्दिर तो गये, पर क्या मन में भगवान वसे?

साधना के लिए शरीर को साधना मुख्य है, पर उससे भी मुख्य विचारों का साधना है, अन्तरमन को साधना है। क्योंकि साधना का सम्बन्ध बाहर से उतना नहीं है, जितना भीतर से है। प्रवृत्ति में भी निवृत्ति हो सकती है और निवृत्ति में भी प्रवृत्ति हो सकती है।

बाहर से कोई व्यक्ति हिंसा न करते हुए भी हिंसक हो सकता है। हिंसा और अहिंसा कर्त्ता के अन्तर भावों पर, मन पर, विचारों पर अवलम्बित है, क्रिया पर नहीं। यदि बाहर से होने वाली हिंसा को ही हिंसा माना जाय, तब तो कोई अहिंसक हो नहीं सकता। क्योंकि संसार में सभी जगह पर जीव हैं, और उनका घात होता रहता है। इसलिए जो व्यक्ति अपने मन से, अपने विचारों से अहिंसक है, वही अहिंसक है।

अतः मूल तत्त्व हमारा अन्तरमन है, अन्तर-विचार है। कहा जाता है "जो मन चंगा तो कठौती में गंगा।" अतः मेरे विचारों से साधना में शरीर से भी मुख्य हमारे वचन हैं, मन है। आजकल जो नये-नये से नामों से ध्यान की शैलियां प्रचलित हुई हैं, उन सबका एक ही लक्ष्य है कि विचार शान्त हों, मन केन्द्रित हो। समीक्षण-ध्यान, प्रेक्षा-ध्यान, विपश्यना-ध्यान, सहजयोग-ध्यान ये सभी विचारों की अग्नि को ठंडा करना सिखाते हैं।

चूंकि आज संसार भौतिकता से जुड़ा है अतः विचार भी उसी से जुड़े रहते हैं। ध्यान करने तो बैठ गये, पर मन टिकता नहीं। वह कभी तो बाजार में जाता है, कभी घर का चक्कर लगाता है, तो कभी विचारों में किसी अप्सरा का, मेनका का रूप उभरता है। इसे कहते हैं—विचारों में बहना। जिसके मन में जैसे भाव होते हैं, जैसे विचार होते हैं, वह व्यक्ति वैसा ही बन जाता है।

शारीरिक क्रियाएं वास्तव में आन्तरिक विचारों की अभिव्यक्तियां हैं। क्रोधी मन में विचार भी क्रोधी होंगे। कामुक मन के विचार भी कामुक होंगे। जो विचारों में है, वही शारीरिक क्रियाओं द्वारा प्रकट होता है।

जब व्यक्ति देह में रहकर, देहातीत होकर वैचारिक ध्यान में समर्पित हो जाता है, तो उसके शरीर द्वारा वैसी क्रियाएं होने लगती हैं, जो उसके विचारों में थीं। जब व्यक्ति विचारों में खोया रहता है तो उसे पता भी चलता कि शरीर में या शरीर के बाहर कुछ हो रहा है या नहीं ? बहुत बार ऐसा होता है कि कोई हमें आवाज देता है। पांच बार आवाज देता है, मगर वह आवाज हमारे कानों को छू कर भी लौट जाती है। क्योंकि हम, हमारी चेतना, हमारे चैतसिक सारे व्यापार—सभी किसी विचार में लगे हुए थे। जब अचानक चेतना लौटती है, उस आवाज को पकड़ती है, तो हम हक्के-बक्के रह जाते हैं।

जब आदमी विचारों में, अन्तर-विचारों में ही रमने लग जाता है, तो महर्षि रमण बन जाता है। उसे पता नहीं चलता है कि मैं शरीर हूं। उसका

अनुभव उसे भीतर की यात्रा करवाता है। वह पाता है कि मैं शरीर नहीं हूं शरीर से परे हूं।

इसीलिए मन्त्रों का विकास हुआ। मन्त्रों का अपना विज्ञान है। मन्त्र केवल शब्द नहीं हैं। मन्त्र रचयिताओं ने प्राण फूंके हैं, अपनी साधना की आध्यात्मिक शक्तियों के। यदि मन्त्र सिद्ध हो गया, तो मन्त्र में निहित शक्ति से साक्षात्कार जब चाहो तभी सम्भव है। जो मन्त्रों को विस्तार से बोलना चाहे, वे फिर नवकार-मन्त्र, गायत्री मन्त्र, शिव-मन्त्र आदि मन्त्रों को बोलते हैं, उच्चारण करते हैं। वैसे तो बहुत सारे मन्त्र हैं। मन्त्रों की संख्या सात-आठ करोड़ तक है।

मन्त्र की तरह ही तन्त्र है। तन्त्र मन्त्रों का ही विस्तार है। मन्त्र हमारे विचारों को अध्यात्म से जोड़ता है। वैचारिक ऊर्जा मन्त्र से आबद्ध होकर विकेन्द्रित नहीं होती। जैसे-जैसे व्यक्ति मन्त्र को गहराई में उतारेगा, उसे मोती मिलते जाएंगे। वह बौद्धिक विचारों से, मन के चिन्तन से, सैद्धान्तिक बातों से ऊंचा उठता जाएगा। उसे एक गहन अनुभूति होगी। उसी अनुभूति से आत्मा की किरण फूटेगी। मन्त्र की ध्वन्यात्मकता शरीर के रग-रग में फैल जाएगी। वह अन्तरात्मा के भीतरी लोक से जान-पहचान करायेगी। अन्ततः साधक को आत्म-प्रतीति, आत्म अनुभूति हो जायेगी, आत्म-तोष का सागर उमड़ पड़ेगा।

इसीलिए मन्त्र "मैग्नेटिक करेंट" की तरह, चुम्बकीय विद्युतधारा की तरह हमें भीतर ले जाता है। हमारे शरीर की भीतरी शक्तियों से दोस्ती करवाता है। जब मन्त्र की शक्ति के पटल खुल जाते हैं, तो हम बेतार के तार ज्यों सीधे सम्पर्क कर सकते हैं अपने से, अपने आराध्य से।

तो अध्यात्म-जगत् में प्रवेश करने के लिए, ध्यान एकाग्र करने के लिए जरूरी है कि जोड़ बाकी में बदले। जितनी बार हमने जोड़ की, उतनी ही बार बाकी करनी पड़ेगी। गणित के हिसाब से चलना होगा। हमें ऊपर उठना होगा मन से, वचन से, शरीर से।

पहले शरीर, फिर वचन और फिर मन को साधना यह थोड़ा सरल है, पर समय ज्यादा मांगता है। पहले मन, फिर वचन और फिर शरीर को साधना यह थोड़ा कठिन है, पर तत्काल लाभदायक है। चाहे कुछ भी करें, कैसे भी करें, इन तीनों बाधाओं को पार करना होगा। चूंकि मन मुख्य है। जिसने मन का काला सागर पार कर लिया, वह हर सागर से गुजर सकता है। भला जिस मन में देह में रहते हुए भी सारे ब्रह्माण्ड की यात्रा करने की शक्ति है, उसे यदि हम आत्म-जगत में मोड़ दें, तो क्या यह हमें भीतर के ब्रह्माण्ड की यात्रा नहीं करा पायेगा? बाहर से हटें, भीतर आयें। मन, वचन और शरीर से बहिरात्मा को

छोड़कर, अन्तरात्मा में आरोहण कर परमात्मा का ध्यान करें, तो हमें आत्म-प्रतीति भी होगी और परमात्म्य-अनुभूति भी होगी ।

आरुहवि अन्तरप्पा, बहिरप्पो छंडिऊण तिविहेण ।
झाईंज्जइ परमप्पा, उवइट्ठं जिणवरिंदेहि ।।

यदि मन की चट्टानें हट गयीं, वचन की चट्टानें हट गयीं, शरीर की चट्टानें हट गयीं, तीनों चट्टानें हट गयीं तो आत्मा का झरना कल-कल करता फूट पड़ेगा । अन्तःकरण में ब्रह्मनाद होगा, परमात्मा की बांसुरी के सुरीले स्वर हमें मुग्ध कर देंगे । हम उस सत्य का रसास्वादन करेंगे, जिसके प्रति संसार उदासीन रहता है ।

हमें ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि मैं न पर का हूं, न मन का हूं, न वचन का हूं, न शरीर का हूं, न ही ये मेरे हैं । मैं तो एक शुद्ध चैतन्य मात्र हूं । "सोहम्" वह मैं ही हूं । 'सोहम्' से ही "हंसोहम्" की स्थिति आती है । मेरी कस्तूरी मेरी नाभि में ही है "कस्तूरी कुंडल बसै" । आखिर में आप पायेंगे कि सारे अन्तरद्वन्द्व, सारे विकल्प छूट गये हैं । मन आत्मस्वरूप में ही रूक गया है । मन का आत्मा में रूकना, मन का एकाग्र होना ही ध्यान है । वह देह में भी विदेह रहेगा । साध्वी विचक्षण श्री की तरह देह में भी विदेह रहेगा, शरीर की व्याधि में भी समाधि की सुरभि महकेगी । श्रीमद् राजचन्द्र के अस्थि कंकाल वने शरीर से भी आत्मा की आभा फूटेगी । शान्तिविजय जी की तरह जंगल में रहते हुए भी जीवन में सदा बहार रहेगी । आनन्दघन की तरह श्मशानों में रहते हुए भी अमरता की वीणा झंकृत होगी—'अब हम अमर भये, ना मरेंगे ।' और सच कहूं, तो जो ऐसे लोग हैं, वे ही ध्यान की कुठार से भव-वृक्षों को काट सकते हैं । उन्हीं के आत्म-मन्दिर में सदा मुक्ति का दीप जलता रहता है । सचमुच, जो व्यक्ति संसार के स्वरूप से, मन, वचन, काया के स्वरूप से सुपरिचित है, वीतराग-भाव से युक्त है और निजानन्द रसलीन होना चाहता है, वहीं पता लगा सकता है, कुंडल में नाभि में, छिपी कस्तूरी का ।

□ एक मनुष्य प्रति मास दस लाख गायों का दान करता है । और दूसरा मनुष्य कुछ भी नहीं करते हुए केवल संयम की आराधना करता है, तो उस दान की अपेक्षा उसका यह संयम श्रेष्ठ है ।
—भगवान महावीर

जितेन्द्रियता और सेवा

❀ स्वामी शरणानन्द

अपना निर्माण करने, अर्थात् अपने को सुन्दर बनाने के लिए इन्द्रिय-लोलुपता से जितेन्द्रियता की ओर, स्वार्थ से सेवा की ओर, विषय-चिन्तन तथा व्यर्थ-चिन्तन से भगवत्-चिन्तन तथा सार्थक चिन्तन की ओर एवं असत्य से सत्य की ओर गतिशील होना नितान्त आवश्यक है। कारण कि जब तक प्राणी अपने पर अपना शासन नहीं कर लेता, अपनी बनायी हुई पराधीनताओं का त्याग करके स्वाधीन नहीं हो जाता, निरर्थक चिन्तन और चेष्टाओं से रहित नहीं होता, अपने को सहृदय और उदार नहीं बना लेता, सत्य के प्रति प्रियता नहीं उत्पन्न कर लेता तब तक वह अपने को सुन्दर नहीं बना सकता—यह निर्विवाद सत्य है।

इन्द्रिय-लोलुपता अविवेक-सिद्ध है। यदि मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्य से अपने को असंग करले तो बहुत ही सुगमता पूर्वक जितेन्द्रियता प्राप्त हो सकती है, अर्थात् भोग से भोक्ता का मूल्य बढ़ जाता है, जिसके बढ़ते ही भोग की रुचि तत्त्व की जिज्ञासा में, अथवा प्रेमास्पद की प्रियता में परिवर्तित हो जाती है। इस दृष्टि से शरीर आदि वस्तुओं से असंग होना अनिवार्य है। असंगता किसी अभ्यास से सिद्ध नहीं होती, अपितु निज विवेक के आदर से ही साध्य है, कारण कि समस्त अभ्यास शरीर के तादात्म्य से ही किये जाते हैं। करने की रुचि ने ही देहाभिमान को पोषित किया है और देहाभिमान से ही सुख में प्रलोभन तथा दु:ख का भय उत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राणी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग न करे। करने के फलस्वरूप कुछ पाने का जो प्रलोभन है उसी से प्राणी में देहाभिमान पोषित होता है, जिसके होते ही उत्पन्न हुई वस्तुओं में सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता भासती है, जो इन्द्रिय-लोलुपता की भूमि है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि विवेकपूर्वक तीनों शरीरों से असंग होने पर ही वास्तविक जितेन्द्रियता की अभिव्यक्ति होती है।

देहाभिमान रहते हुए बलपूर्वक जितेन्द्रियता प्राप्त करने का प्रयास विषयाशक्ति के नाश में समर्थ नहीं होता, अपितु तप-पूर्वक अल्प काल के लिए विषयासक्ति दब जाती है, नष्ट नहीं होती। इस कारण विषयासक्ति का नाश एकमात्र विचार से ही सम्भव है। विचार-रूपी सूर्य का उदय होते ही विषयासक्ति-रूपी अन्धकार स्वत: नष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से तप और त्याग दोनों ही के द्वारा जितेन्द्रियता सिद्ध होती है। तप से शक्ति का सम्पादन होता है और

त्याग से निर्वासना आती है, जिससे सर्वांश में समस्त आसक्तियों का अन्त हो जाता है, जो वास्तविक जितेन्द्रियता है।

इन्द्रिय-लोलुपता परिवर्तनशील सुख की ओर तथा जितेन्द्रियता हित की ओर प्रेरित करती है। सुख और हित में एक बड़ा अन्तर यह है कि सुख का भोगी वस्तुओं, व्यक्तियों, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों के अधीन हो जाता है, अर्थात् उसकी स्वाधीनता पराधीनता में बदल जाती है। इतना ही नहीं, उसमें शक्तिहीनता, हृदयहीनता और परिच्छिन्नता आदि अनेक निर्बलताएँ अपने आप आ जाती हैं। इसके विपरीत हित को अपनाने पर पराधीनता-स्वाधीनता में, हृदयहीनता सहृदयता में, परिच्छिन्नता में और निर्बलता सबलता में बदल जाती है, क्योंकि हित हमें 'पर' से 'स्व' की ओर प्रेरित करता है। हित का अभिलाषी प्राणी 'यह' से 'है' की ओर अग्रसर होता है, अर्थात् वह दृश्य से विमुख होकर सर्व के प्रकाशक में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर विषय इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि उसमें लीन हो जाती है जो सबसे अतीत है। इस प्रकार बुद्धि के सम होने पर मन में निर्विकल्पता आ जाती है, फिर इन्द्रियाँ विषय-विमुख होकर मन से अभिन्न हो जाती हैं—बस यही जितेन्द्रियता का वास्तविक स्वरूप है। जितेन्द्रियता प्राप्त होते ही शक्तिहीनता और पराधीनता का अन्त हो जाता है, क्योंकि इन्द्रिय-जय से आवश्यक शक्ति का विकास स्वतः होने लगता है।

पर जब तक स्वार्थ-भाव निर्मूल नहीं हो जाता तब तक जितेन्द्रियता की उत्कट लालसा जाग्रत नहीं होती, जिसके बिना हुए मानव सत्पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। इस दृष्टि से स्वार्थ-भाव का अन्त करना अनिवार्य है। स्वार्थ–भाव गलाने के लिए सुखासक्ति का नाश अनिवार्य है, जो एकमात्र सेवा से ही साध्य है। सेवा की अभिव्यक्ति दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने में ही निहित है। सेवा के विना सुखासक्ति निर्मूल नहीं होती, कारण कि सुख का सद्व्यय सेवा द्वारा ही सम्भव है। सेवा-भाव उदित होते ही प्राणिमात्र से एकता हो जाती है, जिसके होते ही दुःखियों को देख सेवक का हृदय करुणा से परिपूर्ण होता है और फिर सेवक प्राप्त सुख आदरपूर्वक दुःखियों को भेंट कर देता है। ऐसा करते ही सुख की दासता शेष नहीं रहती, यही विकास का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार शरीर और विश्व का विभाजन सम्भव नहीं है। इन्द्रिय-दृष्टि से भिन्नता प्रतीत होने पर भी जिस प्रकार शरीर और शरीर के अवयवों में एकता है उसी प्रकार समस्त विश्व के साथ एकता स्वतःसिद्ध है। एकता दुःखियों को देखने पर करुणा और सुखियों को देखने पर प्रसन्नता प्रदान करती है। करुणा सुख-भोग की रुचि को खा लेती है और प्रसन्ता निष्कामता से अभिन्न करती है। भोग की रुचि का नाश होते ही योग और निष्कामता आते ही असंगता स्वतः प्राप्त होती है। योग से सामर्थ्य और असंगता से स्वा-

धीनता स्वतः प्राप्त होती है। इस दृष्टि से सेवा-भाव बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। इतना ही नहीं, सेवा सेवक को सेव्य से अभिन्न कर देती है, अथवा यों कहो कि सेवक का अस्तित्व सेवा से भिन्न और कुछ नहीं रहता। सेवा सेव्य का स्वभाव और सेवक का जीवन है। सेवा से सेव्य को रस मिलता है और जगत् का हित होता है। सुन्दर समाज का निर्माण एकमात्र सेवा में ही निहित है। सेवा से जीवन जगत् के लिए, अपने लिए एवं सेव्य के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। सेवा-भाव जाग्रत होते ही प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय स्वतः होने लगता है, जो जगत् के लिए उपयोगी है। सेवा से प्राप्त वस्तु आदि की ममता और अप्राप्त वस्तु आदि की कामना शेष नहीं रहती। सेवा से पराधीनता स्वाधीनता में, जड़ता चिन्मयता में एवं मृत्यु अमरत्व में विलीन हो जाती है। इस दृष्टि से सेवा अपने लिए उपयोगी सिद्ध होती है। सेवा सेव्य में आत्मीयता जाग्रत करती है। आत्मीयता में ही अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता निहित है, जिससे सेव्य को रस मिलता है। अतएव सेवा सेव्य के लिए भी उपयोगी सिद्ध होती है। मानव जिसमें अविचल आस्था स्वीकार करता है वही उसका सेव्य है और उसी के नाते सेवा की जाती है। सेवा भौतिकवादियों को विश्व-प्रेम, अध्यात्मवादियों को आत्मरति एवं भक्तों को प्रभु-प्रेम प्रदान करने में समर्थ है। प्रेम का आरम्भ किसी के प्रति हो, अन्त में वह विभु हो जाता है, कारण कि दर्शन अनेक होने पर भी वास्तविक जीवन एक है। उससे अभिन्नता मानव-मात्र को सेवा द्वारा हो सकती है। □

卐

- □ जो अपने मुख और जिह्वा पर संयम रखता है, वह अपनी आत्मा को संतापों से बचाता है। —बाइबिल
- □ संयम में पहला कदम है विचारों का संमम। —महात्मा गांधी
- □ सौन्दर्य शोभा पाता है शील से और शील शोभा पाता है संयम से। —कवि नान्हालाल
- □ जो अपने ऊपर शासन नहीं करेगा, वह हमेशा दूसरों का गुलाम रहेगा। —महाकवि गेटे
- □ जिसका मन और वाणी सदा शुद्ध और संयत रहती है, वह वेदान्त शास्त्र के सब फलों को प्राप्त कर सकता है। —महर्षि मनु
- □ संयमी पुरुष सदा हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म-भोग लिप्सा और लोभ का परित्याग करे। —भगवान महावीर

व्रत की जरूरत

❀ महात्मा गांधी

जीवन को गढ़ने के लिये व्रत कितने जरूरी हैं, इस पर यहां सोचना मुनासिब लगता है ।

ऐसा एक सम्प्रदाय है, और वह बलवान भी है, जो कहता है—"अमुक नियमों का पालन करना ठीक है, लेकिन उनके बारे में व्रत लेने की जरूरत नहीं है। इतना ही नहीं, वह मन की कमजोरी बताता है और नुकसान करने वाला भी हो सकता है और व्रत लेने के बाद ऐसा नियम अड़चन रूप लगे या पाप रूप लगे तो भी उससे चिपके रहना पड़े, यह तो सहन नहीं हो सकता" वे। कहते हैं— मिसाल के तौर पर शराब न पीना अच्छा है । इसलिए शराब नहीं पीनी चाहिये । लेकिन कभी पी ली गयी तो क्या हुआ ? दवा के तौर पर तो उसे पीना ही चाहिये । इसलिये उसे न पीने का व्रत लेना तो गले में फंदा डालने के बराबर है । और जैसा शराब के बारे में है,वैसा और चीजों के बारे में भी है । भले ही हम झूठ भी क्यों न बोलें ?

मुझे इन दलीलों में कोई वजूद मालूम नहीं होता । व्रत का अर्थ है— अडिग निश्चय । अड़चनों को पार करने के लिए ही तो व्रतों की आवश्यकता है । अड़चन बरदाश्त करते हुए भी जो टूटता नहीं, वही अडिग निश्चयी माना जायेगा । ऐसे निश्चय के बगैर मनुष्य लगातार ऊपर चढ़ ही नहीं सकता, ऐसी गवाही सारी दुनिया का अनुभव देता है । जो आचरण पापरूप हो,उसके निश्चय को व्रत नहीं कहा जायेगा । यह राक्षसी-शैतानी वृत्ति है । और जो निश्चय पहले पुण्यरूप लगा हो और आखिर में पापरूप साबित हो, उसे छोड़ने का धर्म जरूरी हो जाता है, लेकिन ऐसी चीज के बारे में कोई व्रत नहीं लेता और न लेना चाहिये । सब कोई जिसे धर्म मानते हैं, लेकिन जिसे आचरने की हमें आदत नहीं पड़ी है, उसके लिए व्रत लेना चाहिये ।

ऊपर की मिसाल में तो पाप का सिर्फ आभास ही हो सकता है । सच कहने से किसी को नुकसान पहुंचेगा तो ? ऐसा विचार सत्यवादी करने नहीं बैठेगा । सत्य से इस जगत् में किसी का नुकसान नहीं होता, न होने वाला है ऐसा विश्वास वह रखे । उसी तरह शराब पीने के बारे में या तो उस व्रत में दवा के तौर पर शराब लेने की छूट रखनी चाहिये या छूट न रखी हो तो व्रत लेने के पीछे शरीर का खतरा उठाने का निश्चय होना चाहिये । दवा के तौर पर भी शराब न पीने से देह छूट जाय तो भी क्या हुआ ? शराब पीने से देह रहेगी ही, ऐसा पट्टा कौन लिखवा सकता है ? और उस क्षण देह टिकी पर

दूसरे ही क्षण किसी और कारण से छूट गई तो उसकी जिम्मेवारी किसके सि
होगी ? इससे उल्टा देह छूट जाय तो भी शराब न पीने की मिसाल का शरा
की लत में फंसे हुए लोगों पर चमत्कारी असर होगा, यह दुनिया का कितना
बड़ा फायदा है ? देह छूटे या रहे, मुझे तो अपना धर्म पालना ही है—ऐसा भव्य
शानदार निश्चय करने वाला मनुष्य ही किसी समय ईश्वर की झांकी क
सकता है ।

व्रत लेना कमजोरी की निशानी नहीं है, बल्कि बल की निशानी है।
अमुक बात करना ठीक हो तो फिर उसे करना ही है, इसका नाम है व्रत । उसमें
ताकत है, फिर उसे व्रत न कहकर किसी और नाम से पहचानें तो उसमें कोई
हर्ज नहीं । लेकिन "जहां तक हो सकेगा करूंगा" ऐसा कहने वाला अपनी कम-
जोरी का या अभिमान का दर्शन कराता है, भले वह खुद उसे नम्रता कहे
उसमें नम्रता की गंध भी नहीं है । "जहां तक हो सकेगा" ऐसा वचन शु
निश्चयों में जहर जैसा है , यह मैंने तो अपने जीवन में और दूसरे बहुतों
जीवन में देखा है । "जहां तक हो सकेगा वहां तक" करने के मानी है पहल
ही अड़चन आने पर गिर जाना । "जहां तक हो सकेगा वहां तक सच्चाई
पालन करूंगा" इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं है । व्यापार में "हो सका तो फल
तारीख को फलां रकम चुकाने की" किसी चिट्ठी का कहीं भी चेक या हुंडी
रूप में स्वीकार नहीं होगा । उसी तरह जहां तक हो सके वहां तक सत्य
पालन करने वाले की हुंडी ईश्वर की दुकान में नहीं भुनाई जा सकती ।

ईश्वर खुद निश्चय की, व्रत की सम्पूर्ण मूर्ति है । उसके कायदे में
एक अणु, एक जर्रा भी हटे तो वह ईश्वर न रह जाय । सूरज बड़ा व्रतधारी
इसलिए जगत का काल तैयार होता है और शुद्ध पंचांग (जंत्री) बनाये ज
सकते हैं । सूर्य ने ऐसी साख जमाई है कि वह हमेशा उगा है और हमेशा उगत
रहेगा और इसीलिए हम अपने को सलामत मानते हैं । तमाम व्यापार क
आधार एक टेक पर रहता है । व्यापारी एक-दूसरे से बंधे हुए न रहें तो व्यापा
चले ही नहीं । यों व्रत सर्वव्यापक, सब जगह फैली हुई चीज दिखाई देता है, फि
जहां अपना जीवन गढ़ने का सवाल हो, ईश्वर के दर्शन का प्रश्न हो, वहां व्र
के बगैर कैसे चल सकता है ? इसलिए व्रत की जरूरत के बारे में हमारे दिल
में कभी शक पैदा ही न होना चाहिये ।

समभाव में स्थित होना ही संयम है

❁ श्री गणेश ललवानी

"आपकी अग्नि क्या है ! अग्नि कुण्ड क्या है ? दर्वि क्या है ? अग्नि प्रज्वलन की करीष क्या है ? आप का यज्ञ-काष्ठ क्या है ? शान्ति मंत्र क्या है ? और आप किस प्रकार होम के द्वारा अग्नि में हवन करते हैं ?"

ब्राह्मणों के इन प्रश्नों के उत्तर में मुनि हरिकेशी बल कहते हैं—"हमारी तपस्या ही अग्नि है, प्राणी है अग्निकुण्ड, मन, वचन, काया का योग दर्वि, शरीर करीष, कर्म काष्ठ व संयमाचरण शान्तिमंत्र है । ऋषियों के योग्य श्रेष्ठ होम के द्वारा हम हवन करते हैं ।"

इसका तात्पर्य यह है कि प्राणीमात्र अग्निकुण्ड है एवं मन, वचन, काया के शुभ व्यापार रूप घृत से शरीर रूप करीष के द्वारा तपस्या रूप अग्नि को हम प्रज्वलित कर अष्ट कर्म रूप ईंधन को भस्मसात करते हैं । इससे आत्मा निर्मल हो जाती है और (सतरह प्रकार[1] के) संयम द्वारा शान्ति को प्राप्त करती है । हम ऋषिगण इस प्रकार के प्रशस्त यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं ।

संयम हमारा शान्ति मंत्र है । संयम धारण कर हम शान्ति प्राप्त करते हैं । संयम को धर्म भी कहा गया है—

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
अर्थात् धर्म उत्कृष्ट, मंगल है । अहिंसा, संयम व तप वह धर्म है ।

धर्म क्या है ? 'तत्वार्थ सूत्र' में इसका उत्तर देते हुए कहा गया है—
'वत्थु स्वभावो धम्मः' ।

वस्तु का जो स्वभाव है, वही उसका धर्म है । जल का स्वभाव शीतलता है, अन्य द्रव्य के संस्पर्श में आकर ही वह उष्ण होता है । इसी भांति जीव का स्वभाव अहिंसा, संयम व तप है । जीवों में जो अन्य भाव देखा जाता है, वह हिंसा, असंयम और अ-तप का परिणाम है । अतः जीवों का धर्म होता है, अहिंसा, संयम व तप में प्रतिष्ठित होना ।

---

१. हिंसा झूठ, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच आश्रवों का परित्याग, इन्द्रियों के पांचों विषय यथा—शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श में आसक्त न होना, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों का त्याग करना, मन, वचन. काया की अशुभ वृत्तियों का दमन करना, यही सतरह प्रकार का संयम है ।

हिंसा से हम खण्डित होते है। एक दूसरे से विछुड़ते हैं। यह धर्म नहीं है। धर्म वहां है, जहां परस्पर हम जुड़ते हैं, एकत्व में प्रतिष्ठित होते हैं। इसीलिए महर्षि पतंजलि कहते हैं—"**अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधो वैर त्याग:**" अर्थात् अहिंसा प्रतिष्ठित होने से वैर छूट जाता है। जब हम एक हैं, एक रूप हैं तब वैर किससे किसके साथ ? जब विभेद ही नहीं है तब वैर कैसा ?

असंयम से हम समभाव से च्युत होते हैं, संयम से समभाव से जुड़ते हैं। समभाव में स्थित होना संयम है।

अ-तप से हम मोह के गर्त में गिरते हैं यानि जीवन-प्रवाह में। तप से जीवन से कट कर स्वभाव को प्राप्त करते हैं। अहंकार छूट जाता है, मात्र छन्द रहता है।

योग दर्शन में महर्षि पतंजलि ने इसीलिए संयम को धारणा, ध्यान व समाधि का परिणाम बताया है। 'विभूति पाद' के प्रथम चार सूत्रों का निरूपण करते हुए वे कहते हैं—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा :

अर्थात् शरीर के बाहर या भीतर कहीं भी किसी एक देश के चित्त को ठहराना धारणा है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् :

अर्थात् जहां चित्त को लगाया जाय उसी में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि :

जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है तब वही ध्यान समाधि हो जाता है।

त्रयमेकत्र संयम :

किसी एक ही ध्येय में तीनों का होना संयम है।

संयम के विषय में हमने बहुत सी गलत धारणाएं बना ली हैं। हम समझते हैं कि महाव्रत ग्रहण करने मात्र से ही हम संयमी हो जाते हैं या फिर कृच्छ साधना संयम है। पर यथार्थ में है वैसा नहीं। संयम में चित्त ध्येयाकार हो जाता है और व्यक्ति-स्वरूप (ego) का अभाव-सा हो जाता है। तब ध्येय से भिन्न अन्य उपलब्धि नहीं होती है। 'सम' यानि ध्येय ब्रह्म या आत्मा में वह रमण करता है और 'यम' यानि जीव सत्ता गौण हो जाती है।

तभी तो 'गीता' में कहा गया है।

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जाग्रति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुने॥ २/६९

अर्थात् संयमी वहां जाग्रत रहता है जो समस्त प्राणियों के लिए निशा है और जिसमें समस्त प्राणी जाग्रत रहते हैं, वह संयमी के लिए रात्रि है।

'ऋसिभासिया' में भी अर्हंत् वर्धमान भी यही कहते हैं—

पंच जागरओ सुत्ता पंच सुत्तस्स जागरा । २९/१

जिसकी पांच इन्द्रियां जाग्रत हैं, वह सुप्त है, जिसकी पांच इन्द्रियां सुप्त है, वह जाग्रत है।

जैन भवन, पी २५ कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता-७००००७

□

शौर्य संयम में है

❀ **श्री देवीचन्द भंडारी**

नेपोलियन युवावस्था में जिस जगह शिक्षा प्राप्त कर रहा था, उसके पास में ही एक परिवार रहता था। उस परिवार की एक महिला ने नेपोलियन पर मोहित होकर उसे अपने रूप जाल में फंसाने का प्रयत्न किया। उसने नेपोलियन को कई प्रेम-पत्र भी लिखे परन्तु नेपोलियन शान्त रहा उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

बाद में नेपोलियन सेनापति बना। वह अपनी सेना के साथ जब तुर्किस्तान की ओर जा रहा था तो उसने फिर उसी स्थान पर अपनी छावनी डाली। उस स्त्री को पता लगा कि नेपोलियन आया है तो वह नेपोलियन से मिलने के लिए आई परन्तु उसे पहचान नहीं पाई। नेपोलियन उसे पहचान कर कहने लगा:—

'तुम सुन्दरी हो पर संयमी नहीं। इसलिए यौवन का शील हनन करने वाली हो। मैं संयमी हूं, यौवन के शौर्य का संग्रह करके मैं वीर योद्धा बनना चाहता था जो मैं आज बन गया हूं। इसलिए उस समय तुम पर ध्यान ही नहीं दिया। युवावस्था में संयम रक्षा कर शौर्य का संग्रह करना ही मानव का प्रथम कार्य है।

संयम एक जीवन-शक्ति है। संयमी न होने से बाहरी व भीतरी सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। संयम ही जीवन है, असंयम ही मृत्यु है।

—स्वाध्याय चिंतन केन्द्र, डी—४७, देव नगर जयपुर-३०२०१५

सत्य की यात्रा

❀ श्री जी. एस. नरवानी

किसी विद्वान् ने लिखा है कि यदि किसी व्यक्ति ने धन खो दिया तो मानो कुछ नहीं खोया, स्वास्थ्य खो दिया तो समझो कुछ खोया और यदि चरित्र चला गया तो मानो सर्वस्व ही खो दिया। वर्तमान युग में नैतिक पतन, चरित्र की अवनति आखिर क्यों? कहां गए भारतीय संस्कृति के उच्च सोपान? क्या हुआ भारत के ऋषि-मुनियों के आदर्शों का? क्या हाल हुआ अध्यात्मवेत्ताओं और धर्मगुरुओं के देश का?

इसका कारण क्या? कोई शिक्षा-नीति को दोष देता है कि अध्यात्म शिक्षा को सामान्य शिक्षा से हटा देने के कारण चरित्र का ह्रास हुआ है। पुरानी पीढ़ी दोष देखती सिनेमा, टी.वी., पाश्चात्य पॉप डांस का जिससे युवक पूर्णतया प्रभावित हैं। परन्तु क्या शिक्षाविदों एवं पुरानी पीढ़ी के ठेकेदारों ने अपने अन्तरमन में झांक कर भी देखा है? बच्चे तो वैसा ही विचार और व्यवहार करेंगे, जैसा उन्होंने अपने माता-पिता का, पास-पड़ोसियों का या धर्म-गुरुओं का देखा है। उनके सीखने का स्रोत तो उनका घर और समाज ही है।

क्या पुस्तकों में आदर्श पढ़ाने से व्यक्ति आदर्श बन सकता है? क्या रोज माला फेरने व पूजा-पाठ करने वाले सभी आदर्श इंसान है? क्या सभी पंडित, मुल्ला, पादरी सरलता, सादगी सच्चाई, के ज्वलंत उदाहरण हैं? यदि नहीं, तो युवकों को दोष क्यों देते हैं हम?

जब तक हमारी आंखें बाहर की ओर देखती हैं, स्वभाववश वे दूसरों के ही दोष ढूंढ़ती हैं और वे दोष स्वयं के अन्दर भरती जाती हैं। यदि वही दृष्टि अन्तर की ओर, मन की ओर मोड़ दी जाए, तो वे ही आंखें स्वयं के दोष देखें, उन पर विचार व मनन करें एवं अन्दर का मैल साफ करने का संकल्प करने लगेंगी। संकल्प में महान् शक्ति है। दृढ़ संकल्प करते ही अन्तर्मुखी मन शुद्ध और पवित्र होने लगता है। स्वयं के दोष दूर भागते जाएंगे और ईश्वरीय गुण स्वतः अपने अन्तर में भरने लगेंगे। मन दर्पण है, जैसे-२ साफ़ होगा, अपना रूप दिखेगा, दुर्गुण दूर होंगे, चरित्र चमकना शुरू होगा। ज्ञान कहीं बाहर नहीं है, वह अपने अन्तर में ही है। केवल उस पर गन्दगी का आवरण आ गया है उसे हटाना होगा।

यदि इस प्रक्रिया में किसी संत का सहारा मिल जाए, संत का सत्संग प्राप्त हो तो साबुन रूपी सत्संग से मैल जल्दी साफ हो जाएगा। सत्य तो निरा-

कार है, उसे देख सकते हैं तो संतों के अंतर में, उनके व्यवहार व विचार में क्योंकि वे सत्य के नजदीक होते हैं या कोई-२ तो सत्य का स्वरूप ही होते हैं।

संत कौन है ? जिनके पास आते ही मन शांत व शीतल होने लगे, अपनी वासनाएं व दुर्गुण दिखाई न देवें, आंतरिक प्रसन्नता व आनन्द महसूस हो, उनके पास से उठने की इच्छा ही न हो, उनके अमृत रूपी वचन सुनने से कान तृप्त न हों, उनकी मनमोहनी मुस्कराती छवि बरबस आकर्षित किए रखे तो समझो हम सत्य के स्वरूप के अत्यन्त निकट बैठे हैं। जब वह छवि मन में समा जाती है, बरबस इन्द्रियां सिमट कर अन्तर्मुखी होकर उसी के गुणों का चिंतन करने लगती हैं, तो वे गुण ही अपने अंतर में भरने लगते हैं। मनुष्य पशुता से मनुष्यत्व की ओर, मनुष्यत्व से देवत्व की ओर, देवत्व से ईश्वरत्व की ओर अग्रसर होता रहता है और अन्त में स्वयं ही सत्य स्वरूप हो जाता है, यदि सत्य की यात्रा जारी रखे।

यह सत्य की यात्रा क्या है ? यदि हम किसी शिशु को देखें तो कितना मुक्त, स्वच्छंद, आनंदित, आकर्षक व मनमोहक होता है। वह सत्य के अत्यन्त निकट होता है। उसके रूप एवं व्यवहार को देखकर मन आकर्षित हो उठता है। मन स्वतः उससे प्रेम करने लगता है। उसके स्पर्श में आनन्द का अनुभव होता है। माता-पिता पड़ोसी सभी बच्चों के साथ आंतरिक प्रसन्नता प्राप्त करते हैं।

परन्तु संसार का रंग, विषयों का मैल, पारिवारिक मोह एवं राग-द्वेष उसके सत्य स्वरूप पर मैल और आवरण तथा विक्षेप चढ़ा देते हैं। इससे मन-दर्पण मैला होता जाता है। बचपन का सत्य स्वरूप ढक जाता है। मनुष्य में कटुता आ जाती है, राग-द्वेष, स्वार्थ उसकी सच्चाई पर पर्दा डाल देते हैं। चरित्र में ह्रास होता चला जाता है।

नैतिक उत्थान का एक ही तरीका है, मन-दर्पण के ऊपर के मैल और आवरण हटाना, उसे सत्संग के साबुन से साफ कर उज्ज्वल बनाना, संतों के पास बैठकर अंतर में दृढ़संकल्प व शक्ति प्राप्त करना ताकि उज्ज्वलता को कायम रख सकें, पुनः सद्मार्ग से विचलित न हो।

इस सत्य की यात्रा की भी एक विधि है। संत का सहारा, स्वाध्याय व सत्संग, अभ्यास एवं वैराग्य। हमारी शक्ति सीमित है, ज्ञान सीमित है, सामर्थ्य भी सीमित है, इसलिए किसी एक का सहारा लो, जिससे आपका मन स्वतः नत-मस्तक हो जाए। किसी के कहने से नहीं, अपने मन से। सत्य की भात्रा तयी सफल होगी जब मन चाहेगा। अनचाहे मन को सौ बहाने मिल जायेंगे, कई रुकावटें दिखेंगी सत्य की यात्रा में।

सत्य की यात्रा

❀ श्री जी. एस. नरवानी

किसी विद्वान् ने लिखा है कि यदि किसी व्यक्ति ने धन खो दिया तो मानो कुछ नहीं खोया, स्वास्थ्य खो दिया तो समझो कुछ खोया और यदि चरित्र चला गया तो मानो सर्वस्व ही खो दिया। वर्तमान युग में नैतिक पतन, चरित्र की अवनति आखिर क्यों? कहां गए भारतीय संस्कृति के उच्च सोपान? क्या हुआ भारत के ऋषि-मुनियों के आदर्शों का? क्या हाल हुआ अध्यात्मवेत्ताओं और धर्मगुरुओं के देश का?

इसका कारण क्या? कोई शिक्षा-नीति को दोष देता है कि अध्यात्म शिक्षा को सामान्य शिक्षा से हटा देने के कारण चरित्र का ह्रास हुआ है। पुरानी पीढ़ी दोष देखती सिनेमा, टी.वी., पाश्चात्य पॉप डांस का जिससे युवक पूर्णतया प्रभावित हैं। परन्तु क्या शिक्षाविदों एवं पुरानी पीढ़ी के ठेकेदारों ने अपने अन्तरमन में झांक कर भी देखा है? बच्चे तो वैसा ही विचार और व्यवहार करेंगे, जैसा उन्होंने अपने माता-पिता का, पास-पड़ोसियों का या धर्म-गुरुओं का देखा है। उनके सीखने का स्रोत तो उनका घर और समाज ही है।

क्या पुस्तकों में आदर्श पढ़ाने से व्यक्ति आदर्श बन सकता है? क्या रोज माला फेरने व पूजा-पाठ करने वाले सभी आदर्श इंसान है? क्या सभी पंडित, मुल्ला, पादरी सरलता, सादगी सच्चाई, के ज्वलंत उदाहरण हैं? यदि नहीं, तो युवकों को दोष क्यों देते हैं हम?

जब तक हमारी आंखें बाहर की ओर देखती हैं, स्वभाववश वे दूसरों के ही दोष ढूंढ़ती हैं और वे दोष स्वयं के अन्दर भरती जाती हैं। यदि वही दृष्टि अन्तर की ओर, मन की ओर मोड़ दी जाए, तो वे ही आंखें स्वयं के दोष देखें, उन पर विचार व मनन करें एवं अन्दर का मैल साफ करने का संकल्प करने लगेंगी। संकल्प में महान् शक्ति है। दृढ़ संकल्प करते ही अन्तर्मुखी मन शुद्ध और पवित्र होने लगता है। स्वयं के दोष दूर भागते जाएंगे और ईश्वरीय गुण स्वतः अपने अन्तर में भरने लगेंगे। मन दर्पण है, जैसे-२ साफ़ होगा, अपना रूप दिखेगा, दुर्गुण दूर होंगे, चरित्र चमकना शुरू होगा। ज्ञान कहीं बाहर नहीं है, वह अपने अन्तर में ही है। केवल उस पर गन्दगी का आवरण आ गया है उसे हटाना होगा।

यदि इस प्रक्रिया में किसी संत का सहारा मिल जाए, संत का सत्संग प्राप्त हो तो साबुन रूपी सत्संग से मैल जल्दी साफ हो जाएगा। सत्य तो निरा-

कार है, उसे देख सकते हैं तो संतों के अंतर में, उनके व्यवहार व विचार में क्योंकि वे सत्य के नजदीक होते हैं या कोई-२ तो सत्य का स्वरूप ही होते हैं ।

संत कौन है ? जिनके पास आते ही मन शांत व शीतल होने लगे, अपनी वासनाएं व दुर्गुण दिखाई न देवें,आंतरिक प्रसन्नता व आनन्द महसूस हो, उनके पास से उठने की इच्छा ही न हो, उनके अमृत रूपी वचन सुनने से कान तृप्त न हों, उनकी मनमोहनी मुस्कराती छवि बरबस आकर्षित किए रखे तो समझो हम सत्य के स्वरूप के अत्यन्त निकट बैठे हैं । जब वह छवि मन में समा जाती है, बरबस इन्द्रियां सिमट कर अन्तर्मुखी होकर उसी के गुणों का चिंतन करने लगती हैं, तो वे गुण ही अपने अंतर में भरने लगते हैं । मनुष्य पशुता से मनुष्यत्व की ओर, मनुष्यत्व से देवत्व की ओर, देवत्व से ईश्वरत्व की ओर अग्रसर होता रहता है और अन्त में स्वयं ही सत्य स्वरूप हो जाता है, यदि सत्य की यात्रा जारी रखे ।

यह सत्य की यात्रा क्या है ? यदि हम किसी शिशु को देखें तो कितना मुक्त, स्वच्छंद, आनंदित, आकर्षक व मनमोहक होता है । वह सत्य के अत्यन्त निकट होता है । उसके रूप एवं व्यवहार को देखकर मन आकर्षित हो उठता है । मन स्वतः उससे प्रेम करने लगता है । उसके स्पर्श में आनन्द का अनुभव होता है । माता-पिता पड़ोसी सभी बच्चों के साथ आंतरिक प्रसन्नता प्राप्त करते हैं ।

परन्तु संसार का रंग, विषयों का मैल, पारिवारिक मोह एवं राग-द्वेष उसके सत्य स्वरूप पर मैल और आवरण तथा विक्षेप चढ़ा देते हैं । इससे मन-दर्पण मैला होता जाता है । बचपन का सत्य स्वरूप ढक जाता है । मनुष्य में कटुता आ जाती है, राग-द्वेष, स्वार्थ उसकी सच्चाई पर पर्दा डाल देते हैं । चरित्र में ह्रास होता चला जाता है ।

नैतिक उत्थान का एक ही तरीका है, मन-दर्पण के ऊपर के मैल और आवरण हटाना, उसे सत्संग के साबुन से साफ कर उज्ज्वल बनाना, संतों के पास बैठकर अंतर में दृढ़संकल्प व शक्ति प्राप्त करना ताकि उज्ज्वलता को कायम रख सकें, पुनः सद्मार्ग से विचलित न हो ।

इस सत्य की यात्रा की भी एक विधि है । संत का सहारा, स्वाध्याय व सत्संग, अभ्यास एवं वैराग्य । हमारी शक्ति सीमित है, ज्ञान सीमित है, सामर्थ्य भी सीमित है, इसलिए किसी एक का सहारा लो, जिससे आपका मन स्वतः नतमस्तक हो जाए । किसी के कहने से नहीं, अपने मन से । सत्य की भात्रा तयी सफल होगी जब मन चाहेगा । अनचाहे मन को सौ बहाने मिल जायेंगे, कई रुकावटें दिखेंगी सत्य की यात्रा में ।

जिस एक का सहारा लो, खूब सोच समझकर, ठोक बजाकर तय करो। एक बार दृढ़ निश्चय कर लो, तो फिर डिगना नहीं।

संत के गुण ऊपर बता चुके हैं। भाग्य से जब सत्य स्वरूप संत मन में बैठ जाए, तो वृत्तियां अंतर्मुखी करके सत्य के गुणों का चिंतन करें। शुद्ध एवं निर्मल, पवित्र, ज्ञान स्वरूप, प्रकाश रूप, सरल सत्य स्वरूप, आनन्द स्वरूप अपने मन में ही देखना होगा। चोर भागने लगेंगे। रोशनी आते ही अन्धेरा रोशनी में बदल जाता है। अन्धेरा जाता नहीं, बदल जाता है। विचार जाते नहीं उनका रूपांतरण हो जाता है। गंदा नाला जब गंगाजी में मिलता है तो वही गंगा में ही रहकर,बदलकर गंगाजल बन जाता है। यही यात्रा मन की है। यही सत्य की यात्रा है।

पर कोई चाहे कि यह यात्रा एक दिन में पूरी हो तो कैसे सम्भव है? अभ्यास की आवश्यकता है। जैसे पानी महिने भर का या वर्ष भर का इकट्ठा नहीं पिया जा सकता, रोटी रोजाना खानी होती है, इसी तरह सत्य की खुराक रोजाना खानी होती है। सत्य की खुराक खाने में धैर्य से काम लेना होगा। सत्य की शक्ति एकदम अन्दर भर लेने में खतरा है। अंतरमन की सामर्थ्य अनुसार, पुराने जन्म के संस्कारों अनुसार, अपने कर्म और शक्ति अनुसार ही सत्य को अपने अंतर में समाहित करना होगा। सीधे पावर हाऊस से बल्ब नहीं जुड़ सकता। उसे ट्रांसफार्मर के जरिए, संत के सहारे प्राप्त करते-करते निरन्तर अभ्यास द्वारा सत्य की यात्रा करनी होगी।

स्वाध्याय भी करते रहना है, अपने अंतरमन का, अपनी चेतना का, अपने विवेक का, अपने सत्य की यात्रा की प्रगति का। यदि जीवन में सरलता, सादगी, सच्चाई, नम्रता आ रही है, सेवा एवं प्रेम बढ़ रहा है, द्वेष एवं दोष देखने की प्रवृत्ति समाप्त हो रही है, दुःखी व्यक्ति को देखते ही मन मदद को दौड़ता है, परोपकार से आनन्द प्राप्त होता है, स्वार्थ कोसों दूर चला गया है, आंतरिक प्रसन्नता है, सदा मन निर्मल शुद्ध एवं पवित्र रहता है, उसका सत्य से लगाव हो गया है, तो मानो हमारी सत्य की यात्रा सही चल रही है। पर यदि जीवन में स्वार्थ और बहुरूपियापन अभी बाकी है, तो समझो सच्चे संत या सत्संग का सहारा नहीं मिल पाया है। आत्म-संयम, आत्म अनुशासन, आत्म-अनुभव, संयम-साधना इसी सत्य की यात्रा के ही अभिन्न अंग हैं।

—कलेक्टर एवं जिला मजिस्ट्रेट, सिरोही (राज०)

समभाव आत्मा का स्वभाव है।

❀ **श्री उदयलाल जारोली**

वत्थु सहाओ धम्मो–वस्तु का स्वभाव उसका धर्म है। मिश्री में मिठास, मिर्ची में चरकास, नमक में खारास, अग्नि में उष्णता, जल में शीतलता उसका स्वभाव है। स्वभाव वह है जो उसमें सर्वांग में समाहित रहे, उससे पृथक् नहीं किया जा सके। यदि मिश्री में से मिठास गुण को निकाल दे तो मिश्री ही न रहे। गुण के अभाव में गुणी का अभाव आता है। गुणों के समूह से ही गुणी की पहचान होती है। उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव है समभाव। विभाव है विषमभाव। दया, करुणा, मैत्री, शान्ति, समता, क्षमा, सरलता, संतोष आदि आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। क्रोधादि कषाय भाव, रागद्वेष, हिंसादि आत्भा के वैभाविक भाव है। स्वभाव भाव नहीं है। आत्मा के भाव होते हुए भी निमित्ताधीन होने से, पर के आश्रय से, पर के निमित्त मिलने, पर के कारण ही होने पर भाव कहलाते हैं। कर्मों के निमित्त से होते हैं। ये विषम भाव आत्मा के स्थायी भाव नहीं होते। राग सदैव नहीं रहता। क्रोध हर समय नहीं हो सकता। क्षणिक होता है। आता है जाता है। उसमें भी विभिन्न समयों में विभिन्न तरतमता लिए होता है। तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मंद, मंदतर और मंदतम ऐसे छः मोटे विभागों में बांटा जा सकता है। परन्तु समभाव, समताभाव, वीतराग–भाव सदा बना रहता है। जितने अंश में प्रकट हुआ उतने अंश में बना रहता है और विषमभाव पूरी तरह नष्ट होने पर, रागद्वेषादि पूरी तरह नष्ट होने पर पूर्ण वीतरागता प्रकट होती है। एक बार वीतरागता आई कि फिर जाती नहीं। वह क्षय को प्राप्त नहीं होती। वह वीतरागता भी आत्मा में ही रहती है। त्रिकाल रहती है। मोहवशात् रागद्वेष रूप परिणामभाव से दबी रहती है। प्रबल पुरुषार्थ से प्रकट हो सकती है।

जल का स्वभाव शीतलता है। अग्नि के संसर्ग से अग्नि रूप होता है। जला देता है परन्तु जल का स्वभाव, जल का कार्य तो जलाना कभी नहीं होता। जलाने का कार्य अग्नि का है। अग्नि का संपर्क हटने पर जल स्वतः स्वभाव में आ जाता है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव तो समभाव है। द्रव्यकर्म के संसर्ग से, ज्ञानावरणादि के निमित्त से तद्रूप परिणमनकर विषमभाव करता है। रागादि करता है। आवरण हटते ही, मोहादि नष्ट होते ही सहज स्वरूप में स्थित होते ही समभाव में आ जाता है। वह सहज स्वरूप कहीं बाहर से नहीं आता। आत्मा तो सहज स्वरूप ही है। समता स्वरूप ही है। सम ही है। पर निमित्तों के हटते ही शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। समतामय हो जाता है। वह समता तो उसका सहज स्वभाव ही है।

जो समो सव्भूववेसु, थावरेसु तसेसुवा ।
तस्स सामाइगं ठांई, इंदि केवलिसासणे ।।

आत्मा को आत्मा की स्वभावदशा का ज्ञान होते ही विपमता जाती रहती है । अनादि मिथ्या मान्यता से आत्मा स्वयं के वारे में ही भ्रान्त दशा में पड़ा रहता है । मोहादिवशात् स्व को स्व और पर को पर रूप जान नहीं पाता है । पर में स्व की कल्पना करता है । पर ही स्व रूप भासित होता है । शरीर, कुटुम्ब, धनसम्पदा, पद-प्रतिष्ठा को स्व और स्व रूप ही मानता है । इसी कारण वाह्य पर राग करता है । इन्हें अपना मानता है । इन्हें क्षति पहुंचाने वाले पर द्वेष करता है । क्रोध करता है । हिंसादि पर उतारु हो जाता है । क्लेश पाता है । कर्मबंध करता है । उनके परिपाक पर पुनः रागादि रूप परिणमन कर पुनः नवीन कर्मबंध करता है और ऐसे दुष्चक्र में अनादि से फंसा हुवा है ।

जिस क्षण स्व का ज्ञान हो जाता है । स्व स्वभाव का ज्ञान हो जाता है, भ्रांति टूट जाती है । स्व-पर का भेद स्पष्ट हो जाता है । तव समभाव आ जाता है । सब जीवों के प्रति, सव भावों के प्रति अखंड एकरस वीतराग भाव आ जाता है । लोक में स्थित समस्त त्रस और स्थावर जीवों को समभाव से देखता है । अपने समान जानता है । सिद्ध समान जानता है । पर्याय से दृष्टि हटकर शुद्ध आत्मद्रव्य दृष्टि में आ जाता है । तब न माता-पिता दिखते हैं, न भाई-बहन-पत्नी-पुत्रादि, न एकेन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय दिखते हैं, न देव-नारक, तिर्यंच-मनुष्य अपितु उनके साथ रही हुई अजर-अमर अविनाशी चैतन्य स्वरूपी अखंड आत्मा दृष्टिगोचर होती है । भेद-पर्याय दृष्टि में पड़ता है । इसी कारण रागद्वेषादि परिणाम होते हैं । द्रव्य दृष्टि होते ही सब जीवों के प्रति सब भावों के प्रति समभाव आ जाता है । केवली के शासन में वही स्थायी सामायिक है ।

समभावो सामाइयं, तण कंचण सत्तुमित्तविसओत्ति ।
निरभिसंगमचित्तं, उचियपवित्तिपहाणं च ।।

समभाव ही सामायिक है । तृण हो या कंचन, शत्रु हो या मित्र, उसका चित्त निरभिश्वंग हो, उचित प्रवृत्तिप्रधान हो जाता है । जब दृष्टि द्रव्य की ओर, शुद्ध द्रव्य की ओर हो जाती है तब तृण और कंचन समान दिखते हैं । दोनों ही पुद्गल परमाणुओं के पिंड दिखते हैं—सड़न, गलन, विध्वंसनरूप पुद्गल । फिर न तृण के प्रति तुच्छ भाव और न कांचन के प्रति लालसा भाव । दोनों ही विनाशीका आत्म द्रव्य से पूर्णतः भिन्न । फिर न कोई शत्रु, न कोई मित्र । अपितु सर्वत्र, सभी आत्मा ही आत्माएं दिखाई देती है । शत्रु भी मित्र लगता है । कर्मों का ऋण चुकाने में सहायक लगता है । धन्य हैं और धन्य हो गए गज सुकुमाल मुनि जिन्होंने ऐसा मानकर परमपद पा लिया ।

सामायिक में चित्त अचित्तप्रवृत्तिप्रधान और निरभिश्वंग हो जाता है ।

फिर कोई कितने ही उपसर्ग दे, कितने ही परीषह आजाएं, विषमभाव नहीं आते, क्रोधादि परिणाम नहीं होते। फिर चाहे एक ही रात में २०-२० परीषह आ जाएं, चाहे कोई कान में कीलें ठोके, चाहे कोई डंक मारे, चाहे कोई शरीर का मांस नोचे, सामायिक नहीं टूटती, विषमता लेशमात्र भी नहीं आती। अडोल, अकंप आत्म ध्यान में, समभाव में लीन रहते हैं। ऐसा कैसे संभव है ? हमें तो कोई जरासी गाली देने आ जाए, क्रोधावेश में आ जाते हैं, हानि पहुंचाने आ जाए हिंसादि पर उतर आते हैं, हमारे जीवन में यह विषम भाव क्यों ? उन आत्माओं के ऐसी सामायिक क्यों हुई, हमारी ऐसी क्यों नहीं होती ? कारण ? कारण है अज्ञान दशा। उन महान आत्माओं की दृष्टि शुद्ध आत्म द्रव्य पर थी। पर्याय से दृष्टि हट गई थी।

प्रथम देह दृष्टि हती, तेथी भास्यो देह।
हवे दृष्टि थई आतममां, गयो देह थी नेह॥

देह तो उनके भी थी परन्तु आत्म दृष्टि हो जाने से देह से नेह नष्ट हो गया। धधकते अंगारों से सिर जल रहा है पर ध्यान कहां है ? सिर पर ? सड़न, गलन रूप पुद्गल परमाणुओं के पिंड शरीर पर ? नहीं। इसलिए समता आ गई। परम वीतरागता आ गई। स्वभाव दशा प्रकट हो गई। केवलज्ञान, केवलदर्शन हो गया। धन्य हैं ऐसी सम-स्वभाव दशा में प्रवर्तने वाली आत्माएं। धिक्कार है हमें। जरासा विपरीत, चेतन या अचेतन, निमित्त पाकर भारी विषमदशा में आने वालों को। वह दिन धन्य होगा जब हम भी उन महान् आत्माओं की ज्ञान दशा, चारित्रदशा के निमित्त से उनका अवलोकन और चिंतवन कर अपने सहज स्वरूप को जानकर, मानकर स्वरूप सहज समभाव में स्थित हो जाएंगे।

—जारोली भवन, नीमच (म. प्र.)

☐ मनुष्य प्रातःकाल उठकर पानी से स्नान करता है। उससे जीवन में कुछ स्फूर्ति आती है। मगर उसी समय सद् विचारों से मानसिक स्नान कर लिया जाय तो चिर स्थायी जीवन विकास की स्फूर्ति प्राप्त हो सकती है।

☐ अतीत अवस्था का स्मरण, वर्तमान का अनुभव, भविष्य का चित्रण सामने रखकर प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति जीवन में हमेशा सफलता का अनुभव करता है।

☐ समता-दर्शन केवल मस्तिष्क रूप से न होकर आन्तरिक अनुभूतियों में प्रस्फुटित होना चाहिए। —आचार्य नानेश

शांति तो है हमारे अन्दर

❀ श्री सुन्दरलाल बी. मल्हारा

प्रत्येक व्यक्ति शान्ति चाहता है। वह आनन्द से रहना चाहता है, वह निश्चिन्तता और सुरक्षितता चाहता है, पंछियों की तरह स्वतंत्रता से उड़ान भरना चाहता है, गाना चाहता है, सरिता-सा उमड़ता-घुमड़ता बहना चाहता है ताकि वह क्षण-क्षण स्वतंत्रता को अनुभव कर सके, गरिमा से, शान से जी सके।

वस्तुतः उसकी शान्ति की खोज की यात्रा उतनी ही पुरानी है, जितना कि वह स्वयं। वह शान्ति से रह सके, इसके लिये उसने आवास बनाये, वह शांति से जी सके, इसके लिये उसने धान्य उगाये, वस्त्र बनाये। इसी शाँति के लिये हजारों वैज्ञानिक आगे आये। उन्होंने मानवी जीवन को अधिक सुखी बनाने के लिये हजारों-हजारों आविष्कार किये।

परन्तु शांति की यह खोज क्या पूरी हुई? बड़े-बड़े विचारकों ने बड़े-२ ग्रन्थ लिखे, काव्य-महाकाव्य लिखे, सौन्दर्य शास्त्र लिखे। ग्रन्थों के ढेर लग गये, पर शान्ति की खोज पूरी नहीं हुई। फिर व्यक्ति ने वैचारिक मंथन करना शुरू किया, दर्शन का जन्म हुआ। दर्शन शास्त्र बने। सम्प्रदायों ने जन्म लिया, पर फिर भी मानव को शांति नहीं मिली।

फिर इन्सान ने मन्दिर बनाये, गिरजाघर बनाये, प्रार्थना मन्दिर बनाये, गुरुद्वारे बनाये, मठ और देवालय बनाये। पूजा-पाठ प्रारम्भ हुए, प्रार्थना-अर्चना शुरु हुई, व्रत-उपवास होने लगे, भक्ति की धाराएं बहने लगीं, कथाएं-प्रवचन होने लगे। फिर भी शांति की खोज चलती ही रही। शांति के लिये मानव भटकता ही रहा।

आज मानव के पास धन है दौलत है, आलीशान घर है, भरपूर खाने और पहनने को है, उसके पास दूर-संचार के एक से बढ़कर एक साधन हैं, मनोरंजन के बेतहाशा उपकरण हैं। सुरक्षा के लिये अत्यन्त शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्रों के ढेर लगे हैं। उसकी पहुंच आज चांद-सितारों तक है। वह आज समूचे भौतिक विश्व का सम्राट बना बैठा है।

पर फिर भी क्या उसकी शांति की खोज पूरी हो पायी? क्या वह सही अर्थों में स्वतन्त्र और सुरक्षित हो सका? क्या उसका मन निर्द्वन्द्व और क्या वह सचमुच आनन्दित और गरिमाशाली हो सका? क्या वह पक्षी की भांति स्वतन्त्रता से उड़ान भर सका? पुष्प की भाँति प्रातःकालीन मलयज का जी भरकर आस्वाद ले अपनी समग्रता से मुस्करा सका? क्या वह सरिता-सा बह सका?

ऐसा लगता है हजारों-हजारों वर्षों की शांति की खोज अभी तक भी यशस्वी नहीं हो पायी है। शांति के लिये आज भी वह भटक रहा है। वह दुःखी है, परेशान है, अशांत और भयभीत है। सुरक्षा के हजारों साधनों के बावजूद भी वह आज भयंकर रूप से असुरक्षित है। इतनी समृद्धि और इतने-इतने वैज्ञानिक अविष्कारों के बावजूद भी वह आज निराश और असहाय बना हुआ है। क्या यह सच नहीं है? क्या हम अपने ही जीवन में इसका अनुभव नहीं कर रहे हैं?

ऐसा क्यों? मनुष्य की यह इतनी लम्बी यात्रा सफल क्यों न हो पायी? क्यों आज इतनी अभूतपूर्व समृद्धि के होते हुए भी मानव इतना दुःखी और परेशान है? लगता है कि कोई गहरी भूल हो गयी है। वह भूल कौनसी है? यह भूल है स्वयं को उपेक्षित रखने की, अपने अंतर को भूल जाने की। दूसरे शब्दों में अपने आपके बारे में, अपनी ही आत्मा के बारे में अज्ञात रहने की।

वस्तुतः बाहरी समृद्धि से भी अन्दर की समृद्धि ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। यदि वृक्ष की जड़ें स्वस्थ हैं तो वह बाहर लहलहाएगा ही। ठीक इसी तरह यदि व्यक्ति का अंतर स्वस्थ है, स्वच्छ है तो वह बाहर की समृद्धि का, उसके सौन्दर्य का गहरायी से अनुभव कर सकेगा। उसे सही अर्थ दे सकेगा। तब शक्ति सृजन में लगेगी, विनाश में नहीं। तब विज्ञान मानवता के लिये सही अर्थों में वरदान सिद्ध होगा, अभिशाप नहीं।

लेकिन हम तो बाहरी यात्रा को ही सब कुछ समझ बैठे। यह ऐसा ही हुआ जैसा एक मालिक अपने जलते हुए मकान से धन-सम्पत्ति तो बचा लेता है पर अपने इकलौते पुत्र को बाहर निकालना भूल जाता है। वस्तुतः बाहरी समृद्धि की ही तरह आंतरिक समृद्धि भी उतनी ही बल्कि उससे भी ज्यादा जरूरी है। यदि हमारी चेतना जागृत है, वह मुक्त और स्वस्थ है तो हम बाहरी समृद्धि का सही रूप में मूल्यांकन कर सकेंगे। हमारी विकसित चेतना हमें सत्य, शिव और सौन्दर्य का साक्षात्कार करा सकेगी। इसी सुसम्पन्न आत्मा में ही प्रेम, आनन्द और शांति के फूल खिलते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह आंतरिक समृद्धि कैसे उपलब्ध हो? भौतिक समृद्धि के लिये बाहर की तो आंतरिक समृद्धि के लिये अन्दर की यात्रा करनी होती है। यह अंतर की यात्रा क्या है? इस यात्रा का अर्थ है—अपने आपको जानना, समझना, अपने अंतर की परतों को एक-एक कर उघाड़ते चले जाना, उन्हें समझते चले जाना। जिन-जिन मानवों ने इस शांति को प्राप्त की है, उन्हें यह सब करना ही पड़ा है। यदि नींव ही कमजोर है तो उस पर मजबूत इमारत भला कैसे बनेगी? इस अन्तर की यात्रा को चाहे आप ध्यान कह लीजिए, चाहे आत्म-रमण या सामायिक।

यह यात्रा क्यों जरूरी है ? यह इसलिये कि हमारे अ'तर में बहुत कुछ कूड़ा-कचरा, वासना, हिंसा, द्वेष, क्रूरता, पक्षपात, आग्रह, दुराग्रह, मान्यता, धारणा, अहंकार, मान, अपमान आदि का कचरा सैकड़ों हजारों वर्षों से भरा पड़ा है। उसने हमारी चेतना को उसी तरह ढक रखा है, जैसे हीरे को गुदड़ी ने या सूरज को बादलों ने। यह ढकी बुझी-बुझी सी चेतना भला हमें किस प्रकार बाहरी जगत को उसके वास्तविक रूप में देखने में मदद कर सकेगी।

अतः शांति के लिये आवश्यक है अपने अ'तर को सारे कूड़े-कचरे से मुक्त करना। और यह तभी सम्भव है जब हम उसकी खोज-खबर लें, उसे समझें, उसमें प्रवेश करें और अ'ततः उससे मुक्त हो जांय। दूसरे शब्दों में हमारा अ'तर स्वच्छ हो जाए। इस अ'तर के स्वच्छ होने के साथ ही चेतना मुक्त हो जाती है। यही मुक्त चेतना हमें शांति और आनन्द के स्रोत तक ले जा सकती है।

यह ध्यान की प्रक्रिया ऐसी ही है, जैसे कि एक नन्हीं सी कली का विकसित होते–होते पूर्ण फूल बन जाना और फिर उसका बिखर जाना, समाप्त हो जाना। यदि हम अपने विचारों को, संस्कारों, आग्रहों, अहंकारों को प्रतिदिन थोड़ा समय निकालकर समभाव से देखें, उन्हें समझें, उनमें प्रवेश करें तो हमें यह देखकर बड़ा आश्चर्य होगा कि वे स्वयं ही अपनी मौत मर रहे हैं, जैसे कि फूल अ'ततः झर जाता है। इस कूड़े-कचरे के विसर्जन के साथ ही हमारा अन्तर आलोकित हो उठता है।

इस प्रकार जब ध्यान की कुदाली से हम हमारे अन्तर की परतें खोदते ही चले जाएंगे तो एक दिन अचानक हम देखेंगे कि हमारे सामने आंतरिक समृद्धि के द्वार खुले हैं और शांति–चिरन्तन शांति हमारी राह देख रही है।

—६४, जिला पेठ, जी.पी.ओ. के सामने, जलगांव-४२५००१

- प्रशंसा जहरीले सर्प के समान है। अगर इसका विष तुझे चढ़ गया तो तू नष्ट हो जायेगा।
- ब्रह्मचर्य जीवन का मूल है। इसी से जीवन की सारी रौनक है। आधुनिकता के भुलावे में आकर इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इसकी उपेक्षा करना सारे जीवन की महत्ता को तिलांजलि देना है।
- आवेश दिल की कमजोरी का सूचक है। आवेश में आकर किया जाने वाला कार्य त्रुटिपूर्ण होता है। अतः सत्यान्वेषक को आवेश से दूर रहना चाहिए। —आचार्य नानेश

संयम की अवधारणा

❀ डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया

आचार्य कार्तिकेय ने 'बारस अनुपेक्खा' नामक कृति में धर्म की परिभाषा स्पष्ट करते हुए लिखा कि 'वत्थु सहावो धम्मो ।' वस्तु का स्वभाव ही धर्म है । धर्म के दश लक्षण कहे गए हैं - क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य । धर्म का चर्यापरक एक लक्षण विशेष संयम है । 'धवल' नामक ग्रंथराज में संयम की परिभाषा करते हुए स्पष्ट किया है—'संयमनं' संयमः अर्थात् संयमन को संयम कहते हैं । संयमन अर्थात् उपयोग को पर-पदार्थ से मुक्त कर आत्मोन्मुखी करना या होना वस्तुतः संयम है ।

धर्म की चर्चा जिस क्षेत्र में सम्पन्न होती है वहां साधकों के बीच में तीन शब्दों के प्रयोग प्रचलित हैं - यम, नियम और संयम । यहां इन शब्दों को बड़ी सावधानी के साथ समझना आवश्यक है ।

यम और नियम शब्द क्रिया परक हैं और कर्म का सीधा सम्बन्ध इन्द्रिय-व्यापार पर आधृत है । इन्द्रियां पांच कही गई हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र और श्रवण । कर्म करने की एक प्रक्रिया है । इस प्रक्रिया में मन की भूमिका महत्त्वपूर्ण है । इन्द्रिय और आत्मा को मिलाने वाला एक माध्यम है—मन । मन का व्यापार दो प्रकार से होता है—जब वह इन्द्रियों के साथ सक्रिय होता है तो उसे द्रव्य मन-इन्द्रिय कहते हैं और जब वह आत्मा की मूल शक्ति के रूप में है तब भाव–मन की संज्ञा प्राप्त करता है ।

संसार का संसरण मन-इन्द्रियों के सक्रिय व्यापार पर निर्भर करता है । इन्द्रियों को जब यम और नियम-तंत्र में प्रशासित किया जाता है तब इन्द्रिय-मन विशेष रूप से सक्रिय रहता है । यह विधि-विधान के अधीन इन्द्रिय-व्यापार को संचालन करने की योजना को असफल करने की प्रेरणा प्रदान करता है । इन्द्रिय व्यापारों के निग्रह को यम कहते हैं और विधि-विधान के अनुकूल नियंत्रण को नियम कहते हैं । यही बात इस प्रकार भी कही जा सकती है कि वह संकल्प जिसका सदा निर्वाह किया जाता है, वस्तुतः नियम कहलाता है । यम और नियम का सम्बन्ध जब मन-इन्द्रिय के साथ सक्रिय होता है तब संसार का व्यापार वर्द्धमान होता है । और यम-नियम पूर्वक जब संयम का सम्बन्ध भाव-मन के साथ होता है, तब आध्यात्मिक अभ्युदय होता है ।

मन की मांग वस्तुतः असंयम है । और जब मन की मांग मिट जाती हैं तब संयम के द्वार खुल जाते हैं । इच्छा का जब निरोध होता है तब तप के

संस्कार वनते हैं, परिपक्व होते हैं। तप वस्तुतः संयम को जगाने का काम करता है।

किसी भी साधक को संयमी वनने के लिए जो मार्ग चुनना होता है, उसे वस्तुतः दो भागों में विभक्त किया जाता है, यथा—

(१) प्राणी-संयम
(२) इन्द्रिय-संयम

छह काय के जीवों के घात तथा घातक भावों के त्याग को वस्तुतः प्राणी संयम कहा जाता है, जवकि पंचेन्द्रियों के व्यापारों और मन के सहयोग के त्याग को इन्द्रिय-संयम की संज्ञा प्रदान की गई है।

विचार कीजिए संयम-प्राणी और इन्द्रिय—शब्द शास्त्रीय परिवेश में चर्चित किया गया है। हमारी दैनिक चर्या (Routine) में इसका प्रयोग और उपयोग किस मात्रा में किया जा रहा है, यह एक ज्वलन्त प्रश्न है? आज का आम आदमी सुरक्षा चाहता है। वह आज के वौद्धिक प्रदूषरण में घुटन और असुरक्षा अनुभव करता है। मुझे लगता है पशु-पक्षी, कीट, पतंग आदमी की तुलना में अधिक असुरक्षित अनुभव नहीं करता है। संसार के अनेक मुखी साधनों, संविधानों का सहयोग पाकर वह सुरक्षित होना चाहता है। मेरे विचार में संयम से वड़ी और शाश्वत दूसरी और कोई सुरक्षा है नहीं। असंयम से आज का आदमी गम्भीर रूप से रूग्ण है। कीटाणुओं से रोग इतना अधिक संक्रामक नहीं होता, जितना भयंकर रूप वह असंयम से धारण कर लेता है। आज आदमी असंयम से अधिक चुटैल हो रहा है, उतना शास्त्रों से नहीं। पुलिस की अपेक्षा आज का आदमी असंयम के द्वारा अधिक बंदी वन रहा है। असंयम के द्वारा जितनी अधिक असमय में ही मौतें हो रही हैं, उतनी यथार्थ और स्वाभाविक मृत्यु से आदमी नहीं मर रहा है।

इन्द्रियों के व्यवहार से भी आज का आदमी परिचित नहीं है। इसलिए प्रयोग-प्रसंग में वह असमर्थता अनुभव करता है। नेत्र इन्द्रिय है उसका उपयोग है–रूप दर्शन। अब रूप का ही जब हमें अवबोध नहीं है, तब रूप-दर्शन का निर्णय करना वस्तुतः दुरूह हो जाता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के प्रयोग–उपयोग का प्रश्न है। फिर प्राणी–संयम का प्रश्न तो और अधिक सूक्ष्म और जटिल है। हमें पहले इन्द्रियों के प्रयोग-उपयोग पक्ष को ठीक-ठीक जानना और पहिचानना होगा।

सामान्यतः आज का आदमी स्व और पर का भेद नहीं समझता। उसे भासता है कि 'पर' की प्राप्ति में सुख है। उसे न तो 'स्व' का वोध है और इससे भी आगे का चरण है 'स्व' के अस्तित्व को नकारना। 'पर' को जाने विना उसका त्याग करना अथवा उसके प्रयोग-उपयोग में सयम रखना, कर्म की

सार्थकता नहीं है ऐसी स्थिति में जिस यम अथवा नियम का पालन किया जाता है उससे शारीरिक शासन तो हो सकता है किन्तु आन्तरिक अनुशासन जगाने का प्रश्न ही नहीं उठता। 'पर' और 'स्व' का बोध हो तो संयम–त्याग का प्रयोग सार्थक, सम्भव हो सकता है। मुझे लगता है कि बोध होने पर बुराई–दुहराई नहीं जाती।

एक जीवंत घटना–संदर्भ का स्मरण हुआ है। एक जनपद के सीमान्त पर एक माद है जिसमें एक सिंहनी अपने नवजात शिशुओं का पोषण करती है। यकायक एक बृहद् जुलूस का निकलना होता है। बाजे बजते हैं—जयनाद होते हैं। कोलाहल को सुनकर सिंह–शावक माद से बाहर निकलते हैं और जुलूस के वैभव को, उत्साह को देखकर भयभीत हो जाते हैं। वे त्वरित अन्दर अपनी मां के पास आ जाते हैं और जुलूस का वृत्त-बोध कराते हैं। यह सुनकर मां यथार्थ जानने के लिए माद से बाहर आती हैं। वह जुलूस को ध्यान पूर्वक देखती है और निश्चित होकर अपनी माद में लौट जाती है। शावकों के अन्यत्र भाग चलने के प्रस्ताव को निरस्त करती हुई वह उन्हें यह कहकर आश्वस्त करती है कि यह जुलूस आदमियों का है। वे भाषा-विवाद, वे प्रान्तवाद, वे जातिवाद तथा वे सत्तावाद के लिए परस्पर लड़ेंगे, जुझेंगे। परस्पर में घात-प्रतिघात करेंगे उन्हें हमारे ऊपर आक्रमण करने का अवसर ही कहां मिलेगा? यह सुनकर सिंह-शावक तमाशा देखने लगे।

आज आदमी आदमी की हिंसा करने में अधिक संलग्न है। पहले पहले वह अपनी जीवन रक्षा और विभुक्षा के लिए पशु-पक्षियों का वध करता था किन्तु आज इस हिंस्र-प्रवृत्ति का इतना विकास हुआ है कि वह परस्पर में ही वध करने पर उतारू है।

उसके खाने में संयम नहीं, उसकी वाणी में संयम नहीं, उसकी दृष्टि में संयम नहीं, उसके सुनने में संयम नहीं। पहले अनर्थ और अश्लील संदर्भों के आने पर आदमी का चित्त विरक्त हो जाता था किन्तु आज के आदमी को ऐसा करने में कोई परहेज, संकोच नहीं रह गया है।

आज का आदमी दो प्रकार की जीवन दौड़ दौड़ रहा है। आरम्भ में वह धन की दौड़ में दौड़ता है और जब उसे अनुभव हो पाता है कि यह दौड़ निरी, निरर्थक रही है तो वह धर्म की दौड़ प्रारम्भ कर देता है। इस दौड़ में उसे कोई लाभ नहीं हो पाता। ऊपरी क्रिया-कलाप सम्पन्न हो पाते हैं– यथार्थ की अनुभूति करने में वह पूर्णतः वियुक्त रहता है। यम, नियम का ऐन्द्रिय-व्यापार सम्पादन करने में वह लीन रहता है, संयम का स्वभाव जगाने में वह प्रायः असमर्थ रहता है। विचार करें, जब नियम प्रधान बनता है और संयम गौण होता है तब धर्म का दिवाकर निस्तेज हो जाता है और जब संयम का रूप प्रधान

होता है और गौण होता है नियम का रूप, तब वस्तुतः धर्म का सूर्य तेजस्वी हो उठता है।

आत्मिक गुणों को जगाने के लिए हमें धार्मिक बनना चाहिए। ऐसी स्थिति में, नियम छूट जाते हैं और संयम मुखर हो उठेगा। जहां क्रिया नियंत्रण अथवा विरोध नहीं होता वहां चर्या मूलतः निरोध मुखी होती है निरोध के वातायन से संयम के स्वर खुलते हैं। तब यह कहना सार्थक होता है कि 'संयम खलु जीवनं' अर्थात् संयम ही जीवन है।

३९४ सर्वोदय नगर, आगरा रोड़, अलीगढ़ (उ. प्र.)

नैसर्गिक चिकित्सक

❀ श्री विवेक भारती

श्री विहीन निस्तेज चेहरा लिए
क्यों जीने को विवश हो मित्र
तन ही नहीं तुम्हारा तो,
मन भी बीमार लग रहा है।
आधुनिक चिकित्सा-व्यवस्था से
निराश भी हो चले हो शायद
तो आओ, मैं तुम्हें
दो सर्वोत्तम चिकित्सकों से
मिलवा देता हूं।
जो आपके अपने हैं,
हैं अहर्निश सेवा देने में सक्षम भी।
ये हैं परिश्रम और संयम।
परिश्रम की चिकित्सा प्रक्रिया से
जठराग्नि हो उठेगी तेज,
भूख खुलकर लगेगी,
अच्छा खाओगे, पचाओगे
रक्त-मज्जा ठीक बनेगी अपने आप।
और संयम
रोकता रहेगा भोग की अति से,
करवाओ अपनी चिकित्सा आप,
इन निजी चिकित्सकों से ही
स्वस्थ-जीवन मित्र,
पा जाओगे अनायास ही।

—बी. ११६, विजयपथ, तिलक नगर, जयपुर-३०२००४

जीवन का संग्रह : संयम का सेतु

❀ डॉ. विश्वास पाटील

हमारे यहां एक बहुत पुरानी कहानी प्रचलित है। एक वार ब्रह्माजी की शरण में देवता गए और आशीर्वादपूर्वक उपदेश की याचना की। मनुष्य तथा असुरों ने भी देवताओं का ही अनुगमन किया। ब्रह्माजी ने तीनों को एक ही अक्षर का उपदेश दिया—वह अक्षर था 'द'। इस अक्षर को हरेक ने अपने-अपने स्तर पर, अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार समझा। देवताओं ने **'द'** का अर्थ **'दमन'** माना, मनुष्यों ने **'दान'** तथा असुरों ने **'दया'** अर्थ को स्वीकारा। दूसरे शब्दों में यह क्रमशः 'संयम', 'अ-परिग्रह' तथा 'अहिंसा' तत्त्व कहे जा सकते हैं। इन तीनों शब्दों के मूल में 'संयम' की वृत्ति है।

संयम धर्मप्रासाद के नींव की पहली ईंट है। धर्मप्रासाद कोई विशिष्ट धर्म का नहीं, मानव धर्म का। संयम शब्द की व्याकरणिक चर्चा चिकित्सा करते हुए परमश्रद्धेय प्रवर्तक मुनि श्री महेन्द्रकुमार 'कमलजी' ने कहा है—"वह (वैयाकरणी) संयम शब्द को पूर्णतः भारती (सरस्वती) मानकर आगे बढ़ा। 'यम्' को उसने कहा कि धातु है। 'यम्' धातु का अर्थ है विषयेच्छा ! 'यम्' धातु का उसने अर्थ किया दमन-संयम-निरोध। उसका तर्क है 'भ' वर्ण के बाद 'म' वर्ण आता है। यम में जो फंस गया उसका त्राण असंभव हो जाता है। जो साधक 'भ' वर्ण को उलांघकर यम (संयम) तक पहुंच गया उसे 'यम' अर्थात् मृत्यु का भय नहीं रह जाता। यम अर्थात् भोगेच्छा की आग है। आग आग को नहीं जला सकती। यम अर्थात् मृत्यु, यम अर्थात् संयम को नहीं मार सकता।"

भारत याने संयम की मिट्टी के कणों से बना हुआ देहपिण्ड। भारतीय मनीषा ने संयम का बहुत सविस्तार चिन्तन किया है। हमारे धर्मग्रन्थ और विद्वान् लोग इस प्रश्न के सम्बन्ध में बहुत गहराई में उतरे हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे, चौथे और छठे अध्याय में निषेध रूप से और सर्वत्र ही संयम की गाथा पढ़ने को मिलती है। गीता का कहना है कि साधक को इन्द्रियां वश में करनी चाहिए क्योंकि उसी की बुद्धि स्थिर होती है (२/६१)।

समस्त इन्द्रियों को वश में करने की आवश्यकता दिखलाने के लिए 'सर्वाणि' विशेषण प्रयुक्त है क्योंकि वश में न की हुई एक इन्द्रिय भी मनुष्य के मन-बुद्धि को विचलित करके साधना में विघ्न उपस्थित कर देती है। (२/६७) अतः परमात्मा की प्राप्ति चाहने वाले पुरुष को सम्पूर्ण इन्द्रियों को ही भलीभांति वश में करना चाहिए।

इन्द्रियों के संयम के साथ-साथ मन को वश में करने की तपस्या पर भी गीताकार ने जोर दिया है। मन और इन्द्रियों को संयमित कर बुद्धि को परमात्मरूप में स्थिर करने की बात गीता में मिलती है क्योंकि मनसहित इन्द्रियों पर संयम होने पर ही साधक की बुद्धि स्थिर रह सकती है, अन्यथा नहीं ! मन और इन्द्रियों के संयम के प्रति लापरवाह साधक की हानि का वर्णन गीता के दूसरे अध्याय के बासठवें श्लोक से अड़सठवें श्लोक तक यों किया गया है।

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है, और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है। मूढ़भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है परन्तु अपने अधीन किए हुए अन्तःकरण वाला साधक अपने वश में की हुई, राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है।.......जिस पुरुष की इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार निग्रह की गई हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है।

गीता में आगे कहा गया है कि जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियां भलीभांति जीती हुई हैं और जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान है, वह योगी मुक्त अर्थात् भगवत् प्राप्त है। (६/८) इसी अध्याय में गीताकार कहते हैं कि जिसका मन वश में नहीं है, ऐसे पुरुष द्वारा योग दुष्प्राप्य है (६/३६)

भगवान बुद्ध ने अपने उपदेशों में संयम की दीक्षा दी है। आरण्यक अर्थात् जंगलवासी भिक्षु के लिए नियम बताते हुए उन्होंने कहा है—"आरण्यक भिक्षु को भोजन के पूर्व या पश्चात् गृहस्थ कुलों में फेरे नहीं देते रहना चाहिए। उसे अचपल, अबकवादी, कल्याणमित्र, भोजन में परिमाणी, जागरण में तत्पर, आरब्ध वीर्य अर्थात् उद्योगी, होश रखने वाला, एकाग्रचित्त, प्रज्ञावान तथा इन्द्रियों में गुप्तद्वार अर्थात् संयमी होना चाहिए।" (मज्झिम निकाय–गुलिस्तानि-सूत्र-२/२/९) आगे चलकर कीटागिरि–सुत्त में कहते हैं, "भिक्षुओं, जो न प्राप्तचित्त हैं, अनुपम योगक्षेम अर्थात् निर्वाण के इच्छुक हो विचरते हैं। भिक्षुओ, वैसे ही भिक्षुओं को मैं 'प्रमादरहित हो करो' कहता हूं। सो किस हेतु ? शायद वह आयुष्मान् अनुकूल शयन-आसन को सेवन करते, कल्याण मित्रों अर्थात् सु-मित्रों के सेवन करते, इन्द्रियों का संयम करते....विहार करते रहो।" (मज्जिम निकाय-कीटागिरि-सुत्त २/२/१०)

अंगुलिमाल की सुप्रसिद्ध कथा में संयम की चर्चा आती है। चलते रहने वाले भगवान बुद्ध को 'मैं स्थित हूं।' यह वचन कहते जब अंगुलिमाल पाता

है तब उसकी प्रश्नोचित जिज्ञासा का भगवान उत्तर देते हैं "अंगुलिमाल ! सारे प्राणियों के प्रति दंड छोड़ने से मैं सर्वदा स्थित हूं । तू प्राणियों में असंयमी है, इसलिए में स्थित हूं और तू अ-स्थित है ।" (मज्झिम निकाय—अंगुलिमाल सुत्त २/४/६)

शास्त्रकारों के इन वचनों का मनःपूर्वक अध्ययन करने पर यह बात ध्यान में आती है कि मनुष्य के भीतर शक्ति का अनंत, अक्षय स्रोत है । इस शक्ति का जागरण संयम के द्वारा किया जा सकता है । मन की मांगों को मनुष्य जैसे-जैसे अस्वीकार करते जाएंगे, वैसे-वैसे संकल्प शक्ति का विकास होना है, यही संयम है । संयमी को सभी संभव है ।

शुभाशुभ निमित्त कर्म के उदय में परिवर्तन कर देते हैं किन्तु मन का संकल्प उनसे बड़ा निमित्त है । संयम की शक्ति के विकसित होने पर विजातीय द्रव्य का प्रवेश नहीं हो सकता । संयमी मनुष्य बाहरी प्रभावों से प्रभावित नहीं होता । **'दशवैकालिक'** में कहा गया है—'काले कालं समायरे'—सब काम ठीक समय पर करो । **सूत्रकृतांग** में लिखा गया है—खाने के समय खाओ, सोने के समय सोओ । सब काम निश्चित समय पर करो ।

संयम जीवन का आंतरिक विकास सूत्र है । संयम जीवन का पर्यायी रूप है—'संयम, खलु जीवनम् !' संयम अर्थात् स्वीकृत साधना का पालन । साधक संकल्प को स्वेच्छा से स्वीकारता है । वह हर क्षण जाग्रत होता है । साधक इस अवस्था में सम्पूर्ण अप्रमत्त रहने के अभ्यास को विकसित करता है, फिर भी प्रमादवश कभी स्खलन न हो जाए, इसलिए साधक को आचार्य उपदेश देते हैं कि वह निरतिचार साधना का अभ्यास करे । इस साधना के लिए अनुशासन और विनय की महती आवश्यकता है ।

भगवान महावीर ने अतीत में संयम का सूत्र दिया था—वह सूत्र भविष्योन्मुखी है । इसी को जीवनाधार मानकर महावीर चलते रहे और अन्यों को भी इस सूत्र का उपदेश दिया । संयम की आवश्यकता को अधोरोपित करते हुए महावीर ने कहा था—खाद्य का संयम करो, वाहन का संयम करो, यातायात का संयम करो, उपभोग-परिभोग का संयम करो ।"

संयम के कारण विकसनशील राष्ट्र विकासशील बन सकता है । विकासशील राष्ट्रों की समस्या है अभाव, गरीबी, अनैतिकता और विषमता ! संयम के विना निर्यात वढ़ाना, आर्थिक उत्पादन और ऊर्जा के नित नए स्रोतों का विकास जैसे तमाम उपाय निरर्थक हो जाते हैं ।

विकसित राष्ट्रों की समस्या है अपराध, अशांति, आतंक और हिंसा ! जहां अभाव और गरीवी या शून्यता और रिक्तता नहीं है धन और साधनों की—वहां के जनजीवन के केन्द्र में है भोग । भोग बूर का लड्डू है, उसे नहीं खाने वाला

ललचाता है और खाने वाला पछताता है । भोग आरम्भ में कुछ हद तक तृप्ति
देता है किन्तु एक वस्तु के आत्यंतिक भोग के पश्चात् उसका आकर्षण कम हे
जाता है, तृप्ति की मात्रा घट जाती है । अतृप्त मनुष्य फिर तृप्ति के नए साध
खोजने में लग जाता है ।

आज सम्पन्न राष्ट्रों में कुछ ऐसा ही घटित हो रहा है । भोग का उ
भोग और उपभोग करते रहने पर जो अतृप्ति उभरती है उसकी चिकित्सा
होने पर आदमी पागल और अशांत हो जाता है, अपराधी बन बैठता है
हमारे पूर्वज साधकों ने बहुत तपस्यापूर्वक संयम का सूत्र दिया था । तृप्ति व
आकांक्षा और अतृप्ति से समाधान का सही उपाय बताया था ।

आज हमें जिस शक्ति की आवश्यकता है वह संयम पर ही आधृत
सकती है । शान्ति का आध्यात्मिक सिद्धान्त सह-अस्तित्व का विचार है । शां
का आधार व्यवस्था है । व्यवस्था सह-अस्तित्व से उभरती है । समन्वय के
कारण सह-अस्तित्व की भावना जागती है । समन्वय का आधार है, सत्य । सत्य
अभय से उपजता है । अभय का आधार है अहिंसा, अहिंसा का मूल है अपरिग्रह
और अपरिग्रह की नींव में संयम है । यह संयम, शांति, सद्भावना और सह-
अस्तित्व का मूलाधार है ।

आज आग्रहपूर्ण नीति का त्याग कर तटस्थ नीति को स्वीकारना चाहिए ।
अनाक्रमण और उसके समर्थन की घोषणा करते हुए आत्मविश्वास और पारस्प-
रिक सौहार्दभाव का विकास करना चाहिए । इसी से मानवीय एकता की दिशा
में मानवता के कदम बढ़ेंगे और मनुष्य के जीवन प्रवाह को संयम के सेतु से
जोड़ने पर ही हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों-साधकों का यह स्वप्न हम यथार्थ की
धरती पर देख सकेंगे ।

—३४-व, कृष्णाम्वरी, सरस्वती कॉलोनी, शहादा (धुलिया) ४२५४०९

उत्क्रांति : संयम के द्वार से

❀ श्री राजीव प्रचंडिया

आज 'होड़बाजी' का जमाना है। यह होड़-प्रक्रिया जीवन में क्रांति
ला सकती है, उत्क्रांति नहीं। क्रांति और उत्क्रान्ति में बहुत बड़ा अन्तर है।
ान्ति का अर्थ है 'परिवर्तन'। जो है उसमें बदलाव। परिवर्तन जीवन में रस
ालता है। जैसे किसी जलाशय का पानी भरा रहे तो उसमें दुर्गन्ध आने लगती
। उसका पानी मर-सा जाता है। वह न स्वयं अपने लिए ही उपयोगी और
दूसरों के लिए ही उपादेय बन पाता है। इसलिए उसका बदलना आवश्यक
हता है। विचार करें, यदि भरा जाने वाला पानी गन्दा, कीचड़ से सना हो तो
या वह लाभकारी होगा? नया पानी चाहिए, वह भी स्वच्छ। नवीनीकरण
दि होता है तो वह ऊर्ध्व को ले जाने वाला, संज्जीवनी से सम्पृक्त होना चाहिए
ह सत्य है कि आज हर समाज–राष्ट्र के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती है कि जीवन
परिवर्तन लाया जाए लेकिन यह परिवर्तन कैसा होना चाहिए और उसका
ाध्यम क्या है? कोई भी कदम उठाने से पूर्व इस पर गम्भीरता से विचार
रना आवश्यक है। बिना विचारे कोई भी कार्य गति तो ला सकता है, किन्तु
ह गति निस्सार होगी।

'संयम' के माध्यम से यदि जीवन में परिवर्तन लाया जाय तो जीवन
उन्नत तो बनेगा ही, उसमें उथल-पुथल का अभाव होता जाएगा। भीतर जो
हाहाकार की अथवा 'लाओ-लाओ', 'भरो–भरो' जैसी मधुर लगने वाली ध्वनि-
लहरें हर क्षण उठती रहती हैं, वे सब समाप्त हो जाएंगी, फिर जो परिवर्तन–
उत्क्रान्ति होगी, वह समाज को एक नया आयाम देगी। यह सही है, एक ही
पथ पर चलते-२ जीवन ऊब से भर जाता है। ऊबाऊपन समाप्त हो, इसके लिए
संयम की अनेक पगडंडियां हैं, उनमें से किसी को भी पकड़ लिया जाए तो मरे
हुए से जीवन में 'जीवन' आ सकता है। ये सारी की सारी पगडंडिया आनन्द–
दायी हैं। एक पगडंडी, जो 'संकल्प' के अन्तिम छोर तक जाती है, एक 'नियम-
निवास' का मार्ग दिखाती है, एक 'विरत-महल' तक व्यक्ति को पहुंचाती है।
ऐसी ही न जानें कितनी पगडंडियां हैं, बस, आवश्यकता है, उस पर निश्चल
भाव से चलने की।

'संयम–प्रकरण' में दो बातें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं—एक 'इच्छा' और दूसरी
'कांक्षा'। इच्छा में वस्तु/पदार्थ के प्रति लालसा बनी रहती है जबकि 'कांक्षा'
में भावों का उद्रेक समाया रहता है। संयम इच्छाओं का 'स्वनियन्त्रक' है।
इच्छाओं का फैलाव आकाश के समान अनन्त है, उसकी सीमा असीम है। वास्तव

में इच्छाएं 'अरक्षा' और संयम 'रक्षा' की ओर ले जाती हैं। प्रश्न है रक्ष
किसकी ? विचार करें, 'रक्षा' उसकी जो प्रकाशक है, दिशा-दर्शक है, समस्त
इन्द्रियां जिससे चलित होती हैं अर्थात् आत्मतत्त्व। जीवन का प्रवाह संयम
और रुकावट असंयम। विकास है वहां, जहां संयम है। असंयम से तो पदार्थ
वैभव बढ़ सकता है, आत्म-वैभव कदापि नहीं। स्थिति ऐसी ही हो जाती
जैसे 'पारस-पत्थर' को छोड़ उससे विनिर्मित स्वर्ण-पदार्थों की चाह रखना
संयम 'पारस-पत्थर' को पैदा करता है जिससे तमाम स्वर्ण प्राप्त होते हैं।
विवेक तो हमारे ऊपर निर्भर करता है कि हम स्वर्ण को प्राप्त करें या स्व
निर्माणक को। वास्तव में यह पत्थर कहीं और नहीं हमारे स्वयं के भीतर है
संयम के द्वारा उसे खोजना होता है। जैसे अंधकार में से प्रकाश ढूंढ़ना हो
है और इस ढूंढ़न-प्रक्रिया में जो अवयव, जो श्रम, जिस रूप में करना होता
वैसे ही इस अविनश्वर पारसमणि की साधना की जाती है।

आज हमारे जीवन में 'तनाव' हावी होते जा रहे हैं। जिसे देखो
तनावों से घिरा है। स्वाभाविकता कृत्रिमता में, नम्रता अहंकारिता में, वत्सल
कटुता में तथा दया-प्रेम, द्वेष और घृणा में अभिसिंचित हो रहे हैं। इन स
मुक्ति का एक ही उपाय है—संयम-साधना। संयम तो जीवन का वह द्वा
जिसमें संचयवृत्ति रूपी झाड़-झंखार नहीं होते और ना ही कषायजन्य विका
इसमें आलस्य, तन्द्रा-निद्रा, मोह-वासनादि कुप्रभाव अपना प्रभाव नहीं छोड़
अपितु प्रभाव छोड़ने की टोह में निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। वास्तव में सं
साधना में सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियन्त्रण अर्थात् व्रत-समिति-गुप्ति अ
रूप से प्रवर्तना अथवा विशुद्धात्मध्यान में प्रवर्तना की जाती है। संयम में सा
बाह्य जगत् से अन्तर्जगत अर्थात् स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा करता है अर्थात् कप
को काटता हुआ स्वभाव को जगाता है। विभावों से स्वभाव तक ले जाने
यह परिवर्तन जीवन में क्रांति नहीं, उत्क्रांति लाता है।

—एडवोकेट, ३६४, सर्वोदयनगर आगरारोड़, अलीगढ़ (उ.

संयम ही जीवन है !

❀ श्री धनपतसिंह मेहता

मानव जीवन के आचार पक्ष पर चिन्तन करने से एक बात स्पष्टतः भरकर सामने आती है और वह यह कि जीवन के परिष्कृत एवं शुद्ध-सात्विक प का मूलाधार संयम है । धर्म एवं आचार ग्रन्थों में इस बात का विशद विवे- न है कि अगर हम अपने जीवन को भव्य एवं सुन्दर बनाना चाहते हैं, अगर म चाहते है कि मानव जीवन गौरवपूर्ण एवं गरिमामय हो, उदात्त एवं आकर्षक ो तो हमें जीवन के हर क्षण में संयम की शरण लेनी होगी, समग्र जीवन को नसा-वाचा-कर्मणा संयमित करना होगा । हर पल संयम की साधना करते हुए ीवन के समस्त कषाय-कलमषों से मुक्ति पानी होगी । इन्द्रिय-सुख की मृगतृष्णा । छुटकारा पाकर जीवन को आध्यात्मिक मोड़ देना होगा । यह जीवन की वित्रता की, नैतिकता की मांग है, आत्म-साधना का उद्घोष है ।

संयम शब्द बड़ा अर्थ भरा है । जीवन में यम-नियम का पालन करते ए उस पर कठोर अंकुश लगाना ही संयम है । मस्त हाथी को विचलित एवं थभ्रष्ट होने से रोकने के लिए जिस प्रकार महावत का अंकुश निरन्तर आव- यक है, उसी प्रकार इन्द्रिय-सुख के वेगवान प्रवाह में बहकर सर्वनाश से बचने का जीवन में एकमात्र उपाय संयम ही है । जीवन के उत्कर्ष एवं अभ्युदय का, उसके संस्कार एवं श्रेय का और कोई मार्ग नहीं । केवल संयम का सहारा लेकर ही हम उदात्त आदर्शों एवं शाश्वत सनातन जीवन मूल्यों से सम्पन्न मनुष्य जीवन-यापन कर सकते हैं । वही जीवन भव्य, वही श्रेष्ठ एवं अभिनन्दनीय है और इसलिए वही सार्थक एवं श्रेयस्कर है ।

मानव जीवन में इन्द्रिय-सुख का बड़ा आकर्षण है । उसके मायावी परि- वेश में अहर्निश आबद्ध मनुष्य मकड़ी की तरह जीवन भर सुख-सुविधाओं का जाल बुनता रहता है और अन्ततः उसी में फंसकर प्राण त्याग देता है । मानव जीवन की यह कैसी विडम्बना है कि वह आत्म-साधना से विमुख होकर इन्द्रिय-साधना करते-करते जानबूझकर अपने सर्वनाश को आमंत्रण देता है ।

कुरुक्षेत्र के मैदान में मोहाभिभूत अर्जुन जब कर्मयोगी कृष्ण से प्रश्न करता है कि—"प्रभु, स्थिर बुद्धि वाले मनुष्य की पहचान क्या है ?" तो उत्तर में कृष्ण उसका विशद विवेचन करते हुए जो कुछ कहते हैं उसके कुछ शब्द बड़े मार्मिक हैं । वे कहते हैं—"हे पार्थ, यत्नयुक्त सुधी की भी इन्द्रियां यों प्रमत्त हों, मन को हर लेती हैं अपने बल से हठात्, उन्हें संयम से रोकें, मुझी में रत, मुक्त हो, इन्द्रियां जिसने जीतीं, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा" निस्सन्देह जिसने इन्द्रियों पर

विजय प्राप्त कर ली हैं, उन पर नियंत्रण कर लिया है वही स्थिर बुद्धि [illegible]
होकर अपने हिताहित का निर्णय कर सकता है। इसके विपरीत इन्द्रियों के आधि-
पत्य को स्वीकार करने वाले, उनके समक्ष घुटने टेकने वाले व्यक्ति की बुद्धि चलाय-
मान होती है। उसमें विचार-विचलन होने से उसके कर्म भी लड़खड़ा जाते हैं
स्थिर बुद्धि के अभाव में वह कोई उचित निर्णय लेने में सर्वथा असमर्थ रहता है
इस स्थापना से जीवन में संयम का महत्त्व स्वयं सिद्ध है।

इस संदर्भ में एक भ्रान्ति से सजग रहने की नितान्त आवश्यकता है
इन्द्रिय-निग्रह एवं इन्द्रिय-दमन में बड़ा अन्तर है। संयम की साधना के लि
इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक है जो व्रत, तपश्चर्या, सतत जागरुकता एवं वैचारिक दृ
से ही संभव है। संकल्पवान व्यक्ति ही कर सकता है जिसकी जीवन के नैति
मूल्यों में प्रबल आस्था है और जो आत्मा के निर्मल, दिव्यस्वरूप को पहचा
का पक्षधर है। विश्वविख्यात मनोविज्ञानी फ्रायड, यंग एवं एडलर का कथन
कि मनुष्य जीवन में उद्दाम वासनाओं का बड़ा आतंक है और मनुष्य उन
क्रीतदास है। उनका दमन भयावह है। दमित इच्छाएं और वासनाएं अवचे
मन (unconcious mind) में चली जाती हैं। वहाँ वे भले ही कुछ समय
लिए शान्त हो जायें, पर समय आने पर वे तूफानी वेग से आक्रमण कर म
को धराशायी कर देती हैं। इसीलिए धर्म-ग्रन्थों में इन्द्रिय-निग्रह पर बल [illegible]
गया है। आवश्यकता है इच्छाओं और वासनाओं को आध्यात्मिक मोड़ [illegible]
उनके उन्नयन एवं उदात्तीकरण (sublimation) की जिससे उनकी ऊर्जा
सत्कार्यों में उपयोग हो सके।

संयम के आलोक में हम आज के जीवन पर दृष्टिपात करें। चारों [illegible]
विकृति ही विकृति नजर आएगी। आहार, विहार, आचार-विचार एवं व्यव
सब में संयम का अभाव दृष्टिगोचर होता है। इतना ही क्यों पारिवारिक, सा
जिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में इसी के अभाव में इतनी कटुता, इ
तनाव, इतना विग्रह परिलक्षित होता है? कोई किसी का नहीं। कहीं स्नेह न
सद्भाव नहीं, अपनापन नहीं, सहिष्णुता नहीं, सेवा एवं समर्पण का भाव नहीं
सब एक दूसरे की जड़ खोदने में लगे हुए हैं। भीड़ में मनुष्य अकेलेपन
वेगानेपन का, परायेपन का अनुभव करता है। लगता है जैसे इन्सानी जी
आज चौराहे पर खड़ा, दिशा विहीन, पथभ्रष्ट, जाए तो जाए कहाँ? कोई सी
सरल राजमार्ग नहीं। चारों ओर खाई-खड्डे हैं, जहां कदम-कदम पर गिरने
खतरा है। सारा मार्ग कंटकाकीर्ण है, जहां सर्वत्र चुभन ही चुभन है।

आइये, जीवन एवं जगत के दीर्घव्यापी आयाम पर चिन्तन करें। वि
क्षेत्र को लें—पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्यि
सांस्कृतिक, प्रभृति। सर्वत्र क्लेश है, पीड़ा है, दैन्य है, परिताप-उत्ताप है। जी
का संतुलन जैसे बिगड़ चुका है। मानव-मूल्य तिरोहित हो रहे हैं। जीवन [illegible]

घायल, हारा-थका भू-लुंठित होकर कराह रहा है, सिसक रहा है। जीवन का अभीष्ट सुख, शांति, आनन्द, शीतलता केवल स्वप्न बन कर रह गये हैं। आदमी का, दिन-रात का प्रबल एवं अथक पुरुषार्थ इस दृष्टि से निरर्थक सिद्ध हो रहा है। वह कोल्हू के बैल की तरह, मशीन के पुर्जे की तरह घूम रहा है, अविराम गति से। वह चाहता है उसे सुख मिले, शांति मिले, आनन्द मिले। पर मिलता है दुःख, अशांति, पीड़ा। लगता है जैसे जिन्दगी में जहर घुल गया है। उसकी मिठास समाप्त हो गई है। अब तो सब कुछ कड़ुवा-कड़ुवा लगता है। इसका कारण क्या ? विपुल साधन-सुविधाओं के होते हुए भी आदमी के जीवन में छटपटाहट क्यों ? वह क्यों दुःखी और सन्तप्त है। इसका एकमात्र कारण यह है कि उसके जीवन में संयम का सर्वथा अभाव है। इसीलिए जीवन-वीणा का 'सरगम' बिगड़ चुका है, वह बेसुरा हो गया है। भोग की आंधी में, उसकी उद्दाम लालसा में मनुष्य जैसे पागल हो गया है। इसी कारण जीवन के पावन आदर्शों से विमुख होकर उसने छल–कपट, शोषण और उत्पीड़न का आश्रय लिया है। मनुष्य, मनुष्य के खून का प्यासा हो रहा है, मनुष्य मनुष्य के अस्तित्व को मिटा देना चाहता है, मनुष्य मनुष्य के बीच अलगाव की दुर्भेद्य दीवारें खड़ी हो गई हैं। उसमें पाशविक वृत्तियां जोर मार रही हैं। उसका जीवन स्वार्थ एवं छल–प्रपंच से प्रेरित है। उसे केवल अपनी चिन्ता है। औरों का कल्याण, उनकी सुख-सुविधा उसके लिए अर्थहीन है। केवल स्वार्थ का उसके जीवन में महत्त्व है, परमार्थ गौण है, निरर्थक है। संयम के अभाव में जीवन में सर्वनाश का महा–नाटक चल रहा है। तब उसके घातक प्रभाव से आदमी बचे तो कैसे ?

'जीओ और जीने दो' का उद्घोष हमारी अत्यधिक मूल्यवान सांस्कृतिक विरासत है एवं 'वसुधैव कुटुम्वकम्' की भावना हमारी दुर्लभ धरोहर है। उसकी आज रक्षा कैसे हो ? जीवन का ताना-वाना कैसे बुनें कि हम सब सुख से, शांति से जीवन-यापन कर सकें ? उसका एक मात्र उपाय संयमित जीना है। संयम से ही सहिष्णुता आएगी, संयम से ही अपरिग्रह का भाव जागेगा, संयम से ही सम्पूर्ण जीवन की रुझान, अहिंसा-प्रेम एवं करुणामय होगी, संयम से ही जीवन में श्री–सुषमा आएगी, संयम से ही जीवन का कालुष्य-कालिमा मिटकर उसमें निखार परिष्कार आएगा। सारांश यह है कि संयम से जीवन का रूप-स्वरूप ही बदल जायेगा और उसके फलस्वरूप जीवन में सुख, शांति एवं आनन्द की रिमझिम वर्षा होगी। संयम मानव जीवन में रीढ़ की हड्डी की तरह है, वह जीवन का एक मात्र सुदृढ़ मूलाधार है जिस पर जीवन की सारी गौरव-गरिमा टिकी हुई है। अतः यदि हम सार्थक जीवन जीना चाहते हैं, उसे सुन्दर, भव्य एवं आकर्षक बनाना चाहते हैं, उसमें सुख, शांति एवं आनन्द की बासन्ती बहार लाना चाहते हैं तो हमें संयम का राजमार्ग अपनाना होगा। मानवोचित श्रेष्ठ जीवन जीने का और कोई विकल्प नहीं।

—चौपासनी रोड, जोधपुर (राजस्थान)

संयम : साधना का ऊर्जस्वल पहलू

❀ डॉ. दिव्या भट्ट

आदिम युग से मानव निरन्तर प्रगति–पथ पर अग्रसित होता आ रहा है। जीवन को क्रमशः संयमित करते हुए यह प्राणिक मन एक रूप से दूसरे अधिक व्यवस्थित रूप तक निरन्तर गतिशील है। मानव को प्रगति के इस सर्वोत्तम रूप तक पहुंचाने का श्रेय मन को है। मन ही एकमात्र पथ-प्रदर्शक है, कर्त्ता है, स्रष्टा है या यदि ऐसा कहें तो भी अतिशयोक्ति न होगी कि मन ही विश्व का अनिवार्य कार्यवाहक है। इसीलिए तो कहा गया है कि—

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ।

कर्म की श्रेष्ठता के लिए कर्म की प्रेरणा भी श्रेष्ठ होनी चाहिए। जीवन के प्रत्येक व्यावहारिक सन्दर्भों एवं क्रिया-कलापों का संतुलित एवं संयमित रूप से क्रियान्वयन ही जीवन है। जैन धर्म ने जीवन के इन व्यावहारिक संदर्भों को नवीन आयाम दिए हैं। उसने संयम, तप, व्रत, अहिंसा तथा पुरुषार्थ प्रधान मार्ग की महत्ता को प्रस्थापित किया है। जैन धर्म ने लोगों को समता, वैराग्य, उपशमन, निर्वाण, शौच, ऋजुता, निरभिमान, कषाय, अप्रमाद, निर्वैर, अपरि–ग्रह, संसार के समस्त जीवों के प्रति मैत्री, गुणियों के प्रति प्रमोद, निर्बल एवं विपन्न के प्रति दया भाव और विपरीत वृत्ति मैत्र वाले मनुष्य के प्रति मध्यस्थ भाव रखने को अनुप्रेरित किया है। इसी प्रकार जैन धर्म के आत्मवाद, लोक-वाद, कर्मवाद, स्याद्वाद आदि सभी सिद्धांत जीवन के व्यावहारिक सन्दर्भों से जुड़े हुए हैं।

कर्मों का क्रियान्वयन मन की गतिशीलता और दशा पर आधारित होता है। मन स्वभावतः चंचल है। अर्जुन ने भी मन की इस चंचलता का उल्लेख करते हुए श्रीकृष्ण से कहा है कि इसे वश में करना बड़ा दुष्कर कार्य है। इसके प्रत्युत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वास्तव में यह एक दुष्कर कार्य है किंतु—

अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ।

मन की सबसे बड़ी सबलता यह है कि वह समझबूझकर हमें भुलावे में रखे रहता है, और मन की यह सबलता वास्तव में सबसे बड़ा दौर्बल्य है। इस दुर्वलता का निवारण निरन्तर मन को संयमित करने के प्रयत्न या अभ्यास द्वारा ही सम्भव है। मन को वश में न कर पाने के कारण ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में असामंजस्य है। सामंजस्य की स्थापना तभी सम्भव है जब हमारे द्वारा

क्रियान्वित प्रत्येक कार्य हमारे व्यवहार के संयमन का परिचय देता हो तो इस सन्दर्भ में एक दृष्टांत प्रस्तुत है—

एक गुरु ने अपने शिष्यों को आश्रम में पूर्ण रूप से शिक्षित कर उन्हें एक साधु पुरुष के साथ भ्रमण हेतु भेजा। शिष्यगण साधु पुरुष के प्रत्येक व्यवहार में कहीं न कहीं त्रुटि देख रहे थे। उन्हें साधु पुरुष की सहिष्णुता में अति का भास हो रहा था, किंतु वे मौन थे। अचानक अनजाने में ही साधु-पुरुष का पैर कुत्ते की पूंछ पर पड़ गया। तब वे कुत्ते के पास ही बैठ गए और उसकी पूंछ सहलाने लगे तथा उससे क्षमायाचना करने लगे। शिष्यों से न रहा गया और उन्होंने कह ही दिया कि पूज्यवर! आपसे तो अनजाने में भूल से कुत्ते की पूंछ पर पैर रखा गया था, इसमें ऐसी कौनसी बड़ी भूल है जो आप क्षमा-याचना कर रहे हैं। तब साधुपुरुष ने कहा,'जीवन में हम इसी तरह बड़ी से बड़ी गल्ती को भी अनजानेपन का नकाब पहनाकर आगे बढ़ते जाते हैं और परिणाम-स्वरूप जीवन के हर क्षेत्र में असामंजस्य बढ़ता जाता है। इस प्रकार बड़े ही धैर्य और संयमपूर्वक जब हम अपनी छोटी-छोटी भूलों को स्वीकार करने का अभ्यास रखेंगे तभी सफलता हमारे कदम चूमेगी और जीवन के हर क्षेत्र में सामंजस्य की स्थापना होगी।'

जीवन में भूलों को स्वीकार करते चलना आसान कार्य नहीं है, क्योंकि मनुष्य की संवेदना का परिवृत्त सीमित है। वह अपने स्व के परिसीमित फैलाव में ही प्रेममय व्यवहार करने का आदि है। जैन धर्म में 'स्व' के इस विस्तार हेतु 'व्रत' का विधान है। 'व्रत' का अर्थ है—आचरण में सत्य का निष्ठापूर्वक अनुसरण एवं मिथ्याचरण न करने की प्रतिज्ञा। मनसा, वाचा, कर्मणा से सत्य-निष्ठ रह सकने के लिए प्रतिज्ञा आवश्यक है क्योंकि मन की भटकन हमें अडिग नहीं रहने देती। व्रत का बंधन मन की भटकन को समाप्त करता है। व्रत वैसे तो भारतीय संस्कृति में धार्मिक जीवन का अभिन्न अंग रहा है किंतु जैन धर्म में इसका उद्देश्य आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने के साथ-साथ व्यावहारिक जीवन में भी इन्द्रिय-दमन की शक्ति प्राप्त कर आत्मा को उस सीमा तक शुद्ध एवं मुक्त करना है जहां आत्मा स्व का विस्तार सर्वत्र देखने में समर्थ होती है इसी भाव को श्री मैथिलीशरण गुप्त ने निम्न काव्य पंक्तियों में वद्ध किया है—

"आत्मघातिनी न हूंगी जानो उपवास इसे,
चारों ओर चित्त के कूड़ा-करकट जब होता है,
तब जठराग्नि की सहायता से उसको
दग्ध कर आत्मशुद्धि पाता उपवासी है,
साधारण अग्नि में ज्यों सोना शुद्ध होता है।'

मनुष्य प्रवृत्तिशील है। जैन धर्म के अनुसार प्रवृत्ति के तीन द्वार हैं— मन, वचन और काया। इनका सत्प्रयोग करना और दुष्प्रयोग न करना ही शुभाचरण के अन्तर्गत आता है। यह केवल अध्यात्म-सिद्धि के लिए ही आवश्यक नहीं है वरन् मानवीय जीवन के व्यावहारिक सन्दर्भों में इसका सर्वाधिक महत्त्व है। 'तीर्थंकर भगवान् महावीर' के रचयिता भी दशांग धर्म का निरूपण करते हुए कहते हैं—

धर्म क्षमा मार्दव आर्जव, सत शुचि संयम तप,
त्यागाकिंचन ब्रह्मचर्य मग, जग जाता ढप।

संप्रति इस शुभाचरण में बाधक एवं मन की चंचलता का प्रमुख कारण है तृष्णा। सुख-प्राप्ति की तृष्णा का नाश ही अक्षय सुख है। ययाति ने तृष्णा को 'प्राणान्तक रोग' कहा है। तृष्णा ही मन की चंचलता का कारण है अतएव 'तां तृष्णां त्यजतः सुखम्'' कामनाओं की दमनपूर्ति से एवं स्वर्ग के सुख की कल्पना जो सुख प्रदान करती है, वह तृष्णा के क्षय से प्राप्त सुख की मात्रा में अत्यल्प है—

यच्च काम सुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते, नार्हतः षोडषीं कलाम्॥

ऐन्द्रिक प्रतिक्रियाएं निरन्तर भंवर निर्माण करती रहती हैं और मन इसमें असहाय सा हो उलझता जाता है। जैन धर्म में इन अनिष्टकारी पदार्थों को व्रत एवं संयम द्वारा दूर करने का सिद्धांत रखा गया है। समस्त चित्तवृत्तियों को एकाग्र करके तथा समस्त इन्द्रियों को वशीभूत करके ज्ञान के आलोक में जब अन्तर आत्मा द्वारा अवगाहन किया जाता है, तब उसे परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मनः
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्वं परमात्मनः।

संयम व्यावहारिक जीवन में भी सफलता का चरम सोपान है। श्रीराम से जब विभीषण पूछते हैं कि हे भगवन्! आपके पास रावण से युद्ध करने हेतु न तो रथ है और न कवच। तब श्रीराम उत्तर देते हुए कहते हैं कि विजय जिस रथ से होती है वह रथ दूसरा ही है और विजय रथ का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका, सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका।
बल विवेक दम परहित घोरे, छमा कृपा समता रजु जोरे॥

शौर्य और धैर्य उस रथ के पहिए हैं, सत्य और शील (सदाचार) उसकी मजबूत ध्वजा और पताका है। बल, विवेक, दम (इन्द्रियों का वश में होना) और परोपकार ये चार उसके घोड़े हैं जो क्षमा, दया और समतारूपी रस्सी से

रथ में जुते हुए हैं। इस प्रकार जीवन के व्यावहारिक सन्दर्भों में ये ही गुण सफलता के द्योतक हैं।

इस प्रकार व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक जीवन में सफलता के चरम सोपान संयम एवं व्रत हैं। वास्तव में जैन धर्म ने मनुष्य में नैतिक मूल्यों का अभिसिंचन मनः प्रवृत्तियों के आंतरिक बदलाव द्वारा किया है और मनुष्य की संकीर्ण संवेदना, जो स्व के परिवृत्त में सीमित थी, उसे विस्तृत दृष्टि प्रदान कर व्रत और संयम जैसे अमूल्य रत्न प्रदान किए हैं।

—प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग, शहादा महाविद्यालय, शहादा (धुलिया)

सर्पिणी और काल

❀ **आचार्य श्री नानेश**

जब सर्पिणी के बच्चे पैदा होने का समय आता है तो वह अपने शरीर की कुंडली लगाकर, उस घेरे के बीच में बच्चे देती है। उसी समय उसे जोर से भूख लगती है। तब वह घेरे में रहे हुए बच्चों को खा जाती है, परन्तु संयोग से जो बच्चा घेरे से अलग हो जाता है, वह बच जाता है। ऐसी ही दशा इस काल रूपी सर्पिणी की है। इसके गोल चक्कर में जो फंसे हुए हैं, उनमें से कोई बिरला ही बच सकता है।

जिस प्रकार सर्पिणी का कोई बच्चा, उस कुंडली के आकार वाले घेरे से कूद जाय, अलग हो जाय, तो बच सकता है। इसी प्रकार काल रूपी सर्पिणी के द्वारा जो संसारी प्राणियों के जन्म-मरण का चक्कर चल रहा है, उस चक्कर से जो प्राणी कूद पड़ते हैं, अर्थात् श्रुत चारित्र धर्म को अंगीकार कर साधना के पथ पर बढ़ जाते हैं, वे काल-चक्र रूपी सर्पिणी से सर्वथा, सर्वदा के लिए हटकर परम मुक्त स्थान को प्राप्त कर लेते हैं।

कहानी–

सुमन हो, सुमन बनी रहो

❀ श्रीमती डॉ. शांता भानावत

प्रातःकाल टन-टन कर घड़ी ने सात बजाये। पृथ्वी ने अपनी अंधेरी काली चादर हटा ली थी। सूर्य ने अपनी स्वर्णिम किरणों का जाल पृथ्वी पर फैलाना प्रारम्भ कर दिया था। सुमन अपनी ऊनींदी आंखें मलती-मलती कमरे से लगी छत पर टहल रही थी। सोच रही थी पप्पू और गुड्डी को स्कूल जाना है। अरे, सात बज रही है। अभी बाबूजी के कमरे में चाय भी नहीं पहुंची। इन्हीं विचारों की उधेड़बुन में उसने अपने पांव कमरे की देहली पर रक्खा ही था कि एक कर्कश आवाज उसके कानों में पड़ी—अरे! क्यों खाते हो मेरे प्राण! इस घर में मैं नौकरानी बन कर नहीं आई हूं। बाबूजी के कमरे में चाय नहीं पहुंची तो मैं क्या करूं? जगाओ न अपनी लाड़ली बहन को। वो दे अपने बाप को चाय। मैं बच्चों को तैयार करूं, नहलाऊं-धुलाऊं, उनके लिए नाश्ता तैयार करूं, क्या-क्या करूं?

यह स्वर भाभी का था। आवाज सुन सुमन के पैर कुछ क्षण के लिए जहां थे वहीं जम गये। उसके कान चौकन्ने थे। फिर आवाज आई एक जोर का चांटा लगने की। रोने की आवाज से सुमन को लगा—यह आवाज तो गुड्डी की है। गुड्डी जोर-जोर से चिल्ला-चिल्ला कर रोती हुई कह रही थी मैं सुमन भुआ के हाथों से नहाऊंगी। भुआ तैयार करेगी मुझे। भुआ-भुआ आओ। मम्मी मारती है। गुड्डी का रोना अभी बंद भी नहीं हुआ था कि सुमन ने सामने देखा भाभी पप्पू को घसीट कर ला रही है। उनकी त्यौरियां चढ़ी हुई हैं। मुंह फूला हुआ है।

क्रोध में रणचण्डी बनी भाभी का वीभत्स रूप देख सुमन कमरे में से ही बोली—भाभी! भगवान के नाम-स्मरण की मंगल बेला में इतना क्रोध क्यों कर रही हो? मैं अभी आधे घंटे में सारा काम निपटा दूंगी। आप परेशान मत होओ।

सुमन के स्वरों में तो अमृत का सा मिठास था। पर भाभी में तो क्रोध का नाग फुफकार कर रहा था। नणद का यह कहना कि गुस्सा मत करो, यह बात उसे छोटे मुंह बड़ी बात लगी। उसने सुमन से साफ-साफ कह दिया—सुमन तुम मुझसे छोटी हो। छोटे मुंह बड़ी बात न करो। गुस्सा न करूं तो क्या करूं? इस उम्र में कितनी जिम्मेदारी है मेरे पर—अरे, तुम्हारी मां भी

तुमको छोड़ कर चली गई मेरी छाती पर। तुम्हारी कितनी बड़ी जिम्मेदारी मेरे पर। ब्याह-शादी करना हंसी खेल है क्या आज के जमाने में? तुम्हारे बाबूजी को देखो—जबसे तुम्हारी मां मरी है तब से वे किसी काम-धन्धे के हाथ नहीं लगाते। बताओ बैठे-बैठे खाने से तो भरी तिजोरियां भी खाली हो जाती हैं। फिर कम्बख्त बच्चे ऐसे कि मेरी बात ही नहीं सुनते। जब देखो भुआ-भुआ, दादा-दादी की रट लगाये रहते हैं। ऐसी परिस्थितियों में गुस्सा नहीं करूं तो क्या करूं? फूट गये करम मेरे तो। जाने कैसे मनहूस घर में आ गई मैं तो। मां–बाप के घर में तो खूब राज किया, आठ बजे सोकर उठती, चाय-नाश्ता, न्हाना-धोना, खाना-पीना, कॉलेज, क्लब,पार्टी, घूमना, फिरना, मौज-शौक। और यहां काम काम काम।

भाभी के मुंह से वाक्य के तीर बिना किसी नियंत्रण के छूटते जा रहे थे। सुमन बिना कुछ प्रतिक्रिया किये कमरे से रसोई घर में पहुंची। बाबूजी के लिये जल्दी से चाय बनाई। बच्चों को तैयार कर स्कूल भेजा। तभी उसे लगा—भैया उठकर अभी अपने कमरे से बाहर नहीं आये हैं। उसने मन ही मन सोचा आज की ये सारी बातें मैं भैया को बताऊंगी। तभी उसे भैया सुरेश सामने खड़े दिखाई दिये। वे कह रहे थे—सुमन! आजकल तुम बहुत देर से उठने लग गई हो। जल्दी उठा करो। तुम देर से उठती हो तो तुम्हारी भाभी को गुस्सा आता है, उसे टेंशन हो जाता है फिर बेचारी पर जिम्मेदारी भी कितनी। अरे, तुम्हारी शादी की चिन्ता में उसे रात-रात भर नींद नहीं आती। बाबूजी का रात भर खांसना, उनके इलाज का खर्चा, ऊपर से बढ़ती हुई मंहगाई। बाप रे बाप! हमारी भी कोई जिन्दगी है।

सुमन के मन-मस्तिष्क में विचारों का तूफान उमड़-घुमड़ रहा था पर जबान को उसने मुंह में बन्द कर लिया था। वह कह देना चाहती थी—मेरी शादी का भार तुम पर कौनसा पड़ने वाला है। मां ने अपना सारा जेवर भाभी को ही तो दिया था और कहा था—आधा जेवर सुमन के लिये है। बाबूजी ने भैया की पढ़ाई-लिखाई पर कितना पैसा खर्च किया था। अपनी सारी तनखा इलाहबाद भैया को ही भेजते थे। मां से कहते—फालतू खर्चा मत करो, अपना सुरेश पढ़-लिख कर काबिल बन जायेगा तब उसके पैसे से खरीद लेना सामान। फिर बाबूजी की पेंशन, ग्रेच्युटी, पी.एफ. सब कुछ तो है।

भाभी और भैया की लोभ-प्रवृत्ति दिन पर दिन बढ़ती जा रही थी। सुमन इस बात को बराबर महसूस करती थी। कोई महिना ऐसा नहीं जाता जिससे वह पांच सौ सातसौ की नई साड़ी नहीं खरीदती हो। गुड्डी की नई फ्राक, पप्पू के नया सूट और भैया के नित नई डिजाइन के पेंट, शर्ट। बाबूजी ने मां के जाने के बाद एक भी नया कपड़ा नहीं सिलवाया था। पुराने कुर्ते पजामे फटने लग गये थे। कई बार सुमन ने भैया-भाभी को बाबूजी के लिये कपड़े

लाने की याद भी दिलायी पर सदैव अभी देर हो रही है, बाद में लायेंगे कह कर टालते जाते।

सुमन अपने मन में उठ रहे विचारों को भाभी के सम्मुख रख देना चाह रही थी। तब तक भाभी रसोई घर का काम सुमन पर छोड़ अपने कमरे में जा चुकी थी। गैस पर दाल का कुकर चढ़ा सब्जी सुधारती सुमन भाभी के कमरे की तरफ गई।

बाहर से उसने सुना कमरे से भाभी के जोर-जोर से रोने की आवाज आ रही थी। मुझे मेरे पीहर भेज दो, मम्मी, पापा की बहुत याद आ रही है। मम्मी मुझे बहुत प्यार करती थी। मैं कितना ही गुस्सा करती, रोती चिल्लाती, बड़बड़ाती, मम्मी कुछ नहीं कहतीं। मेरी फरमाइश पर हजारों रुपये यूं ही लुटा देती। कभी थोड़ा सिर भी दुखने लगता तो डॉक्टर सिरहाने-पैंताने खड़ा रहता। और आगे वे कह रही थीं—यहां तुम मेरी बिल्कुल चिन्ता नहीं करते। देखो उस छोकरी सुमन को, जब देखो तब उपदेश देती रहती है। 'भाभी! धीरे बोलो गुस्सा मत करो। टेंशन से बीमारियां बढ़ी हैं। कह देना उसे मुझसे बात नहीं करे। छोटे मुंह बड़ी बात मुझे नहीं पसंद है। मेरी बहन मोण्टू को बुला दो ना यार....यहां। जिन्स टापर में क्या जंचती है वह। तुम्हारी बहन तो उसके सामने बुध्दू लगती है, पूरी बुध्दू। बातें करेंगी तो दादी अम्मा जैसी और मेरी बहन पूरी मोड। क्या उसके डायलोग्स ?

भाई-भाभी की बातें सुमन नहीं सुनना चाह रही थी पर भाभी के तेज स्वर-बाण रह-रह कर दूर खड़ी सुमन के हृदय पर आघात पहुंचा रहे थे। उसके हाथ से सब्जी का थाल गिरने वाला था। इस घर में उसे कोई प्राणी ऐसा नहीं लगा जो उसके आहत हृदय पर राहत का मरहम लगा सके। वह एक बार बाबूजी के पास जाकर उनकी छाती से लग कर अपने हृदय को हल्का करना चाहती थी पर उसे लगा मां के जाने के बाद वे स्वयं गुमसुम अधिक रहने लग गये हैं। उनसे ये सारी बातें कहने पर वे और दुःखी होंगे। उसे याद आया—मेरा धर्म किसी का दुःख बढ़ाना नहीं, हल्का करना है।

सुमन रसोई में गई जलती हुई गैस को बन्द कर अपने कमरे में बिस्तर पर जाकर लेट गई। उसे लग रहा था भाभी की कतरनी सी जबान उसके कलेजे को काट रही है। तभी उसे महसूस हुआ कोई हाथ उसके माथे को सहला रहा है। कहीं से आवाज आ रही है—बेटी सुमन! व्यर्थ का चिन्तन न करो, उठो अपना कर्त्तव्य निस्वार्थ भाव से निभाओ। बच्चे स्कूल से आते होंगे। बाबूजी भूखे होंगे। भाभी को सम्भालो।

'सुमन बुद्धू है, बड़ी-बुढि औरतों सी बातें करती है। मेरे पर भार है' जैसे शब्द बाणों से आहत सुमन ने एक बार तो सोचा—अब वह भाभी के पास

नहीं जायेगी, नहीं बोलेगी। पप्पू और गुड्डी की भी उसे गरज नहीं। भैया मरजी हो तो मुझसे बात करें, बोलें, नहीं तो मुझे उनकी भी परवाह नहीं। भाभी भले ही पीहर जायें, कहीं भी रहें, मेरी बला से में और बाबूजी अलग रह सकते हैं।

फिर वही आवाज सुमन को कानों में सुनाई देती है—'बेटी जोड़ना मुश्किल है, तोड़ना सरल है। स्वार्थ से परमार्थ की ओर बढ़ो, मन मैला न करो, सुमन हो, सुमन बनी रहो।

सुमन को लगा—यह आवाज मां की है। यह मधुर स्पर्श मां का है। मां की आज्ञा का पालन करना मेरा कर्त्तव्य है। बिना प्रमाद किये उसने अपना बिस्तर छोड़ दिया। मन से कलुषित विचार हट गये थे। अब उसका मन दर्पण की भांति चमक उठा था। जहां न कोई राग था, न द्वेष, न क्रोध था न माया–लोभ। रसोई घर में जाकर उसने कूकर खोला। दाल बन चुकी थी। सब्जी छोंक कर वह चावल साफ करने में लग गई। भाभी के बिना रसोई में उसका मन नहीं लगा। उसने सोचा—भाभी जैसी भी है, मेरी है। मेरा होगा वही तो मुझे कुछ कहेगा। बड़ी हैं, कुछ कहें तो कहने दो। कहने से उनके भी मन की भड़ास निकल जायगी। शादी के बाद वे कमजोर भी बहुत हो गई हैं। तभी उसे लगा—भैया भाभी को दिखाने डॉक्टर को लेकर आये हैं।

सुमन रसोई का काम छोड़ भाभी के कमरे में पहुंची। डॉक्टर कह रहे थे—सुरेश ! तुम्हारी पत्नी बहुत ऐनेमिक है। ब्लड प्रेशर लो है। इसको ब्लड की आवश्यकता होगी। अस्पताल में भर्ती करवाना होगा, खून चढ़ेगा। सुरेश सोच में पड़ गया। खून कौन देगा ? परिवार में अकेला। पिताजी वृद्ध हैं, बच्चे छोटे हैं। भैया को चिन्ता में देख सुमन उसके मन की बात समझ गई। भैया ! भाभी के लिये खून में दूंगी। खून की जांच हुई। दोनों का ब्लड ग्रुप मिल गया। सुमन का खून भाभी को चढ़ने लगा। जैसे–२ सुमन के रक्त की बूंदें भाभी के शरीर में जा रही थीं, वह नई शक्ति और शांति का अनुभव कर रही थी। उसे लग रहा था—जैसे गरजती–उफनती समुद्र की लहरें शांत हो गई हैं। मन में उठ रहा वैचारिक अंधड़ समाप्त हो गया। उसके चेहरे पर तेज बढ़ रहा था। उसके शांत हृदय–सरोवर में समता के कमल खिल उठे। तुम मां हो, जीवनदायी हो, तुम बोझ नहीं मेरी शक्ति हो, जीवन पथ का शूल नहीं फूल हो।

—प्रिंसीपल, श्री वीर बालिका कॉलेज, जयपुर–३

मन का संयम

❀ श्री मदनसिंह कूमट

विद्वानों के मत से संयममय जीवन अनुकरणीय है तथा असंयमित जीवन त्याज्य है। क्यों ? कभी भी कोई वस्तु या सिद्धान्त उपयोगी कब व्यक्त किया जाता है और अनुपयोगी कब व्यक्त किया जाता है ? अनुभवों एवं प्रयोगों से जो स्थितियां जनहित की अनुभव की जाती हैं, उन्हें उपयोगी एवं अनुकरणीय व्यक्त किया जाता है और जो कृत्य अहितकारी होते हैं व जिनसे परिवार, समाज व जनसमूह में कलह या विघटन या अस्तित्व के विपरीत स्थितियां उभरती हों, उन्हें अनुपयोगी व्यक्त कर त्याग करने की प्रेरणा दी जाती है।

मन, वचन एवं कर्म ये तीन योग जीवन के संचालन में प्रमुखता रखते हैं। इन तीनों में मन का योग प्रमुख है। यह कहा जाता है कि यदि मन वश में हो जाता है तो मनुष्य अपने को बहुत सुखी महसूस करता है। मन चंचल होने पर अनेक दुखों की उत्पत्ति कही गई है। मन की गति विचित्र है, यह बिना पैरों एवं पंखों के ही कई स्थानों का भ्रमण कर आता है व उड़ान भर लेता है। शरीर यहां रहते हुए भी वह अपनी गति कई स्थानों पर कर लेता है, इसके कारण ही इन्द्रियों में चंचलता आती है और वाणी एवं शरीर में भी चंचलता दृष्टिगत होती है। कहते हैं कि मन एक बलिष्ट घोड़े की तरह है। यदि इसे काबू करके इसकी सवारी की जावे तो यह लक्ष्य की ओर पहुंचाने में सहयोगी होता है और यदि बेकाबू स्थिति में सवारी होती है तो इस पर बैठने वाले की दुर्दशा ही होती है। किसी कवि ने इनका स्थिति को यों भी व्यक्त किया है—

मन लोभी, मन लालची, मन है बड़ा चकोर।
मन के मते न चालिये, मन पलक–पलक में और।।

यदि मन नियमित नहीं है तो फिर उसकी सवारी खतरनाक ही सिद्ध होती है। अनियमित मन वाला स्वयं के जीवन को तो क्लेशमय बनाता ही है, वह अपने अड़ौस-पड़ौस और समाज को भी प्रभावित करता है तथा इस प्रकार खतरे का चिह्न बन जाता है। कषायों की वृद्धि मन के कारण ही होती है। मन में लोभ जागृत होता है तो उसकी पूर्ति के लिये मनुष्य इष्ट-अनिष्ट सोचे बिना ही इसकी पूर्ति में लग जाता है, वह व्यवस्था को भी बिगाड़ कर अपने लालच की पूर्ति करने का प्रयास करता है। लोभ के वशीभूत हो कपट करने को उद्यत हो जाता है। इस प्रकार जब मन एक कषाय में प्रवृत्त होता है तो उसे दूसरी कषाय का भी आश्रय लेना पड़ता है। दोनों कषायों के कारण तीसरी कषाय मान का भी उभार होता है और उसके संरक्षण के लिये क्रोध कर चौथी कषाय को भी धारण करता है। इस प्रकार लोभ एक कषाय है जहां से उसने प्रारम्भ किया

और माया का सहारा ले उसकी पूर्ति करने पर मन जाग्रत हुआ और उसी के लिये वह क्रोध भी करने लगता है। यह स्थिति मन के असंयमित होने पर ही होती है।

यह देखा गया है कि यदि अग्नि, जल, वायु ये भी सीमा से बाहर हों तो खतरनाक बन सकते हैं। अग्नि चूल्हे तक सीमित है या जिस सीमा तक उसकी आवश्यकता है, वहां तक सीमित है तो उसकी शक्ति कई प्रकार से लाभकारी है और ऐसी स्थिति में वह स्तुत्य है। यदि सीमा छोड़ कर वही अग्नि आगे बढ़ती है तो विनाश का दृश्य उपस्थित कर देती है, चारों ओर हाहाकार मच जाता है और उसके शमन के लिये जल व अन्य पदार्थ जो इसे शान्त कर सकें, का उपयोग किया जाता है। ऐसी ही जल और वायु की भी स्थिति है। जब तक ये संयम में हैं, अपनी आन में हैं, तब तक तो वे जीवनदायी हैं, उनसे जीवन को विकास की राह मिलती है और यदि इसके विपरीत वे सीमा से बाहर हो जायें तो प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देते हैं, प्राणदायी के स्थान पर ये प्राण-विनाशक बन जाते हैं।

अग्नि, जल, वायु जो एकेन्द्रिय जीव की स्थिति के हैं, वे यदि असंयमित हों तो प्रलय हो जाता है। एक इन्द्रिय के असंयमित होने पर विनाश की स्थिति के और भी अनेक उदाहरण विद्वानों ने दिये हैं। स्पर्शेन्द्रिय के संयमित नहीं होने से हाथी अपनी जान खो बैठता है, घ्राणेन्दिय की असंयमित स्थिति में भंवरा अपने प्राण गंवा देता है, रसना इन्द्रिय के वशीभूत होने से मछली मृत्यु की ग्राहक बन जाती है तो श्रोत्रेन्दिय के वशीभूत मृग अपने प्राण खो देता है एवं चक्षुइन्द्रिय के संयमित नहीं रहने से पतंगा अपने को अग्नि के हवाले कर देता है। एक-एक इन्द्रिय के अधीन होने पर प्राणी अपने लिये मरण का वरण कर लेते हैं तो पांचों इन्द्रियां यदि असंयमित हुई तो निश्चय ही शीघ्र विनाश है। और यदि पंचेंन्द्रिय जीव मन वाला मनुष्य सकल रूप में असंयमित हो जावे तो स्थिति अकल्पनीय ही होगी। सामाजिक व्यवस्था में ऐसी अकल्पनीय स्थिति उत्पन्न न हो, इसी के लिये ऋषियों-मुनियों ने चिन्तन के साथ धर्म को जीवन का अंग बनाने का उपदेश दिया, इसी के माध्यम से सुखमय जीवन जीने का मार्ग प्रतिपादित किया। मन, वाणी, कर्म के संयमित होने में विकास की स्थिति व्यक्त की।

मन के संयम से वाणी एवं कर्म को संयमित किया जा सकता है। 'ज्ञानार्णव' के एक श्लोक में व्यक्त किया गया है कि यदि एक मन को संयमित कर लिया जावे तो समस्त अभ्युदय सध जावेंगे। यह अनुभव सिद्ध बात है कि जितने भी योगीश्वर हैं और जिन्होंने तत्त्व निश्चय को प्राप्त किया है, उन्होंने मनोरोध का आलंबन लिया है—

एक एव मनोरोधः, सर्वाभ्युदय साधकः।
यमेवालम्ब्य संप्राप्ता, योगिनस्त ख निश्चयम्॥

सी. १३/१५ एजेन्सी डाकघर के सामने, जोधपुर

समता एवं सम्यक्त्व दर्शन

❀ श्री रणजीतसिंह कूमट

समता को जैन दर्शन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। समता को धर्म का मूल और मोक्ष-मार्ग का साधन माना है। साथ ही समता शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है और इसके कई पर्यायवाची शब्द काम में आये हैं जिनसे कुछ भ्रम भी उत्पन्न होता है कि समता का सही अर्थ क्या है? सम्यक्त्व, संतुष्टि, समदृष्टि, संतुलन, समानता, संयम आदि कई शब्द हैं जो समता के पर्यायवाची के रूप में काम में लिये गये हैं।

अब प्रश्न यह है कि इन शब्दों का सही अर्थ क्या है? क्या ये शब्द वास्तव में पर्यायवाची हैं या इनमें अर्थभेद है? इनका वास्तविक अर्थ क्या है और किस प्रकार ये आध्यात्मिक व व्यावहारिक जीवन में प्रासंगिक हैं और किस प्रकार सुखी जीवन बिताने में मदद करते हैं।

समता का अर्थ सम्यक्त्व से किया जाता है। सम्यक् शब्द का अर्थ "पूर्ण" से लिया है। सम्यक् का अर्थ यह भी ले सकते हैं जो एकान्त दृष्टिकोण नहीं रखता। जो चीज एकान्त दृष्टिकोण से देखी जाती है वह पूर्ण नहीं है। इसीलिये अनेकान्त को जैन दर्शन में केन्द्र स्थान मिला है। सत्य के अनेक रूप होते हैं और सब दृष्टिकोणों से सत्य को देखकर समझ पाने की शक्ति को सम्यक् ज्ञान कहा है। जो चीज जैसे है, उसको वैसी ही जानना सम्यक्दर्शन है। हम अपनी दृष्टि को संकीर्ण न कर व्यापक बनायें, एकान्त की बजाय अनेकान्त का दर्शन करें। और सत्य के अनेक रूपों को पहचानें, यही सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन है। यही सम्यक्त्व या समता है। इसके विपरीत व्यवहार में व कई आचार्यों के कथनों में यह उल्लेख आया है कि जो जिनवाणी पर विश्वास करें व सद्गुरु, सुदेव का आराधन करें वे सम्यक्त्वी है और शेष मिथ्यात्वी हैं। जब यह प्रश्न उठता है कि सुगुरु कौन? कोई तथाकथित वस्त्रधारी को सुगुरु बताता है तो कोई अन्य को। यह परिभाषा सम्यक्त्व की भावना से दूर ही नहीं नितान्त विपरीत है। जितने झगड़े इस प्रकार के विवेचन से हुए हैं, उतने अन्य किसी बात से नहीं हुए। सम्यक्त्व का सीधा व सच्चा अर्थ सत्य की स्वीकृति है और सत्य अनेक पक्षीय होता है। अतः सब पक्षों को जानना, समझना व आदर देना ही सत्य से साक्षात्कार है। यही अनेकान्त है जो महावीर के संदेश का अभिन्न अंग है।

सम्यक्त्व "सत्य" के दर्शन में है। 'समण सुत्त' में आचार्य कुन्दकुन्द का यह पद आया है—

"णाणाजीवा णाणाकम्मं, णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहिं वज्जिज्जो।।

भांति-भांति के जीव (हैं), भांति-भांति का (उनका) कर्म है तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की (उनकी) योग्यता होती है, इसलिये स्व-पर मत से वचन-कलह को (तुम) दूर हटाओ।

जब हम सम्यक् दृष्टि बनेंगे तो सब अन्य मत व धारणाओं के प्रति उदार दृष्टि बनेगी, उनके पक्ष को समझने की शक्ति आवेगी। यही हमारे में समता लायेगी। सब के प्रति आदर की दृष्टि याने सम-दृष्टि।

आचार्य उमास्वाति ने जब यह उद्घोष किया "सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः," तब उनका सम्यग्दर्शन व ज्ञान से तात्पर्य, नव तत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष। या संक्षेप में दो तत्त्व जीव व अजीव में श्रद्धा व उनकी जानकारी से था। जीव और अजीव की आपसी क्रिया एवं प्रतिक्रिया से यह संसार है और उनकी प्रतिक्रिया के स्वरूप को जानना व श्रद्धा करना सम्यक्त्व है। जिसने इस संसार-रचना के मूल को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया और जानकारी के बाद अपने पुरुषार्थ से इस चक्र से निकल जाता है। जब तक वह मूल स्वरूप को न समझकर वस्तु-जाल में दिग्भ्रमित हो घूमता है, तब तक वह संसार-चक्र में आवर्तन करता है। इस दृष्टि से सम्यक्त्व का अर्थ आत्मा व इससे जुड़े कर्म एवं वस्तु स्वरूप को जानना व उसमें श्रद्धा करना है।

जीवादी सद्दहणं सम्मतं जिणवरेंहि पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो, अप्पाणं हवई सम्मतं॥ (दर्शन पाहुड)

अर्थात् व्यवहार से जीव आदि (तत्वों) से श्रद्धा सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) (है), निश्चय से आत्मा ही सम्यक्त्व होती है। (ऐसा) अरहंतो द्वारा कहा गया (है)।

संतोष : समता का अर्थ जब संतोष से लेते हैं तो बाहरी वस्तुओं धन-परिग्रह आदि के संग्रह में संतोष से किया जाता है। जब तक धन-संग्रह से संतोष नहीं होगा, अध्यात्म की ओर व्यक्ति प्रवृत्त हो ही नहीं सकता। जब तक व्यक्ति धन के पीछे भागेगा, धन उसे और अधिक भगायेगा। अपनी परछाई को पकड़ने की तरह परछाई के पीछे भागता रहेगा। इस भाग-दौड़ में अपने जीवन का रहस्य कभी नहीं समझ पायेगा। क्यों, उसने जन्म लिया, क्या उनके जीवन का उद्देश्य है? क्या धन एकत्र करना ही उसका उद्देश्य है? यदि हां, तो क्या वह इस धन को अपने साथ ले जायेगा? यदि नहीं तो धन किस लिये? जब यह प्रश्न पूछेगा तभी वह मोड़ लेगा और जीवन के सही अर्थ समझने की कोशिश करेगा। जिस दिन यह सही दृष्टि आयेगी उसी दिन समता आयेगी।

सुवण्णरूप्पस्स उ पव्वया भवे सिया हु केलास समा असंख।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा आगाससमा अणंन्तिया॥

अर्थात् लोभी मनुष्य के लिये कदाचित् कैलाश (पर्वत) के समान सोने-चांदी के असंख्य पर्वत भी हो जायें, किन्तु उनके द्वारा (उसकी) कुछ (भी) तृप्ति नहीं (होती है) क्योंकि इच्छा आकाश के समान अन्त रहित होती है। इसीलिये कवि ने कहा—

गोधन, गजधन रत्नधन, कंचन खान सुखान ।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि-समान ।।

कभी-कभी, संतोष का अर्थ यह होता है, जो है उसमें संतोष करें इसमें एक खतरा अवश्य है । इससे मेहनत न करने व तकदीर पर भरोसा कर व भाग्यवादी बनने का डर है । पूर्व कर्म-फल समझकर अन्याय को सहना य भविष्य में विश्वास कर कर्म या मेहनत न करें, यह संतोष का अर्थ नहीं है कर्म तो करना है परन्तु इसके फल के प्रति व्यग्रता नहीं हो, तब ही शांति समता बनी रह सकती है । कर्म न करना क्योंकि फल मिलेगा या नहीं मिलेग अथवा फल जो होगा भाग्यानुसार मिलेगा यह वृत्ति वांछनीय नहीं है और न ह संतोष या समता का सही अर्थ है । समता का सही अर्थ है कि फल कुछ भी हो, म समता में रहे या अविचलित रहे ।

कई बच्चे परीक्षा में फेल होते हैं और आत्महत्या कर बैठते हैं । अपन कड़ी मेहनत पर भी सफलता न मिलने पर निराशा होनी स्वाभाविक है परं फल के पीछे जितना चिपकाव होता है, उतना ही गहरा धक्का लगता है । यं कर्म में गहरा विश्वास है और फल के प्रति इतना चिपकाव नहीं है तो असफल को भी संतोष भाव या समता से सहन किया जा सकता है । हर हार को अग जीत का अवसर माना जा सकता है ।

समता दृष्टि :

समता का एक और अर्थ है समभाव या समदृष्टि । जो खराब व्यक्ति निंदक या दुष्ट, उसके प्रति भी और जो प्रशंसक या मित्र है उसके प्रति भी प्रेम या करुणा भाव होना । इस प्रकार का समभाव होने पर दुष्ट या निंदक समतावान घबरायेगा नहीं या उनके प्रति द्वेष भाव नहीं लावेगा । इसी प्रका जो प्रशंसा करता है उसके प्रति राग भाव नहीं आयेगा । ऐसी साम्य भावन जिसमें आ गई है वह कठिन परिस्थिति से भी दुःखी नहीं होता और अच्छ परिस्थिति में अपने आपको खो नहीं देता । सब शत्रु-मित्र पर समभाव होन समता का सार है । ऐसी स्थिति में पहुंचने के लिये अहम् के प्रति जो गहरा चिप काव है उससे मुक्ति पाना आवश्यक है ।

हमारी आत्मा का वास्तविक शत्रु और मित्र और कोई नहीं है, श और मित्र हम स्वयं हैं । जो भी हमारी निन्दा करता है उससे आहत इसलि होते हैं कि हमारे अहं पर आघात होता है, प्रशंसा से इसलिये खुश होते हैं कि अह का पोषण होता है । यह अहं ही हमारे दृष्टिकोण को बदलता है और हमें किस को शत्रु व किसी को मित्र के रूप में देखने के लिये मजबूर करता है । जितन अहं से चिपकाव उतनी ही हमारी समता से दूरी है ।

जिसने शत्रु और मित्र को समभाव से देखना प्रारंभ कर दिया, वह

वीतराग हो गया, वही भगवान हो गया। इसीलिये कहा—'समदृष्टि है नाम तुम्हारो।' भगवान जो होगा समदृष्टि ही होगा। वह किसी के प्रति खुश या अन्य के प्रति नाराज नहीं हो सकता। वीतराग स्थिति अन्तिम स्थिति है। राग और द्वेष से ऊपर उठकर समभाव में स्थित हो जाना समता की चरम स्थिति है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण–संतुलन :

वीतराग स्थिति प्राप्त हो उसके पूर्व समता का रूप संतुलन में है। हमारे जीवन में कितना संतुलन है, इसी से समता की कोटि या श्रेणी निर्धारित होगी। जिनेन्द्रवर्णी के शब्दों में "समता शुद्ध हृदय का भाव है और विषमता मलिन हृदय का।" शुद्ध हृदय की स्फुर्णायें हैं–क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शील, तप, त्याग, अकिंचन और ब्रह्मचर्य अर्थात् दशलक्षण धर्म। मलिन हृदय की स्फूर्णायें हैं—कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ। इन दो विपरीत धुरियों के बीच मन रमण करता है। जब विषमता में होता है तो कषाय प्रवृत्ति विशेष बलवती होती है और जब समता में होता है तो शुद्ध हृदय के भाव अर्थात् क्षमा बलवती होती है। जिसने कषायों पर विजय पा ली वह हमेशा शुद्ध भाव में रहेगा और वह समता की अन्तिम श्रेणी में होगा अर्थात् वीतराग होगा। इसके विपरीत जिसमें क्षमा आदि का कोई अंश नहीं है, वह घोर कषाय की स्थिति में होगा और विषमता में ही पूरा जीवन बितायेगा। परन्तु संसारी जीवन में न तो कोई हमेशा समता में रहता है और न कोई हमेशा विषमता में। वह कुछ समय या कुछ अंशों में समता में हैं और कुछ अंशों में विषमता में।

व्यक्ति इन दो धुरियों के बीच संतुलन बनाने की कोशिश करता है और जो अधिक संतुलित होता है वह उतना ही सुखी महसूस करता है और जो विषमता की ओर अधिक झुका होता है, वह अधिक दुःखी रहता है। अपने आवेशों (Passions) क्रोध, मान, माया, लोभ तथा संज्ञाओं (Instincts) यथा—आहार, भय, मैथुन; पर जब व्यक्ति नियंत्रण या संयम तथा शुभ भावों अर्थात् मैत्री, अनुकम्पा, समन्वय आदि का फैलाव करता है तब जीवन में चरित्र प्रकट होता है, जीवन समता में होता है। समता में जितना समय बीता वह सुखी जीवन और जितना विषमता में वह दुःखी जीवन। हम अपने व्यावहारिक जीवन में अनुभव कर सकते हैं कि जो अति क्रोध, अति मान या अति लोभ में जीवन विताते हैं वे कितने दुःखी होते हैं परन्तु जो संयमित रूप से जीते हैं वे कितने सुखी होते हैं। इसीलिये कहा है "धम्मो मंगल मुक्किठं, अहिंसा संजमो तवो" अर्थात् मंगल और मुक्ति का धर्म अहिंसा, संयम और तप है। यह दशवैकालिक सूत्र की गाथा है। केन उपनिषद् की इस गाथा पर ध्यान दें—

"तस्य तपौ दमः कर्मेति प्रतिष्ठा, वेदाः सर्वांगनि सत्यमायतनम्"

अर्थात् संयम, तप और कर्म इस अनन्त ज्ञान का आधार है और सब वेद इसके अंग हैं और सत्य इसका घर है।

अनन्त ज्ञान या ब्रह्म या अनन्त सुख जिसकी खोज में जाना इस आत्मा का चरम लक्ष्य है, उस ज्ञान का मूल आधार संयम, तप और कर्म है तथा जिसने इस सत्य को जान लिया वह सब बुराइयों से दूर होकर अनन्त स्वर्ग में अपने आपको प्रतिष्ठित कर लेते हैं। दशवैकालिक और केन उपनिषद् की इन दो गाथाओं में कितना साम्य है, यह स्पष्ट है। संयम का अर्थ है—अहम् पर नियन्त्रण या स्वयं पर विजय (Self Conquest)। हम अपने आवेशों पर और संज्ञाओं पर जो नियन्त्रण करते हैं वह संयम है और जो त्याग करते हैं वह तप है। इससे उदित होता है कर्म, अनुकम्पा, सेवा, अहिंसा और सत्कर्म। अतः संयम, तप और सेवा में रमण ही समता है।

सामाजिक संदर्भ :

समता का आज के विषम सामाजिक संदर्भ में एक और गूढ़ अर्थ है और वह है—समानता (Equity) व न्याय (Justice)। ये सिद्धान्त आज हमारे संविधान के मुख्य अंग हैं। संविधान की घोषणा है कि—बिना किसी जाति, लिंग, धर्म व वर्ण के भेदभाव के, सबको समानता का हक होगा और सबको आर्थिक, सामाजिक, कानूनी न्याय का भी हक होगा। इस उद्घोषित समानता और न्याय की आज कितनी वास्तविकता है, इसकी चर्चा करना यहां आवश्यक नहीं परन्तु समाज के उद्भव एवं विकास के लिये यह समानता और न्याय अत्यंत आवश्यक है, इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। भगवान् महावीर ने इस सामाजिक संदर्भ में समता की उद्घोषणा की और कहा—जाति से कोई ऊंचा या नीचा नहीं है। जाति से ब्राह्मण नहीं बल्कि कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण हो सकता है। भगवान् महावीर ने गुलामी, पशु-संहार, जाति-भेद, आदि ज्वलंत समस्याओं पर सीधा प्रहार कर सामाजिक समानता के मूल्यों की स्थापना की। आर्थिक विषमता जब तक रहेगी, सामाजिक समानता स्थापित हो ही नहीं सकती इसीलिये अपरिग्रह के सिद्धान्त को सर्वोच्च महत्त्व देते हुए महावीर ने कहा कि अपनी इच्छाओं और धन-संग्रह की लालसा पर सीमा लगाओ और एक सीमा से अधिक धन को समाज के विकास में लगाओ, दान दो। दान के महत्त्व को उजागर करते हुए छोटे और गरीब व्यक्तियों द्वारा अपनी कमाई के तुच्छ हिस्से के दान को करोड़ों सौनैया के दान से ऊपर बताया। अपरिग्रह की भावना जब तक समाज के सभी सदस्यों में व्याप्त नहीं होती आर्थिक समानता का आधार नहीं बनता। जब तक आर्थिक समानता नहीं तब तक सामाजिक व आर्थिक न्याय की कल्पना एक विडंबना मात्र है।

वैचारिक स्वतंत्रता भी समाज की समानता का आधार है। इस दृष्टिकोण से समानता और समन्वय के लिये अनेकांत मूल आधार बनता है। कोई

किसी के विचारों से सहमत हो या नहीं परन्तु दूसरे के विचारों में निहित सत्य को जानने की उदार भावना प्रत्येक में होनी चाहिये। इससे सहिष्णुता की भावना जगेगी और दूसरे व्यक्ति के विचारों के प्रति जब साम्य और आदर भाव होगा तो व्यवहार में भी समानता स्थापित होगी। यदि असहिष्णुता और कटुता है एकांगी विचारधारा पर चलने की प्रथा है तो न केवल वैचारिक स्तर पर भेद-भाव और कटुता होगी वरन् व्यवहार में हिंसा और वैमनस्य होगा। विचारों में अनेकान्त दृष्टिकोण व्याप्त होने पर व्यवहार में अहिंसा स्वतः ही प्रकट होगी। वास्तव में विचारों में अति कटुता, गहन रोष और असह्यता होने पर ही व्यवहार में हिंसा प्रकट होती है और यदि यह कटुता और रोष वैचारिक स्तर से निकल जाये तो हिंसा गायब हो जाती है। अतः जिस 'अहिंसा परमो धर्मः' की उद्घोषणा भगवान् महावीर ने की उसका वैचारिक आधार अनेकान्त है और सामाजिक आधार अपरिग्रह। जब तक ये आधारभूत शर्तें पूरी नहीं होतीं जीवन में वास्तविक अहिंसा स्थापित नहीं हो सकती। चींटी न मारने या पानी छान कर पीने की अहिंसा स्थापित हो सकती है परन्तु वास्तविक अहिंसा जो करुणा, सेवा, सहानुभूति, सहिष्णुता और समभाव में समाहित है, वह बिना अनेकान्त और अपरिग्रह के स्थापित नहीं हो सकती। सामाजिक समनता और समानता के बिना व्यक्तिगत समता सम्यक्त्व या सन्तुलन प्राप्त हो ही नहीं सकता। कोई व्यक्ति चाहे कि सारा समाज कितना ही दुःखी रहे वह अपने सुख में मस्त रहे तो यह कभी संभव नहीं। कोई आग में रहकर आग का ताप प्राप्त न करे, यह असंभव है। उक्त व्यक्ति स्वयं के मोक्ष की कामना करने से पूर्व सबके सुख और कल्याण की कामना करे व उन्हें सुखी करने का प्रयास करे तब ही स्वयं सुख प्राप्त कर सकता है।

इस संदर्भ में महर्षि अरविन्द ने लिखा है—

The salvation we seek must be purely internal and Impersonal, it must be the release from egoism, the unity with the devine, the realisation of our universality as well as our transcendence and no salvation should be valued which takes us away from the love of god in his manifestation and the help we can give to the world. If need be it must be taught for a time "Better this hell with our other suffering selves than a solitary salvation." P–189 The Upnishads

अर्थात् जिस मुक्ति की हम खोज में हैं वह शुद्ध रूप से आन्तरिक एवं अवैयक्तिक होनी चाहिये। इसका अर्थ अपने अहं से मुक्ति और परम तत्त्व से मिलन होना चाहिये। यह अनुभूति हो कि हमारा व्यापक एवं सत्य रूप क्या है और निरन्तर परिवर्तन रूप क्या है कोई भी मुक्ति, जो ईश्वर के प्रकट रूप से और विश्व को जो कुछ हम दे सकते हैं उससे दूर ले जावे, उस मुक्ति को कोई

अहमियत नहीं दी जानी चाहिये। यदि आवश्यकता हो तो कुछ समय के लिये यह शिक्षा भी दी जाये कि—

"अकेले मुक्ति की बजाय अपने सब दुःखी साथियों के साथ इस नर्क में रहना ज्यादा अच्छा है।"

—श्री अरविन्द

समता पत्थर की समता नहीं है, जो न बोलता है न अनुभव करता है। समता और जड़ता में रात-दिन का फर्क है। जीवन्त समता में चेतना है, क्रिया, गतिशीलता और संतुलन है। पत्थर की समता में है जड़ता, निष्क्रियता और निश्चेतनता। राग-द्वेष को जीतना या वीतरागता का अर्थ पत्थर बनना नहीं वरन् अपने आवेशों पर नियन्त्रण करना है। अपनी जागरूकता व विवेक को बढ़ाना है जिससे हम संस्कारों और प्रतिक्रिया के जीवन से ऊपर उठकर विवेकपूर्ण जीवन जी सकें। विवेक और जागरूकता से किया कार्य भी समता का कार्य है। 'दशवैकालिक' सूत्र में पूछा कि हम कैसे खायें, कैसे सोयें, कैसे चलें व कैसे बैठें जिससे पाप-कर्म का बन्ध न हो, तो उत्तर दिया कि विवेक या यत्न से चलें, बैठें, सोवें व भोजन करें तो पाप कर्म का बन्ध नहीं होगा। इस गाथा ने जीवन की प्रत्येक छोटी-छोटी क्रिया में भी विवेक एवं जागरूकता को महत्त्व दिया है।

विवेक एवं जागरूकता की पहली शर्त है—आत्म-संयम। टॉल्स्टॉय ने भी लिखा है—आत्म संयम के बिना न तो उत्तम जीवन संभव हुआ है और न हो सकता है...। आत्म-संयम का अर्थ है मनुष्य का वासनाओं से मुक्त होना, वासनाओं को सीमित और सरल बनाना। वासनाओं का जिक्र करते हुए टॉल्स्टॉय ने सर्व प्रथम जीभ की मौलिक वासना से लड़ने व उपवास व्रत करने का उपदेश दिया अर्थात् त्याग व तप करना आवश्यक बताया। यह दूसरी शर्त हुई। इसी संदर्भ में मांस-भक्षण को अनैतिक बताते हुए कहा कि मांस भक्षण विकार ही जाग्रत नहीं करता वरन् मूल में स्वादु भोजन के लोभ और जीवों के उत्पीड़न के प्रति असंवेदनशीलता दर्शाता है। जीवों के प्रति संवेदनशीलता ही अहिंसा का आधार है। यह तीसरी शर्त हुई। टॉल्स्टॉय के उपर्युक्त शब्द महावीर के उपदेशों का समर्थन ही नहीं करते वरन् इस बात का परिचय देते हैं कि जो भी व्यक्ति उच्च श्रेणी की समता पर पहुंचते हैं उन सबकी अनुभूति एक सी है और उनके उपदेश भी एक से हैं।

समता अर्थात् संयम, अहिंसा, और तप, जीवन-धर्म का मूल आधार है और इसमें सबका मंगल निहित है। इसी से समाज में संवेदनशीलता, समानता, न्याय और करुणा के भाव उत्पन्न हो सकेंगे, जो समाज के सभी वर्गों के लिये व्यक्तिगत एवं समष्टिगत रूप से लाभ-कारी होंगे। जहां अहिंसा, संयम और तप का अभाव होगा, वहां विषम सामाजिक परिस्थितियां होंगी और प्रत्येक व्यक्ति दुःखी एवं असंतुलन की स्थिति में मिलेगा। इसके विपरीत स्थिति में समाज में सौहार्द, समन्वय, समदृष्टि व समानता स्थापित हो सकेगी और सभी प्राणी सुखमय जीवन बिता सकेंगे। —सचिव, राजस्थान राज्य उपक्रम विभाग, जयपुर

समता–साधना

❀ डॉ. सुषमा सिंघवी

समता–साधना का साधन तथा साध्य दोनों ही आत्मा का प्रसाद है अर्थात् निर्मल आत्मा ही समता की साधना के लिये साधन है तथा आत्मा की निर्मलता या विप्रसाद ही समता साधना का साध्य है, फल है। 'आचारांग' सूत्र में स्पष्ट निर्देश है कि समता की दृष्टि से आत्मा को प्रसाद युक्त रखें—"समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसादए"[१]।

वर्तमान संदर्भ में समता–साधना का महत्त्व इस दृष्टि से भी अधिक है क्योंकि वर्तमान में प्राणियों में उल्लास की कमी है। चेहरे मुर्झाए हुए हैं, चित्त म्लान है, प्रसन्नता का अभाव है। चित्त की निर्मलता और सरलता के अभाव के कारण उल्लास की सर्वत्र कमी है। इसके अतिरिक्त भोगोपभोग के साधनों के योग–क्षेम में ही मानव जीवन व्यस्त हो रहा है और इस प्रयास में अनुकूल की अनुपलब्धि तथा प्रतिकूल की उपलब्धि से त्रस्त हो रहा है। अतः सर्वत्र उल्लास का अभाव दृष्टिगोचर होता है। प्राणियों के जीवन में उल्लास और प्रसाद के दर्शन समता की साधना से संभव है। भोगोपभोग हेतु बाह्य साधनों और सामग्री की वृद्धि सुखाभास करा सकती है किन्तु आत्म–प्रसाद अथवा आत्मोल्लास कदापि नहीं क्योंकि आकाशवत् अनन्त इच्छाओं की पूर्ति का कभी विराम नहीं होता।

यदि समता की साधना अर्थात् सामायिक को दुष्कृतगर्हा, सुकृत अनु–मोदना तथा चतुःशरणागति पूर्वक किया जाय तो निश्चय ही ज्ञान और आचरण का संयोग होने से मोक्षपरक तीव्र संवेग की प्राप्ति होगी। दुष्कृत गर्हा से पाप कर्मों के प्रति तीव्र पश्चात्ताप रूप प्रतिक्रमण होता है, प्रतिक्रमण से पूर्वभव ज्ञान संभव हो जाता है तथा उससे वैराग्य पुष्ट होता है, साथ ही सुकृत् अनुमोदना से सच्चे देव, गुरु और धर्म की प्राप्ति का विश्वास जाग्रत होता है तथा अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं जिन–धर्म इन चारों के प्रति शरणागति से मन समता–साधना में स्थिर होता है।

सम्पूर्ण सृष्टि के प्राणी आत्मोपयोग लक्षण की दृष्टि से समान हैं। इस आत्मौपम्य भाव से साधक सावद्य–योग का त्याग करता है, पर-छिद्रान्वेषण अथवा मात्र पर्याय अवलोकन को अनावश्यक मानता है तथा स्वात्मरमण को आवश्यक मानकर समभावपूर्वक आचरण करता है—यही सामायिक है, यही समता-साधना है। समता–साधना के बिना, आवश्यक के शेष पांच अङ्ग–चौवीस्तव, वन्दना,

---

१– आचारांग सूत्र, III/३ समता दर्शन, १२३ सूत्र

प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान सार्थक सिद्ध नहीं होते। राग अथवा द्वेष की स्थिति में न तो सुकृत् अनुमोदना रूप चौवीस्तव सम्भव है और न दुष्कृत गर्हा रूप प्रतिक्रमण। राग से अथवा द्वेष से आवेशित चित्त स्थिर, शान्त नहीं रह सकता। किसी भी रंग में रंगा वस्त्र श्वेत नहीं ही कहलाएगा। चित्तवृत्ति को निर्मलता प्रदान करती है सामायिक। आत्मा में निर्मलता और प्रसाद प्रदान करने की क्षमता मात्र समभाव में है क्योंकि जहां परभाव या विभाव का अभाव होता है, वहीं समभाव की स्थिति होती है। 'नियमसार' का उद्घोष द्रष्टव्य है—

अशेषपरपर्यायैरन्य द्रव्यैर्विलक्षणम्।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत्॥ [संस्कृत भाषान्तर]

आत्म स्वभाव में अथवा शुद्ध चैतन्य में स्थिति मात्र समता/साम्य है। यह एकरूपता ही सामायिक है। इस स्थिति में स्वयं आत्मा को ज्ञाता द्रष्टा होने का अनुभव समाय है और समाय ही सामायिक है, यही समता की साधना है।

सर्व प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य भाव जाग्रत हो जाने से, द्रव्य का वास्तविक स्वरूप 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्, 'सद् द्रव्यम्' रूप त्रिपदी समझ लेने से अनुकूल के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष कदापि सम्भव नहीं होगा। सभी द्रव्य द्रव्य हैं, सभी द्रव्य द्रव्यत्व की महासत्ता की दृष्टि से समान हैं, ऐसा निश्चय हो जाने पर किससे राग और किससे द्वेष ?

ऐसी समता की साधना का अविरल निर्झर पूर्वकृत एवं संचित कर्मों की निर्जरा का हेतु बन जाता है और भावी कर्मबन्धन का संवर करता है।

जैन दर्शन Rational human base पर आधारित है, वैदिक दर्शन की भांति Supernatural base पर नहीं। वैदिक ऋषियों ने अपनी आवश्यकताओं तथा इच्छा पूर्ति करने वाले तत्त्वों को देवी-देवता [वायुदेवता, अग्निदेव, जलदेव, पृथ्वीदेव] का रूप देकर पूजा की। जैन दर्शन में जीवत्व सामान्य की दृष्टि से विचार कर पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय सभी को जीव मानकर इन सभी के साथ आत्मौपम्य भाव की स्थापना कर सभी के प्रति समत्व भाव को जाग्रत किया है—

'सम्यक् एकत्वेन अयनं गमनं समयः। समय एव सामायिकम्।'

विश्व के समस्त प्राणियों को अपने समान मानना ही न्यायोचित तथा तर्कसम्मत है क्योंकि अन्य जीवों को अपने से न्यून या छोटा मानने पर अभिमानोदय से हम संसार-गर्त में पतित होते रहेंगे और यदि अन्य जीवों को अपने से बड़ा माना तो दीन बनकर स्वभाव से च्युत हो जायेंगे। आवश्यकता है पर्याय-बुद्धि परित्याग की और सर्वजीव समता-साधना की। सर्व प्राणियों में यथार्थ मैत्री भाव भी आत्मौपम्य दृष्टि से ही सम्भव है। मिले हुए खेतों में यह अमुक का

क्षेत्र है तथा यह दूसरे का, इस भेद को जानने हेतु जैसे एक सीमा रेखा होती है तथैव आत्मा और अनात्मा के भेद को जानने की सीमा समता है।

मध्यस्थ भाव अथवा द्रष्टाभाव की पुष्टि हुए बिना समत्व की आय सम्भव नहीं है। समता-साधना का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट होगा कि प्रतिक्रिया का निषेध समभाव की प्राप्ति में अत्यन्त सहायक है।

मनोविज्ञान के अनुसार उत्प्रेरक प्राप्त होने पर जीव प्रतिक्रिया करता है। यह एक सहज वृत्ति है जिसे मनोवैज्ञानिक S–O–R समीकरण में प्रस्तुत करते हैं। पांवलफ नामक मनोवैज्ञानिक ने प्रयोगों द्वारा यह निर्णय दिया कि कुत्ते जैसे प्राणी को भी किसी विशेष परिस्थिति में विशेष क्रिया करने हेतु बाध्य [शिक्षित] कर दिया जाता है, तथापि अपने कुछ प्रयासों में यदि वह फल प्राप्त नहीं करता तो अभ्यास से और अनुभव से प्रतिक्रिया करना छोड़ देता है। जैसे कुत्ते को कुछ समय तक घंटी बजाकर खाना दिया गया जिससे उसे लार आई। भोजन उत्प्रेरक से उस कुत्ते ने लार के रूप में प्रतिक्रिया की। कई प्रयासों के पश्चात् कुत्ता घंटी की आवाज से Conditioned हो जाता है और ऐसी स्थिति में कुत्ते के समक्ष भोजन न रखने पर भी यदि घंटी मात्र बजा दी जाय तो भी उसे लार आ जायेगी। यह Conditioned Learning है। किन्तु यदि कई प्रयास ऐसे हों जिसमें घंटी बजाकर भोजन न दिया जाय तो वह कुत्ता भी उस प्रक्रिया में फल प्राप्ति न होने पर Conditioning से प्रभावित नहीं होता है। यह अभ्यास का प्रभाव है कि वह घंटी बजने पर भी लार के रूप में प्रतिक्रिया नहीं करेगा क्योंकि वह पुनः जान गया कि अब उसे घंटी बजने पर भोजन नहीं मिलता है। कैसी विडम्बना है कि अनन्त काल तक पूर्व-पूर्व जन्मों में काम-भोग-बन्ध कथा से परिचित एवं उसके अभ्यस्त हम संसारी प्राणी उनमें सुख अथवा दुःख मानने की प्रतिक्रिया करते हैं जो कर्मबद्धता के कारण सहज है किन्तु यह राग-द्वेष निष्फल हैं, ऐसा अनेकशः गुरु द्वारा श्रवण, शास्त्र द्वारा पठन तथा अपने अनुभव द्वारा जान लेने के बाद भी हम उस पूर्व Conditioning से प्रभावित होते रहते हैं। अभ्यासपूर्वक प्रयास करके प्रतिक्रिया करना छोड़ते नहीं हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने कितना मर्मस्पर्शी कथन किया है कि सभी प्राणियों को काम-भोग-बन्ध कथा श्रुत, परिचित और अनुभूत है, पर्यायभिन्न केवल आत्मैकत्व की प्राप्ति सुलभ नहीं है [समयसार गाथा ४]।

क्रोधादि के उत्प्रेरक की प्राप्ति होने पर भी प्रतिक्रिया [क्रोधादिरूप] न करने हेतु राग-द्वेष के परित्याग का अभ्यास अपेक्षित है और वह अभ्यास ही समता-साधना है और यही श्रावक की सामायिक है। यह निश्चय है कि क्रोध क्रोध है, आत्मा नहीं, विभाव विभाव है, आत्मा नहीं, राग राग है, आत्मा नहीं तब आत्म प्राप्ति के लिये समता-साधना का लक्ष्य लेकर चलने वाले हम लोगों को क्रोधादिकारक उत्प्रेरकों के प्रति प्रतिक्रिया नहीं करने का अभ्यास करना चाहिये जिससे मिथ्यात्व के

कारण राग-द्वेष के प्रति बाध्य हमारा विभाव समाप्त हो और हम इस प्रतिबद्धता को समता–साधना के अभ्यास द्वारा त्याग कर आत्म स्वभाव में स्थित हो सकें

समता–साधना का एक दूसरा अर्थ है अप्रमत्त स्थिति की प्राप्ति क प्रयास । हमारी जीवनचर्या में हम या तो भूतकालीन सुख-दु:ख मय विकार अथवा भविष्यकालीन कल्पनाओं के ताने-वाने में इतने प्रमत्त रहते हैं कि ह वर्तमान क्षरण का भान नहीं रहता । सामायिक हमें क्षरण के स्वरूप को समझ कर अप्रमत्त बनाने में सहायक है ।

'आचाराङ्ग सूत्र' के पंचम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में क्षरणान्वेषी अप्रमत्त कहा है । शास्त्रों में क्षरणज्ञ को सर्वज्ञ कहा गया है । "एत्थोवरते झोसमाणे अयं संधि ति अदक्खु, जे इमस्स विग्गहस्स अयं रवणे ति अन्नेसि [प भेद–मन्नेसि]" इस औदारिक शरीर का यह वर्तमान क्षरण है, इस प्रकार क्षरणान्वेषी हैं वे अप्रमत्त हैं । प्रतिक्षरण के पर्याय परिवर्तन पर जिसकी दृष्टि जो क्षरणविशेष की अवस्था विशेष को पकड़कर नहीं बैठता [उसके प्रति राग द्वेष नहीं करता] वह सुगमतया अनन्त पर्यायत्मक जगत् [के पदार्थों] की क्षरण भंगुरता को समझ लेता है और क्षरणभंगुरता का ज्ञान ही वैराग्य का उत्पादक मुझे जो व्यक्ति या वस्तु प्रिय है, वह प्रतिक्षण बदलती जा रही है, मेरी च कहां रही, यदि मैंने प्रिय को पा भी लिया तो जो जिस क्षरण में प्रिय था उस क्षरण में नहीं पाया, जब तक पाया तब तक वह प्रतिक्षरण परिवर्तन के कारण बदल चुका था अतः कोई वस्तु या व्यक्ति राग अथवा द्वेष का विषय नहीं हो सकता । वस्तु द्रव्य की अपेक्षा ध्रुव है और पर्याय की अपेक्षा परिवर्तनशील है। इस चिन्तन से वैराग्य उत्पन्न होता है । राग-विगत होते ही समता की प्राप्ति होती है । राग का छूटना ही द्वेष का नष्ट होना है क्योंकि द्वेष और राग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं ।

वर्तमान क्षरण को पकड़ लेने वाला व्यक्ति भूत में चला जायेगा और जिसने क्षरण को छोड़ दिया वह भविष्य में । इस प्रकार भूत–भविष्य के झूले में राग-द्वेष वश क्षरण [वर्तमान] को नहीं पहचानना ही हमारा अज्ञान है, मोह है। इस मोह पर विजय प्राप्त करने के लिये समता–साधना अपेक्षित है ।

प्रश्न यह है कि क्षरण का अन्वेषरण कैसे हो ? समता के साधकों ने समाधान दिया है कि ज्ञाता द्रष्टा भाव से क्षरणान्वेषरण सम्भव है । पूर्वकर्म के उदयवश जो रागात्मक स्थिति या द्वेषात्मक स्थिति हो, उसे यदि मात्र हो जाने दिया जाय, हम उस स्थिति के ज्ञाता द्रष्टा मात्र हो जायें, वह स्थिति हम पर राग या द्वेषपरक प्रभाव न छोड़ पावे, हम उस स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया न करें तो कर्मबन्धन की विस्तृत परम्परा को काट सकेंगे ।

एक प्रश्न यह भी स्वाभाविक है कि अनन्त जन्मों के कर्मबन्धन किसी एक जन्म की समता–साधना से कैसे कट सकते हैं ?

समता–साधकों का उत्तर है कि बीज के अंकुरित होने से बना वृक्ष स्वयं में, अपने फलों में सन्निहित, अनेक बीज रखता है जिससे भविष्य में असंख्य वृक्षों का निर्माण सम्भव है किन्तु उस वृक्ष को दग्धबीज कर दिया जावे तो भावी वृक्ष वृद्धि तो समाप्त होगी ही, उस वृक्ष की पूर्व सन्तति भी समय पर क्षीण हो जायेगी।

निष्कर्षतः समता–साधना का फल है आत्म–प्रसाद। समता–साधना का अर्थ है—आत्मौपम्य भाव। समता–साधना का अर्थ है—प्रतिक्रिया का अभाव तथा मध्यस्थभाव का अभ्यास। समता–साधना का तात्पर्य है—प्रमाद का त्याग तथा क्षणान्वेषी बनकर अप्रमत्त भाव की प्राप्ति।

—निदेशिका, क्षेत्रीय केन्द्र,
कोटा खुला विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

卐

यह अनुशासनहीनता होगी

❀ राजकुमार जैन

न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानाडे के पास किसी परिचित ने कीमती अल्फोंजी आमों का टोकरा भेजा। भोजन के वक्त श्रीमती रमाबाई रानाडे आम ले आईं। उन्होंने चाकू से आम काटकर तीन फांकें पति को दीं। तीनों फांकें खाकर रानाडे ने कहा—'बस, अब नहीं चाहिए।'

'क्यों ? और लीजिए न ? क्या स्वादिष्ट नहीं हैं ?'—श्रीमती रानाडे ने कहा।

'नहीं स्वादिष्ट तो हैं, पर इससे अधिक खाना मेरे स्वाद के अनुशासन से बाहर होगा।'—रानाडे ने कहा—'ये आम कीमती हैं। मैं इन्हें उतना ही खाना चाहता हूं जितने से जीभ की आदत न बिगड़े और जितना मैं खरीद कर भी खा सकूं। किसी ने भेंट किये हैं, इस लिए ज्यादा खा लेना मेरी नजर में अनुशासनहीनता होगी।'

श्रीमती रानाडे अपने पति के सिद्धांतों के आगे नत-मस्तक थीं।

पचपहाड़ रोड, भवानी मण्डी (राज.) ३२६५०२

श्रावकाचार और समता

❀ डॉ. सुभाष काठारा

जैन धर्म में श्रावकाचार का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रावक शब्द का तात्पर्य गृहस्थावस्था में रहकर अपने एवं अपने पारिवारिक जीवन को नीति-पूर्वक चलाकर धर्म का आराधन करना है तथा आचार का अभिप्राय कुछ निश्चित नियमों का यथारीति पालन करना होता है। जैन दर्शन में इन्हें सैद्धान्तिक रूप से श्रावक-आचार नाम दिया गया है।

श्रावक आचार के मूल पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत हैं।[1] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ये पांच व्रत हैं। इन व्रतों को जब बिना किसी अपवाद के अंगीकार किया जाता है तो ये महाव्रत की संज्ञा पाते हैं परन्तु जब इनका पूर्णरूप से पालन नहीं करके अपनी क्षमता एवं सामर्थ्य को ध्यान में रखते हुए आंशिक रूप से ग्रहण किया जाता है तब अणुव्रत कहलाने लगते हैं।

अणुव्रतों में समता—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह अणु-व्रतों का पालन सभी श्रावक अपनी-अपनी क्षमता एवं स्थिति के अनुसार करते हैं। इसके पीछे हमारे पूर्वाचार्यों, तीर्थंकरों एवं आदि पुरुषों का सूक्ष्म चिन्तन रहा हुआ है। वे जानते थे कि सभी व्यक्तियों की रुचि, क्षमता एवं सामर्थ्य एक जैसा नहीं होता है। अतः प्रारंभिक तौर पर वह उनका पालन किंचित् मात्र ही करता है परन्तु धीरे-धीरे उसकी क्षमता में वृद्धि होने लगती है और वह व्रतों को स्वीकार करने की क्षमता बढ़ाता जाता है।

इन व्रतों के आचरण से समता के विकास की दिशा में ठोस कार्य किये जा सकते हैं। जहां हिंसा से भय और विषमता फैलती है, असत्य से द्वेष और क्रोध उत्पन्न होता है, परिग्रह से शोषण वृत्ति पैदा होती है और भ्रातृत्व समाप्त होता है, वहीं दूसरी ओर अणुव्रतों के पालन से प्राणिमात्र के प्रति समभाव, स्नेह आदर और समाजवाद की भावना का उदय होने लगता है, जो समता के ही पर्यायवाची हैं।

अणुव्रतों का पालन करने के साथ-२ श्रावक उन दोषों से भी बचने का प्रयत्न करता है जिनसे व्रत-भंग होने की आशंका रहती है। इन दोषों से बचना हमारे समतामय आचरण के सूत्रों से बहुत हद तक समानता रखता है। समता-मय आचरण का पहला सूत्र हिंसा का त्याग[2], दूसरा मिथ्याचरण छोड़ना[3], तीसरा चोरी और खयानत से दूर रहना[4], चौथा ब्रह्मचर्य का मार्ग[5] एवं पांचवा

तृष्णा पर अंकुश रखना[6] है जिसका पालन श्रावक अणुव्रतों के अतिचारों से दूर रहकर करता है।

इस प्रकार वस्तुतः देखा जाय तो अणुव्रतों का निरतिचार पालन करना या समतामय आचरण के सूत्रों का आचरण करना बहुत हद तक समानता रखते हैं।

गुणव्रतों में समता—अणुव्रतों के गुणों में अभिवृद्धि के लिए दिशाव्रत, उपभोग परिभोग परिमाण व्रत एवं अनर्थदण्ड इन तीन गुणव्रतों का विधान किया गया है।

मानव मन की इच्छा आकाश के समान अनन्त कही गयी है। ज्यों-ज्यों जगत और विश्व-व्यापार का कार्य क्षेत्र बढ़ता है त्यों-त्यों व्यक्ति की इच्छा अपने व्यापार को दूर-दूर तक फैलाने की इच्छा बलवती होती जाती है। दिशाव्रत इस इच्छा को सीमित करता है। इससे दूसरों की सीमा का अतिक्रमण भी नहीं होता है एवं समता भाव बना रहता है।

भोग और उपभोग ये दो तत्व ऐसे हैं जिनके लिए ही व्यक्ति समस्त उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक कार्यों को करता है। इन कार्यों को रोकने के लिए साधकों ने उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत का उल्लेख किया है। समाज-व्यवस्था सुचारु रूप से चले, कुरीतियां समाप्त हों, इसके लिए श्रावकाचार में १५ कर्मादानों यानि निषिद्ध व्यवसायों का भी उल्लेख किया गया है। अवैध एवं अनुचित व्यापार की ओर व्यक्ति अग्रसर नहीं हो, इसके लिए समतामय आचरण के सूत्रों में सादगी एवं सरलता, व्यापार सीधा एवं सच्चा तथा कुरीतियों का त्याग आदि सूत्र दिये गये हैं।[7]

शिक्षाव्रतों में समता—शिक्षा का सामान्य अर्थ अभ्यास से है। अणुव्रत एवं गुणव्रत एक बार ग्रहण करने के बाद पुनः ग्रहण नहीं करने पड़ते हैं परन्तु शिक्षाव्रतों को पुनः-पुनः अभ्यास हेतु कुछ समय के लिए ग्रहण करना होता है। अतः श्रावकाचार में उन्हें सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास एवं अतिथि संविभाग इन चार भागों में बांटा गया है।

समता की साधना का पहला चरण सामायिक से शुरू होता है।[8] इसमें एक मुहूर्त तक एक स्थान पर बैठकर समभाव में लीन होकर साधु तुल्य जीवन में रहना पड़ता है। समतादर्शी व्यक्ति को प्रातः एवं सायंकाल इस कार्य को अवश्य करना चाहिए।

इसी प्रकार देशावकाशिक एवं पौषधोपवास व्रत पालन के समय समता भाव रखकर धर्म का आराधन किया जाता है। ये नियम श्रावक जीवन को उत्तरोत्तर विकास की ओर ले जाने वाले हैं। इसके अन्तर्गत आहार, देहसज्जा, अब्रह्मचर्य एवं आरम्भ-सभारम्भ का त्याग हो जाता है।

समतामय आचरण के तीन चरणों में साधक की सर्वोच्च सीढ़ी समता-दर्शी नाम से कही गयी है और उसमें जो चौबीसों घण्टे समतामय भावना और आचरण के विवेकपूर्वक अभ्यास की बात है, वह आंशिक रूप में इस पौषधोपवास व्रत में निहित है ।

अतिथि संविभाग व्रत में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना रही हुई है। प्रत्येक प्राणी के प्रति सहयोग की भावना रखना और सुपात्र दान देना इस व्रत का मूल उद्देश्य है । जिनके आने की तिथि निश्चित नहीं हो, ऐसे साधु-मुनिराज और स्वधर्मी बंधु-बांधवों को अपने लिए निर्मित आहार-पानी आदि देकर इस व्रत का पालन किया जाता है और बचे हुए आहार आदि को समता-भाव से स्वयं ग्रहण करना इस व्रत का सार है ।

इस प्रकार इन बारह व्रतों के पालन से हम बहुत अंशों तक समतामय आचरण के इक्कीस सूत्रों को पालन करने की स्थिति में आ जाते हैं जो आचार्य श्री नानेश द्वारा प्रतिपादित 'समता दर्शन और व्यवहार' में निर्दिष्ट हैं ।

समतामय साधना के इन इक्कीस सूत्रों के साथ-२ तीन चरण भी कहे गये हैं—(१) समतावादी, (२) समताधारी, (३) समतादर्शी ।

ये तीन चरण भी अणुव्रतों आदि के माध्यम से प्राप्त किये जा सकते हैं । सप्त कुव्यसनों के त्याग एवं सामायिक की आराधना से आंशिक समतावादी[9], अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं अनेकान्त के स्थूल नियमों के पालन से आंशिक समताधारी[10] एवं देशावकाशिक, पौषध आदि व्रतों के पालन से हम समतादर्शी[11] की उस श्रेणी तक पहुंच सकते हैं जो श्रमण के निकट की श्रेणी मानी जाती है ।

इस प्रकार अगर हम श्रावक-आचार में निर्दिष्ट व्रतों का पालन निर्दोष रूप से करते हैं तो हमारा जीवन व्यवहार एवं आचरण उसी प्रकार ही समता-मय हो जायेगा जिस प्रकार आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों का हुआ था ।

श्रावकाचारियों में समता—महावीर और उसके बाद भी अनेक श्रावक ऐसे हुए हैं जिनको अपने साधना काल में विविध प्रकार के कष्ट सहन करने पड़े और उन्होंने उस स्थिति में समता भाव बनाये रखा । 'उपासकदशांग' सूत्र श्रावक आचार को प्रतिपादित करने वाला एक मात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है जिसमें महावीर के अनन्य भक्त दस श्रावकों के जीवन चरित्रों का वर्णन है । इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि गृहस्थावस्था में रहने पर भी व्यक्ति को किस तरह के कष्ट एवं उपसर्ग आते थे और उसमें श्रावक अपने आपको कैसे समभावी बनाये रखते हैं ।

कामदेव श्रावक को उपासना में लीन देखकर व्रतों से डिगाने के लिए मिथ्यादृष्टि देव ने अपनी वैक्रिय शक्ति से पिशाच हाथी एवं सर्प के विकराल रूप बनाकर उपसर्ग दिये परन्तु कामदेव श्रावक इस असह्य दुःख को समभाव से सहन करता हुआ साधना में लगा रहा ।[12]

चुलनीपिता को उसके पुत्रों और माता के वध की धमकी देकर देव ने व्रतों से स्खलित करने का प्रयत्न किया। पुत्रों के वध तक तो चुलनी पिता ने समता भाव रखा परन्तु मां के वध की बात वह सहन नहीं कर सका और कुछ क्षण के लिए उत्तेजित्त हो गया परन्तु पुनः प्रायश्चित कर समभाव में लीन हुआ।[13]

इसी प्रकार के उपसर्ग सुरादेव[14], चुलशतक[15] और सकडालपुत्र को भी आये जिनमें उन्होंने कुछ देर समता रखी, कभी व्रतों से डिगे भी, परन्तु अन्त में प्रायश्चित कर समभावी ही बने।

महाशतक को इन सब के विपरीत अनुकूल उपसर्ग आया। उसकी पत्नी रेवती ने उसे ब्रह्मचर्य जन्य उपसर्ग दिया। अनेक बार विषय भोग की प्रार्थना करने पर भी महाशतक ने समता भाव बनाये रखा परन्तु जब दुष्चेष्टा की सीमा का उल्लंघन हो गया तो उसने अवधिज्ञान से उसकी मृत्यु का हाल सुना दिया।[17] हालांकि महाशतक का कथन सत्य था और सत्य निकला भी, परन्तु उस सत्य वचन से रेवती को जो दुःख उत्पन्न हुआ, उसके लिए महावीर ने महाशतक को प्रायश्चित करने को कहा और कहा कि—समतासाधक के द्वारा किसी को कष्ट हो, ऐसी सत्य भाषा का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए।[18]

इस प्रकार श्रावकों ने अपने आचार धर्म का पालन करते हुए अपने चरित्र को इतना उदात्त और समतामय बना लिया और विभिन्न उपसर्गों एवं वेदनाओं को इस प्रकार समभावी होकर सहन किया कि स्वयं महावीर को उनकी प्रशसा करनी पड़ी और अपने शिष्य समुदाय को उनसे प्रेरणा ग्रहण करने को कहना पड़ा।[19]

इस प्रकार श्रावक आचार के नियमों में हमारे अन्दर समता भावना कैसे आये, इसका ज्ञान होता है तो श्रावक आचार के पालनकर्त्ताओं के इतिहास से हमें यह ज्ञान होता है कि कष्ट, उपसर्ग एवं विपरीत परिस्थितियों में किस प्रकार सहिष्णुता रखी जाय। अगर ये दोनों पहलू हमारे अन्तरंग में उतरेंगे तो निश्चय ही हम आचार्य श्री के समता दर्शन को सार्थक कर सकेंगे।

—शोध अधिकारी, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर

संदर्भ—संकेत

(१) उवासगदसाओ १/१४-१५,(२) समता दर्शन और व्यवहार, पृष्ठ-१६०, (३) वही पृष्ठ-१६०, (४) वही पृष्ठ-१६१, (५) वही पृष्ठ-१६१, (६) वही पृष्ठ-१६१, (७) वही पृष्ठ-१६३-६४, (८) वही पृष्ठ-११६-१७, (९) वही पृष्ठ-१६९-७०, (१०) वही पृष्ठ १७०-७१, (११) वही पृष्ठ-१७१-७२, (१२) उवासगदसाओ-२/१६१-१८६, (१३) वही ३०/२१०-२२०, (१४) वही ४/२३४-२४०, (१५) वही ५/२४४-२४९, (१६)वही ७/२७४-२७५, (१७)वही ८/३५१, (१८) वही ८/३५७-५८, (१९) वही 2/२००-२०१

समतामय आचरण के तीन चरणों में साधक की सर्वोच्च सीढ़ी समता-दर्शी नाम से कही गयी है और उसमें जो चौबीसों घण्टे समतामय भावना और आचरण के विवेकपूर्वक अभ्यास की बात है, वह आंशिक रूप में इस पौषधोपवास व्रत में निहित है ।

अतिथि संविभाग व्रत में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना रही हुई है। प्रत्येक प्राणी के प्रति सहयोग की भावना रखना और सुपात्र दान देना इस व्रत का मूल उद्देश्य है । जिनके आने की तिथि निश्चित नहीं हो, ऐसे साधु-मुनिराज और स्वधर्मी बंधु-बांधवों को अपने लिए निर्मित आहार-पानी आदि देकर इस व्रत का पालन किया जाता है और बचे हुए आहार आदि को समता-भाव से स्वयं ग्रहण करना इस व्रत का सार है ।

इस प्रकार इन बारह व्रतों के पालन से हम बहुत अंशों तक समतामय आचरण के इक्कीस सूत्रों को पालन करने की स्थिति में आ जाते हैं जो आचार्य श्री नानेश द्वारा प्रतिपादित 'समता दर्शन और व्यवहार' में निर्दिष्ट हैं ।

समतामय साधना के इन इक्कीस सूत्रों के साथ-२ तीन चरण भी कहे गये हैं—(१) समतावादी, (२) समताधारी, (३) समतादर्शी ।

ये तीन चरण भी अणुव्रतों आदि के माध्यम से प्राप्त किये जा सकते हैं । सप्त कुव्यसनों के त्याग एवं सामायिक की आराधना से आंशिक समतावादी[9], अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं अनेकान्त के स्थूल नियमों के पालन से आंशिक समताधारी[10] एवं दैशावकाशिक, पौषध आदि व्रतों के पालन से हम समतादर्शी[11] की उस श्रेणी तक पहुंच सकते हैं जो श्रमण के निकट की श्रेणी मानी जाती है ।

इस प्रकार अगर हम श्रावक-आचार में निर्दिष्ट व्रतों का पालन निर्दोष रूप से करते हैं तो हमारा जीवन व्यवहार एवं आचरण उसी प्रकार ही समता-मय हो जायेगा जिस प्रकार आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों का हुआ था ।

श्रावकाचारियों में समता—महावीर और उसके बाद भी अनेक श्रावक ऐसे हुए हैं जिनको अपने साधना काल में विविध प्रकार के कष्ट सहन करने पड़े और उन्होंने उस स्थिति में समता भाव बनाये रखा । 'उपासकदशांग' सूत्र श्रावक आचार को प्रतिपादित करने वाला एक मात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है जिसमें महावीर के अनन्य भक्त दस श्रावकों के जीवन चरित्रों का वर्णन है । इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि गृहस्थावस्था में रहने पर भी व्यक्ति को किस तरह के कष्ट एवं उपसर्ग आते थे और उसमें श्रावक अपने आपको कैसे समभावी बनाये रखते हैं ।

कामदेव श्रावक को उपासना में लीन देखकर व्रतों से डिगाने के लिए मिथ्यादृष्टि देव ने अपनी वैक्रिय शक्ति से पिशाच हाथी एवं सर्प के विकराल रूप बनाकर उपसर्ग दिये परन्तु कामदेव श्रावक इस असह्य दुःख को समभाव से सहन करता हुआ साधना में लगा रहा ।[12]

चुलनीपिता को उसके पुत्रों और माता के वध की धमकी देकर देव ने व्रतों से स्खलित करने का प्रयत्न किया। पुत्रों के वध तक तो चुलनी पिता ने समता भाव रखा परन्तु मां के वध की बात वह सहन नहीं कर सका और कुछ क्षण के लिए उत्तेजित्त हो गया परन्तु पुनः प्रायश्चित कर समभाव में लीन हुआ।[13]

इसी प्रकार के उपसर्ग सुरादेव[14], चुलशतक[15] और सकडालपुत्र को भी आये जिनमें उन्होंने कुछ देर समता रखी, कभी व्रतों से डिगे भी, परन्तु अन्त में प्रायश्चित कर समभावी ही बने।

महाशतक को इन सब के विपरीत अनुकूल उपसर्ग आया। उसकी पत्नी रेवती ने उसे ब्रह्मचर्य जन्य उपसर्ग दिया। अनेक बार विषय भोग की प्रार्थना करने पर भी महाशतक ने समता भाव बनाये रखा परन्तु जब दुष्चेष्टा की सीमा का उल्लंघन हो गया तो उसने अवधिज्ञान से उसकी मृत्यु का हाल सुना दिया।[17] हालांकि महाशतक का कथन सत्य था और सत्य निकला भी, परन्तु उस सत्य वचन से रेवती को जो दुःख उत्पन्न हुआ, उसके लिए महावीर ने महाशतक को प्रायश्चित करने को कहा और कहा कि—समतासाधक के द्वारा किसी को कष्ट हो, ऐसी सत्य भाषा का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए।[18]

इस प्रकार श्रावकों ने अपने आचार धर्म का पालन करते हुए अपने चरित्र को इतना उदात्त और समतामय बना लिया और विभिन्न उपसर्गों एवं वेदनाओं को इस प्रकार समभावी होकर सहन किया कि स्वयं महावीर को उनकी प्रशसा करनी पड़ी और अपने शिष्य समुदाय को उनसे प्रेरणा ग्रहण करने को कहना पड़ा।[19]

इस प्रकार श्रावक आचार के नियमों में हमारे अन्दर समता भावना कैसे आये, इसका ज्ञान होता है तो श्रावक आचार के पालनकर्त्ताओं के इतिहास से हमें यह ज्ञान होता है कि कष्ट, उपसर्ग एवं विपरीत परिस्थितियों में किस प्रकार सहिष्णुता रखी जाय। अगर ये दोनों पहलू हमारे अन्तरंग में उतरेंगे तो निश्चय ही हम आचार्य श्री के समता दर्शन को सार्थक कर सकेंगे।

—शोध अधिकारी, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर

संदर्भ—संकेत

(१) उवासगदसाओ १/१४-१५,(२) समता दर्शन और व्यवहार, पृष्ठ-१६०, (३) वही पृष्ठ-१६०, (४) वही पृष्ठ-१६१, (५) वही पृष्ठ-१६१, (६) वही पृष्ठ-१६१, (७) वही पृष्ठ-१६३-६४, (८) वही पृष्ठ-११६-१७, (९) वही पृष्ठ-१६९-७०, (१०) वही पृष्ठ १७०-७१, (११) वही पृष्ठ-१७१-७२, (१२) उवासगदसाओ-२/१६१-१८६, (१३) वही ३०/२१०-२२०, (१४) वही ४/२३४-२४०, (१५) वही ५/२४४-२४९, (१६)वही ७/२७४-२७५, (१७)वही ८/३५१, (१८) वही ८/३५७-५८, (१९) वही 2/२००-२०१

जैन धर्म और समता

डॉ. प्रभाकर माचवे

दो सौ बरस पहले फ्रांस में राज्यक्रांति हुई तब ये तीन तत्त्व उभर कर सामने आये— लिबर्ते, इगैलिते, फ्रैतर्निते.' (स्वतंत्रता, समता, बंधुता)। कई दार्शनिकों ने विदेश में इस पर बड़ा विचार किया कि मनुष्य के लिए ये तीनों मूल्य ऐकांतिक रूप से सम्भव नहीं। पूरी स्वतन्त्रता हो तो फिर सांस लेने से भी स्वतन्त्रता हो जाये। एक तरह से चेतना या विवेक से 'मुक्त' पुरुष पशु ही हो जायेगा। जब तक इन्द्रियां हैं, संवेदन-क्षमता से मनुष्य मुक्त कैसे हो ? संवेदन शून्य तो यन्त्र होता है, या रौबो।

कुछ लोगों ने यह भी ऐतराज किया कि स्वन्त्रता और समता साथ-२ नहीं चल सकती। सब बरावर हो गये तो वे यन्त्र के पुर्जों की तरह हो जायेंगे। व्यक्ति की स्वाधीनता का क्या अर्थ बचा होगा ? 'मैं तुम में, तुम मुझ में हो प्रिय' तो प्रेयसि-प्रियतम अभिनय क्या' शायद महादेवी की उक्ति है। एकाकार होने पर 'वर्णानाममेकता' कहां वची रह गई ? राजनीति-शास्त्रियों का यह भी मानना है कि पूंजीवादी देशों ने 'स्वतन्त्र व्यापार, स्वन्त्र बाजार, स्वतन्त्र कारोबार' करके देखा पर दुनिया उस सिद्धांत को अपना न सकी। 'पूंजीवाद' शब्द में यही निहित है कि कुछ लोग हैं जिनके पास पूंजी है। कुछ हैं जिनके पास नहीं है यानी उससे विषमता वढ़ी। अब उस विषमता को कम करने के लिए समाजवाद, समतावाद (या साम्यवाद) आया। पर वह भी पूरी तरह से असमानता नष्ट नहीं कर सका। साम्यवादी साम्यवादी राष्ट्रों में भी वैषम्य आ गया। वह इतना वढ़ा कि पहले रूस-युगोस्लाविया अलग पथ पर चलने लगे, रूस और चीन अलग हो गये। अब तो पौलेंड और हंगरी भी रूस से छिटक गये। अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी संघ का स्वप्न सात दशक में ही विलीन हो गया और दुनिया को पूंजीवादी या साम्यवादी खेमे में बांटने को उत्सुक राजनयिक, कूटनयिक यह भूल गये कि इतने दो बड़े महायुद्ध और शीत युद्ध दो दशकों तक बनाये रखने के वाद भी दुनिया का आधे से ज्यादह हिस्सा न पूंजीवादी हुआ न साम्यवादी। एशिया-अफ्रीका के पच्चीसों देश निर्गुट बने रहे। वे 'तीसरी दुनिया' वने।

यह सब राजनैतिक, ऐतिहासिक, आधुनिक युग की, बीसवीं सदी की त्रासदी भूमिका रूप में देने का अर्थ इतना ही है कि मनुष्य व्यक्ति हो या समाज वारवार सम से विषम और विषम से सम की ओर बढ़ता, आता-जाता नजर आता है। साहित्य का ही साक्ष्य लीजिये। न वीर-गाथा काल सदा के लिए रहा,

जैन धर्म और समता

डॉ. प्रभाकर माचवे

दो सौ बरस पहले फ्रांस में राज्यक्रांति हुई तब ये तीन तत्त्व उभर कर सामने आये— लिबर्ते, इगैलिते, फ्रैतर्निते' (स्वतंत्रता, समता, बंधुता)। कई दार्शनिकों ने विदेश में इस पर बड़ा विचार किया कि मनुष्य के लिए ये तीनों मूल्य ऐकांतिक रूप से सम्भव नहीं। पूरी स्वतन्त्रता हो तो फिर सांस लेने से भी स्वतन्त्रता हो जाये। एक तरह से चेतना या विवेक से 'मुक्त' पुरुष पशु ही हो जायेगा। जब तक इन्द्रियां हैं, संवेदन-क्षमता से मनुष्य मुक्त कैसे हो? संवेदन शून्य तो यन्त्र होता है, या रौबो।

कुछ लोगों ने यह भी ऐतराज किया कि स्वन्त्रता और समता साथ-२ नहीं चल सकती। सब बराबर हो गये तो वे यन्त्र के पुर्जों की तरह हो जायेंगे। व्यक्ति की स्वाधीनता का क्या अर्थ बचा होगा? 'मैं तुम में, तुम मुझ में हो प्रिय' तो प्रेयसि-प्रियतम अभिनय क्या' शायद महादेवी की उक्ति है। एकाकार होने पर 'वर्णानाममेकता' कहां वची रह गई? राजनीति-शास्त्रियों का यह भी मानना है कि पूंजीवादी देशों ने 'स्वतन्त्र व्यापार, स्वन्त्र बाजार, स्वतन्त्र कारोवार' करके देखा पर दुनिया उस सिद्धांत को अपना न सकी। 'पूंजीवाद' शब्द में यही निहित है कि कुछ लोग हैं जिनके पास पूंजी है। कुछ हैं जिनके पास नहीं है यानी उससे विषमता बढ़ी। अब उस विषमता को कम करने के लिए समाजवाद, समतावाद (या साम्यवाद) आया। पर वह भी पूरी तरह से असमानता नष्ट नहीं कर सका। साम्यवादी साम्यवादी राष्ट्रों में भी वैषम्य आ गया। वह इतना बढ़ा कि पहले रूस-युगोस्लाविया अलग पथ पर चलने लगे, रूस और चीन अलग हो गये। अब तो पौलेंड और हंगरी भी रूस से छिटक गये। अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी संघ का स्वप्न सात दशक में ही विलीन हो गया और दुनिया को पूंजीवादी या साम्यवादी खेमे में बांटने को उत्सुक राजनयिक, कूटनयिक यह भूल गये कि इतने दो बड़े महायुद्ध और शीत युद्ध दो दशकों तक बनाये रखने के बाद भी दुनिया का आधे से ज्यादह हिस्सा न पूंजीवादी हुआ न साम्यवादी। एशिया-अफ्रीका के पच्चीसों देश निर्गुट बने रहे। वे 'तीसरी दुनिया' बने।

यह सब राजनैतिक, ऐतिहासिक, आधुनिक युग की, बीसवीं सदी की त्रासदी भूमिका रूप में देने का अर्थ इतना ही है कि मनुष्य व्यक्ति हो या समाज बारबार सम से विषम और विषम से सम की ओर बढ़ता, आता-जाता नजर आता है। साहित्य का ही साक्ष्य लीजिये। न वीर-गाथा काल सदा के लिए रहा,

न भक्तिकाल, न शृंगार वाला रीतिकाल । 'शृंगार-वीर-करुणा' ये तीनों रस, शायद इसी क्रम से नहीं, मानवी संवेदना-व्यापार को सम्मोहित-संक्रमित-संचालित करते रहे । यदि चित्त एकदम सम-रस समाधि में पहुंच जाये, तो फिर उस 'शांत' को रस कहना भी कठिन है ।

भगवान महावीर और जैन धर्म का आरम्भकाल से ही 'समता' पर विशेष बल रहा है । महावीर ने अपने अनुयायियों में सब वर्णों के लोगों को समान अवसर दिया । यद्यपि सभी तीर्थंकर क्षत्रिय हैं,परन्तु जैन धर्म में जातिभेद नहीं है । महावीर कर्मणा जाति मानते थे । जैन धर्म में महावीर ने पूर्वापराधी चोर या डाकू, मछुआरे, वेश्या और चांडाल पुत्रों को भी दीक्षित कर लिया । केवल कोल्हापुर (महाराष्ट्र) के जिनसेन मठ के अनुयायी 'चतुर्थ' कहलाते हैं । सातारा, बीजापुर की ओर खेतीहर, जमींदार, जुलाहे, छीपे, दर्जी, सुनार और कसेरे भी जैन हैं ।

जन्मना जातिगत विषमता न मानने के साथ ही महावीर विद्वान् और मूर्ख, पढ़ा-लिखा और अनपढ़, साक्षर और निरक्षर का भेदभाव भी कृत्रिम मानते हैं । इसलिए वे 'निर्ग्रन्थ' ज्ञातपुत्र कहलाये । शब्दप्रामाण्य मानने वाले धर्माचार्यों को उन्होंने चुनौती दी । धर्म क्या पुस्तक में बसता है या मनुष्य में ? अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की प्राप्ति हर व्यक्ति के लिए समान भाव से सम्भव है । वहां तर-तमता नहीं है ।

इसी कारण से मैं विचार करता हूं कि कई जैन न केवल गांधी जी की ओर आकृष्ट हुए (गांधी के एक प्रभावक रामचन्द्र भाई आशुकवि जैन थे) परंतु समाजवादी-साम्यवादी आंदोलनों में भी देश के कई प्रबुद्ध जैन खिचकर चले आये । डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, पदमकुमार जैन, विमलप्रसाद जैन, अ. भि. शहा, भानुकुमार जैन, नेमिचंद्र जैन, इन आंदोलनों में खिंचे चले आये । कुछ लोगों को मैं जानता हूं । गुजरात में भोगीलाल गांधी, महाराष्ट्र में गोवर्धन पारीख और कई ऐसे लोग गिनाये जा सकते हैं ।

जैन धर्म और दर्शन में यह 'मानव मानव सब हैं समान' मन्त्र को प्रचलित करने की सुविधा इस कारण से हुई कि उन्होंने आत्मा से अलग किसी उच्च पदासीन ईश्वर का निषेध किया । तप और सत्कर्म से आत्मविश्वास की सर्वोत्तम अवस्था ही ईश्वरत्व है । मनुष्य अपने 'कर्म' से अलग भाग्य विधाता स्वरूप है । कोई अवतार या चमत्कार उसका उद्धार करने नहीं आयेगा । गीता के 'उद्धरेदात्मनात्मानं' और 'आत्मैवह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः' से बहुत मिलता-जुलता विचार जैन दार्शनिकों ने शदियों तक प्रचारित किया ।

महावीर लिच्छवी कुलोत्पन्न होने पर भी गणतन्त्रवादी आदर्श पर उन्होंने चतुर्दिक चतुर्विध संघ निर्मित किये । बिहार में राजगृह और भागलपुर, मुंगेर और जनकपुर, उत्तरप्रदेश में बनारस, कोसल, अयोध्या, श्रावस्ती, स्थानेश्वर

(कन्नौज) सब स्थानों पर महावीर ने विहार किया । वे 'आर्य' क्षेत्र कहलाये। पर महावीर के अनुयायी सुदूर कर्नाटक, कलिंग, वग में भी पाये गये हैं। विशाल गोमटेश्वर कन्नड़ भाषियों के प्रदेश में है, जिसे महाराष्ट्र के शिल्पियों ने बनाया होगा । उसके नीचे 'चावुंडराये करवियसे' महाराष्ट्री में शिलालेख है । चन्द्रगुप्त मौर्य (३२५–३०२ ईसापूर्व) से लेकर अंतिम वाचनावलभी में ७२०-७८० ईस्वी तक कई शताब्दियों तक यह समता धर्म प्रचलित रहा ।

जैन समता का एक उत्तम प्रमाण जैन धर्म को मुस्लिम राज्यकाल में भी राज्यप्रश्रय मिलना है । सुलतान फिरोज़शाह तुगलक (१३५१-१३८८) ने जैन विद्वान् रत्नशेखर सूरि को और तुगलक सुलतान मुहम्मदशाह ने जिनप्रभसूरि को विशेष सम्मान दिया, ऐसे ऐतिहासिक उल्लेख हैं । मुगल सम्राट अकबर (१५५६–१६०५) ने ही विजयसूरि को सम्मानित किया । और अंतिम मुगल सम्राट औरंगजेब (१६५४-१७०७) ने अपने दरबार के ज़वेरी शांतिदास जैन को शत्रुंजय पर्यत की दो लाख की आमदनी दानार्थ दी। अहमदशाह (१७४८-१७५४) ने जगत् सेठ महताबराय को पारसनाथ पर्वत देकर पुरस्कृत किया । यदि जैन धर्म समता की दृष्टि नहीं रखता तो ये भिन्न धर्मीय उन्हें क्यों सम्मानित या पुरस्कृत करते ?

जैन धर्म दर्शन की समता का एक और प्रमाण जिस भाषा में वह प्रचारित–प्रसृत किया गया वह अर्द्धमागधी भाषा है । जैन तीर्थंकरों ने संस्कृत व वर्ग विशेष की अभिजात भाषा में उपदेश नहीं दिये । संस्कृत तो शूद्र और स्त्रियों के लिए वर्ज्य भाषा थी । महावीर जन–जन तक पहुंचना चाहते थे । इसलिए समता का यह सहज सरल मार्ग उन्होंने अपनाया । सबकी भाषा में अपनी बात कही और लिखवादी । दृष्टांत भी जनसाधारण के जीवन से लिये । मिथ्या पौराणिक, काल्पनिक कथाओं में नहीं उलझे रहे । यथार्थवादी, ठोस जमीन पर व्यावहारिक बातें कही । उनकी इच्छा थी कि उनका दर्शन आबालवृद्ध, स्त्रियों तक पहुंचे । वह अभिजात वर्ग का एक गुह्य रहस्य बनकर सीमित न रहे ।

महावीर के दर्शन में विषमता पर चारों तरफ से तार्किक हमला किया गया । विषमता का कारण एकांत या दृष्टि-दोष है । विषमता का मोह एक चरित्र-दोष है । इस कारण से समता को जीवन में उतारने के लिए महावीर ने पन्द्रह सूत्र दिये ।

(१) धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है । "सच्चं लोगम्मि सारभूयं" सत्य ही दुनिया में सार है । 'सत्यमेव जयते' में जीत शब्द था, जिसमें औरों की 'हार' निहित थी । महावीर 'सारभूत' शब्द चुनते हैं । यानी सत्य को छोड़ सब कुछ निस्सार है ।

(२) श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र्य यह 'रत्नत्रय' जैन दर्शन का तीर्थ है। यदि सम्यक् आस्था होगी तो सम्यक् ज्ञान मिलेगा। दृष्टि और दर्शन के बाद उसे दृश्यमान बनाने के लिए सम्यक् चरित्र आवश्यक है। तेलुगु भाषा में 'चरित' का अर्थ ही है इतिहास, कर्म-परंपरा।

(३) मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ है। देवता भी चरित्र सम्पन्न मनुष्य के चरणो में सिर नंवाते हैं। लोकतंत्र की पहली सीढ़ी यही है। 'सब मनुष्यों का, सब मनुष्यों के लिए, सब मनुष्यों द्वारा' तंत्र ही लोकतंत्र है।

(४) जैन तत्त्व दृष्टि से सात तत्त्वों का विधान है। प्रथम जीव और शेष अजीव। उसी आश्रव बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष में समता से हटने के पांच कारण आस्रव में दिये गये हैं—विपरीत श्रद्धा, अनुशासन हीनता, आलस्य, क्रोध मान-माया-लोभ, और प्रवृत्ति (योग)।

(५) अनेकांत ही समता की दृष्टि निर्मित करता है। द्रव्य वस्तु का निजी रूप, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से हमारी सब विभिन्न दृष्टियां या 'नय' बनते हैं।

(६) समता का मुख्य मूलाधार अहिंसा है। यदि मैं नहीं चाहता कि मेरे साथ बदसलूक हो, तो मैं दूसरे के साथ क्यों वैसा करूंगा ? 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' सिर्फ प्रवचन की बात नहीं, आचरण की बात है। पांचों ज्ञानेन्द्रियां, मानसिक, शाब्दिक, वाचिक शक्तियां, श्वास-प्रश्वास, वायु सब प्राणवंत हैं। उन्हें नष्ट करना, उनकी स्वतन्त्रता में बाधा डालना हिंसा है। विचार-स्वातंत्र्य, भाषण-स्वातंत्र्य, आवागमन स्वातंत्र्य, सूचना प्राप्त करना और प्रदान करने का स्वातंत्र्य जहां बाधित हो, वह हिंसा है।

(७) स्वालंबन समता का आधार सूत्र है। आचारांग सूत्र में महावीर कहते हैं—'अरे मानव ! तू ही मेरा मित्र है, बाहर किसे खोज रहा है ? वस्तुएं मानव के लिए हैं, मानव वस्तु के लिए नहीं।'

(८) साधकों की श्रेणियां सुविधा के लिये हैं। प्रथम श्रेणी में एक वर्ष से अधिक किसी प्रकार का मनोमालिन्य न रखा जाय। द्वितीय श्रेणी के साधक को चार महिने की अवधि दी जाती है। तृतीय श्रेणी के लिए पन्द्रह दिन की अवधि है। अंतिम या केवली में यह भेद बिल्कुल मिट जाता है। सब केवली बन सकते हैं।

(९) जैन धर्म गुरुडम में विश्वास नहीं करता' न पंडे-पुरोहितों में। उपास्य केवल आदर्श हैं जो रागद्वेषादि दुर्बलताओं को जीत लेते हैं वे ही 'देव' या उस मार्ग पर चलने वाले गुरु। 'णमो अरिहंताणं' देवों के लिए कहा गया। 'णमो आयरियाणं' गुरु-आचार्य के लिए।

(१०) जीवन में समता उतारने का अभ्यास ही 'सामायिक' है। जैन

साधना में इस पर बड़ा जोर दिया गया है। मुनि समस्त जीवन इसे साधित करता है, गृहस्थी कुछ समय के लिए। 'स्व' और 'पर' में, बाह्य और अभ्यंतर में एकरूपता पाने के लिए विकारों की विषमता दूर करते जाना जरूरी है। आरम्भ-संयम का यह कड़ा पुरश्चण है।

(११) सामायिक या 'संवर' में विकार रोक तो दिये। परन्तु यदि कुछ कलमष फिर भी रह गया तो उसे दूर करने को 'निर्जरा' या तपस्या कहा जाता है।

(१२) प्रतिक्रमण भी जैन साधना का एक अंग है इसका अर्थ है पीछे मुड़ना। इसमें पीछे की हुई भूलों का परिताप निहित है। सामायिक चतुर्विंशति-स्तव, वंदन-प्रतिक्रमण (आत्मालोचन), कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान इसके सोपान हैं। जीवन के काम में आने वाली वस्तुओं में एक-एक को छोड़ते जाना, सीढ़ी दर सीढ़ी त्याग सीखना इस समता–साधना में आता है।

(१३) प्रत्येक प्राणी से क्षमा प्रार्थना कर उन्हें वह क्षमा प्रदान भी करता है। शत्रुता समाप्त करके सबसे मित्रता की घोषणा अगला कदम है। जो व्यक्ति वर्ष में एक बार सच्चे हृदय से यह घोषणा नहीं करता,अपने मन से सब मलिनता और द्वेष नहीं हटाता, वह सच्चा जैन नहीं। यह सांवत्सरीक पर्युषण पर्व, बौद्धों के 'पातिमोक्ख' की तरह या वैष्णवों की तरह पापनाशिनी एकादशी की तरह पुनः सब प्राणियों को एक ही समतल पर ले आता है।

(१४)मनुष्य अनन्त ज्ञानीहोने पर भी अल्पज्ञ क्यों है ?अनन्त सुखी होने पर भी दुःखी क्यों हैं, अनन्त शक्ति सम्पन्न होने पर भी दुर्बल क्यों है ? क्योंकि बाह्य प्रभाव या 'कर्म' उसे बांधता है। न्याय तभी होगा जब पुरुषार्थ और फल में समानता होगी। मनुष्य अपने ही कर्मों से यह विषमता पैदा करता है, अपने कर्मों से ही वह समता ला सकता है।

(१५) जैन संघ में पुरुष या स्त्री,ब्राह्मण हो या शूद्र,जाति, लिंग, व्यवसाय के आधार पर कोई वैषम्य नहीं रखा गया है। आयु, जाति या लिंग के अनुसार परस्पर–अभिवादन भिन्न नहीं हैं। जैन दर्शन ने स्त्री को समान अधिकार देकर उन्हें साध्वी बनने दिया, जो कि हिंदू या वैदिक सनातन धर्म की अगली सीढ़ी थी। जैन दर्शन मानता है कि—

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद्विश्वदृश्वास्ति कश्चन ।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽप्युपपत्तितः ।।

किसी भी सर्वदृष्टा और अनादिकाल से कर्मों से अस्पृष्ट ऐसे व्यक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। बिना उपाय के सिद्धि प्राप्त करना अनुपपत्त है।

—७३, वल्लभनगर, इन्दौर--३

जैन आगमों में संयम का स्वरूप

❀ श्री केवलमल लोढ़ा

मनीषियों का उद्‌बोधन है 'संयमं खलु जीवनं' यानि संयम ही जीवन जीने की कला है और असंयम मृत्यु है। उस संयम की व्याख्या जैन आगमों में उसका स्वरूप (प्रकार, फलादि) आदि बिन्दुओं पर यहां संक्षिप्त वर्णन करना अभीष्ट है।

व्याख्या—(i) संयम शब्द 'सं' उपसर्ग और 'यम' धातु से बना है। 'सं' का अर्थ सम्यक् प्रकार से और 'यम' का अर्थ नियंत्रण करना है। यानि मन, वचन, काया की पापरूपी प्रवृत्तियों का सम्यक् प्रकार से नियंत्रण करना संयम है।

(ii) सम्यक् ज्ञान, दर्शन पूर्वक बाह्य और आन्तरिक आश्रव स्रोतों से विरति (असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति—'असंजमे नियतिं च, संजमे च पवत्तणं—उत्तरा. अ. ३१-२) होना संयम है।

(iii) हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरति (पांच महाव्रत) संयम है। ठाणांग—ठाणा ५

(iv) पांच समिति और तीन गुप्ति (द्वादशांग रूप प्रवचन—उत्तरा. अ. २४—३) सर्व विरतिरूप चारित्र संयम है। पांच समिति में यतनावाले संयमी श्री हरिकेशीबल मुनि समाधि मुक्त थे (अ. १२—२)

(v) प्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी के क्षय, उपशम, क्षयोपशम से आत्माओं में सर्वविरति रूप परिणाम की प्राप्ति होती है, वह संयम है। चारित्र और संयम दोनों सापेक्ष हैं—आधार—आधेय रूप हैं।

चरम तीर्थंकर भगवान महावीर का वीतराग मूलक संयम धर्म का वर्णन अनेक दृष्टियों से वर्तमान उपलब्ध आगमों में सर्वत्र दृष्टिगोचर है। इनमें से कुछ शास्त्रों की झांकी यहां प्रस्तुत की जा रही है।

दशवैकालिक सूत्र में—

(क) धर्म अहिंसा—**संयम**—तप रूप है। अ. १—१/अ. ६—९ में भी 'अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भुएसु संजमो'—सव प्राणियों की संयम पालन रूप अहिंसा अनंत सुखों को देने वाली है।

(ख) समभाव पूर्वक संयम में विचरते हुए साधक का मन यदि कभी संयम से बाहर निकल जावे तो वह वस्तु मेरी नहीं हैं और न मैं उसका हूं। इस प्रकार चिंतन करते हुए, उस पर से राग भाव को दूर करे(अ. २-४) । वमन

किये हुये भोगों को पुनः भोगने की इच्छा नहीं करे। इस पर राजमती—रथनेमि को असंयम से संयम स्थित होने का प्रेरणादायक दृष्टान्त गाथा ६-१० में दृष्टव्य है।

(ग) संयमी के निषिद्ध अनाचार अ. ३ गाथा १–६ तक व संयम तप से पूर्व संचित कर्म क्षय होते हैं और फलस्वरूप साधक सिद्ध होता है या कुछ कर्म शेष रह जावें तो दिव्य देवलोकवासी होता है, गाथा १४ अवलोकनीय है।

(घ) चतुर्थ अ. में शुद्ध संयम पालने हेतु छः जीवनिकाय का स्वरूप, पाँच महाव्रतों की विस्तृत जानकारी देने के साथ-साथ यतनापूर्वक चलने, ठहरने, बैठने, सोने, भोजन, भाषण करने से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता, संयम साधने की प्रथम से अन्तिम चरण सिद्धालय—लोक के अग्रभाग में शाश्वत स्थित होने का सुन्दर पथ प्रदर्शन है। इसी अध्ययन में सुगति मिलना किनको दुर्लभ और किनको सुलभ और वृद्धावस्था में भी संयमाचरण देव या मोक्ष गति का दायक है, इनका भी संकेत है।

(ङ) संयम का निर्वाह शरीर के माध्यम से होता है और उस शरीर को टिकाने के लिए आहार आवश्यक है। अतः निर्दोष आहार की गवैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा के नियम पंचम अ. में गुम्फित है। जो आहार, दान, पुण्य, याचकों, बौद्धादि भिक्षुकों और गर्भवती स्त्री के उद्देश्य से निर्मित हैं, वह प्रासुक होते हुए भी अग्राह्य है।

(च) संयम की विशुद्धि के लिए निम्न १८ स्थानों की विराधना न करने की प्ररूपणा छठे अध्ययन में है:—

६. (छ) व्रत—पांच महाव्रत और छठा रात्रि भोजन विरमण व्रत।

१२. काय छः—पृथ्वीकाय, अप्पकायादि छः कायों की रक्षा करना।

१३. अकल्पनीय पदार्थों को ग्रहण न करना।

१४. गृहस्थ के बर्तनों में भोजन न करना।

१५. पलंग पर न बैठना।

१६. गृहस्थी के आसन पर न बैठना।

१७. स्नान न करना।

१८. शरीर की विभूषा न करना।

(ज) संयमी के लिए निर्वद्य भाषा बोलने की (दोष टाल कर बोलने की) पूरी विधि सातवें अध्ययन में कही गई है जिनके पालने से संयमी साधक आराधक होकर मुक्त होता है (वचन या भाषा संयम)।

(झ) अष्टम अध्याय में संयम दूषित न होवे, उसके लिए साधक निद्रालु, आलसी न होवे, हंसी-मजाक का त्याग, बहुश्रुत मुनि या गुरु के पास बैठने आदि

ी विधि और क्रोध को उपशम भाव से विफल करे, मान को मृदुता से जीते, ाया को सरलता से नष्ट करे और लोभ को संतोष से वश में करे, ऐसी संयम ी विशेष आचार प्रणिधि का निर्देशन है।

(ञ) नवमें अध्ययन में संयम रूप धर्म का मूल विनय है (एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो सो मोक्खो ३२-२)। ऐसे विनय गुण का विवेचन, विनय-अविनय के भेद, अविनीत को आपदा और विनीत को सुख सम्पदा, पूज्य कौन है उसका स्वरूप और अन्त में विनय, श्रुत, तप और आचार रूप चार प्रकार की समाधि का वर्णन है।

(ट) संयम के आचार-गोचर का पालन करने वाला संयमी भिक्षु होता है। उस भिक्षु के लक्षण, हाथ संजए, पाय संजए, संजइन्द्रिय आदि दशम अध्ययन में संग्रहीत हैं।

(ठ) संयम ग्रहण करने के पश्चात् यदि संयमी के मन में किसी प्रतिकूल, अनुकूल प्रसंगों के कारण संयम से अरुचि हो जावे तो, वह गृहस्थवास में लौटने के पहले निम्न १८ स्थानों पर गम्भीर चिंतन करे, जिससे उसका मन पुनः संयम में दृढ़ हो जावे। जैसे—अंकुश से हाथी, लगाम से घोड़ा और पताका से नाव सही पथ पर आ जाते हैं (पहली चूलिका)।

(१) यह दुखमकाल है और जीवन दुखमय है। (२) गृहस्थों के काम-भोग तुच्छ और अल्पकालीन हैं। (३) इस दुखम काल के बहुत से मनुष्य बड़े मायावी होते हैं। (४) जो दुःख प्राप्त हुआ है वह भी चिरकाल तक नहीं रहेगा। (५) गृहस्थ में नीचजनों की चापलूसी करनी पड़ती है। (६) गृहस्थावास में लौटने पर वमन किये हुवे दुबेख भोगों को फिर चाटना पड़ेगा। (७) गृहस्था–वास में लौटना नर्क गति में जाने के समान है। (८) गृहस्थवास में अचानक प्राणनाशक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। (९) गृहस्थवास में धर्म पालना दुष्कर है। (१०) गृहस्थ में संकल्प–विकल्प सदा होते रहते हैं जो अहितकर हैं। (११) गृहस्थवास क्लेशयुक्त है और संयम क्लेश रहित है। (१२) गृहस्थवास बन्धनयुक्त है और संयम मुक्ति है। (१३) गृहस्थवास पापयुक्त है और संयम निष्पाप है। (१४) गृहस्थों के काम भोग वहुत साधारण हैं। (१५) प्रत्येक प्राणी के पुण्य–पाप अलग-अलग हैं। (१६) मनुष्य का जीवन कुश के अग्रभाग स्थित जल बिन्दु के समान अनित्य व क्षणिक है। (१७) निश्चय ही मैंने पूर्व में बहुत पाप कर्म किये हैं जिससे संयम छोड़ने का निन्दनीय विचार मेरे मन में उत्पन्न हुआ। (१८) मिथ्यात्वादि दुष्ट भावों से उपार्जित पाप के फल को भोगे विना जीव को मोक्ष नहीं होता। तप के द्वारा उन कर्मों का क्षय होने से जीव मुक्त होता है।

(ड) दूसरी चूलिका में संयमी के लिए विशेष चर्या का कथन है। पाँचों

इन्द्रियों को सुनियंत्रित कर आत्मा की रक्षा करे, क्योंकि अरक्षित आत्मा जन्म-मरण करती है और सुरक्षित आत्मा सर्व दुखों से मुक्त होती है, गाथा १६।

उत्तराध्ययन सूत्र में—

(क) संयमी मोक्ष अर्थ वाले आगमों को सीखें तथा शेष निरर्थक का त्याग करें, अ. १–८।

(ख) कर्मों की निर्जरा हेतु और संयम से च्युत न होने के लिये २२ परिषहों को संयमी समभाव से सहन करे (अ. २)।

(ग) चार दुर्लभ अंगों में संयम में पराक्रम फोड़ना भी दुर्लभ है अ. ३–१०।

(घ) कई नामधारी साधु से गृहस्थ (श्रावक) उत्तम संयम वाले होते हैं परन्तु सभी गृहस्थों से साधु उत्तम एवं शुद्ध संयमी होते हैं, अध्याय। ४-२०

(ङ) जो पुरुष प्रतिमास दस लाख गायों का दान देता है, उसकी अपेक्षा दान नहीं देने वाले मुनि का संयम अधिक श्रेष्ठ हैं, अ. ९–४०।

जो मास-मासखमण की तपस्या करता है और पारणा में कुश के अग्र-भाग में आवे उतना आहार करता है, उस अज्ञानी के तप से जिनेन्द्र देव से कथित धर्म (संयम धर्म) सोलहवीं कला के बराबर नहीं है अर्थात् कम है, गाथा ४४।

(च) दिव्य काम-भोगों को त्याग कर संयमी जीवन का यापन कर मुक्त होने वाले मुमुक्षु जीवों का वर्णन चित्त मुनि का अ. १३ में इक्षुकार राजा आदि छः जीवों का अ. १४ में, संयति राजा का अ. १८ में, मृगापुत्र का अ. १९ में, समुद्रपाल का अध्याय २१ में, अनाथी मुनि का अ. २० में, रथनेमि का अ. २२ और जयघोष विनय अ. २५ में हैं। ज्ञाता धर्म कथा मेघकुमार अ. १, शैलकराज ऋषि अ. ५, पुण्डरीक अ. १९ इसी तथ्य के सूचक हैं।

(छ) चंचल घोड़ों के समान चारों ओर भागते हुए मन को श्रुतज्ञान रूपी लगाम से बांध कर वश करने का कथन अ. २३ गाथा ५५-५६ में हैं। ऐसा सुशिक्षित मन उन्मार्ग में गमन नहीं करता, (मन संयम)।

(ज) संयम में सहायक रूप (१) अष्ट प्रवचनमाता (अ. २४), समाचारी अ. २६, मोक्षमार्ग (अ. २८), तपो मार्ग अ. ३० है जिनके प्ररुपित नियमों के पालने से संयम विकसित होता है और विशुद्धि की ओर चरण बढ़ते हैं।

(झ) असंयम की घातक प्रवृत्तियाँ जिनके सेवन से जीव की अकाल में मृत्यु हो जाती है। अध्ययन ३२ में शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श की तीव्र आसक्ति का दृष्टान्त क्रमशः हिरण, पतंगा, मछली, भंवरा व हाथी से दिया गया है। इस

इस अकाल युद्ध का ज्वलंत दृष्टान्त कुंडलिक मुक्ति का (ज्ञाता धर्मदशांग अ. १९) में दृष्टव्य है, जो सिर्फ तीन दिन की भोग आसक्ति के कारण सातवीं नर्क में गये। राग-द्वेष की प्रवृत्तियों में जो सम्भाव रखता है वह संयम का आराधक होता है।

(ञ) अकाल मरण (असंयमी का) सकाम मरण (संयमी का) अ. ५ पापी श्रमण (असंयमी) सभिक्षुक, अनगार (संयमी) अ. १५ और ३५ के तुलनात्मक अध्ययन से साधक को उपादेय मार्ग को ग्रहण करने की और हेय मार्ग को छोड़ने की प्रेरणा मिलती है।

(ट) संयमी के तीसरे मनोरथ (संलेखना) का विस्तृत वर्णन अ. ३६ में है वह आदरणीय है। गाथा २५०—२५५

उत्तराध्ययन के कुछ विशिष्ट सूत्र इस प्रकार हैं—

१. सपुज्जसत्थे सुविणीयसंसए अ. १-४७ विनीत का पुज्जशास्त्र (ज्ञान) जनता द्वारा पूजनीय-सम्मानीय होता है। उसके सारे संशय नष्ट हो जाते हैं।

२. अप्पमतो परिव्वए (६-१३) संसार में अप्रमत्त भाव से विचरण करो।

३. चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे (७-२९) अधर्म का त्याग कर धर्मिष्ठ बनो।

४. सव्वेसु काम जाएसु पासमाणो न लिप्पइ (८-४) समस्त कामभोगों में उनके दोषों को देखता हुआ आतम रक्षक मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

५. समयं गोयम ! मा ममायए (१०-३) पूर्व संगृहीत कर्म-धूलि को तप संयम द्वारा दूर करने में हे गौतम ! क्षण-मात्र का प्रमाद मत करो।

६. धणेण किं धम्मधुसहिरारे (१४-१७) धर्म (संयम रूपी धर्म) को धारण करने में धन का क्या प्रयोजन ?

७. अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो जहिं पवन्ना न पुण नवामो (१४-२८) आज ही संयम रूप धर्म को ग्रहण करेंगे, जिसकी शरण लेने के पश्चात् पुनः जन्म धारण करना नहीं पड़े।

८. अभयदाया भवाहि य (१८-११) हे राजन् ! तुम भी अभय दाता बन जाओ अर्थात् संयम ग्रहण करो।

आचारांग सूत्र में—सुत्ता अमुनि, मुनिणो सया जागरकिर (३-१-१६६) अमुनि सोते रहते हैं और मुनि सदा जाग्रत रहते हैं।

सूत्रकृतांग सूत्र में—एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसई किंचणं (१-११-१०) ज्ञान का सार यही है कि कोई जीव की हिंसा न करे।

ठाणांग सूत्र में—

(क) संयम दो प्रकार है—१. सराग संयम और २. वीतराग संयम।
अन्य प्रकार से—१. इन्द्रिय संयम और २. प्राणी संयम।

(ख) संयम तीन प्रकार का—मन, वचन, काय संयम। तीनों को अशुभ से हटाकर शुभ में प्रवर्तावें।

(ग) संयम चार प्रकार का—मन, वचन, काया, उपकरण संयम वस्त्र, पात्रादि अल्पसंख्या में रखना व उनकी कालोकाल प्रतिलेखना करना उपकरण संयम है। इसी तरह से संयम के ५-६ आदि भेद हैं।

(घ) संयम में स्खलना होने पर उसकी शुद्धि हेतु छह प्रकार के प्रतिक्रमण का विधान है—

१. उचार प्रतिक्रमण—मल विसर्जित कर लौटने पर इर्यापथिक प्रतिक्रमण करना।

२. प्रसवण प्रतिक्रमण—मूत्र विसर्जित कर लौटने पर इर्यापथिक प्रतिक्रमण करना।

३. इत्वरिक प्रतिक्रमण—देवसिय, रायसि आदि काल सम्वन्धी प्रतिक्रमण। ३२ वें आवश्यक सूत्र में इसका विधि-विधान है।

४. यावत्कथित प्रतिक्रमण—मारणान्तिक संलेखना के समय किया जाने वाला प्रतिक्रमण।

५. यत्किंचित प्रतिक्रमण—साधारण दोष लगने पर उसकी विशुद्धि हेतु मिच्छामि दुक्कडं कहकर खेद प्रकट करना।

६. स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण—दुस्वप्न आदि देख कर किया जाने वाला प्रतिक्रमण।

(ङ) दसम ठाणा में दस प्रकार के श्रमण धर्म जिसमें संयम धारण करने का सातवां भेद है।

भगवतीजी सूत्र में—

शतक २५ उद्देशा ६ व ७ में पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ (पुलाक, बकुश, कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक) व ५ प्रकार के संयम चारित्र (सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्याता का २६ द्वारों में इनकी जानकारी संग्रहीत हैं। इनमें संयम के स्थान, संयम के पर्यव व उनकी अल्पाबहुत्व, संयम के परिणाम और भव द्वार भी हैं। संयमी जघन्य उसी भव में, उत्कृष्ट ८ भव तक आता है। आठवें भव में नियमा मोक्ष जाता है। संयम चारित्र के परिणाम एक भव में जघन्य एक बार, उत्कृष्ट प्रत्येक सौ बार आते हैं। संयम चारित्र के परिणाम अनेक भवों में जघन्य दो बार, उत्कृष्ट प्रत्येक हजार बार आते हैं।

समवायांग में—

१७ वें समवाय में १७ प्रकार के संयम की प्ररूपणा है। (१-५ पृथ्वी-

ाय से वनस्पतिकाय), ६-९ बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय संयम, १० ां अजीव ११, प्रेक्षा (वस्त्र पात्रादि उपकरण देखकर, पूंज कर लेवे और रखे) २, उपेक्षा (अज्ञानियों के अशुभ वचनों की उपेक्षा करना) १३, प्रमार्जन १४, रिठना (मल-मूत्र आदि का उपयोग पूर्वक परठना) १५, मन संयम, १६, वचन iयम और १७ काय संयम ।

संयम के १७ प्रकार दूसरी तरह से—५ आश्रव का त्याग, ५ इन्द्रियों का नियंत्रण, ४ कषाय का निग्रह और ३ योगों का निरंधन । उपासकदशांग, णुत्तकोवनाद्वदशा, अन्तराङ्गदशांग देश संयम और पूर्ण संयम के क्रमशः पालन के प्रयोगात्मक शास्त्र हैं ।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में—

पांच आश्रव द्वार असंयम के हैं और फिर ५ संवर द्वार संयम के हैं । प्रथम संवर द्वार अहिंसा के ६० नामों में ४१ वां संयम नाम है (मन एवं ५ इन्द्रियों का निरोध व जीव रक्षा) पंचम संवर द्वार में अपरिग्रह व्रत की ५ भावनावों में प्रथम श्रोतेन्द्रिय संयम जाव पांचवें में स्पर्शइन्द्रिय संयम है ।

विपाक सूत्र में—'दुच्चीणा कम्मा, दुच्चीणा फला' असंयमी कैसे दारूण दुःख भोगते हैं, इसका रोमांचक वर्णन दुख विपाक में है और संयमी सुखे-सुखे मोक्ष जाता है इसका साक्षी सुखविपाक सूत्र है –'सुच्चीणा कम्मा, सुच्चीणा फला । पन्नवणा के ३० वें, संयम पद में संयत के चार भेद यथा संयत, असंयत, संयता-संयत और नो संयत, नो असंयत नो संयतासंयत की प्ररूपणा है ।

२४ दण्डक में २२ दण्डक एकान्त असंयत है, तिर्यंच पंचेन्द्रिय असंयत और संयतासंयत है, मनुष्य में प्रथम तीन भेद और सिद्धों में केवल चतुर्थ भेद पाया जाता है ।

उपसंहार—भगवान् महावीर ने फरमाया है कि संयम से आश्रवों का निरोध होता है 'संजमेण अणण्हंत जणयइ उत्तरा. अ. २९ बोल २६ और इसकी परम्परा फल मोक्ष है । ऐसा समझकर भव्य जीवों को अपने लक्ष्य मुक्ति–प्राप्ति हेतु संयम को यथाशीघ्र धारण करना चाहिए, क्योंकि संयम समाचारी का सम्यक् रूप से आचरण करने से बहुत से जीव संसार-सागर से तिर गये, वर्तमान में तिर रहे हैं और भविष्य में तिरेंगे (जं चरित्ता बहु जीवा, तिणा संसार सागरं, उ. २६-५३) ।

—A–८, महावीर नगर, टोंक रोड जयपुर–१५

卐

इस्लाम में संयम की अवधारणा

❀ डॉ. निज़ामउद्दीन

'संयम' के लिए इस्लाम धर्म में 'तकवा' शब्द का प्रयोग किया जाता है, यानि 'संयम' का समानार्थक शब्द 'तकवा' है जिसका अर्थ है परहेज, इन्द्रिय-निग्रह। जो संयमपूर्ण व्यवहार करता है उसे मुत्तकी, जाहिद, तकी (संयमी) कहते हैं। इस्लाम धर्म में तकवा जीवन के हर पहलू को समाविष्ट किए है। खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, बातचीत करना, खरीदोफरोख्त करना, नापतौल, रोजा, नमाज सब जगह मनुष्य को मुत्तकी रहना चाहिए, संयमी बनना चाहिए। रोजा-नमाज हो या हज का फरीजा हो, शादी-ब्याह हो या पड़ोसी के साथ बर्ताव करना हो, बिना तकवे के, संयम के गाड़ी नहीं चल सकती। जब पैगम्बर मुहम्मद साहब ने फरमाया कि बेहतरीन इस्लाम यह है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की जबान व हाथ से महफूज रहे। इससे जाहिर है कि जब मनुष्य बातें करे तो उसमें किसी को न ठेस पहुंचे, न किसी की हंसी खिल्ली उड़ाई जाए, न झूठ बोला जाए, न फरेब या धोखा दिया जाए। जबान पर काबू रखना चूंकि आसान नहीं होता, जबान का जख्म तलवार के जख्म से भी अधिक घातक होता है इसलिए जबान पर संयम रखने का आदेश दिया गया है। पैगम्बर साहव का फरमाना है कि ए लोगों! तुम किसी के खुदा को, पैगम्बर को बुरा मत कहो, वे तुम्हारे खुदा को पैगम्बर को बुरा कहेंगे। यह है धार्मिक सहिष्णुता, सर्वधर्मसद्भाव। आज धार्मिक सहिष्णुता नहीं है इसीलिए तो जगह-जगह साम्प्रदायिक दंगों से बेशकीमती जानें खत्म होती हैं, मनुष्य के खून से मनुष्य के हाथ रंग जाते हैं, गली-सड़कें रक्तरंजित हो जाती हैं।

इस्लाम धर्म के जो पांच आधारभूत सिद्धान्त हैं[1] उनमें नमाज का दूसरा दर्जा है। नमाज पढ़ने का हुक्म कुरान में बार-बार दिया है, नमाज पढ़ना और उसे कायम रखना जरूरी है। यह नहीं कि जब चाहा पढ़ी, जव चाहा न पढ़ी। निरन्तर उसे पढ़ना है, पांचों समय पढ़ना है क्योंकि नमाज बुराइयों से बचाती है। खुदा के सामने पाक-साफ होकर हाथ वांधकर मनुष्य जब नमाज पढ़ता है तो वह अपने आपको पापकर्मों से दूर रखता है। वह नमाज क्या जो मनुष्य के आंतरिक मैल को न धो डाले! वह नमाज क्या जो सही गलत की तमीज इन्सान में पैदा न करे! वह नमाज क्या जो मनमुटाव ईर्ष्या-द्वेष को दूर न करे! नमाज का मकसद मनुष्य को संयम के पथ का पथिक वनाना है। इसी प्रकार 'रोजा' को देखिए। इस्लाम धर्म का यह तीसरा स्तम्भ है। प्रत्येक व्यस्क पर रोजा भी

---

१ तौहीद, २ नमाज, ३ रोजा, ४ जकात, ५ हज

नमाज की भांति फर्ज है और इसका मकसद जहां खुदा की खुशनूदी हासिल करना है वहां उसके द्वारा मनुष्य में 'तकवा' पैदा करना भी है। कुरान में स्पष्ट शब्दों में इसका उल्लेख किया गया है—"या अय्यु हल्लीना आमनु कुतिबा अलैकुमुस्स्यामु कमा कुतिबा अलल्लजीना मिन कबलिकुम ला अल्लाकुम तत्ताकून" (२,१९२) अर्थात् ए ईमान वालों ! तुम पर रोजे फर्ज किए गए जिस तरह तुम से पहले लोगों पर फर्ज किए गए ताकि तुम परहेज़गार बन जाओ। यानि रोजा मनुष्य को परहेज़गार बनाता है, मुत्तकी, संयमी बनाता है; आत्मनिग्रही या इन्द्रियनिग्रह बनाता है। केवल दिन भर भूखा-प्यासा रहने का नाम रोजा नहीं है। रोजा नाम है संयम का, इन्द्रियनिग्रह का। जबान का रोजा है कि मुंह से किसी को अपशब्द न बोलें, किसी की अवमानना न करें। सामने स्वादिष्ट से स्वादिष्ट व्यंजन भी रखे हों तो उन्हें न खाए, न स्पर्श करे। क्रोध से, घृणा से, कामुकता से किसी पर नजर न डाले। आंखों में कामासक्ति का रंग चढ़ा हो तो रोजा क्या है ? अपने हाथों पर भी संयम रखे, उनसे कम नापतौल न करे, खाने-पीने की चीजों में मिलावट न करे, रिश्वत न ले। पैरों पर संयम यह है कि उन्हें कुमार्ग पर न चलने दे।

इन सभी इन्द्रियों का रोजा है, उन्हें संयम में रखना है। चारित्रिक शुद्धता का महीना है रमजान का, रोजों का महीना। मनुष्य अपने लिए तथा अपने परिवार के लिए धनार्जन करता है, जीविकोपार्जन करता है, लेकिन इसमें हलाल की कमाई हो, हराम की न हो। संयम से ही धन कमाया गया है। चरस बेचना व्यापार नहीं। मादकद्रव्यों का कारोबार मनुष्य के लिए कलंक है। शादी-ब्याह में दहेज लेना-देना अनुचित है, दंडनीय है। इस्लाम भी इनकी इजाजत नहीं देता। हमारे सभी काम धन के द्वारा चलते हैं, लेकिन धन जमा करना भी मर्यादा में, न्याय की सीमा में, संयम की रेखा में बंधा हो। संयम की लक्ष्मण-रेखा का जब उल्लंघन होता है तो उस समय न केवल सीता-सात्विक गुणों का हरण होता है बल्कि विनाशकारी युद्ध भी होता है जिसमें रक्तपात होता है। संयम की दौलत जिसके पास है उसे और कुछ ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं, उसे मुक्ति मिलेगी, जन्नत मिलेगी। कुरान कहता है—

"इन्ना अकरामाकुम इन्दल्लाहि अतकाकुम"

अर्थात् अल्लाह के निकट वही व्यक्ति आदरणीय है, श्रेष्ठ है जो मुत्तकी है, संयमी है, परहेजगार है।

संयमी उसी प्रकार पाप-प्रभावों से, बुराइयों से दूर रहता है जैसे परहेज करने वाला रोगी शीघ्र रोग से मुक्त हो जाता है। वह रोगी जो डॉक्टर द्वारा सुझाए गए परहेज पर अमल नहीं करता वह कैसे ही अच्छे डॉक्टर से इलाज कराए कितनी ही 'फॉरन' औषधियों का सेवन करे कभी स्वास्थ्य लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। आज हमारे सामने धर्मशास्त्र हैं, ऋषि-मुनियों, सन्तों-सिद्धों

के मंत्र-उपदेश हैं, प्रवचनामृत हैं फिर भी हम दिन-ब-दिन पतनोन्मुखी होते जा रहे हैं, होना चाहिए था ऊर्ध्वोन्मुखी ! इसलिए कुरान में दूसरी 'सूरत' (अध्याय) में 'मुत्तकी' बनने का आदेश दिया गया है । कुरान का अवतरण ही इसलिए हुआ ताकि मनुष्य 'मुत्तकी संयमी परहेजगार बन सके, खुदा से डरता रहे—"हुदल्लिल-मुत्तकीन ।" कुरान की ४६ वीं सूरत 'अल-हुजुरात'[1] में अनेक बातें ऐसी हैं जो हमारी नैतिकता का मार्ग आलोकित करती हैं । कुरान है ही हिदायत देने वाली, मार्गनिर्देशन करने वाली किताब । कुरान में इरशाद है—ए ईमान वालों ! तुम आपस में किसी का मजाक न उड़ाओ, किसी पर छींटाकशी न करो, जो कोई आपस में लड़े उसमें सुलह-सफाई करा दो । किसी की निन्दा न करो, न किसी के भेद जानने की कोशिश करो, किसी की चुगली करना, पीठ पीछे बुराई करना ऐसा है जैसे अपने ही भाई का मांस खाना । कुरान कहता है कि "जमीन पर फसाद, उपद्रव मत करो, अल्लाह फसाद, दंगा करने वालों को पसन्द नहीं करता । तुम जमीन पर इतराकर मत चलो, अहंकार-मद में मत झूमो, तुम जमीन को फाड़ नहीं सकते, न पहाड़ों को हिला सकते हो । यहां मनुष्य के आचरण को संयमित करने का सदुपदेश दिया गया है और कुरान उपदेश दे सकता है, दिशा-निर्देशन कर सकता है, डंडा लेकर किसी के पीछे नहीं चल सकता उन्हें सद्मार्ग पर चलाने के लिए ।

इस्लाम में 'संयम' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गया है वैसे ही जैसे जैनधर्म में किया गया है । 'तकवा' (संयम) का धात्वर्थ है परहेज करना, बचना है यानि जो वस्तु किसी प्रकार से हानि पहुंचाए उससे अपने को बचाना है । पैगम्बर मुहम्मद साहब ने फरमाया कि जैसे रास्ते में कांटों से अपने दामन को कोई बचाकर चलता है वही 'तकवा' है । इस्लाम में तकवा उस भाव को कहा जाता जिसमें अल्लाह की अजमत को तसलीम करते हुए, उसे सर्वगुण-सम्पन्न मानते हुए उसके भय का स्मरण रखा जाए । सदैव अल्लाह के प्रति कृतज्ञता का भाव रखकर विनम्रतापूर्ण व्यवहार किया जाए उसके आदेश की, कभी अवज्ञा न करे । अतः यतीमों के माल न खाने चाहिए, मां बाप को कभी भी 'उफ' नहीं कहना चाहिए, न उनसे ऊंची आवाज में बात करें, न सूद लें, न अपने अहद को—वचन को तोड़ें । इस प्रकार इन सब बुराइयों से बचना 'संयम' हैं । पैगम्बर मुहम्मद साहब का व्यक्तित्व, उनका समस्त जीवन संयम की साक्षात प्रतिमा है । इस्लाम में संयम का विशेष महत्त्व है ।

—इस्लामिया कॉलेज, श्रीनगर-१९०००२ (कश्मीर)

---

१ यहां छः बातों से बचने का साफ आदेश है—(१) मजाक उड़ाना (२) किसी पर दोषारोपण करना, बोहतानतराशी (३) अपशब्दों से सम्बोधन करना (४) गुमान (६) छिद्रान्वेषण (६) चुगली, गीबत कराना ।

मसीही धर्म में संयम का प्रत्यय

❋ डॉ. ए. बी. शिवाजी

वर्त्तमान में यह अनुभव हो रहा है कि मानव-मूल्य सभ्यता के क्षेत्र में पतन के गर्त में पहुंच चुका है। कोई भी धर्म हो, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा देता है किन्तु कितने लोग हैं जो उस आचरण को अपने जीवन में उतारते हैं। क्या कारण है कि मानव उन आदर्शों को अपने जीवन में नहीं उतार पाते। जहां तक मेरी अल्प बुद्धि की समझ में आता है वह यह कि मनुष्य जीवन से संयम नामक तत्त्व लुप्त हो चुका है अथवा मैं यह कहूं कि भौतिकवाद के प्रभाव से मानव संयम को खो चुका है और इसी कारण आज अधिक हत्याएं, चोरी, व्यभिचार और नाना प्रकार के अपराधों के बारे में सुनने को मिलता है। समस्त धर्म मानव को संयम की शिक्षा देते हैं। आइये हम मसीही धर्म में प्राप्त संयम के प्रत्ययों का अवलोकन करें।

मसीही धर्म एक व्यावहारिक धर्म है। वह व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करता है। मसीही धर्म केवल एक सिद्धान्त ही नहीं, व्यावहारिकता है। संयम एक ऐसा प्रत्यय है जो शरीर को आध्यात्मिकता के लिए बलशाली और दृढ़ बनाता है क्योंकि निर्बल शरीर द्वारा आध्यात्मिकता का वहन नहीं किया जा सकता। वास्तविक रूप से संयम का अर्थ है अपनी इन्द्रियों को नियंत्रण में रखना। संयम रखने की प्रथम आवश्यकता मानव के जवान होने पर अधिक होती है। इस कारण मसीही धर्म की प्रथम और महत्त्वपूर्ण शिक्षा यह है कि अपनी जवानी पर संयम रख। अभिलाषाओं का कभी अन्त नहीं होता। एक अभिलाषा की पूर्ति दूसरी अभिलाषा को जन्म देती है। चाहे धन कमाने की अभिलाषा हो, चाहे नाम कमाने की। यद्यपि यह सही है कि अभिलाषा के बिना मानव विकास नहीं कर सकता फिर भी कहा गया है कि "जवानी की अभिलाषाओं से भाग" याकूब की पत्री १, १४, १५ में कहा गया है, "प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही अभिलाषा से खींचकर और फंसकर परीक्षा में पड़ता है।" अभिलाषाएं अन्त में मनुष्य का सर्वनाश ही करती हैं।

मनुष्य में सबसे अधिक 'काम' के प्रति अभिलाषा होती है। दस आज्ञाओं में से एक आज्ञा है, **"व्यभिचार न करना"** (निर्गमन २०:१४) अर्थात् संयम रखना किन्तु मानव समय-असमय काम की प्रवृत्ति को संतुष्ट करने में नहीं हिचकिचाता। वह शारीरिक एवं मानसिक दोनों रूपों से व्यभिचार करता है। इसलिए ब्रह्मचर्य का उपदेश दिया जाता है। धार्मिक रूप से ब्रह्मचर्य के पालन की बात कही जाती है क्योंकि जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता उसकी उम्र कम

क्रोध तो करो, पर पाप मत करो । सूर्य अस्त होने तक तुम्हारा क्रोध जाता रहे।" (इफिसियों की पत्री ४:२६) कुलुसियों की पत्री में कहता है, "क्रोध, रोष, बैर-भाव, निन्दा और मुंह से गालियां बकना, ये सब बातें छोड़" (कुलुसियों ३:८) मानव आचारण में आज असंयमिता घुल-मिल गई है । इसी कारण सभ्यता का विनाश करीब दिखाई पड़ता है ।

आज के युग को तीन प्रकार के उपर्युक्त संयम पालन करना आवश्यक हो गया है ताकि मानव जाति विनाश से बचाई जा सके । मसीही धर्म की वास्तविक शिक्षा यही है कि प्रभु यीशु में बिश्वास कर, मन, वचन और कर्म से संयम रख उस जीवन को प्राप्त करें जिसे मोक्ष की संज्ञा दी जाती है ।

—प्रोफेसर, दर्शन विभाग, माधव कॉलेज, उज्जैन (म. प्र.)

स्वस्थ रहने का राज

❀ प्रेमलता

एक दफा एक बादशाह ने एक नगर के एक बुर्जुग के पास एक हकीम भेजा । वह साल भर उस नगर में रहा किंतु एक भी आदमी उसके पास इलाज कराने नहीं आया । हकीमजी रोज मरीजों का इन्तजार करते रहते ।

बेचारे हकीम महाशय परेशान ! वह समझ नहीं पाए कि आखिर माजरा क्या है ? अंत में वह बुर्जुग के पास गया और बोले– "हुजूर, मुझे आपके चेलों का इलाज करने के वास्ते यहां भेजा गया लेकिन अब तक एक भी आदमी ने मुझसे इलाज नहीं करवाया । बताइए मैं क्या करूं"

बुर्जुग महोदय ने हकीम साहब को आदर सहित बैठाया और फिर उन्हें समझाया—"दरअसल मेरे चेलों की आदत है कि जब तक उन्हें जोरों की भूख नहीं लगती, वे खाना नहीं खाते और जब थोड़ी सी भूख बाकी रहती है, वह तभी खाना छोड़ देते हैं ।"

हकीम साहब ने कहा—"वाह, जनाब ! अब समझ में आया कि उन्हें मेरी जरूरत क्यों नहीं पड़ती । भाई जान, ऐसे तो वे जिंदगी भर बीमार नहीं होंगे । मैं तो चला ।"

हकीम साहब ने अपना सामान उठाया और चल दिए ।

—वार्ड नं. ५, मकान नं. ३४, मुक्ति मार्ग, भवानी मण्डी

क्रोडपत्र २५ मार्च ९० के अंक का

जिन शासन प्रद्योतक आचार्य श्री नानेश का संवत् २०४७ का चातुर्मास वीरभूमी चित्तौड़गढ़ में, अक्षय तृतीय के पारणे मंगलवाड़ में और जन्म जयन्ती दांता में, भागवती दीक्षा पर कानोड़ में संघ का विशेष अधिवेशन

कपासन १३-३-९० : वीरभूमी मेवाड़ के इस प्रकृति की गोद में बसे प्रशान्त छोटे कस्बे में जिनशासन प्रद्योतक, समीक्षण ध्यानयोगी समता दर्शन प्रणेता, धर्मपाल प्रतिबोधक आचार्य-प्रवर श्री नानालालजी म. सा. होली-चौमासे के पावन प्रसंग पर आज देश के कोने-कोने से समागत हजारों श्रद्धालुओं की जनमेदिनी के बीच अपने संवत् २०४७ के चौमासे की आगागरों सहित चित्तौड़गढ़ करने की स्वीकृति फरमाई। इस घोषणा पर समूचा पांडाल जयघोषों से गूंज उठा।

उल्लेखनीय है कि होली चौमासे हेतु आचार्य-प्रवर आदि ठाणा २२ एवं शासन प्रभाविका श्री पानकंवरजी म. सा. आदि ठाणा सुख साता पूर्वक कपासन विराज रहे है। आज परम श्रद्धेय गुरुदेव तथा उनके आज्ञानुवर्ती संत-सती वृन्द के पावन दर्शन करने और गुरुदेव के समक्ष अपने-अपने संघों की विनंतियां निवेदित करने के लिए उपस्थित सहस्त्रों जनों को संबोधित करते हुए आचार्य प्रवर ने स्थानीय कृषि उपज मंडी के प्रांगण में चित्तौड़गढ़ चौमासे की धोषणा के साथ ही रखे जाने वाले सभी आगारों सहित आगामी अक्षय तृतीया दि. २७ अप्रैल १९९० को मंगलवाड़, भागवती दीक्षा के अवसर दि. ६ मई ९० को कानोड़ तथा जेठ सुदी २ दि. जन्म जयंती दिवस पर दांता में विराजने की स्वीकृति फरमाई। गुरुदेव ने अनेक स्थानों पर अपने आज्ञानुवर्ती साधु-साध्वी मंडल के चौमासों की स्वीकृति फरमाई और अनेक क्षेत्रों में खाली न रखने का विश्वास दिया। गुरुदेव ने पैर में तकलीफ और अन्य परिस्थितियों को देखते हुए सभी कार्यक्रम मेवाड़ क्षेत्र में रखे हैं। समागतों के हर्ष का पारावार न रहा।

ध्यातव्य है कि श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ ने कपासन में सम्पन्न कार्यसमिति बैठक में विशेष अधिवेशन भी दीक्षा अवसर पर कानोड़ आयोजित करने की घोषणा की है। इस अधिवेशन में आगामी कार्यकाल हेतु अध्यक्ष निर्वाचन का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया जावेगा।

गुरुदेव की घोषणाओं से पूर्व उदयपुर, चित्तौड़गढ़, भीलवाड़ा, बीकानेर, पीपलियाकलां, मन्दसौर, ब्यावर और पीपलियामंडी आदि संघों के प्रतिनिधियों ने गुरुदेव के चौमासे की पुरजोर विनंतियां प्रस्तुत की थी। इस अवसर पर संघ व समिति प्रमुखों सहित युवा संघ अध्यक्ष श्री उमरावसिंहजी ओस्तवाल भी उपस्थित थे। समाजसेवी श्री ओस्तवाल की विनंती पर गुरुदेव ने पारणों हेतु मंगलवाड़ की स्वीकृति दी। इस पावन प्रसंग पर मध्यप्रदेश शासन के लोक निर्माण मंत्री, युवा शासन निष्ठ श्री हिम्मत भाई कोठारी रतलाम ने अपने संक्षिप्त विचार प्रकट करते हुए गुरुदेव से आशीर्वाद मांगा।

कपासन संघ की सुव्यवस्थाओं की सवत्र सराहना रही। होली चौमासे का पर्व उमंग पूर्वक मनाया गया। —सम्पादक

शिक्षा और संयम

❀ श्री चांदमल करनावट

शिक्षा का मुख्य आधार है संयम । बिना संयमित जीवन के शिक्षा ।लब्धि संभव नहीं । चंचलचित्त व्यक्ति शिक्षा कैसे अर्जित कर सकता है ? ।कार जिसने अपनी इन्द्रियों पर संयम नहीं रखा, वह व्यक्ति भी शिक्षा ता से नहीं पा सकता । अतः मन, वाणी, शरीर और इन्द्रियों पर नियंत्रण र ही कोई व्यक्ति शिक्षा प्राप्ति में सफल हो सकता है । अभिप्राय यह है संयमित जीवन शिक्षा-प्राप्ति की अनिवार्य शर्त है ।

शिक्षा जगत् में संयम का अर्थ अनुशासन से लिया जाता है । आधुनिक । में व्यवहारवादी मनोविज्ञान के प्रभाव के फलस्वरूप शिक्षा को व्यवहार-परिवर्तन व्यवहार-परिमार्जन के रूप में परिभाषित किया जा रहा है । इसका अर्थ यह के शिक्षा शिक्षार्थी में समाज के अभीष्ट उत्तम व्यवहारों का विकास करती जिससे वह समाज का सुयोग्य उपयोगी नागरिक बन सके । शिक्षा विद्यार्थी शारीरिक एवं मानसिक प्रशिक्षण प्रदान करती है जिससे वह शरीर, मन र इन्द्रियों को नियंत्रण में रखना सीख जाय । धार्मिक-आध्यात्मिक क्षेत्र में भी ।म की यही धारणा है । मन, वचन, काया को पापकारी प्रवृत्तियों से बचाकर द्ध आचरण में लगाना ही संयम है ।

।क्षा में संयम या आत्मानुशासन की धारणा :

आधुनिक शिक्षा क्षेत्र में संयम का अर्थ आत्मानुशासन (Selfdiscipline) । लिया जा रहा है । शिक्षा अनुसंधान के विश्वकोश (Encyclopedia of Educat-.onal Research 1982) में आत्मानुशासन को आंतरिक एवं बाह्य कारकों की सहायता से व्यक्तियों में आत्मनियंत्रण या आत्मानुशासन का विकास माना गया है, जो उन्हें समाज के योग्य, सक्षम एवं उपयोगी सदस्य के रूप में तैयार करता है । यह आत्म-अनुशासन बिना अन्य के दबाव-दंड आदि के व्यक्ति के द्वारा स्वयं ही स्थापित किया जाता है। आधुनिक शिक्षा शोधकर्ताओं की दृष्टि में अनुशासन-हीनता को केवल प्रशासनिक या प्रबन्धकीय समस्या के रूप में ही न देखकर इसे शैक्षिक समस्या के रूप में लिया जाना चाहिए । दार्शनिक प्लेटो का कथन है कि बालक को दण्ड की अपेक्षा खेल द्वारा नियंत्रित रखना कहीं अच्छा है । पेस्ता-लॉजी के मतानुसार अनुशासन का आधार और नियंत्रण शक्ति प्रेम होना चाहिए । डीवी ने सामाजिक वातावरण की अनुकूलता पर बल देते हुए आत्म-अनुशासन की चर्चा की है । इन दार्शनिकों के अनुशासन संबंधी कथनों में अनुशासन को आत्मानुशासन के रूप में ही स्थापित करने का विधान किया गया है ।

धार्मिक-आध्यात्मिक क्षेत्र में संयम के निर्वहन हेतु यद्यपि कुछ प्रायश्चित्त या दण्ड विधान हैं परन्तु मुख्यतया 'संयम' स्व-अनुशासन या आत्मसंयम का ही द्योतक है ।

शिक्षा-क्षेत्र में आत्मानुशासन की स्थापना :

यह जानना आवश्यक है कि शिक्षा-क्षेत्र में आत्म-अनुशासन का विकास कैसे किया जाता है । शिक्षानुसंधान के विश्वकोश १९८२ के अनुसार समग्र रूप में आत्म-अनुशासन की स्थापना हेतु स्वनिर्देशन (Self direction) और सामाजिक दायित्व (Social responsibility) को मुख्यतया स्थान देना चाहिए । इन दोनों को ही क्रियान्वित करने से धीरे-धीरे आत्म-अनुशासन का विकास होने लगता है और अंततोगत्वा शिक्षार्थी स्व-अनुशासित बनते हैं । शिक्षा-क्षेत्र में हुए विश्वव्यापी अनुसंधानों में बताया गया है । (Tannre 1978) कि आत्म-अनुशासन के विकास की प्रक्रिया को तीन चरणों में क्रियान्वित करने की आवश्यकता है । **प्रथम-चरण**—इसमें विद्यार्थी अध्यापक के निर्देशों को सुनते और उनका पालन करते हैं । वे आवश्यकतानुसार प्रश्न करते हैं । अध्यापक प्रश्नों का समाधान करते हैं और प्रश्नों को प्रोत्साहित करते हैं और स्वयं एक आदर्श उदाहरण भी उपस्थित करते हैं । **द्वितीय चरण** (रचनात्मक) इसमें विद्यार्थी समूह में परस्पर सहयोग करते हुए कार्य करते हैं । दूसरों की भूमिका का निर्वाह करते हैं तथा न्यायशीलता एवं नैतिकता की अवधारणा को समझते हैं । अध्यापक इस प्रकार के प्रबंधकीय स्वरूप में कार्य करने संबंधी नियमों एवं कारणों की व्याख्या करता है । **तृतीय चरण** (उद्‌भावनापरक या Gensature stage) यहां छात्र स्वायत्त इकाई के रूप में स्वतंत्रता से उत्तरदायी बनकर कार्य करते और किसी नियम के कार्यकारी सिद्ध न होने पर अन्य विकल्प काम में लेते हैं । अध्यापक कार्ययोजनाओं के विकास एवं क्रियान्विति में सहयोग करते हुए उन्हें यथावश्यक सहयोग करते हैं, उन्हें स्वायत्ततापूर्वक कार्य करने में मदद करते हैं। इस प्रकार कार्य करने के अवसर प्रदान करके उनमें आत्म-अनुशासन या नियमों के स्वतः पालन एवं व्यवस्था आदि का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता ।

जॉन्स एवं जॉन्स (१९८१) ने शोध-निष्कर्ष के रूप में बताया है कि सकारात्मक आत्म-अवधारणा (Self concept) की विकास प्रक्रिया में अग्रसर हो रहे छात्र आत्म-अनुशासन का विकास करते हैं । आत्म-अवधारणा का विकास, मुक्त, सहानुभूतिपूर्ण तथा अनिर्णायक वातावरण में संभव होता है । यह वातावरण विद्यार्थियों को उनकी अपनी समस्याओं के हल में उनके विचारों एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान करता है ।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों के विचारों को स्वीकारते हुए उनके परिणामों पर किंचित् सीमाओं के निर्धारण करके, खेलों और संरचित कथनपरक क्रियाओं

एवं प्रश्नों द्वारा मूल्यों के स्पष्टीकरण से, प्रोजेक्ट या प्रायोजनाएं चलाकर सकारात्मक वृत्तियों को वातावरण परिवर्तन द्वारा पुष्ट करके आत्मा-अनुशासन के विकास हेतु कार्य किए जा सकते हैं।

मनोवैज्ञानिक स्किनर के अनुसार दुर्व्यवहार घटित होने का कारण वातावरण है। अतः वातावरण को बदलकर पुनः सद्व्यवहार को पुष्ट किया जा सकता है। इसके लिए पुरस्कार, प्रोत्साहन आदि के तरीके अपनाए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त छात्रों के विवेकहीन एवं विचारविहीन विश्वासों को विचारपूर्ण विवेकपूर्ण विश्वास में बदला जा सके तो भी उनमें आत्मानुशासन का विकास हो सकता है। छात्रों को आत्मप्रकाशन के अवसर देकर उनके विचारों को समझा जा सकता है और तदनुसार आत्मानुशासन में उनको कुछ दायित्व सौंपे जा सकते हैं।

ये सभी सैद्धांतिक तरीके हैं जो शोधों के आधार पर सुझाए गए हैं। इन्हें क्रियान्वित करके इनके सफल व्यवहारों को आत्मानुशासन के विकासार्थ स्वीकार किया जा सकता।

आत्मानुशासन के विकासार्थ अन्य प्रवृत्तियां :

कुछ अन्य प्रवृत्तियां भी आत्म-अनुशासन की स्थापना में सहायक होती हैं जैसे—**छात्रसंघ** जिसमें छात्र विभिन्न पदों पर रहकर विद्यालय के कार्य संपन्न करते हैं और आत्म-अनुशासन का विकास करते हैं। खेल और इसी प्रकार के **दलकार्य** (Team work) जिनमें स्वयं दायित्व ग्रहण कर वे विविध कार्य संभालते है। वे उनको सम्पन्न करते हुए नियम पालन, सहयोग, निर्णय आदि अच्छी आदतों का विकास करते हैं।

पर्वों, त्यौहारों का आयोजन—इनमें भी दल में रहकर कार्य करते हुए स्वयं ही अनुशासन का पालन करते और आयोजनों को सफल बनाते हैं। N.C.C. और N.S.S. जैसी प्रवृत्तियों के माध्यम से उनमें स्व-अनुशासन का विकास किया जाता है। **प्रवचन, प्रार्थना, सभा एवं धार्मिक नैतिक शिक्षा से** भी उन्हें आत्म-अनुशासन की महान् प्रेरणाएं मिलती हैं। **शिक्षक स्वयं अपना** (Model) आदर्श व्यवहार प्रस्तुत कर छात्रों को स्वअनुशासन हेतु प्रेरित करते एवं प्रोत्साहित करते हैं।

शैक्षिक—धार्मिक क्षेत्रों में परस्पर आदान प्रदान :

आत्म-अनुशासन की स्थापना हेतु धार्मिक क्षेत्र की कुछ बातें शिक्षा-जगत के लिए अपनाने योग्य हैं, जैसे—

(१) संयमधारी साधु-साध्वियों की एक समाचारी की तरह विद्यार्थी वर्ग

के लिए उनके मनोविज्ञान को दृष्टिगत कर एक आचार संहिता बनाई जानी चाहिए। इसमें विद्यार्थी वर्ग के लिए आचरणीय सद्व्यवहारों की सूची हो जिनका पालन करके वे अच्छे विद्यार्थी कहला सकें एवं आत्मानशासित बन सके। इसका महत्त्व समझाकर इसके अनुपालन पर बल दिया जाना चाहिए। इस समाचारी के महत्त्व को समझकर इसका पालन करते हुए वे आत्म-अनुशासन का विकास कर सकेंगे।

(२) संयमी आत्माओं की तरह विद्यार्थी वर्ग के लिए प्रतिक्रमण व आलोचना और आत्मनिरीक्षण का शुभारम्भ किया जाना आवश्यक है प्रतिदि प्रार्थना के उपरान्त कुछ देर मौन रहकर विद्यार्थी पिछले दिन के अपने शुभाशु व्यवहारों का निरीक्षण करें और भविष्य के प्रति दृढ़ संकल्प करें कि अशुभ का को त्यागकर शुभकार्यों में दृढ़ता से प्रवृत्त होंगे। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति उनव आदत बन जायगी और इससे वे आत्म-अनुशासन में अग्रसर होंगे। प्रतिदि प्रार्थना वेला में उन्हें ग्रहण करने योग्य एवं उपयोगी संकल्प बताया जाय और उ ग्रहण करने हेतु प्रेरित भी किया जाय। दूसरे दिन उसी संकल्प की पालना छात्र मौन रहकर चिन्तन करें।

शिक्षा-क्षेत्र के कतिपय व्यवहार आत्मानुशासन या संयम के पालन दृढ़ता लाने हेतु धार्मिक क्षेत्र के लिए भी उपयोगी हो सकते हैं, जैसे—

(१) संयमी आत्माओं को भी आत्म-अनुशासन दृढ़ बनाने की दृष्टि से अपने विचार अभिव्यक्त करने का अवसर प्रदान करना वांछनीय है। संभव है वे इसलिए अनुशासन का पालन नहीं करते हों, क्योंकि चीजें उन पर थोपी जा रही हों और उन्हें अपनी बात कहने का अवसर ही नहीं दिया जा रहा हो। विचार प्रकाशन और उस पर चर्चा से संभव है वे अपने विचारों को बदलकर सही विचार मानने को तत्पर हो जायें।

(२) संयमशील आत्माओं को भी आचार्य द्वारा कुछ दायित्व सौंपें जायें और उन्हें गुरुजन के निर्देशन में पूर्ण करने की स्वतन्त्रता दी जाय। इससे इन आत्माओं में भी आत्मानुशासन का गुण विकसित हो सकेगा।

(३) धार्मिक जगत में भी कुछ समूह कार्य के अवसर देना उचित होगा। इन कार्यों में एक से अधिक संत/सती मिलकर कार्य करेंगे और कार्य की सफलतार्थ परस्पर सहयोग, नियमपालन, दायित्व का निर्वाह आदि गुणों का विकास कर सकेंगे। फलस्वरूप वे परानुशासन के बोझ से अपने आपको मुक्त भी अनुभव करेंगे।

उपर्युक्त अनेक कार्यक्रम यथोचित रूपेन शिक्षा जगत में आत्म-अनुशासन

गुण के विकासार्थ क्रियान्वित होने ही चाहिए। गुरुजनों एवं प्रशासकों को यह सोचना चाहिए कि आखिर उनके अधीन रहने वाले छात्रों को वे अपने अनुशासन से कहां तक संचालित करेंगे। अंततः तो उन्हें स्वयं के निर्णय लेकर आत्मानुशासन से ही संचालित होना है। अतः उन्हें विद्यालयों, महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों में भी अधिकाधिक उत्तरदायित्व देकर स्वायत्तता के अवसर देने चाहिए, जिससे आत्म-अनुशासन उनकी जीवन पद्धति का एक अंग बन जाय। वस्तुतः लोकतांत्रिक समाज की सफलता के लिए तो आत्म-अनुशासन एक अनिवार्य आवश्यकता है।

—३५ अहिंसापुरी, फतहपुरा, उदयपुर—३१३००१

सच्चा ज्ञान

एक बार एक महात्मा ने, अपने चारों प्रमुख शिष्यों की परीक्षा लेने का विचार किया। चारों ही शिष्य महात्मा को प्रिय थे। महात्माजी जानना चाहते कि इनमें से सच्चा ज्ञान किसने प्राप्त किया है ?

चारों को पास बुलाकर महात्मा बोले—अपने आश्रम से कुछ दूरी पर एक उपवन है। तुम चारों वहां जाओ और सायंकाल मुझे बताना कि तुमने क्या देखा।

ऐसा आदेश पाकर, चारों शिष्य प्रातःकाल ही उपवन में जा पहुंचे। एक आलसी शिष्य ने घनी छांह देखी। वह वहां जाकर सो गया। एक चोर मनोवृत्ति के शिष्य की दृष्टि वृक्षों पर लगे आमों पर पड़ी। वह ऊपर चढ़ गया और आम खाने लगा। एक बातूनी शिष्य ने सभी वृक्षों की गिनती प्रारम्भ कर दी और दिन भर गिनता रहा। चौथा शिष्य विद्वान था। वह हर वृक्ष को निहारता रहा, वृक्ष पर लगे आमों को भी देखता रहा और मनन करता रहा।

सायंकाल चारों लौट आए। एक की आंखें भारी देखकर महात्मा समझ गए कि यह सोता रहा होगा। दूसरे के शरीर पर चोटें देखकर समझ गए कि यह चोरी करता रहा होगा और माली ने इसे पीटा होगा। बातूनी राह में आते-आते गिनती ही भूल गया। चौथे को पूछा—बेटे, तुमने क्या अनुभव किया ?

वह विनम्रतापूर्वक बोला—गुरुदेव, वृक्षों की उन टहनियों पर सबसे अधिक फल थे, जो झुकी हुई थीं। जो ऊंची तन कर खड़ी थीं, उन पर एक भी फल नहीं था।

महात्मा बहुत प्रसन्न हुए। बोले—"सच्चा ज्ञान यही है जो नम्र व शालीन होता है, उसी को परिश्रम का फल मिलता है। जो अहंकारी व तना हुआ रहता है, वह कोई फल प्राप्त नहीं कर पाता।

बोधकथा–

समता की साधना

❀ श्रीमती गिरिजा सुध

"समता की दृष्टि बिना ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त करना संभव नहीं है राजन् ! आप महर्षि कणादि का शिष्यत्व ग्रहण कर समता के दर्शन की व्यावहारिक दीक्षा लीजिए ।" मंत्री ने कहा !

"आपकी राय समयानुकूल है ! मैं महर्षि कणादि के आश्रम जाकर उनसे ब्रह्मज्ञान की शिक्षा लेता हूं ।"—राजा उदावर्त ने अपना निश्चय बतलाया।

दूसरे दिन महाराजा उदावर्त कई तरह बहुमूल्य हीरे, रत्न, अन्न एवं धन राशि लेकर महर्षि कणादि के आश्रम में जा पहुंचे । उन्हें प्रणाम करके वह विपुल धनराशि आश्रम को समर्पित कर, महर्षि से ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देने की प्रार्थना की ।

महर्षि ने मुस्का कर कहा—"राजन् ! तुम ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु हो यह बहुत ठीक है । यह धन आश्रम के लिए जरूरी नहीं है इसलिए इसे ले जाओ । समता का व्यावहारिक ज्ञान करने पर ही तुम्हें ब्रह्मज्ञान की दीक्षा दी जा सकती है । तुम एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए हर किसी स्थिति, जीव जन्तु, वनस्पति में समता की भावना तलाशो ! यह कर सको तो एक वर्ष बाद आकर ब्रह्मज्ञान का उपदेश प्राप्त करने की कोशिश करना ।"

"तो मैं महर्षि कणादि के आश्रम से निराश लौट जाऊं ?"—महाराज ने पूछ तभी ।

"निराश नहीं, जिज्ञासु बनकर, अन्वेषी बनकर वापिस जाओ ।" महर्षि कणादि ने उन्हें धैर्य बंधाते हुए कहा ।

परन्तु राजमद में चूर उदावर्त को बुरी भी लगी यह बात । गुस्सा भी आया और निराश भी हुआ । लेकिन चारा भी क्या था ? वे लौट आए वापिस ।

एक दिन उन्हें खिन्न देखकर मंत्री द्युतिकीर्ति ने उनकी परेशानी दूर करने की गरज से समझाकर कहा—"राजन् ! चिन्ता मत कीजिये । महर्षि तो सब में समता की दृष्टि रखते हैं । आपके ही भले के लिए उन्होंने यह व्यवस्था दी है । आप निराश मत होइए इस व्यवस्था से ।"

"महर्षि ने मुझे ब्रह्मज्ञान का पात्र नहीं समझा ऐसा क्यों, मंत्रीवर ।"

तब मंत्री द्युतिकीर्ति ने उनकी खिन्नता दूर करते हुए कहा—"राजन् ! भूखे को ही अन्न पच सकता है, जिज्ञासुजन को ही ज्ञानार्जन का लाभ मिलता है। महर्षि ने एक वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रत से रहने की शर्त लगा कर आपकी जिज्ञासा प्रवृत्ति को परखा है। यदि आप उनकी कसौटी पर खरे उतरे तो आपको ब्रह्म-विद्या का लाभ अवश्य प्राप्त होगा। जो अधिकारी नहीं होता है उसमें ज्ञान को पहचाने की सामर्थ्य ही नहीं रहती है। मनोरंजन के लिए कुछ कहने में समय की बर्बादी समझकर ऋषि ने लौटाया है आपको। इसे आप अपनी अवज्ञा या कुपात्रता नहीं मानें। बस बात को समझ नहीं पाने का ही चक्कर है यह सब।"

मंत्री की यह बात उदावर्त की समझ में अच्छी तरह आ गई। वे एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य से रहे। समता की स्थिति के दूर पक्ष पर अपना व्यवहार परखते रहे।

वर्ष समाप्ति पर वे आध्यात्मिक ज्ञान के अधिकारी बन कर जब फिर से महर्षि कणादि के आश्रम में गए तो ऋषि ने उन्हें छाती से लगा लिया। प्रसन्न हो बोले—"राजन् ! निरहंकारी, धैर्यवान, समता का व्यवहारशील, जिज्ञासु तथा श्रद्धावान ब्रह्मज्ञान का अधिकारी होता है। अब मैं जो कुछ भी आपको सीख दूंगा उस पर आप गहनता से विचार करेंगे। समभाव की आपको अब जरा भी शिक्षा देने की जरूरत नहीं है, क्योंकि अब आप उस पर व्यवहार करना सीख चुके हैं।"

महर्षि कणादि से राजा उदावर्त ने ब्रह्मज्ञान पाया और अपने आपके जीवन को धन्य बनाया। समता की जीवन शैली उन्होंने अपने आचरण से प्रजा में भी विकसित की।

—बी–११६, विजयपथ तिलक नगर, जयपुर–३०२००४

मर्म कथा—

सुख का रहस्य

❀ श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

आखिर पुरुषोत्तम के घर वालों में अंधविश्वास बैठ ही गया। एक अनजान भय से भयभीत हो गये। अजीब आशंकाओं से घिर गये।

बात ही कुछ ऐसी थी। कई-बार नये कपड़े जल जाते थे। उनमें बड़े-बड़े सुराख हो जाते थे।

सभी को यही वहम था कि यह भूत की करामात है। अवश्य इस घर में किसी भूत-प्रेत या पितर का निवास है।

पुरुषोतम के घर में उसकी झगड़ालू सास, उसकी नकचढ़ी दो बेटियां एक सीधा सादा और डरपोक बेटा और एक गाय के समान सीधी बहू थी—सरला।

सरला बहुत सुन्दर लड़की थी। वह जब इस घर में आयी थी तब पूगल की पद्मिनी लगती थी। उसके हजारों सपने थे। पर बेचारी ससुराल वालों के लिए मनचाहा दहेज नहीं ला सकी। परिणाम यह निकला कि सास तो सास, उसे दोनों ननदें भी सताने लगीं। शुरू-शुरू में तो उसने विरोध किया। उसे आशा थी कि उसका पति उसके साथ रहेगा। सच का साथ तो सभी देते ही हैं, पर शीघ्र ही उसकी आशाओं पर पानी फिर गया। उसका पति अपने घर वालों से अजीब तरह से भयभीत था। यदि सरला ज्यादा कहती तो वह इतना ही फुसफुसाकर कहता, "मैं अपनी मां का अकेला बेटा हूं। भला मैं इन्हें कैसे नाराज कर सकता हूं।"

सरला उससे कहती, "आप न्याय और धर्म का साथ भी नहीं देंगे? मुझे ये लोग व्यर्थ ही सताते रहते हैं।"

पर उसका पति गणेश तो बबर गणेश ही रहा। वह अपने मां–बाप को नहीं समझा सका। सरला पर अत्याचार बढ़ते रहे। अब तो उसे बात-बात पर पीट दिया करते थे, उसे पीहर नहीं भेजते थे, उसे किसी से मिलने-जुलने नहीं देते थे, कभी कभी तो उसे दंड स्वरूप पति के पास भी नहीं जाने देते थे। उसे फटे कपड़े व उतारू साड़ियां पहनाते थे।

इस तनावपूर्ण वातावरण में सरला चुप रहती थी। पर उसकी आत्मा और रोम-रोम उन लोगों को दुराशीष देते थे, उसकी आंखें पीड़ा से दहकती रहती थीं मानों वे उन्हें सर्वनाश का शाप दे रही हों।

थोड़े दिनों में ही उस घर में नये कपड़े जलने लगे। पहले तो सरला पर संदेह किया गया। बाद में उसे रात को एक कमरे में बंद कर देते थे। इस पर भी कपड़े जलने लगे तो वे घबराए। अब नये सिरे से दौड़ धूप शुरू हुई। ओझाओं व तांत्रिकों को बुलाया गया।

पर कोई समाधान नहीं निकला। पंडितों, झाड़गरों और तांत्रिकों ने कहा कि कोई भयंकर प्रेतात्मा है। इससे छुटकारा पाना कठिन है।

'धोबी धोबन से पौच नहीं आये तो गधी के कान खींचे।' घर वाले बेचारी सरला को ही दोष देते थे। उसका सताना बढ़ता गया।

गणेश अस्पताल में जूनियर एकाउन्टेंट था। एक दिन उसने पागलों के डॉक्टर व्यास को अपने घर की इस अजीब स्थिति से परिचित कराया। डॉ. व्यास का माथा ठनका। वे घर गये। सचमुच नये-नये कपड़ों में कई सुराख थे।

डॉ. व्यास के लिए यह एक विचारणीय समस्या थी। वे उस पर सोचते रहे। सोचते रहे। उस विषय के सम्बन्ध में पढ़ते रहे। उन्होंने गणेश से घर की छोटी-छोटी बातें पूछीं। गणेश ने दुखी मन से बताया कि उसकी पत्नी को वे लोग बहुत सताते हैं। वह सूख कर कांटा हो गयी है। शायद वह मर जाये।

डॉ. व्यास के सामने स्थिति साफ हो गयी। वे पांचवें दिन गणेश के घर गये।

उसका सारा परिवार इकट्ठा हो गया। क्योंकि आज डॉक्टर व्यास इस प्रेत-बाधा का उपाय बताने जा रहे थे।

डॉक्टर ने उन सब पर निगाह रखते हुए कहा, "मैं आपको एक कहानी सुनाता हूं। मोहनपुर के सिंहासन पर जो बैठता, वह पांच-दस साल में मर जाता था। इससे मोहनपुर के सिंहासन पर बैठने वाला डरता रहता था। आखिर मोहनपुर के राजा गिरधरसिंह ने सोचा। उसे पता लगा कि सूरतगढ़ के राजा कम से कम सौ वर्षों तक राज्य करते हैं। आखिर क्या बात है कि वे सौ बरस राज्य करते हैं और हम पांच-दस साल। काफी सोच-विचार कर गिरधरसिंह ने अपने सौ आदमियों को सूरतगढ़ के राजा दौलतराम के पास भेजा। उन्हें कहा कि वे इस रहस्य का पता लगा कर आवें। यदि वे उत्तर नहीं लाये तो सबको जमीन में जिंदा गाड़ दिया जायेगा।

बेचारे एक सौ सैनिक सूरतगढ़ पहुंचे। उन्होंने राजा दौलतराम को हाथ जोड़-जोड़कर कहा—वे अधिक जीने का रहस्य बताएं। यदि आप नहीं बताएंगे तो हम एक सौ जने व्यर्थ—ही मारे जायेंगे।

राजा दौलतराम ने उन सौ जनों को एक बड़े घर में ठहरा दिया। उसके सामने एक पुराना पीपल का पेड़ था। उसे दिखाकर कहा—वह हरा भरा पुराना पीपल नहीं सूखेगा तब तक मैं आपको यह रहस्य नहीं बता सकता।

एक सैनिक ने दुखी होकर कहा—मर गये, कब यह हराभरा पीपल सूखेगा और कब हम घर लौटेंगे। लगता है कि अब सारी उम्र यहीं पर रहना पड़ेगा और मरना पड़ेगा। यदि बिना रहस्य जाने लौट गये तो हमारा राजा जिंदा जमीन में गड़वा देगा। बुरे फंसे मित्रो !

मरता क्या नहीं करता। बेचारे बैठ गये और रात दिन पीपल को कोसने लगे। यह पीपल कब जलेगा—कब सूखेगा की दुराशीष देते रहे।

दो महीनों में ही चमत्कार हो गया। पीपल सूख गया। उसके पत्ते झड़ गये। वे हैरान हो गये। खुशी में पागल हुए राजा दौलतराम के पास गये। उन्होंने राजा को प्रार्थना की कि पीपल सूख गया है, अब तो अधिक जीने का रहस्य बताइए।"

राजा दौलतराम ने कहा, भाइयो ! आपके द्वारा सोचे गए हर घड़ी यह निगोड़ा पीपल सूख जाए, जल जाए जल जाए"··· जैसे बुरे विचारों ने प्राचीन पीपल को जला डाला। फिर भला एक राजा जिसकी प्रजा को सुख-संतोष नहीं है, कैसे जीएगा ? मेरी प्रजा सुखी है, संतुष्ट है, समृद्ध है, इसलिए मुझे चिरायु की आशीष देती है और तुम्हारे राजा की प्रजा दुःखी और कष्टों से भरी है, इसलिए वह जल्दी मर जाता है। समझ गये न रहस्य।"

सैनिक लौट गये। उन्होंने अपने राजा गिरधरसिंह को भेद बताया। गिरधरसिंह की आंखें खुल गयीं। उसने तुरन्त अपने राज्य की व्यवस्था बदल डाली।

डॉ. व्यास ने अपनी कहानी समाप्त करते हुए कहा, "आपके परिवार में सरला दुःखी है, पीड़ित और शोषित है। यदि आप अपने को नहीं सुधारेंगे तो यह आग भड़क कर सबको जला देगी। बुरे विचारों व दुराशीषों का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उस कहानी से सबक लीजिए।"

डॉक्टर की बात से सब डर गये। अनिष्ट की आशंका ने सबको हिला दिया। गणेश ने कहा –मैं अपनी पत्नी को लेकर अलग रहूंगा।

पुत्र की धमकी से सब डर गये। उन्होंने सरला के साथ दुर्व्यवहार करना छोड़ दिया तो वस्त्र जलने भी बंद हो गये।

—आशा लक्ष्मी, नया शहर, बीकानेर-३३४००१

व्यावसायिक प्रबन्ध में समता–दृष्टिकोण

❀ श्री सतीश मेहता

आधुनिक व्यावसायिक क्षेत्र में प्रायः दो समस्याओं पर विशेष चर्चा हुआ करती है। प्रथम मानवीय समस्याएँ तथा द्वितीय तकनीकी समस्याएँ। तकनीकी समस्याएँ प्रबन्धकों के समक्ष अब कोई चुनौती नहीं रही है। तकनीकी समस्याओं का समाधान प्रबन्धकों ने ढूंढ़ लिया है। वे चाँद पर चढ़ने की कल्पनाओं को साकार बना चुके हैं, किन्तु मानवीय समस्या आज भी प्रबन्धकों को घेरे हुए है। यह एक ऐसी समस्या है जो कई जटिलतम समस्याओं से भी अधिक जटिल है क्योंकि मनुष्य एक दूसरे से मानसिक योग्यताओं, भावात्मक विचारों, परम्पराओं, दृष्टिकोणों एवं भौतिक रूप से भिन्न होता है। इतना ही नहीं उसकी भिन्न-भिन्न मान्यताएँ होती हैं। आर्थिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त सामाजिक एवं मानवीय आवश्यकताएँ होती हैं, मनुष्य में असीम मात्रा में सोचने, समझने, वार्तालाप करने की क्षमता भी होती है अतएव व्यवसाय की मानवीय समस्या सर्वाधिक जटिल समस्या है। इस समस्या का समाधान किये बिना कोई भी संस्था अधिक समय तक कुशलतापूर्वक चल नहीं सकती है। इस समस्या का समाधान करने के लिए नेतृत्व करने वालों की आवश्यकता होती है अर्थात्— समस्या का समाधान करने हेतु कुशल प्रबन्ध की आवश्यकता होगी। कुशल प्रबन्ध वे ही प्रवन्धक कर सकेंगे जो 'समता' के दृष्टिकोण को समझते हों व मानवीय सम्बन्धों में सुधार एवं मधुरता हेतु उद्योग में कार्यरत सभी कर्मचारियों के साथ समता, समानता, मैत्री, न्याय, दया व करुणा का व्यवहार करते हों।

आधुनिक मानव प्राचीनकालीन मानव से सर्वथा भिन्न है। वह शिक्षा, प्रजातन्त्र, समता और विज्ञान की भावनाओं से प्रेरित है और प्राचीनकाल की तुलना में बहुत अधिक वड़े पैमाने के संगठनों में कार्य करता है जहां कि व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव-सा है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्यों से कार्य करवाना अत्यन्त ही कठिन है क्योंकि "समता की विचारधारा ऊँच-नीच प्रबन्धकीय व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह कर रही है और आर्थिक क्षेत्र में शोषण के जुए को उतार फेंक रही है।" ऐसे समय में अर्थात् बदलते वातावरण में प्रबन्ध की परिभाषा ही वदल रही है। 'काम करवाना' या 'मालिक–मजदूर सम्बन्ध' समय के साथ हल्के शब्द प्रतीत होते हैं। समता की नई वेला में ये शब्द सामन्ती युग के भग्नावशेष मात्र समझे जाने लगे हैं। 'काम करवाना' संगठन में भेदभाव को जन्म देता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संगठन 'काम करवाने' और 'काम करने वाले' दो वर्गों में विभक्त है जो परस्पर विरोधी हैं। ये शब्द संगठन की एकात्मकता को

सूचित नहीं करते । असल में संगठन एक संगठित व्यवस्था है न कि विशृंखलित वस्तु ।

दुनिया भर की प्रवन्ध व्यवस्था अन्ततोगत्वा इस ऊँच-नीच की व्यवस्था पर आधारित है । सत्ता और दायित्व का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होता है। यद्यपि 'समता की भावना' (समता दृष्टिकोण) इस प्रकार की प्रवन्ध-व्यवस्था के विरुद्ध बगावत कर रही है तथापि यह प्रवन्ध-व्यवस्था के जीवन का कटु सत्य है। अतः संगठन के प्रबन्ध में समता (दृष्टिकोण) की भूमिका 'दिन दुनी रात चौगुनी' बढ़ती जा रही है ।

एक संगठन खेल के खिलाड़ियों की एक टीम के सदृश है, जो एक होकर अपने लक्ष्य-प्राप्ति में संलग्न रहते हैं और कप्तान तथा 'कोच' के संरक्षण और उत्प्रेरणा में खेल के मैदान में खेलते हैं । यहां मालिक और मजदूर का सम्बन्ध नहीं है और न 'काम करने वाले' और 'काम कराने वालों' का अन्तर ही। सारी टीम एकजुट हो कप्तान के नेतृत्व में खेलती है और खेल के मैदान में भेदभाव को भूल जाती है । जब तक ऐसा वातावरण संगठन में उत्पन्न नहीं होता, वास्तविक कार्य नहीं हो सकता और लक्ष्य-प्राप्ति भी असम्भव हो जाती है । ऐसी परिस्थिति में प्रबन्ध की 'काम करवाने' के रूप में भूतकालीन परिभाषा असामयिक हो जाती है । वास्तव में प्रबन्ध तो किसी भी संगठन के विभिन्न घटकों में सुन्दर समन्वय स्थापित कर उनमें निरन्तर कार्यशीलता या गतिशीलता उत्पन्न करने का नेतृत्व-गुण है । अतः प्रबन्ध में समता (समानता) दृष्टिकोण को स्वीकार किये बिना संगठन का कुशल प्रबन्ध करनें में कठिनाई होगी इसलिए प्रबन्ध में समता की भूमिका अपरिहार्य है ।

समता, साम्य, समानता मानव जीवन एवं मानव समाज का शाश्वत दर्शन है । आध्यात्मिक या धार्मिक क्षेत्र हो अथवा आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक सभी का समता लक्ष्य है क्योंकि समता मानव मन के मूल में है ।

मानव-मानव में ऊँच-नीच की भावना को छोड़कर सहृदय व्यवहार करना 'समता' है । अर्थात् समता का अर्थ समानता की भावना से है ।

भगवान् महावीर ने भी समता का सिद्धान्त दिया । उन्होंने कहा सभी आत्माएँ समान हैं, सभी को जीने का अधिकार है, कोई भी किसी की सुख-सुविधा का अपहरण नहीं कर सकता । सभी को समान रूप से जीने का अधिकार है । 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त को जीवन में अपनाने से अवश्य ही समता-रस की प्राप्ति हो सकती है । समता सिद्धान्त नया नहीं है, जिन प्ररूपित वचन है व जैन दर्शन का मूलाधार है ।

परम पूज्य आचार्य श्री नानेश ने समता के लिए कहा है कि—'समदर्शी व्यक्ति मान-अपमान, हानि-लाभ, स्वर्ण-पत्थर, वन्दक-निन्दक इतना ही नहीं सम...

सार के प्राणियों को आत्म-दृष्टि से देखता है।' समता भाव अपने प्रति ही नहीं, बके प्रति होना चाहिये। उसमें छोटा-बड़ा, छूत-अछूत जांत-पांत आदि का भेद हीं होना चाहिये। समता-व्यवहार में वह शक्ति है जो दुनिया के किसी अस्त्र-स्त्र में, हाइड्रोजन या न्यूट्रान बम में नहीं है। इसीलिये समता को विश्व-शांति ो जननी कहा जाता है।

कालमार्क्स जैसे चिंतकों ने भी विश्व को आर्थिक क्षेत्र में समता का न्देश दिया जिससे पूंजीवाद की नींव हिल गई। पूंजीवाद के विरुद्ध कई ंगठन बने। परिणाम-स्वरूप प्रबन्ध के क्षेत्र में नवीन दृष्टिकोण-मानवीय ंवेदना-का विकास हुआ जिससे प्रबन्ध में समता की भूमिका को महत्त्व मिलने ागा।

प्रबंध के क्षेत्र में 'समता-दृष्टिकोण' पर हेनरी फैयोल ने बल दिया और बन्ध का एक सिद्धान्त दिया—'समता'—समता के सिद्धान्त से आशय कर्मचारियों े साथ समानता, न्याय व दयालुता का व्यवहार करने से है। समता का स्थान याय से भी ऊँचा होता है। न्याय तो केवल नियम, कार्यविधि, परम्परा आदि को लागू करने तक ही सीमित होता है जबकि समता न्याय के साथ-साथ 'सहृदयता' की भावना से भी ओतप्रोत होती है। प्रबन्धकों को कर्मचारियों के साथ समता का व्यवहार करना चाहिये। इससे प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों के बीच विश्वास की स्थापना होती है तथा कर्मचारियों की निष्ठा का स्तर ऊँचा बढ़ता है। न्याय और मैत्रीभाव से समत्व की भावना उत्पन्न होती है। अनुभव, करुणा और बौद्धिक सतर्कता से ये भाव उत्पन्न होते हैं। समता तथा व्यवहार की समानता सब की आकांक्षा होती है। संगठन में इसको स्थापित करने से लोग निष्ठावान बनते हैं।

आधुनिक व्यावसायिक युग में जटिलताएं बढ़ती जा रही हैं और व्यव-साय स्थानीय सीमाओं को लांघ कर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना बिगुल बजा रहा है, ऐसे समय में कंठछेदी प्रतिस्पर्धा व्यावसायिक क्षेत्र में बढ़ती जा रही है जिससे औद्योगिक समाज में हड़ताल, तालाबन्दी, घेराव, हिंसा, उपद्रव, मारपीट, हत्या, लूटपाट आदि बढ़ रहे हैं और औद्योगिक अशान्ति बढ़ती जा रही है। इस स्थिति में प्रबन्ध एवं समता का महत्त्व इन समस्याओं के निराकरण में दृष्टि-गोचर होता है।

प्रबन्ध मानव श्रम को संचालित करता है और मानव श्रम भौतिक साधनों को। यदि मानव का पूरा विकास किया जा सके और ऐसा विकसित मानव अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य करे तो उद्योग में उत्पादन वृद्धि हो सकती है। यदि मनुष्य पूर्ण क्षमता से कार्य करता है, तो अन्य भौतिक तत्त्व, यन्त्र इत्यादि भी पूर्ण क्षमता से कार्य करेंगे, क्योंकि वे मनुष्य की सक्रियता पर निर्भर रहते

हैं। इसके अतिरिक्त कार्य द्वारा ही मनुष्य का सम्पूर्ण और सर्वांगीण विकास होना चाहिये।

मनुष्य का व्यक्तित्व एक अधखिले फूल की तरह होता है और वह कार्य के द्वारा पूरा खिल जाता है, जैसे अच्छे उद्यान में गुलाव के फूल खिल उठते हैं। एक अच्छा बागवान गुलाब के पेड़ को अच्छे खाद, पानी, प्रकाश इत्यादि देता है, पेड़ की रक्षा करता है और अच्छे वातावरण में गुलाव का फूल प्रस्फुटित होकर सम्पूर्ण रूप से खिलकर सर्वत्र अपनी सुगन्ध फैलाता है, ठीक इसी तरह एक कारखाने को उद्यान की तरह अपने मनुष्यों का विकास करना चाहिये। मनुष्यों के विकास में कारखाने का विकास छिपा हुआ है, अर्थात् संगठन में कर्मचारियों के विकास से कारखाने का विकास होगा। इसके महत्त्व को प्रवन्धक अनदेखा नहीं कर सकता। अतः संगठन में कर्मचारियों के विकास में समता दृष्टिकोण का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

समता की विचारधारा को मध्यनजर रखते हुए ही प्रवन्ध में कर्मचारिये की सहभागिता पर बल दिया गया है और हमारे देश में भी अनेक संगठनों वे प्रबन्ध मण्डल या संचालक मण्डल में श्रमिकों के प्रतिनिधि को सम्मिलित किय जाता है जिससे श्रमिकों में समता, मैत्री, समानता व अपनत्व की भावना क विकास हो सके।

क्लेरेन्स फ्रान्सिस का कहना उपयुक्त ही है कि—"आप एक व्यक्ति का समय खरीद सकते हैं, उसकी शारीरिक उपस्थिति खरीद सकते हैं, आप उसकी गतिविधियां भी खरीद सकते हैं किन्तु आप उसका उत्साह नहीं खरीद सकते, उसकी लगन एवं स्वामिभक्ति नहीं खरीद सकते, आप उसके दिल–दिमाग और आत्मा की निष्ठा नहीं खरीद सकते। ये सब बातें उसमें उत्पन्न करनी होंगी।" ये सब बातें तभी सम्भव हैं जबकि प्रबन्धक समता की विचारधारा को अपने प्रबन्ध में सम्मिलित करें।

एक प्रबन्धक समता की स्थापना करने के लिए श्रमिकों एवं कर्मचारियों को उचित मजदूरी, रोजगार में स्थायित्व, अच्छे कार्य की दशाएँ (स्वास्थ्य व सुरक्षा) सामाजिक सुरक्षा (क्षतिपूर्ति, पेन्शन ग्रेच्युटी) श्रम कल्याण (शिक्षा, चिकित्सा) आवास व्यवस्था, मनोरंजन, जलपान गृहों की व्यवस्था, प्रेरणात्मक मजदूरी, मानवीय व्यवहार (आदर, सम्मान, गौरव, निष्ठा की भावना) प्रबन्ध में सहभागिता, पदोन्नति, लाभों में हिस्सा, आदि योजनाओं को लागू करके कर सकता है।

समता (समानता) के द्वारा कर्मचारियों में मानसिक सन्तोष, उनमें अपनत्व की भावना का विकास एवं उनमें उच्च मनोबल की स्थापना की जा सकती है।

प्रवन्धक समता के द्वारा औद्योगिक शान्ति, मधुर मानवीय सम्बन्धों की

स्थापना, कार्यकुशलता में वृद्धि, उत्पादन में वृद्धि, उद्देश्यों व लक्ष्यों की प्राप्ति कर गलाकाट प्रतिस्पर्धा में विजय हासिल कर सकते हैं। यह प्रबन्ध के लिए एक महत्त्वपूर्ण हाथियार का कार्य करेगा।

यदि प्रबन्ध में समता दृष्टिकोण को अपनायेंगे तो औद्योगिक समस्याओं के निराकरण में प्रबन्धक के लिए 'समता' एक 'रामबाण औषधि' साबित होगी।

—प्राध्यापक, व्यावसायिक प्रशासन विभाग
श्री जैन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)

अमृतवाणी

- ☐ संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ।
  संयम से जीव आश्रव–पाप का निरोध करता है।
- ☐ असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।
  असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

—भ० महावीर

- ☐ भोगों की इच्छा पर विजय पाना ही मानव-शक्ति की सार्थकता है।
- ☐ गहनों में सुन्दरता देखने वाला आत्मा के सद्गुणों के सौन्दर्य को देखने में अन्धा हो जाता है। त्याग, संयम और सादगी में जो सुन्दरता है, पवित्रता है, सात्विकता है, वह भोग में कहां?

—श्रीमद् जवाहराचार्य

- ☐ संयम चारित्र-धर्म का प्रवेश-द्वार है।
- ☐ आवश्यकता पर नियन्त्रण करने वाला अपने मन की आकुलता मिटा लेता है।
- ☐ सब कुछ जानने, समझने, श्रद्धने के उपरान्त भी अगर आपने मन पर, वाणी पर, तन पर संयम नहीं रखा, अंकुश नहीं रखा तो धर्मस्थान में आकर भी आप अपनी आत्मा को कलुषित करेंगे।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म.

शिक्षा में आत्म-संयम के तत्त्व कैसे आये ?

❀ श्री सौभाग्यमल श्रीश्रीमाल

सामान्यतः मानव शिक्षा द्वारा समस्त ज्ञान और विज्ञान को धरोहर के रूप में प्राप्त करता है और उसमें अपने अनुभव, विचार एवं आकांक्षाएं जोड़ देता है। विकास का यही क्रम है।

इस विकास क्रम में शिक्षा एक सोदेश्य प्रक्रिया होती है। प्रत्येक समाज की अपनी सभ्यता और संस्कृति होती है, उसके कुछ मूल्य और आदर्श होते हैं। समाज का यह प्रयत्न होता है कि वह अपने सदस्यों को इन मूल्य और आदर्शों से अवगत कराये और उन्हें इनके अनुसार आचरण करने में प्रशिक्षित करे। इसकी प्राप्ति के लिये वह शिक्षा का विधान करता है। प्रत्येक समाज गतिशील परिवर्तनशील और प्रगतिशील होता है। अतः वह अपने सदस्यों को जो कुछ है, उसी से परिचित नहीं कराता, अपितु उन्हें ऐसी शक्ति भी प्रदान करता है, जिससे वे अपनी नई-२ समस्याओं के समाधान भी ढूंढ़ सकें। इस प्रकार शिक्षा समाज की आकांक्षाओं की भी पूर्ति करती है। समाज की तत्कालीन धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और औद्योगिक स्थिति भी शिक्षा के उद्देश्यों को प्रभावित करती है। एक वाक्य में हम यह कह सकते हैं कि किसी समाज की शिक्षा के उद्देश्य उस समाज की सम्पूर्ण जीवन-शैली पर आधारित होते हैं। ये उद्देश्य अपने में एक आदर्श स्थिति के द्योतक होते हैं। जैसे व्यक्ति का शारीरिक विकास करना, उसका मानसिक विकास करना, चारित्रिक एवं नैतिक विकास करना, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास करना, आध्यात्मिकता की प्राप्ति करना आदि-आदि। ये सब शिक्षा के मूलभूत उद्देश्य हैं।

शिक्षाः उद्देश्य एवं लक्ष्यः

शिक्षा के क्षेत्र में उद्देश्य और लक्ष्य शब्दों का प्रयोग सामान्यतः पर्यायवाची शब्दों के रूप में ही होता है पर वास्तव में इनमें अन्तर है। शिक्षा के क्षेत्र में उद्देश्य का अर्थ किसी ऐसे कथन से होता है जो व्यक्ति में वांछित परिवर्तन की आदर्श स्थिति की ओर संकेत करता है। इस आदर्श स्थिति को सीमा में नहीं बांधा जा सकता। इस प्रकार शैक्षिक उद्देश्य आदर्श एवं अप्राप्य स्थिति के द्योतक होते हैं। इसके विपरीत शैक्षिक लक्ष्य किसी शैक्षिक उद्देश्य की प्राप्ति के मार्ग के वे पड़ाव होते हैं जहां तक व्यक्ति पहुंच सकता है। कहने का अभिप्रायः यह है कि शैक्षिक लक्ष्य किसी शैक्षिक उद्देश्य की प्राप्ति की ओर निर्दिष्ट होते हैं और ये निश्चित और प्राप्य होते हैं। आत्म-संयम के तत्वों के सन्दर्भ में भी हमें इसी दृष्टि से सोचना होगा।

शिक्षक का कार्य क्षेत्र:

शिक्षण एक क्रिया है जिसके द्वारा शिक्षक, शिक्षार्थियों को ज्ञान प्राप्त करने, क्रियाओं में प्रशिक्षण प्राप्त करने, रूचियों में विकास करने और अभिवृत्तियों के निर्माण करने के लिए तैयार करता है, उनका मार्गदर्शन करता है, उन्हें सीखने में सहायता पहुंचाता है और अपनी ओर से कुछ बताकर उनके ज्ञान और क्रियाओं को व्यवस्थित करता है, कौशल की वृद्धि करता है, रूचियों में विकास करता है और उनको परिष्कृत भी करता है। वह अभिवृत्तियों का निर्माण करता है, पर ये सब करना सरल कार्य नहीं है।

मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि:

मनोविज्ञानवेत्ताओं ने बताया है कि बालक जन्म से ही कुछ शक्तियाँ-मूल प्रवत्तियां, संवेग और सामान्य जन्म-जात प्रवृत्तियां लेकर आते हैं और उनका भावी विकास इन्हीं मूलभूत शक्तियों पर आधारित होता है। उनका मानना है कि शिक्षार्थी उन कामों को सरलता से करते हैं, जिनमें उनकी स्वाभाविक रुचि होती है और रुचि, उनकी उन कामों में होती है, जिनके द्वारा उनकी अन्तः प्रेरणाओं की संतुष्टि होती है। अतः रुचि जागृत करना या रखना ये भी स्वयं में एक बहुत बड़ी सम्प्राप्ति होगी शिक्षा के क्षेत्र में। बालकों में जिज्ञासा की मूल प्रवृत्ति होती है। वे प्रत्येक नई बात को जानने को सदा लालायित रहते हैं, पर उस ही नई बात को जिससे उनका सम्बन्ध होता है। यहां शिक्षक की भूमिका महत्त्वपूर्ण होगी। वह ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है कि बालक उसके द्वारा दिये जाने वाले ज्ञान को जानने की जिज्ञासा प्रकट करने लगे और अपना ध्यान विषय वस्तु पर केन्द्रित कर सके। इसका परिणाम यह होगा कि सीखने की क्रिया प्रभावशाली हो जायेगी। बालक की यह आन्तरिक स्थिति ही अभिप्रेरणा कही जाती है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से बालक, माता-पिता तथा कुल परम्परा के संस्कार भी लेकर आता है। जिस प्रकार के वातावरण में उसका लालन-पालन होता है वैसे ही उसके आचरण बनते हैं। साधारण जीवन में भी वह जैसे औरों को चलते-फिरते, उठते-बैठते, बोलते-सुनते, खाते-पीते, देखता है वैसे ही वह भी आचरण करने लगता है। अनुकरण हमारी शिक्षा का मूल आधार है। बालक में उत्साह छलका पड़ता है। उसके हाथ-पांव, दिल-दिमाग कुछ करने को व्याकुल रहते हैं। वे कोई ऐसा काम करना चाहते हैं, जिसमें उसकी रुचि हो। जिसमें रुचि होगी उसी में उसका मन लगेगा। जिसमें मन लगेगा, उसी का ज्ञान बालक के मस्तिष्क में दृढ़ होकर बैठेगा तथा जो कुछ उसके मस्तिष्क में बैठेगा उसी के अनुकूल उसका स्वभाव बनेगा, उसका ज्ञान बढ़ेगा। इस प्रकार ज्यों-२ वह अपना ज्ञान संचित करता है, त्यों-त्यों इसी संचित ज्ञान के आधार पर वह नया-नया

ज्ञान लेता चलता है। ये सब नवीन दृष्टिकोण से सम्बन्धित मान्यतायें हैं। हमारे पूर्व आचार्यों ने शिक्षा का उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार माना है और इसी को सबसे अधिक प्रधानता भी दी है।

पाश्चात्य मान्यता और वर्तमान शिक्षा:

पाश्चात्य विद्वान् हर्बाट कहता है कि शिक्षा का एकमात्र अभिप्राय चरित्र निर्माण है। उसकी दृष्टि में सदाचार की प्राप्ति ही शिक्षा का एकमात्र ध्येय है। प्रसिद्ध विद्वान् स्पेंसर के अनुसार शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य जीवन की सर्वतोमुखी तैयारी है पर दुर्भाग्य से आज जो शिक्षा की व्यवस्था है वह केवल अर्थकारी रह गई है। उसका सामान्य लक्ष्य रोजी-रोटी, सत्ता, सम्पदा, प्राप्ति मात्र रह गया है। वह केवल ज्ञानात्मक एवं सूचनात्मक ही रह गई है। प्राचीन समय की आश्रमीय शिक्षा, गुरु का महत्त्व और आश्रम जीवन की नियमित चर्या से वह कोसों दूर हो गई है यही कारण है कि मानवीय मूल्यों को समझने, अंगीकार करने एवं उनको जीवन में क्रियान्वित करने की प्रक्रिया गौण होती जा रही है।

मानवीय मूल्यों की शिक्षा:

अत: मानवीय मूल्यों की शिक्षा, चरित्र और संस्कार निर्माण की शिक्ष सदाचार और शिष्टाचार के शाश्वत मूल्यों की शिक्षा, आध्यात्मिक जगत में रमण करने की शिक्षा, वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अधिक आवश्यक एवं उपादेय है अन्यथा वर्तमान में बढ़ती हुई अनैतिकता, अराजकता, कर्तव्यहीनता, आचार विहीनता, उच्छृंखला, अनुशासनहीनता, अनियमिता, अशिष्टता, अखाद्य खान-पान, घूसखोरी, धनलिप्सा व कालाबाजारी की वाढ़ रोके से ही नहीं रुक सकेगी और मानव पतन की चरम सीमा पर पहुंच जायेगा।

नैतिक शिक्षा व अणुव्रत पालन:

इसके लिए हमें विद्यालयों में इसकी रोकथाम प्रारम्भ करनी होगी। वहां यह कार्य नैतिक शिक्षण के व्यापक कार्यक्रम से ही सम्भव हो सकेगा। आत्म-संयम का पहला पाठ यही होना चाहिये। शास्त्रीय दृष्टि से हटकर यदि विचार करें और समझें तो मेरी दृष्टि में मोटे रूप से वे सभी कार्य जिनसे स्वयं का और दूसरों का हित हो, किसी को किसी प्रकार का कष्ट अथवा असुविधा न हो, जिससे व्यक्ति स्वयं ऊंचा उठ सके और दूसरों को ऊंचा उठा सके, वही शिक्षा नैतिक शिक्षा के अन्तर्गत आती है। नैतिक शिक्षा के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रों को सामान्यत: तीन भागों में वांटा जा सकता है—

नैतिक संस्कार अथवा वैयक्तिक मूल्य:

इसके अन्तर्गत कतिपय मानव मूल्यों को स्थान प्राप्त है—करुणा, दया, प्रेम, मैत्री, विनय, श्रद्धा, सेवा-भावना, क्षमा, धैर्य, उदारता, सहिष्णुता, निर्भि-

कता, साहस, विवेक, आत्म-संयम, प्रामाणिकता, जागरुकता, देश-प्रेम आदि-२। इनके अभ्यास और प्रयोग के अवसर उपस्थित किये जाने चाहिये।

सदाचार और शिष्टाचार:

❀ जीवन-चर्या में अच्छे आचरण खाने में, पीने में, बैठने, उठने, चलते-फिरते, बोलने और सुनने में आने व जाने में आदि अभ्यास द्वारा।

❀ अपने से बड़ों का आदर, छोटे से सौहार्द्र, स्नेह, आज्ञा-पालन, नियम पालन, समय पालन, सादगी, स्वावलम्बन समय-समय पर प्रयोग द्वारा।

❀ आत्म-संयम के उपादान-अणुव्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह अभ्यास द्वारा।

शिक्षक की भूमिका:

शिक्षक मार्गदर्शक का काम करे। सही मार्ग इन सबके लिए वही बता सकता है जो मार्ग से परिचित हो, अभ्यासी हो, तभी अनुगामी उसका सही अनुकरण कर सकता है। स्पष्ट है कि शिक्षक को अपना आदर्श उपस्थित करना होगा। शिक्षार्थी अनुकरण करने का अभ्यस्त होता है, वह उसके आदर्श का प्रतिरूप बन सकेगा। उसको शिक्षार्थी की सभी क्रिया-प्रक्रिया में सहयोगी, साथी बनना होगा और उसमें आने वाले गुण और दोषों का सामयिक व उचित समाधान करना होगा, तभी मार्ग प्रशस्त बन सकेगा।

मनोविज्ञान की दृष्टि से शिक्षक क्या करे ?

यह सर्वविदित है कि बालक में जन्मजात मूल प्रवृत्तियां होती हैं। शिक्षक उनका सही दिशा में उपयोग करे। इनमें कतिपय इस प्रकार हैं:—

कुतूहल, दैन्य, पलायन, शरणाति, सृजन, हास, निवृत्ति आदि। इनके साथ ही इनके निम्न स्थायी भाव अथवा संवेग भी रहते हैं।

करुणा, भय, क्रोध, घृणा, मैत्री, क्षुधा, स्नेह, हर्ष, आमोद-प्रमोद, उल्लास आदि। यदि शिक्षक इनका दैनिक कार्यकलापों में सही दिशा में उपयोग करा सकें तो ये संवेग ही गुणों में परिवर्तित हो जायेंगे। जैसे मैत्री, नेतृत्व, सहानुभूति, स्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता आदि में।

इसी प्रकार घर, परिवार, समाज और राष्ट्र भी बाल-मन की नैतिक भावनाओं को परिपुष्ट करने में अपनी ओर से पहल कर सकते हैं/करना चाहिये।

वर्तमान स्थिति में विद्यालय क्या कर सकते हैं ?

उस सम्बन्ध में कतिपय सुझाव इस प्रकार हैं:—

(१) विद्यालय का समूचा वातावरण ही संस्कारप्रद बनाया जाय, जिसकी छाप पड़े और अनुकरण एवं आचरण द्वारा वह बालकों में प्रतिबिम्बित हो।

(२) विद्यालय में होने वाली प्रवृत्तियों, क्रियाओं को सोद्देश्य बनाया जाय और उनमें सक्रिय भाग लेने के अवसर प्रदान किये जावें—सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, शारीरिक गतिविधियों में स्वस्थ प्रतिस्पर्धाएँ आयोजित हों और उनके लिए प्रोत्साहन दिया जाता रहे।

(३) ऐसे संस्कार शिविरों का आयोजन हो, जहां पूरे दिन की जीवनचर्या का आदर्श रूप में पालन किया जाय/कराया जाय।

(४) आदर्शों के प्रति प्रतिबद्ध व्यक्तियों का समय-२ पर सम्पर्क किया जाता रहे।

(५) सत्साहित्य प्रकाशन करके उसे अध्ययन, चिन्तन-मनन के लिए उपलब्ध कराया जावे।

(६) दैनिक सौम्य प्रार्थना सभाओं व प्रवचनों का आयोजन किया जाता रहे।

(७) समय-समय पर जीवन मूल्यों का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करके और प्रशंसनीय कार्य करने वालों को प्रोत्साहित किया जाता रहे।

(८) सदाचार, सद्व्यवहार- डायरी की व्यवस्था की जावे, जिसमें शिक्षार्थी स्वयं खुले दिल से अपने कार्य व्यवहार की नोंध करें और उन पर विराम के समय चिन्तन–मनन करें। आवश्यकतानुसार उनमें शोधन करें।

(९) योजनाबद्ध ढंग से कुछ अच्छे संस्कारों पर सप्ताह आयोजित करके अभ्यास देना भी लाभप्रद होता है जैसे:—नमस्कार सप्ताह, सफाई सप्ताह, अनुशासन सप्ताह, श्रमदान सप्ताह, योगासन सप्ताह, सेवा सप्ताह आदि।

(१०) जीवन मूल्यों को प्रतिस्थापित करने वाले पाठ पाठ्य पुस्तकों में अधिक जोड़ें जाने चाहिये और उनको शिक्षण काल में विशेष बल देकर पढ़ाया जाये, जिससे सात्विक वृत्तियों को बल प्राप्त हों।

(११) जीवन मूल्यों से सम्बन्धित विशेष कार्यक्रम समय-२ पर आयोजित किये जाते रहने चाहिये।

(१२) ऐसी छोटी-२ पुस्तकें, जिनको आचार-संहिता नाम से संबोधित किया जा सकता है, शिक्षार्थियों में वितरित की जायें और उस पर प्रयोगात्मक चर्चा समय-समय की जावे।

ऐसे ही अनेक कार्यक्रम हो सकते हैं, जिनके द्वारा आचरण शुद्धि के सम्बन्ध में विशेष बल दिया जा सके। यदि आचरण में शुद्धि आने की बात

सम्भव हो गई तो निश्चय है आत्मा में संयम के अंकुर प्रस्फुटित होने लगेंगे। बचपन में यदि ये संस्कार घर कर गये तो निश्चय है कि पूरे जीवन भर इनका बड़ा प्रभाव रहेगा और व्यक्ति एक सुनागरिक, सुसंस्कारी मानव और आत्म-चिन्तन की दिशा में सहज रूप से, अग्रसर हो सकेगा। आत्म-संयम का मूल मन्त्र यही है।

—बी-८१, राजेन्द्रमार्ग, बापूनगर, जयपुर

सुख और शांति का राज

❀ राज सौगानी

एक बार गुरुनानक भ्रमण करते हुए एक गांव में ठहरे। रात में सत्संग के बाद सभी ग्रामवासी चले गए। गुरुनानक ध्यानमग्न बैठे रहे।

अचानक एक सत्रहवर्षीय कन्या सकुचाती हुई उनके सामने उपस्थित हुई। गुरु का ध्यान भंग हुआ तो उसे देखकर उन्होंने कोमल स्वर में पूछा—'बेटी तुम कौन हो? क्यों आई हो?'

कन्या ने रोते हुए बताया कि उसके पिता उसका विवाह साठ वर्ष के एक धनी वृद्ध से करने जा रहे हैं जो पहले ही सात विवाह कर चुका है। उसकी चार पत्नियां अब भी जिन्दा हैं। उसने इस अन्याय और अत्याचार से रक्षा की प्रार्थना की, ताकि उसका जीवन नष्ट होने से बच सकें।

गुरुनानक ने उसके सिर पर हाथ रखा और बोले—"बेटी! तू अपने घर जा। जो कुछ मुझसे हो सकेगा करूंगा।' दूसरे दिन प्रातःकाल उस गांव के नरनारी गुरुनानक को विदा करने आए। उन्हीं में वह साठवर्षीय वृद्ध भी था। सभी को आशीर्वाद देने के बाद गुरुजी ने उस वृद्ध को एकांत में बुलाकर कहा—"भाई, तुम धन वैभव से सम्पन्न हो, फिर भी तुम सुखी व सन्तुष्ट नहीं दिखाई देते। क्या यह ठीक है?"

"हां गुरुदेव, लाख कोशिश करने पर भी मैं सुखी नहीं हो पाया, मेरा चित्त अशांत रहता है, मेरी कामनाएं अधूरी रहती हैं कृपया मुझे और शांति का उपाय बताएं।" गुरुनानक ने कहा—'इच्छाओं को वश में करो, मन को जीतो और संयम से रहो।' वृद्ध की मोह-निद्रा भंग हो गई और उसने विवाह करने का विचार छोड़ दिया।

—स्टेशन रोड, भवानीमण्डी (राज०)

प्रश्नमंच कार्यक्रम–

संयम

※ श्री पी. एम. चौरड़िया

प्रश्न—संयम किसे कहते हैं ?

उत्तर:—(१) मन, वचन और काया के योग को संयम कहते हैं ।

(२) 'इन्द्रिय निरोध : संयम' अर्थात् इन्द्रियों के निरोध को संयम कहा गया है ।

(३) आत्म-निग्रह करना मन, वचन व तन का नियंत्रण करना, इन्द्रियों को अधिकार में रखना, यही संयम है ।

प्रश्न :—संयम का दूसरा नाम क्या है ?

उत्तर:—'उत्तम चरित्र'

प्रश्न :—इन्द्रियों को संयत तथा केन्द्रित रखना आवश्यक क्यों है ?

उत्तर:—क्रिया सिद्धि के लिए यदि कार्य करते समय इन्द्रिय-समूह इधर-उधर दौड़ता रहेगा तो कार्य सिद्ध न हो सकेगा ।

प्रश्न :—संयम और असंयम में क्या अन्तर है ?

उत्तर:—संयम मानव जीवन को ऊंचा उठाता है, क्योंकि उससे शक्ति प्राप्त होती है । शक्ति का संचय होता है । असंयम का परिणाम इससे बिल्कुल विपरीत है । असंयम सीढ़ियों से नीचे उतरने का मार्ग है और संयम ऊपर जाने का ।

प्रश्न :—मनुष्य को मनः संयम, वाक् संयम और काय संयम से क्या लाभ होता है ?

उत्तर:—(१) मन संयम से इन्द्रिय-निरोध होता है ।

(२) वाक् संयम से मिथ्या भाषण दोष नहीं होता है ।

(३) काय संयम से असन्मार्गगमिता की निवृत्ति होती है ।

प्रश्न :—जैन दर्शन में संयम और तप को किस नाम से अभिहित किया गया है?

उत्तर:—संयम—संवर, तप—निर्जरा ।

प्रश्न :—'दशवैकालिक' सूत्र की 'हरिभद्रीय वृत्ति' एवं 'प्रवचन सारोद्धार' में संयम के १७ भेद कौन से बतलाए हैं ?

उत्तरः—(१) पृथ्वीकाय संयम (पृथ्वी की हिंसा का त्याग), (२) अपकाय संयम, (३) तेजस्काय संयम, (४) वायुकाय संयम, (५) वनस्पतिकाय संयम, (६) द्वीन्द्रिय संयम, (७) त्रीन्द्रिय संयम, (८) चतुरिन्द्रिय संयम (९) पञ्चेन्द्रिय संयम, (१०) अजीव संयम, (११) प्रेक्षा संयम (प्रत्येक वस्तु बिना देखे काम में न लेना) (१२) उपेक्षा संयम (क्रूर अधार्मिक आदि पर द्वेष न करना) (१३) प्रमार्जना संयम (पूजन में सावधानी रखना), (१४) परिष्ठापना संयम (किसी चीज को डालने में सावधानी रखना), (१५) मन संयम, (१६) वचन संयम, (१७) काय संयम।

प्रश्न :—क्या संयम वृत्तियों का केवल दमन करता है ?

उत्तरः—संयम वृत्तियों का दमन ही नहीं करता, वह उनका शमन, विलयन, मार्गान्तरीकरण और उदात्तीकरण भी करता है।

प्रश्न—संयम और दमन में क्या अन्तर है ?

उत्तरः—संयम और दमन में गहरा अन्तर है। संयम मन की स्वीकृति है। दमन में विवशता है, लाचारी है। उसमें किसी के द्वारा दबाया जाता है। दमन में दुःख होता है जबकि संयम में सुख।

प्रश्न :—'गरहा संजमे नो अगरहा संजमे' —भगवती सूत्र-१९
उपर्युक्त शब्दों का अर्थ बताइये ?

उत्तरः—गर्हा (आत्मालोचन) संयम है और अगर्हा संयम नहीं है।

प्रश्न :—'निग्गहिए मणयसरे अप्पा परमप्पा इवइ' —आराधनासार २०
इनका हिन्दी में क्या अर्थ है ?

उत्तरः—मन के विकल्पों को रोक देने पर आत्मा परमात्मा बन जाती है।

प्रश्न :—'हत्थसंजए, पायसंजए, वायसंजए, संजइंदिए' —भगवान महावीर
प्रभु महावीर के इस उपदेश का अर्थ क्या है ?

उत्तरः—अपने हाथों को संयम में रखो, अपने पैरों को संयम में रखो, अपनी वाणी पर संयम रखो, अपनी इन्द्रियों पर संयम रखो।

प्रश्न :—संयम को अन्य किन रूपों से जाना जा सकता है ?

उत्तरः—संवर, गुप्ति या योग-निरोध आदि-आदि।

प्रश्न :—'प्रश्न व्याकरण सूत्र' में संवर के ५ द्वार कौन-कौन से बताए गए हैं ?

उत्तरः—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अचौर्य, ४. ब्रह्मचर्य, ५. अपरिग्रह।

प्रश्न :—संयम से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उत्तरः—संयम से जीव आश्रव का निरोध करता है।

प्रश्न :—सौन्दर्य का पूर्ण मात्रा में भोग करने के लिए संयम की आवश्यकता है। उपर्युक्त विचार किसने प्रकट किए ?

उत्तरः—रवीन्द्रनाथ टैगोर ने।

प्रश्न :—प्रति मास हजार-हजार गायें दान देने की अपेक्षा कुछ भी न देने वाले संयमी का आचरण श्रेष्ठ है।
उपर्युक्त विचार किस शास्त्र से लिए गए हैं ?

उत्तरः—उत्तराध्ययन सूत्र (९/४०)

प्रश्न :—'जो अपने ऊपर शासन नहीं करेगा, वह हमेशा दूसरों का गुलाम रहेगा।'
उपर्युक्त विचार किसने प्रकट किए ?

उत्तरः—महाकवि गेटे ने।

प्रश्न :—व्यावहारिक जीवन में संयम के बिना हम स्वस्थ नहीं रह सकते। यह कथन किस प्रकार सही है ?

उत्तरः—जीवन में स्वस्थ एवं सुखी रहने के लिए संयम की आवश्यकता है। यदि कोई खाने में संयम नहीं रखता तो रोगों का घर जम जाता है, यदि कोई बोलने में संयम नहीं रखता तो कलह या लड़ाइयां छिड़ जाती है।

प्रश्न :—मन का संयम क्या है ?

उत्तरः—अकुशल मन का निरोध और कुशल मन का प्रवर्तन मन का संयम है।

प्रश्न :—किन-२ कारणों से मनुष्य संयम में पुरुषार्थ नहीं कर पाता है ?

उत्तरः—(१) यौवन का उन्माद (२) धन की अधिकता (३) सत्ता की प्राप्ति (४) वासनाओं की ऊपरी रमणीयता (५) अविवेक जन्य पुनर्जन्म में अविश्वास।

प्रश्न :—श्रावकजी मधुर बोले, कम बोले। कार्य होने पर बोले कुशलता से बोले उपर्युक्त सब बातें हमें किस ओर संकेत करती हैं ?

उत्तरः—हमें वचन (भाषा) संयम की ओर संकेत करती हैं। अर्थात् हमें भाषा का संयम रखना चाहिए।

प्रश्न :—वाणी तो संयत भली, संयत भला शरीर।
जो मन को संयत करे, वही संयमी वीर।
उपर्युक्त दोहे में कवि ने संयम के बारे में क्या कहा ?

उत्तरः—वाणी पर संयम रखना भला है। इन्द्रियों एवं शरीर पर भी संयम

उत्तरः—संयम से जीव आश्रव का निरोध करता है।

प्रश्न :—सौन्दर्य का पूर्ण मात्रा में भोग करने के लिए संयम की आवश्यकता।
उपर्युक्त विचार किसने प्रकट किए ?

उत्तरः—रवीन्द्रनाथ टैगोर ने।

प्रश्न :—प्रति मास हजार-हजार गायें दान देने की अपेक्षा कुछ भी न देने वाले संयमी का आचरण श्रेष्ठ है।
उपर्युक्त विचार किस शास्त्र से लिए गए हैं ?

उत्तरः—उत्तराध्ययन सूत्र (६/४०)

प्रश्न :—'जो अपने ऊपर शासन नहीं करेगा, वह हमेशा दूसरों का गुलाम रहेगा।'
उपर्युक्त विचार किसने प्रकट किए ?

उत्तरः—महाकवि गेटे ने।

प्रश्न :—व्यावहारिक जीवन में संयम के बिना हम स्वस्थ नहीं रह सकते। यह कथन किस प्रकार सही है ?

उत्तरः—जीवन में स्वस्थ एवं सुखी रहने के लिए संयम की आवश्यकता है। यदि कोई खाने में संयम नहीं रखता तो रोगों का घर जम जाता है, यदि कोई बोलने में संयम नहीं रखता तो कलह या लड़ाइयां छिड़ जाती है।

प्रश्न :—मन का संयम क्या है ?

उत्तरः—अकुशल मन का निरोध और कुशल मन का प्रवर्तन मन का संयम है।

प्रश्न :—किन-२ कारणों से मनुष्य संयम में पुरुषार्थ नहीं कर पाता है ?

उत्तरः—(१) यौवन का उन्माद (२) धन की अधिकता (३) सत्ता की प्राप्ति (४) वासनाओं की ऊपरी रमणीयता (५) अविवेक जन्य पुनर्जन्म में अविश्वास।

प्रश्न :—श्रावकजी मधुर बोले, कम बोले। कार्य होने पर बोले कुशलता से बोले
उपर्युक्त सब बातें हमें किस ओर संकेत करती है ?

उत्तरः—हमें वचन (भाषा) संयम की ओर संकेत करती हैं। अर्थात् हमें भाषा का संयम रखना चाहिए।

प्रश्न :—वाणी तो संयत भली, संयत भला शरीर।
जो मन को संयत करे, वही संयमी वीर।
उपर्युक्त दोहे में कवि ने संयम के बारे में क्या कहा ?

उत्तरः—वाणी पर संयम रखना भला है। इन्द्रियों एवं शरीर पर भी संयम

रखना आवश्यक है लेकिन सच्चा संयमी वही है जो अपने मन को संयत करता है।

प्रश्न :—'प्रभुता पाई काही मद नांही' उपर्युक्त सूक्ति का अर्थ बताइये ?

उत्तर:—वह मनुष्य देवतुल्य है जिसमें प्रभुता पाकर भी घमंड नहीं होता। प्रभुता की प्राप्ति होने पर संयम के मार्ग में विवेक को दुरुस्त रखना बहुत कठिन है।

प्रश्न :—'स्थानांग सूत्र' में संयम के कितने भेद किए गए हैं ?

उत्तर:—स्थानांग सूत्र में संयम के ५ भेद किए गये हैं—१. सम्यक्त्व संवर, २. विरक्ति संवर, ३. अप्रमाप संवर, ४ अकषाय संवर, ५. अयोग संवर।

प्रश्न :—मानव जीवन में अच्छे कार्य करने के लिए किन पर संयम रखना आवश्यक है ?

उत्तर:—मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर के अंगोपांग आदि पर।

प्रश्न :—आचार्य उमास्वाति ने 'प्रशमरति' में संयम के कौन से भेद बतलाए हैं?

उत्तर:—हिंसा आदि पांच आश्रवों का त्याग, पांच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों पर विजय तथा मन, वचन, काया रूप तीन दण्डों (अशुभ योग प्रवृत्ति) से निवृत्त होना। ये संयम के १७ प्रकार है।

प्रश्न :—सिद्ध अरिहन्त में मन रमाते चलो, सब कर्मों के बंधन हटाते चलो।
इन्द्रियों के न घोड़े विषयों में अड़े, जो अड़े भी तो संयम के कोड़े पड़ें।
तन के रथ को सुपथ पर चलाते चलो। सिद्ध अरिहन्त में........
उपर्युक्त स्तवन के रचयिता कौन हैं ?

उत्तर:—कवि रसिक।

प्रश्न :—संयम तब तक ही संयम है, जब तक सम का योग सही है।
सम का योग नहीं तो यम है, यम में सहजानन्द नहीं है॥
उपर्युक्त कविता किसने लिखी ?

उत्तर:—उपाध्याय अमरमुनिजी ने।

प्रश्न :—संयम सुखकारी, जिन आज्ञा अनुसार
(तर्ज—अब होवे धर्म प्रचार, प्यारे भारत में)
संयम सुखकारी, जिन आज्ञा के अनुसार॥ संयम॥
धन्य पाले जे नर नार॥ संयम॥
सुखकारी आनन्दकारी, धन्य जाऊं मैं बलिहार॥१॥
कर्म-मैल ने शीघ्र हटावे, आतम ना गुण सब प्रगटावे।
जन्म-मरण ना दुःख मिटावे, होवे परम कल्याण॥२॥

परम औषधि संयम जाणो, तीन लोक नो सार पिछाणो ।
शुद्ध समझ हृदय में आणो, अनुपम सुख की खान ।।३।।
उपर्युक्त स्तवन के रचनाकार कौन है ?

उत्तर:—बहुश्रुत पंडित श्री समरथमलजी म.सा. ।

प्रश्न :—"अन्धे के पुत्र अन्धे ही तो होते हैं ।"
ये शब्द किसने कहे तथा इसका क्या परिणाम निकला ?

उत्तर:—द्रौपदी ने दुर्योधन को ये शब्द कहे तथा जिससे महाभारत का भीषण युद्ध हुआ ।

प्रश्न :—'संयमः खलु जीवनम्' इसका अर्थ बताइये ?

उत्तर:—संयम ही जीवन है ।

प्रश्न :—तंदुल मत्स्य के कौन से असंयम के कारण उसे मरकर सातवीं नरक में जाना पड़ा ?

उत्तर:—मन का असंयम ।

प्रश्न :—पशु आज भी लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व जिस स्थिति में था, आज भी वैसी स्थिति में है । इसका क्या कारण है ?

उत्तर:—पशु में संयम की शक्ति विकसित नहीं है । उसमें 'सेल्फ कन्ट्रोल' की क्षमता नहीं है । इसी कारण उसका विकास नहीं हो सका ।

प्रश्न :—कछुए की मूर्ति को शंकर के मन्दिर में रखने के पीछे क्या रहस्य है?

उत्तर:– यह इस बात का निर्देश करता है कि यदि तू शंकर अर्थात् सुख चाहता है उसके दर्शन करना चाहता है अपने मन, वचन, काया और इन्द्रियों को समेट कर रख ताकि बाह्य भय अर्थात् जो इन्द्रियों के विषय तुझ पर छाये रहते हैं, उनसे तू मुक्ति पा सके । यहां कछुआ स्पष्ट कह रहा है कि हे मानव ! तू भी मेरी भांति संयमित रहेगा तो शंकर (सुख) की प्राप्ति कर सकेगा ।

प्रश्न :—भगवान महावीर ने कहा कि इस संसार में चार परम अंग दुर्लभ हैं। वे कौन से हैं ?

उत्तर:—१. मनुष्यत्व २. श्रुति ३. श्रद्धा ४. संयम में पुरुषार्थ ।

—८९ ओडीयाप्पा नायकन स्ट्रीट, मद्रास–६०००३९

संयम साधना के जैन आयाम

❀ श्री उदय नागौरी

आत्मलक्षी जैन धर्म में संयम का शीर्षस्थ स्थान एवं विशेष महत्त्व है। जीवन उन्नयन की इस पद्धति में सम्यक् चारित्र से मुक्ति के द्वार अनावृत्त होते हैं, यह मानकर चारित्र का मूलाधार संयम बताया गया है। धर्म को आगार धर्म और अणगार धर्म में विभाजित करते हुए स्पष्ट किया गया है कि श्रावक श्राविका का धर्म आगार सहित (स+आगार) एवं श्रमण श्रमणी का धर्म बिना आगार (अण+आगार=अणगार) का है। अन्य शब्दों में कहें तो अणगार को महाव्रत का एवं श्रावक को अणुव्रत का पालन करना पड़ता है अर्थात् एक ओर तीन करण तीन योग से व्रत पालन का विधान है तो दूसरी ओर दो करण तीन योग का।

वर्तमान आणविक युग में सुख-सुविधाओं का अम्बार होने पर भी मानव मानसिक पीड़ा, संत्रास, तनाव एवं समस्याओं से ग्रसित एवं भ्रमित है। वह जूझ रहा है जीवन-मूल्यों से और संघर्ष रत है शांति की चाह में। यह स्थिति वैयक्तिक स्तर पर ही नहीं वरन् सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक है। यदि हम समस्त समस्याओं का कारण जानना चाहें तो एक ही अर्थात् संयम का अभाव है और सबका निराकरण संयम से संभव है।

जैन साधना-पद्धति प्रथम दृष्टि में दमन की क्रिया प्रतीत होती है परन्तु वस्तुतः इसमें विश्लेषण की प्रक्रिया से पांच समिति, तीन गुप्ति, इन्द्रिय संयम एवं कषाय निरोध पर जोर दिया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्ययन में "शरीर माहो नाव" कहते हुए बताया गया है कि संसार-समुद्र से पार पाने के लिए शरीर एक नौका के समान है परन्तु इसके छिद्र रहित होने पर ही भव-भ्रमण के पार पहुंचना संभव है। अर्थात् इसमें पांच इन्द्रियों के माध्यम से चार कषाय एवं तीन गुप्ति के छिद्रों को बन्द करने पर ही हमें सफलता की प्राप्ति होती है।

संयम के लक्षण :

स्थानांग सूत्र (स्था. ५ उ. २ सूत्र ४२९-४३०) में संयम की परिभाषा बताते हुए कहा गया है कि सम्यक् प्रकार सावध योग से निवृत्त होना या आश्रव से विरत होना संयम है। "सम्यक् यमो वा संयमः" अर्थात् सम्यक् रूप से यमन (निमन्त्रण) करना ही संयम है।[1] अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि व्रत,

---

१. जैन सिद्धान्त कोश भी. ४ पृ. १३७.

समिति, गुप्ति आदि रूप से प्रवर्तना अथवा विशुद्ध आत्म भाव में प्रवर्तना है। इसे भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। अन्य प्राणियों रक्षा करना प्राणी संयम एवं इन्द्रियों के विषयों से विरत होना-इन्द्रिय है।[1]

संयम : रूप एवं प्रकार :

संयम के चार रूप बताते हुए कहा गया है—

चउव्विहे संजमे—मण संजमे, वइ संजमे, काम संजमे, उवगरण संजमे।

अर्थात् संयम के चार रूप हैं—मन का संयम, वचन का संयम, शरीर का संयम और उपधि-उपकरण का संयम। इसे यों भी कहा जा सकता है कि मन, वचन, काया की अशुभ क्रियाओं का निरोध एवं उपकरण का परिहार संयम है। लेकिन वस्तुतः संयम है गर्हा अर्थात् आत्मालोचन, जैसा कि भगवती सूत्र (१/६) में कहा गया है—

गरहा संजमे, नो अगरहा संजमे।

इस सूत्र गहराई में जाने पर ज्ञात होता है कि गर्हा की स्थिति तभी आ सकती है जब हम शरीर और आत्मा को पृथक् मानें—

अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं।[3]

इसी को दृष्टिगत रखकर कहा गया है कि समता से अन्तर्मुख होकर अपने को पापवृत्तियों से दूर रखने हेतु आत्मा को शरीर से पृथक् जान कर लिया शरीर को धुन डाले—

एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरगं।

संयम के उपरोक्त चार रूप के अतिरिक्त इसके सत्रह भेद भी निम्नानुसार बताये गये हैं:—

१-५-हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह रूपी पांच आश्रवों से विरति।

६-१०-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत-इन पांच इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर जाने से रोकना।

११-१४-क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप चार कषायों को छोड़ना।

१५-१७-मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति रूप तीन दण्डों से विरति।[4]

---

१. जैन सिद्धांत कोश भी. पृ. १३६.

२. स्थानांग सूत्र स्था. ४ उद्देषा २ सूत्र.

३ सूत्र कृतांग सूत्र. २/१/६

४. स्थानांग सूत्र ५/१/३६६.

° प्रवचन सारोद्धार द्वार ६६ गाथा ५५५.

° जै. सि. बोल संग्रह भा. ५ पृ. ३६५.

श्रमण धर्म (अणगार) का पालन करने वालों के लिए (तीन करण एवं तीन योग) संयम के निम्नलिखित सत्रह भेद हरि भद्रीमावश्यक (अ. ४ पृ. ६५१) में वर्णित हैं—

१–५–पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजाकाय, वायुकाय एवं वनस्पतिकाय की किसी भी प्रकार हिंसा न करना।

६–९ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय का किसी भी प्रकार हनन न करना।

१०–अजीव संयम-अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं के ग्रहण से असंयम होता है उन्हें न लेना अजीव संयम है। जैसे स्वर्ण, चांदी, शस्त्र पास में न रखना तथा पुस्तक, पत्र और पात्र आदि उपकरणों की पडिलेहणा करते हुए यतना पूर्वक बिना ममत्व भाव के मर्यादा अनुसार रखना।

११–प्रेक्षा संयम–बीज, हरीघास, जीवजन्तु से रहित स्थान में अच्छी तरह से देखकर सोना, बैठना, चलना आदि क्रियाएं प्रेक्षा संयम है।

१२–उपेक्षा संयम–पाप कर्म में प्रवृत्त होने वाले को एतदर्थ प्रोत्साहित न करते हुए उपेक्षा भाव बनाये रखना।

१३–प्रमार्जना–संयम–स्थान, वस्त्र, पात्र आदि को पूंजकर कार्य में लेना।

१४–परिष्ठापना संयम–शास्त्रानुसार आहार, वस्त्र, पात्र आदि को यतना सहित परठना।[1]

१५–मन संयम–मन में ईर्ष्या, द्रोह अभिमान न रखना।

१६–वचन संयम–हिंसाकारी कठोर वचन न बोलकर शुभ वचन बोलना।

१७–काय संयम- गमना गमन तथा अन्य कार्यों में काया की शुभ प्रवृत्ति करना।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि संयम की समाचारी श्रमण वर्ग के लिए अपेक्षाकृत कठोर है। चूंकि उनका पूर्ण जीवन संयम को समर्पित है और उन्हें महाव्रतों का पालन तीन करण तीन योग से करना पड़ता है अतः उनके लिए किसी भी प्रकार की छूट या आगार का प्रावधान नहीं है। श्रावक वर्ग के लिए भी संयम की उपयोगिता कम नहीं, भले ही उनका पूर्ण जीवन श्रमणवत संयम से ओत प्रोत न हो।

मन संयम–

मनुष्य को मनन का साधन मन तो मिला है परन्तु इसकी चंचलता उसे

---

१. इसे समवायांग सूत्र में अपहृत्य संयम कहा गया है। (समवा. १७)

ऊंचाई तक ही नहीं पहुंचाती वरन् इसमें पतन की ओर धकेलने की सामर्थ्य भी है। नियंत्रित होने पर यह आज्ञाकारी सेवक है परन्तु अनियंत्रित स्थिति में कठोर मालिक भी। पांचों इन्द्रियों के माध्यम से यह सदैव कार्यरत रहता है। यहां तक कि निद्रित अवस्था में भी मन विश्राम नहीं करता। उत्तराध्ययन सूत्र (अ. २३ सू. ५८) में इसकी साहसिक, भयंकर व दुष्ट घोड़े से तुलना की गई है, जो बड़ी तेजी के साथ दौड़ता रहता है:—

मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठ एसो परिधावई। अतः साधक को अन्तर्मुखी होकर कछुए की भांति अपने अंगों को अन्दर समेटकर स्वयं को पापवृत्तियों से सुरक्षित रखना चाहिए।[1]

समस्त इच्छाओं, विकृत्तियों एवं आवेगों का मूल मन में ही है। "इच्छाए अगास समा अणंतए" अर्थात् इच्छाएं आकाश के समान अनन्त है, को दृष्टिगत रखकर हमें इन्हें परिमित व नियंत्रित करना चाहिए। चंचल मन हमें चैन से नहीं रहने देता अतः हम कुछ भी कार्य करें मन को संयत रखना आवश्यक है। मन रूपी भूमि में राग व द्वेष के बीज उग जाने पर कर्म रूपी वृक्ष हरा-भरा हो जाता है और इस प्रकार कार्मण शरीर का अस्तित्व अपना पड़ाव डाल देता है। तदनन्तर कार्मण शरीर पूर्णता या मुक्तावस्था की स्थिति तक आगामी जीवन का आधार बनता है। राग द्वेष के बारे में बताया गया है कि—

रागो य दोसो वि य कम्म बीयं,
कम्मं च जाइ मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाइ मरणश्स मूलं,
दुक्खं च जाइ मरणं वयंति॥

उत्तराध्ययन सूत्र ३२/

अर्थात् राग और द्वेष, ये दोनों कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म मरण ही वस्तुतः दुःख है

राग और द्वेष किससे पैदा होता है, इसका विश्लेषण निशीथ चूर्णि (१३२) में किया गया है—

माया—लोभेंहितो रागो भवति।
कोह, माणेंहि तो दोसो भवति॥

(नि. चू. १३२) अर्थात् माया और लोभ से राग होता है तथा क्रोध व मान से द्वेष पैदा होता है।

ये कषाय ही मन में अहं की ग्रन्थियों को जन्म देते हैं, मूर्च्छा या ममत्व के प्रासाद बनाते हैं और माया के सहारे लोभ की सरिता में गोते लगाते हैं। यहां तक कि पुनर्भव की जड़ें भी सींचते हैं:—

१. सूत्रकृतांग १/८/१६.

जे ऐ चतारि, काषिणा कषाया ।
मूलं सिंचति पुण्ण भवसु ।।

आज मनोविज्ञान, चिकित्सा विज्ञान एवं रसायन शास्त्र भी क्रोध से बचने का संदेश दे रहे हैं । किस प्रकार क्रोध से एड्रीवल गुत्थि का कार्य असंतुलित होकर रासायनिक स्राव से मानव को अस्वस्थ बना देते हैं यह किसी से छिपा नहीं है । अतः मन के संयम से कोई नकार नहीं सकता ।

अस्थिर चित्त वाले एवं क्रोधी व्यक्ति अपने उग्र विचारों से स्वास्थ्य को ही प्रभावित नहीं करते, अपनी प्राणशक्ति का ह्रास भी करते हैं । अर्थात् क्रोध से अधिक भयंकर व दुष्प्रभावकारी अन्य कुछ भी नहीं परन्तु आत्म संयम रखने पर कंटकाकीर्ण एवं प्रतिकूल वातावरण में भी माधुर्य छा जाता है ।

वचन-संयम–वाणी का विवेक एवं वचन का संयम हमारे पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में परिवर्तन ला सकते हैं । हम तोल कर बोलें व बोलकर तोलें तो वैमनस्य, संघर्ष, टकराव की दीवारें ही ढह सकती हैं । शुभ वचन जहां प्रेम व सौजन्य पैदा करते हैं, हमारे जीवन की राह तक वदल देते हैं । अतः कठोर वचन (फरूसं वइज्जा-आचारांग २/१/६) आवश्यकता से अधिक (वाइवेलं वइज्जा-सूत्र. १/१४/२५) बोलना वर्जित है तथा हितकारी एवं अनुलोभ (हियमाणुलोभियं दशवे. ७/५६) तथा पहले विचार कर (अणुचिंतिम वियागरे सूत्र. १/९/२५) बोलना वचन-संयम में समाहित है ।

कप्प संयम :

काम संयम में इन्द्रियों का संयम मुख है । इनसे हारने पर हमें अनेक रोग तो जकड़ते ही हैं हम परवश भी हो जाते हैं । पांच इन्द्रियों के विषय एवं विकारों से हम बच सकें तो आरोग्य प्राप्ति के साथ शुभ जीवन-यात्रा पूर्ण कर लेते हैं । अन्य जीवों को बंधन, वध क्षतविक्षत, अतिभार एवं भोजन पानी से विलग करने(बंधे, वेह, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाण विच्छेए । प्रथम अणुव्रत)जैसी यातनाएं इसी काया से दी जाती है अतः इनसे बचना भी संयम है ।

उपाधि संयम :

अनेक धर्मा वस्तु (पदार्थ) के प्रति ममत्त्व (मूच्छा परिग्गहो) एवं उनका एक सीमा से अधिक संग्रह भी असंयम है । वस्तु का स्वभाव ही धर्म है (वत्थु सुहावो धम्मो) अतः किसी स्थिति के प्रति लगाव परिग्रह है । जैसा कि महावीर ने स्पष्ट किया—पदार्थ के प्रति क्षण पयार्यों का परिवर्तन होता है—जिस पर्याय विशेष को हमने देखा, अपनाया वह तो परिवर्तित हो गई अतः यह ममत्व भी त्याज्य है । वस्तु को अपने स्वभाव में रहने दें और अपनी सत्ता किसी पर आरोपित न करें, यह संयम ही है ।

इस प्रकार संक्षेप में स्पष्ट है कि 'संयम' को मात्र दैहिक/यौनिक न मानकर उसके विविध आयामों के प्रति सजग रहना हमें ऊर्ध्वारोहण के पथ पर अग्रसर करता है । —द्वारा–सेठिया जैन ग्रन्थालय मरोठी मोहल्ला, बीकानेर

वोसिरामि : एक वैज्ञानिक विवेचन

❀ श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

"रागो य दोसो वि य कम्म वीयं" उत्तराध्ययन अ. ३२ गाथा ७, अर्थात् कर्म की उत्पत्ति राग-द्वेष रूप वीजों से होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो राग और द्वेष ही कर्म-बंध के कारण हैं अर्थात् जब तक राग-द्वेष है तब ही तक कर्म-बंध रहता है। राग-द्वेष में परिवर्तन होने के साथ ही कर्म-बंध में भी परिवर्तन होता रहता है। वर्तमान में राग-द्वेष के घटने से पूर्व में बंधे हुए कर्मों में भी घटोतरी हो जाती है अर्थात् पहले बंधे हुए कर्मों की स्थिति और अनुभाग में कमी हो जाती है, उन में अपवर्तन व अपकर्सण हो जाता है। वर्तमान में राग-द्वेष में वृद्धि होने से पूर्व में बंधे हुए कर्मों में भी वृद्धि हो जाती है—अर्थात् पहले बंधे हुए कर्मों की स्थिति व अनुभाग में वृद्धि हो जाती है उनमें उद्वर्तन व उत्कर्षण हो जाता है। वर्तमान में पूर्ण रूप से राग-द्वेष रहित-वीतराग होने पर घाती कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कर्म-बंध का संबंध पूर्ण रूप से राग-द्वेष पर निर्भर करता है।

राग-द्वेष के साथ कर्म-बंध का उपर्युक्त नियम सभी कर्मों पर लागू होता है परन्तु वीतराग होने पर कर्म-क्षय का नियम केवल घाती कर्मों पर ही लागू होता है अघाती कर्मों पर आंशिक रूप से लागू होता है पूर्ण रूप में नहीं। घाती कर्म ही आत्मा के गुणों का घात करने वाले हैं। आत्म-गुणों का घात ही वास्तव में घात है, हानि है। अघाती कर्म आत्मा के मौलिक निजी किसी भी गुण का अंश मात्र, लेश या देश मात्र भी घात नहीं करते हैं इसीलिए आगम में अघाती कर्मों की किसी भी प्रकृति को देश घाती नहीं कहा है अतः अघाती कर्म से जीव की लेशमात्र भी हानि नहीं होती फिर भी वीतराग होने पर अघाती कर्मों की स्थिति व अनुभाग अत्यधिक हीन-न्यून हो जाते हैं वे जली हुई रस्सी, भुने हुए चने के समान निर्जीव सत्वहीन हो जाते हैं। जैसे भुना हुआ चना खाद्य का काम तो देता है परन्तु नवीन पौधा उत्पन्न करने में अक्षम होता है इसी प्रकार अघाती कर्म जगत-हित के लिए तो उपयोगी होते हैं परन्तु उनसे नवीन कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती है।

राग-द्वेष मिटाने का एक उपाय 'वोसिरामि' भी है, या यों कहें कि कर्म क्षय का एक उपाय वोसिरामि भी है। 'वोसिरामि' शब्द अर्द्ध मागधी व प्राकृत भाषा का शब्द है। इसके लिए संस्कृत भाषा में 'विस्मरामि' शब्द है 'विस्मरामि' शब्द का अर्थ है—'मैं' विस्मरण करता हूं। 'विस्मरण' शब्द 'स्मरण' शब्दका विलोमार्थक है। स्मरण का अर्थ होता है—'याद रखना' अतः विस्मरण का अर्थ है 'याद न रखना' अर्थात् भूल जाना।

यह नियम है कि स्मरण उसी का रहता है जिसके साथ किसी न किसी प्रकार संबंध है। संबंध से हृदय पर प्रभाव अंकित होता है। प्रभाव उसी का अंकित होता है जिसके प्रति राग या द्वेष है। जैसे हम बाजार में होकर निकलते हैं तो हमें बाजार में कपड़े, मिठाई, खिलौनों, पुस्तकों आदि की दुकानें दिखाई देती है और उनमें रखी हुई मिठाई, वस्त्र, खिलौने आदि वस्तुएँ भी दिखाई देती हैं। परन्तु बाजार में दिखाई देने वाली सब दुकानें व उनमें रखी हुई सब वस्तुएँ हमें याद नहीं रहती है। हमें याद केवल उन्हीं की रहती है जिनके प्रति हमारा आकर्षण-विकर्षण है अर्थात् जिन्हें हम पसंद या ना पसंद करते हैं या यों कहें जिनके प्रति हमारा राग-द्वेष है। राग-द्वेष उन्हीं से होता है जिनसे हम प्रभावित होते हैं। जिनसे हम प्रभावित नहीं होते, जिनके प्रति हम तटस्थ रहते हैं, उदा-सीन रहते हैं उनके प्रति हमारे हृदय में राग-द्वेष नहीं होता। राग-द्वेष न होने से उनका प्रभाव अंकित नहीं होता। प्रभाव अंकित नहीं होने से उनका स्मरण नहीं होता। जिसका स्मरण नहीं होता उसे विस्मरण करने की आवश्यकता ही नहीं होती।

किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था, घटना आदि का प्रभाव अंकित होना ही संस्कार निर्माण होना है। संस्कार निर्माण होना ही कर्म-बंध होना है। किसी वस्तु, व्यक्ति आदि के दिखने या देखने से कर्म नहीं बंधते परन्तु उनके साथ सुख-दुःख रूप संबंध जोड़ने से कर्म-बंधते हैं। सुखात्मक संबंध जोड़ने से राग और दुःखात्मक संबंध जोड़ने से द्वेष उत्पन्न होता है। यही संस्कार–निर्माण या कर्म-बंध का कारण है।

किसी वस्तु को मात्र देखना 'द्रष्टाभाव' है और उस दृश्यमान वस्तु, व्यक्ति आदि से सुख चाहना, दुःख मानना अर्थात् सुखी-दुःखी होना भोक्ताभाव है और उन्हें प्राप्त करने बनाये रखने अथवा दूर हटाने आदि के लिए प्रयास करना कर्त्ताभाव है। कर्त्ता-भोक्ता भाव राग–द्वेष होने के द्योतक हैं, कर्म–बंध होने के कारण हैं। यह नियम है कि द्रष्टाभाव में राग–द्वेष नहीं होता। जहां राग–द्वेष नहीं होता वहां समभाव होता है, स्वभाव होता है। जहां समभाव होता है वहां स्वभाव में स्थित रहना होता है वहां न प्रभाव अंकित होता है, न संस्कार–निर्माण होता है, न कर्म-बंध होता है और न संबंध स्थापित होता है। जिससे संबंध स्थापित नहीं होता उसका स्मरण नहीं रहता। इसके विपरीत जहां कर्त्ता-भोक्ता भाव है वहां संबंध स्थापित होता है। जहां संबंध है वहां बंधन है। यह बंधन ही कर्म–बंध है। यह बंध या संबंध ही स्मृति के रूप में उदय आता है।

यह नियम है कि जो जिससे बंधा हुआ है संबंध जोड़े हुए है उसे उसका स्मरण आता है। किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, दृश्य आदि का स्मरण आना उसके साथ संबंध या बंध का द्योतक है। किसी का स्मरण तब तक रहता है जब तक

उसके साथ किसी न किसी प्रकार का संबंध का बंध है। इस संबंध का विच्छेद करते ही उसका बंधन टूट जाता है फिर उसका स्मरण नहीं आता अर्थात् विस्मरण हो जाता है। यह विस्मरण होना बंधन टूटना है।

विस्मरण होना संबंध-विच्छेद होने का द्योतक है। संबंध-विच्छेद होना ही असंग हो जाना है। इसे ही त्याग कहा जाता है। त्याग में संयम और त (संवर और निर्जरा) दोनों समाविष्ट है। विषय-कषाय रूप दोषों को निंदनी व हेय जानकर उनकी पुनरावृत्ति न करने रूप व्रत ग्रहण करना संयम है औ उनकी स्मृति भी न करने का दृढ़निश्चय करना वोसिरामि है। संयम या व्र ग्रहण से नवीन कर्मों का बंध होना रुकता है। वोसिरामि से पूर्वकृत कर्मों व मुक्त भोगों का संबंध-विच्छेद होने से उनका तादात्म्य टूटता है जिससे उन क का क्षय होता है।

साधक का हित इसी में है कि घटना से मिलने वाली शिक्षा को ग्रहण करे और उस घटना को भूल जाय, विस्मरण कर दे। घटना की स्मृति से कर्म सजीव, सत्त्वयुक्त, सहज रहते हैं फिर वे कर्म उदय होकर नवीन कर्मों के बंध के कारण बनते हैं। इस प्रकार घटना की स्मृति से कर्म प्रवाहमान रहते हैं। घटना की स्मृति से उन कर्मों का सिंचन होता रहता है जिससे वे हरे-भरे (सजीव) रहते हैं। घटना की विस्मृति से वे कर्म निर्जीव (निःसत्त्व-निष्प्राण) होकर निर्जरित हो जाते हैं अर्थात् जैसे निर्जीव-सूखे पत्ते झड़ जाते हैं वैसे कर्म भी झड़ जाते हैं। यह आपेक्षिक दृष्टिकोण है अतः कर्म निर्जरित या क्षय करने का सबसे सुगम, सहज व सुगम उपाय है घटनाओं को विस्मरण कर देना। यही वोसिरामि साधना है, कर्मों से मुक्ति पाने की साधना है। वोसिरामि साधना में संबंध-विच्छेद, असंगता निःसंगता, निष्कामना, निर्ममता, निरहंकारता, त्याग निहित है।

'वोसिरामि' शब्द का दूसरा संस्कृत रूप 'व्युत्सर्जयामि' बनता है जिसका अर्थ है मैं व्युत्सर्जन, विसर्जन, व्युत्सर्ग करता हूं। 'व्युत्सर्ग' शब्द संसर्ग शब्द का विलोम अर्थवाची है। संसर्ग का अर्थ है संग करना, संबंध जोड़ना। अतः व्युत्सर्ग का अर्थ होता है संग छोड़ना, असंग होना, संबंध-विच्छेद करना। यह नियम है कि जिससे संबंध होता है उसी की स्मृति रहती है, उसी की याद आती है, यही बंधन है। अतः बंधन रहित होने का उपाय व्युत्सर्ग है, विसर्जन है, वोसिरामि है। वोसिरामि के बिना संबंध या बंध टूटना संभव नहीं है। तात्पर्य यह है कि बंधन रहित होने की, मुक्ति पाने की 'वोसिरामि' सरल, सहज, सुगम साधना है जिसे अपनाने में मानव मात्र समर्थ एवं स्वाधीन है।

—बजाज नगर, जयपुर (राज.) ३०२०१७

सूर्या निबन्ध प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कृत

समता एवं विश्व-शांति

❀ श्री मुक्तक भानावत

[आचार्य श्री नानेश के अर्द्ध शताब्दी दीक्षा वर्ष के उपलक्ष्य में आयोजित स्व. श्री कांतिलाल सूर्या अखिल भारतवर्षीय निबंध प्रतियोगिता में सर्वश्री मुक्तक भानावत (उदयपुर) प्रथम, धर्मचन्द नागोरी (कानोड़) द्वितीय तथा शांतिलाल श्रीश्रीमाल (निम्बाहेड़ा) तृतीय रहे।

यह प्रतियोगिता इन्दौर के श्री गजेन्द्रकुमार सूर्या के सौजन्य से साधुमार्गी जैन संघ कानोड़ द्वारा आयोजित की गई जिसमें विजेता प्रतियोगियों को क्रमशः ढाई हजार, पन्द्रह सौ तथा एक हजार रुपयों से पुरस्कृत किया जाएगा।

संयोजक श्री सुन्दरलाल मुड़िया ने बताया कि इस प्रतियोगिता का विषय 'समता एवं विश्व शांति' रखा गया था जिसमें राजस्थान के अलावा मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा महाराष्ट्र के जैन व जैनेतर प्रतियोगियों ने भाग लिया।]

आज का युग विषमता, विसंगति, विकृति, विवशता, विनाश और विकार प्रधान युग है। कहीं भी सुख-शांति, सौहार्द, सहकार, स्नेह की प्रभावना की परिव्याप्ति देखने को नहीं मिलती। विश्व के किसी भाग में चले जाइये, सब ओर जीवन-मूल्यों में टूटन, बिखराव और ह्रास ही अधिक मिलेगा। इसीलिये बार-बार विश्व-शांति का नारा सुनाई पड़ता है। इससे लगता है कि भौतिक समृद्धि अलग चीज है और सहिष्णुता, समता, सौहार्द आदि का अपना अलग भाव-दर्शन है।

मनुष्य और प्रकृति का चोली-दामन सा सम्बन्ध है। प्रकृति की जब-जब भी विकृति हुई है तब-तब मनुष्य की चेतना विषम और विखंडित हुई है। इसलिये आज सब ओर का वातावरण असंतुलित और आतंक भरा है। इन सब विकृतियों के मूल को नष्ट करने के लिए समता-भाव की व्याप्ति आवश्यक है।

यह समता कई रूपों में व्याख्यायित है। यह भाव भी है, गुण भी है, तत्त्व भी है, धर्म भी है, दर्शन भी है और सिद्धान्त भी है। सिद्धान्त की दृष्टि से यह विज्ञान भी है और कला भी है।

आज का व्यक्ति, व्यक्ति अधिक हो गया है। पहले का व्यक्ति, व्यक्ति गौण था, समाज अधिक था। जब व्यक्ति, व्यक्ति-केन्द्रित हो जाता है तब इसका भीतर और बाहर का लोक मलिन हो जाता है। उसके अन्दर की चेतना और

बाहर के विकार उसे बेचैन किये रहते हैं । ऐसी स्थिति में वह भीतर कुछ और बाहर कुछ होता हुआ बनावटी जीवन जीता है । यह जीवन चूंकि असहज होता है अतः राग-द्वेष से ग्रस्त हो क्रोध, मान, माया, लोभ जैसे विकारों के जाले में उलझता हुआ दुराचारों की ओर गतिमान होता रहता है । अतः अच्छा जीवन जीने के लिये समभाव की साधना बहुत आवश्यक है । समभाव की यह साधना आदमी के भीतर का, आत्मा का, अध्यात्म का भाव है । यह भाव ज्यों-ज्यों परिपक्व होता जाएगा, त्यों-त्यों सबके प्रति उसकी समदर्शिता बढ़ती जाएगी। समदर्शिता का यही भाव समता भाव है और इसी भाव से शांति का अजस्र उदधि फूट पड़ता है ।

समता दर्शन का महत्त्व सभी धर्मों, सम्प्रदायों, महापुरुषों, संतों, भक्तों, साहित्यकारों, पंडितों और मनीषियों ने प्रतिपादित किया है ।

'समता' शब्द समानता की भावना का द्योतक है । समानता की यह भावना अच्छी-बुरी, अनुकूल-प्रतिकूल जैसी भी परिस्थिति हो उसमें समभावी बने रहना है । इस स्थिति में न दुःख सताता है, न सुख उल्लास देता है । वह न किसी को छोटा समझता है, न किसी को बड़ा । वह न किसी से घृणा करता है और न किसी से प्यार । आचार्य कुंदकुंद ने मोह और क्षोभ से रहित ऐसे ही समत्व भाव को धर्म कहा है । लगभग ऐसी ही व्याख्या बाद के अन्य आचार्यों ने की है । महावीर स्वामी ने श्रमण बनने के लिये समता भाव को बड़ा महत्त्व दिया और 'चरित्त समभावो' कहकर समभाव को ही चारित्र की संज्ञा दी। उन्होंने कहा कि इंद्रिय और मन के विषय रागात्मक मनुष्य के लिये दुःख के सेतु बनते हैं । वीतराग के लिये वे तनिक भी दुःखदायी नहीं होते । उन्होंने श्रमण, साधक और वीतराग को सदा समता का आचरण करने का उपदेश दिया ।

आचार्य हरिभद्रसूरि तो यहां तक कहते हैं कि चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बुद्ध हो या अन्य कोई समता से भावित आत्मा ही मोक्ष को प्राप्त करती है ।

आचार्य नानेश ने परिग्रह को समता का सबसे बड़ा शत्रु माना और कहा कि इसमें धन, सम्पत्ति, सत्ता, पद, प्रतिष्ठा आदि सभी का समावेश हो जाता है । साधक को चाहिये कि वह इससे दूर रहे और संयमित बनता हुआ अपनी विकृतियों का दमन कर समता की साधना करे ।

श्रीमद् जवाहराचार्य ने बताया कि वास्तविक शांति तो मनुष्य के अपने भीतर है । समता की बाती से वह अपनी आत्मा को यदि प्रकाशित किये रहेगा तो वह कभी अशांत नहीं होगा । ऐसा करने से जब उसकी आत्मा निश्कलंक बन जायगी तब उसका अंतःकरण समता की सुधा से आप्लावित रहेगा ।

गीताकार श्रीकृष्ण ने कहा कि जिसकी बुद्धि में समता की प्रतिष्ठा है वह परम समतावादी है। ऐसा व्यक्ति राग और द्वेष दोनों से ऊपर उठा हुआ त्यागी और सन्यासी है। वह सबको समभाव से देखता है चाहे वह विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण हो अथवा गाय हो, हाथी हो, कुत्ता हो या कि चांडाल हो। जिसका मन ऐसी समता में स्थिर हो चुका होता है वही परम शांति का धारक होता है।

इसी विचार को लेकर कई लोग यह कहते पाये जाते हैं कि समता और विश्व-शांति दोनों ही एक प्रकार से आदर्श हैं। भौतिक रूप से न समता संभव है न विश्व-शांति। जिस संसार में हम रहते आये हैं और जो मनुष्य हमें दिखाई दे रहा है उसमें कहीं समभाव और शांति नजर नहीं आती। यथार्थ में तो हमें यही लगता है कि कोई भगवान भी चाहे तो समता और विश्व-शांति को मूर्त्त रूप नहीं दे सकता। कहना तो यह चाहिये कि स्वयं भगवान भी अपने भक्तों पर आश्रित हैं। यदि भक्त उसकी सेवा-पूजा और आराधना-प्रतिष्ठा न करे, यश-गाथा न गाये, सामाजिक-संस्कारों और दिन-प्रतिदिन के जीवन-चक्र में उसकी मानता को न स्वीकारे तो कौन उसे भगवान कहेगा और कैसे उसका अस्तित्व बना रहेगा? यदि भगवान सामर्थ्यवान है तो उसके सारे भक्त शुद्धाचारी और पुण्यकर्मी क्यों नहीं बनते पाये जाते हैं? क्या कारण है कि उसके दरबार में ऐसे लोगों की ज्यादा भीड़ लगी रहती है जो मनुष्य-मनुष्य के प्रति भी स्नेहशील विचार और व्यवहार लिये नहीं होते अपितु वे शोषण और अत्याचार के ही संरक्षक और संवाहक पाये जाते हैं?

दूसरी ओर डॉ. नेमीचन्द जैन समता को मनुष्यता का पर्याय मानते हुए समता-समाज को वर्ग-भेद रहित समाज की स्थापना का सांस्कृतिक सूत्रपात मानते हैं। उनका कहना है कि समत्व कोई काल्पनिक स्वर नहीं होकर ठोस सत्य है जिसे हमारे तीर्थंकरों ने शताब्दियों पूर्व आकार दिया था। समत्व एक ऐसा क्रांतिकारी सूत्र है जिसको जीवन में उतारते चले जाने पर समाज में कोई नंगा, भूखा, प्रताड़ित और अशांत रहे, यह असंभव है।

अहिंसा को समत्व की धात्री बताते हुए डॉ. जैन ने स्पष्ट किया है कि ऐसा नहीं है कि हम किसी का खून करें तो ही हिंसा हो। अधिक आहार करना, अधिक कपड़ा पहनना, अधिक परिग्रही होना भी हिंसा है और यदि इसका और सूक्ष्म विश्लेषण करें तो क्रोध आदि भी हिंसा है। आवश्यकता इस बात की है कि हम विसंगतियों के मूल पर अपना ध्यान केंद्रित करें। क्रोध बंटकर इतना कम रह जाय कि हम उसकी अनुभूति ही न कर पायें। वैर मैत्री में वदल जाय। मान सबका सम्मान वन जाय। लोभ लाभ में बंट कर समत्व और शांति का कारण वन जाय। यह सव जब हो जायगा तव विश्व शांति की कल्पना यथार्थ होने लगेगी।

महावीर नें समता और विश्व-शांति की आवश्यकता बहुत पहले ही प्रतिपादित कर दी थी और इसका व्यावहारिक उपाय और उपयोग भी बता दिया था उन्होंने कहा था—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्तिमे सव्व भुएसु, वेरं मज्झं न केणई ॥

अर्थात् मैं सब जीवों से क्षमा चाहता हूं। सब जीव मुझे क्षमा करें। सभी प्राणियों के प्रति मेरा मैत्रीभाव हो, किसी के प्रति वैर न हो।

प्रश्न उठता है. सब जीवों से क्षमा की याचना कौन कर सकता है? वही न, जो सबके प्रति समता अथवा समत्व का भाव रखता हो। जो राग द्वेष से ऊपर उठा हो। जिसका किसी में ममत्व और आसक्ति का भाव नहीं हो। जो मन से शुद्ध और विनयवान हो वही तो क्षमा की याचना करने की सामर्थ्य रखेगा और फिर क्षमादान देने वाला भी शुद्धात्मा, कलंक और कपट रहित होगा तो ही किसी को क्षमा कर सकेगा। सच तो यह है कि क्षमा मांगना और क्षमा देना दोनों ही उच्च एवं उदात्त पुरुषों के आत्मिक गुण हैं। संसार के सभी प्राणियों से मैत्री भाव रखने वाला व्यक्ति समग्र विषमताओं, विकृतियों, विपदाओं और विकारों से मुक्त होगा तभी मन, वचन, काया से वैर भाव दूर कर अपनी आत्मा को शुद्ध करने की भावना व्यक्त करेगा।

जब ऐसे व्यक्तियों का समाज, शहर, राज्य और राष्ट्र बनेगा तो निश्चय ही विश्व शांति का मार्ग प्रशस्त होगा।

बीसवीं शताब्दी नवां दशक समाप्त होने जा रहा है। इन नौ दशकों में विश्व में जितना उतार-चढ़ाव, ऊहापोह और आतंक देखा-सुना गया इतना पिछली किसी शताब्दी में नहीं रहा। इस युग का मानव सर्वाधिक कुंठाग्रस्त, अशांतकर्मी, त्रासभोगी, आतंक का शिकार, असंतुलित और विषमताओं से ग्रस्त रहा। ज्ञान और विज्ञान के साधनों ने जितनी भौतिक उन्नति इस युग में की, वह कल्पनातीत ही कही जा सकती है। मनुष्य चंद्रलोक में पहुंच गया और पाताल को भेदकर अपने साहसपूर्ण कौशल से जो शक्ति अर्जित कर पाया वह जहां उसके विकास का परम सोपान है वहां उसके विनाश का चरम भी है। इसीलिये वह ज्यों-ज्यों विकासगामी बनता है त्यों-त्यों विनाश की छाया भी उसे झकझोरे रहती है। विकास का यह फैलाव सर्वथा भौतिक है, आत्मिक नहीं। भौतिक विकास बाहरी चमक-दमक तक सीमित रहता है। आत्मा की ऊर्जा से वह अलग-थलग होता है इसलिये उसके साथ जीवनी-शक्ति की संजीवनी का अभाव रहता है। यही अभाव उसे खंड-खंड किये रहता है। जहां अखंडता खंड-खंड में विचरण करती हो, एकता अनेकता में पलती हो वहां टूटन ही टूटन दिखाई देगी। इसीलिये इस युग में हमारी सभ्यता, संस्कृति, संस्कार और सरोकार जिस रूप में

बदले, बिगड़े, कुत्सित और दूषित हुए उससे प्रकृति और मनुष्य का सारा पर्यावरण ही विनष्ट हो गया। यहां तक कि साधकों और संतों के साधना और तपस्या स्थल भी इस प्रदूषण की मार से बच नहीं पाये।

संयुक्त परिवार की परम्पराओं में चली आ रही आधार शिला डगमगा गई। स्नेह, सहिष्णुता और सौहार्द के रिश्ते-नाते समाप्त हो गये और भाई-भाई का दुश्मन हो गया। कहां तो यह विषमता और कहां महावीर का वह समता-दर्शन जहां ग्वाले द्वारा उनके कानों में कीलें ठोके जाने पर भी वे तनिक भी विचलित न हुए और गुस्से में फुफकार खाते हुए अत्यन्त क्रुद्ध सर्प के डसे जाने पर भी उसका कोई जहर उन्हें विष नहीं दे पाया बल्कि क्षमा मूर्ति महावीर के समता दर्शन का प्रभाव देखिये कि सर्प द्वारा डसे हुए स्थान से खून की धार प्रवाहित होने के बजाय दूध की धारा फूट पड़ी। इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महावीर कितने क्षमाशील थे! खून अथवा जहर की बजाय दूध की धारा प्रवाहित होना साधारण तो नहीं किंतु असाधारण की भी असाधारण घटना है। एक मां का अपने बच्चे के प्रति जब अति वात्सल्य का भाव उमड़ता है तब उसके स्तन से दूध की धार फूट पड़ती है। एक सर्प के डसने से यदि महावीर के पांव से दूध की धार फूट पड़ती है तो यह अंदाज लगाना तो कठिन नहीं है कि महावीर में उस सर्प के प्रति करूणा का, वात्सल्य का, समता और स्नेह का कितना प्रेम भाव रहा होगा और वे कितने शांति के अजस्र स्रोत अपने भीतर छिपाये होंगे।

इसी भाव भूमि को लेकर मानवतावादी सौन्दर्यचेता कवि सुमित्रानन्दन पंत ने मनुष्य को सारी समता और विषमता का मूल माना और उसी को केन्द्रित करते हुए कहा—

जग पीड़ित रे अति दुःख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से।
मानव जग में बंट जाये—
सुख दुःख से औ-दुःख सुख से॥

सचमुच में समता और विषमता का मूल कारण अति सुख और अति दुःख ही है इसीलिये सुख और दुःख का अतिपन यदि आपस में बंटकर एकमेक हो जाय तो ही विश्व में समता का सुख और समता की शांति परिव्याप्त हो सकती है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने तो सारे दुःख-सुख का केन्द्र मनुष्य को माना और उसी को सावधानी की ललक देते हुए हुंकार भरी वाणी में कहा—

यही पशु प्रवृत्ति है कि,
आप आप ही चरे,

असीम विश्व में भरे,
मनुष्य है वही कि जो
मनुष्य के लिये मरे ।

समता और विषमता मानवता और पशुता की दो अलग-अलग धुरियां हैं । इन्हें समानधर्मी अंक देने के लिये मनुष्य को अपने आत्म-भाव के नवास से सर्वहारों के लिये चैतन्य कर देना होगा । राजस्थानी के मतिमान कवि डॉ. नरेन्द्र भानावत ने अपने अनेक दोहों में समता और विश्व-शांति को वड़े ही टकसाली भावों में व्याख्यायित किया है । उदाहरण के लिये तीन दोहे यहां द्रष्टव्य हैं-

(१)

समता सूं जड़ता कटै, जागै जीवन-जोत ।
अन्तस में फूटै नवां, सुख-सम्पत रा स्रोत ।।

(२)

समता-दीवो जगमगै, अंधियारो मिट जाय ।
बिण बाती बिण तेल रै, घट-घट जोत समाया ।।

(३)

जतरा दीवा सब जलै, पसरे जोत अनन्त ।
बारै बरखा, डूंज पण, भीतर समता-मन्त ।।

समता और शांति केवल शब्द नहीं हैं और न वाहरी आचरण-मूलक कथन हैं । इनकी तोतारटन्त किसी भी जीवन और राष्ट्र को खुशहाल नहीं बना सकती ये धर्म स्थानों, शास्त्रों, पंडितों अथवा सार्वजनिक मंत्रों के वाचन भी नहीं हैं और न किसी यज्ञ की आहुति के उच्चारण हैं । ये तो मनुष्य की अन्तःचेतना के वे मणके हैं जो उसके घट-घट से निसृत हैं, वे शीतल उच्छवास हैं जो जीवन की दाहकता का शमन करते हैं ।

समता का जहां ऐसा समाज, राज और राष्ट्र होगा वहां विश्व-शांति की गंगा ही का प्रवाह होगा । इस दृष्टि से समता और विश्व शांति दोनों ही का अन्योनाश्रित अंतःसंबंध है । जहां समता होगी वहां शांति ही शांति होगी । न विषमता में शांति की कल्पना की जा सकती और न अशांत वातावरण में समता का साहचर्य ही देखा जा सकता है । इसलिये विश्वशांति की कल्पना के मूल में समता भाव का अंकुरण आज की सर्वोपरि आवश्यकता है ।

—३५२ श्रीकृष्णपुरा, उदयपुर-३१३००१ (राज.)

'संयम' और 'सेवा'

❀ मोहनोत गणपत जैन

लगभग ग्यारह सौ वर्ष पूर्व दक्षिण भारत में वाचस्पति मिश्र नामक विद्वान् ने शास्त्रों पर टीकाएं लिखी थीं जो विश्व प्रसिद्ध हैं। ग्रंथ-लेखन और तपस्या में ही वे इतने आत्मसात हो गए थे कि अपनी विवाहिता पत्नी तक को भी नहीं पहचानते थे। शादी के छत्तीस वर्ष ऐसे ही ही गुजर गए मगर उनका जीवन संयमी रहा। एक बार वे 'शंकर भाष्य' पर टीका लिखा रहे थे किंतु एक पंक्ति ठीक से बैठ ही नहीं रही थी। इसी वक्त दीपक की लौ कुछ मंद होने लगी अतः पढ़ने-लिखने में व्यवधान होने लगा। उसकी पत्नी ने दीपक सतेल कर बाती को सतेज किया। उसी वक्त वाचस्पति की नजर उस पर पड़ी और उन्होंने पूछा—'देवी, आप कौन?' उनकी ब्याहता पत्नी अवाक् रह गई। छत्तीस-वर्ष पश्चात भी क्या पत्नी को अपने ही पति के सम्मुख परिचय देना पड़ता है? मगर उसने बड़े धैर्य और शांतचित्त से प्रतिप्रश्न किया—क्या आपको अपने विवाह की स्मृति है? यह सुनकर वाचस्पति को कुछ धुंधली सी स्मृति जागृत हुई। उन्हें मौन और विचारमग्न देख पत्नी ने कहा—आपका विवाह मेरे साथ हुआ था, मगर अब इस वात को छत्तीस वर्ष हो गए हैं। यह सुनकर वाचस्पति का हृदय भर आया।

अन्ततः वाचस्पति बोले—तुम्हारे साथ मेरा विवाह हुआ, छत्तीस वर्ष हो गए। तुम निरन्तर सेवारत रही फिर भी एक शब्द तक मुंह से कभी नहीं कहा, इतनी मूक सेवा। ऐसी निष्काम सेवा तुमने तो मुझ को ऋषि ही बना दिया, वोल–तेरी क्या आकांक्षा है? पति की बात सुन पत्नी ने कहा—वस! आपकी सेवा ही मेरी कामना है। विश्व-कल्याण के लिए आप इन शास्त्रों की टीकाएं लिखते हैं। आपकी सेवा करते-करते अगर मेरा जीवन समाप्त हो जाए तो मैं कृतार्थ हो जाऊंगी। वाचस्पति ने बहुत आग्रह किया कि वह कुछ न कुछ मांगे मगर पत्नी ने कुछ भी वांछना नहीं की। अन्ततः वाचस्पति ने उसका नाम पूछा तो पत्नी ने 'भामती' कहा। इस पर वाचस्पति ने कहा—'शंकर भाष्य' पर लिखी मेरी इस टीका का नाम 'भामती टीका' होगा।

ऐसे संयमी, दयालु होने थे ऋषि महात्मा और इस देश की स्त्रियां, जिन्होंने एक ही घर में संयम पूर्वक छत्तीस वर्ष व्यतीत कर दिए। क्या पूर्ण संयम के अभाव में ज्ञान की उपलब्धि संभव है?

—सिटी पुलिस के पास, जोधपुर-३४२००१

□

मैं तो संयम-सा खिल जाऊं

✿ डॉ. संजीव प्रचंडिया 'सोमेन्द्र'

भोग और ईप्सा के घर में
घिरा हुआ
आज आम आदमी
आंगन की खूंटी से बंधी
अरगनी में
जैसे लटक गया है
मानो गीले कपड़ों की तरह
पसर गया है।
मतिभ्रम का मदिरा
जैसे पी लिया है उसने
वह पीछे मुड़कर देखने का
यत्न करता है
मानों मुक्ति का प्रयत्न करता है
किन्तु पिया गया मदिरा
उसके लिए रह जाता है
सिर्फ खतरा ही खतरा।
मान/कषायों के द्वार
जैसे खुल जाते हैं
और गहरे हो जाते हैं
हाथ लकीरों के
अध कच्चे हिसाब।
तब,
'संयमः खलु जीवनम्'
का अर्थ बोध
थपथपाने लगता है
उसकी आत्मा का अन्तिम प्रहर
मानों उसे जगाने लगता है
और कहता है:
मैं तो संयम-सा खिल जाऊं
पर तब तक
मैं बूढ़ा हो चुका होता हूं
और शायद
गणित के सूत्रों को
सिद्ध करने में तमाम उम्र
यूं ही खो चुका होता हूं॥

—मंगल कलश, ३९४ सर्वोदय नगर आगरा रोड, अलीगढ़-२०२००१

त्रात्मक निबन्ध : प्रो. कल्याणमल लोढ़ा का पत्र

साहुं साहु त्ति आलवे

प्रिय डॉ. भानावत

आपका कृपा पत्र मिला। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपके संपादन में पूज्यवर श्री नानालालजी महाराज सा. को वंदना हेतु 'श्रमणोपासक' का विशेषांक निकल रहा है। मैंने उनके एक दो बार दर्शन किए थे। वे महत्तम जैनाचार्य हैं और हैं महान विभूति। श्रमण धर्म के उन्नायक, उद्धारक और उत्थापक। मेरी उन्हें प्रणति।

मैं यह मानता हूं कि मानव समाज के वर्तमान संकट और व्यामोह के लिए जैन धर्म ही एक समर्थ और सार्थक उपचार है। मैं तो उसे हमारी आधि-व्याधि के लिए परमोपकारक संजीवनी ही कहना चाहूंगा। यह एक भ्रांति है कि जैनधर्म व्यक्ति-परक है। वह जितना व्यक्ति के लिए है, उतना ही समाज के लिए भी। वह लोक मानस का धर्म है, लोक सिद्ध। जैन धर्म की विशेषता है कि वह दर्शन, अध्यात्म, आचार, नैतिकता और वैज्ञानिक प्रतिपत्तियों में अन्यतम महत्त्व रखता है। वह जितना प्राचीन है, उतना ही आधुनिक। वर्तमान युग में उसकी प्रासंगिकता निर्विवाद है। हमारे आदि तीर्थङ्कर ने समूचे विश्व को असि, मसि और कृषि का पाठ पढ़ाया। बौद्ध धर्म की भांति वह अनेक देशों में भले ही नहीं गया हो, पर इससे उसका विश्वव्यापी महत्त्व क्षुण्ण नहीं हुआ, अपितु यह उसके अधिकृत रहने का भी एक पुष्ट कारण है। बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म में वज्रयान जैसी साधना पद्धति कभी नहीं रही। हमारे धर्माचार्यों ने उसके प्रकृत्त और मूल सिद्धान्तों और संस्थानों को यथावत् रखा। मैं नहीं समझता कि अन्य कोई धर्म इतना अधिकृत रह पाया हो। जैन धर्म की प्राचीनता अब सर्वमान्य है। ईसाई पादरियों ने किसी तीर्थंकर की निन्दा नहीं की। कन्याकुमारी की शिला पर जिसे आज विवेकानन्द शिला कहते हैं—पार्श्वनाथ के चरण-चिह्न अंकित थे। वस्तुतः चरण पूजा का प्रारम्भ ही जैनियों से हुआ। मैसूर में वेल्लुर के केशव मंदिर में 'अर्हम् नित्ययः जैन शासनरताः लिखा है।

जैन धर्माचार्यों, साधुओं और मुनियों ने उदार व व्यापक दृष्टिकोण अपनाया। वे कभी पूर्वाग्रह ग्रसित नहीं हुए, न कभी संकीर्ण और अनुदार रहे। हरिभद्राचार्य, आचार्य सिद्धसेन व हेमचन्द्राचार्य के कथन इसके प्रमाण हैं। एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ।।

यह उदारता और सहिष्णुता जैन धर्म की अन्यतम विशेषता है । सदैव यही स्वीकारता रहा—

ब्रह्मा व विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।
बुद्धं व वर्धमानं शतदल निलयं केशवं वा शिवं वा ।।

वह सब प्राणियों को समान दृष्टि से देखता है पर उसका ध्येय "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" । न कोई उच्च है और न कोई नीच । जन्म से कोई ब्राह्मण होता है और न शुद्र । कर्म ही वैशिष्ट्य रखता है । महावीर ने कहा "समयाए समणो होइ, वंभचरेण वंभणो" । उनका उद्घोष था—

न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुनणां नण्णवासेणं, कुसी चरेण न तावसो ।।

उस युग में यह क्रांति का स्वर था । बुद्ध ने भी यही माना—

न जटाहि न गोत्तेन, न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो, च सो सुचोः सो च ब्राह्मणो ।।
(ब्राह्मण वग्गो-

हमने माना "कम्मेवीरा ते धम्मेवीरा" । वशिष्ठ भी यही कहते हैं-

कर्मेण पुरुषोराम पुरुषस्यैव कर्मता ।
एते ह्यभिन्ने विद्धि त्वंयथा तुहिन शीतते ।।

'महाभारत' में भीष्म कहते हैं—

अपारे यो भवेत्पारमल्पवे यः भवोभवेत् ।
शूद्रो व यदिवऽप्यन्यः सर्वथा मान मर्हति ।।

मैं जैनधर्म को विश्व में सभी धर्मों, दर्शनों और अध्यात्म का विश्वकोष गिनता हूं । 'महाभारत' के लिए कहा जाता है कि "यन्न भारते तन्न भारते", जो महाभारत में नहीं है, वह भारतवर्ष में नहीं है । मैं तो समझता हूं कि यन्न जिन धर्मः तन्न अन्य धर्मः" । यह कोई गर्वोक्ति नहीं, सत्योक्ति है ।

भगवान महावीर ने मनुष्यत्व को श्रेष्ठतम गिना—'माणस्सं खु सु दुल्लहं'। वे मनुष्यों को "देवाणुप्पिय" कहकर संबोधित करते थे । आचार्य अमितगति ने दोहराया "मनुष्यं भव प्रधानम्" सभी धर्म भी यही मानते हैं । व्यास ने कहा— "नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्" । ग्रीक दार्शनिकों की भी यही आवाज थी—"मनुष्य ही सब पदार्थों का मापदण्ड है । जैन धर्म इसी मनुष्यता के उद्घोष का पावन धर्म है । यहां यह भी कहना संगत है कि मनुष्यता का यह उद्घोष उसके पुरुषार्थ का उद्घोष है—उसकी उच्चतम स्थिति का । जैन धर्म मनुष्य के

षार्थ का धर्म है। वह बताता है कि देव केवल कल्पना मात्र है। मनुष्य अपने रुष के बल पर ही श्रेष्ठतर पद प्राप्त करते हैं—

"पुरिसा तुममेव तुममित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि"

विश्वकोष में कोई ऐसा रत्न नहीं जो शुद्ध पुरुषार्थजनित शुभ कर्म से न प्त हो सके। पुरुषार्थहीन व्यक्ति सदा परतन्त्र है। जिस पुरुषार्थ की देशना हावीर ने दी, वही अन्यत्र भी कहा गया—

दैवं न किंचित् कुरूते केवलं कल्पनेद्देशी।
मूढ़ै प्रकल्पितं दैवं तत्परास्ते क्षयं गताः
प्राज्ञास्तु पौरुषार्थेन पदमुत्तमतां गताः॥

संसार के सभी धर्मों के ग्राह्य तत्त्वों का सन्निवेश जैन धर्म में मिल ाएगा। महावीर कहते हैं "वओ अच्चेति जोव्वणं व"—आयु और जीवन बीता ा रहा है। काल के लिए कोई समय-असमय नहीं—न कोई उससे मुक्त है "नत्थि ालस्स णा गमो"। इसीलिए 'अप्रमत्त होकर जीवन-यापन कर और विवेकपूर्ण ीवन-पथ पर चलकर सत्य युक्त हो'। काल सदा परिवर्तनशील है और उपयोग ीव का धर्म। इसलिए "समयं गोयम मा पमायए" क्षण भर का प्रमाद भी ातक है। सत्य की यह खोज और विश्व के सभी प्राणियों के प्रति मैत्री का भाव ी सम्यक्त्व है और इसके लिए अनिवार्य है आत्म-विजय, वही तो सबसे कठिन । प्रभु कहते हैं—"बाह्य युद्ध सारहीन है, अपने से युद्ध कर। आत्म-विजय ी सच्चा सुख है"। अपने से युद्ध का यह अवसर दुर्लभ है—

अप्पाण मेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झणं बज्झओ।
अप्पाण मेव अप्पाणं, जइत्ता सुह मेहए॥

यही जीवन का सार तत्त्व है—यही सच्चा पुरुषार्थ भी। इसी से मैं कहता हूं जिसने जैन धर्म को जाना, उसने सभी धर्मों को जाना।

वैदिक ऋषियों ने कहा "आयुषं क्षणं एको पि सर्वरत्नेन लभ्यते"। सभी रत्नों में आयु का एक क्षण मूल्यवान है। यही तो वीर प्रभु ने भी कहा पर अधिक दृढ़ता से—"परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते" एवं "खण जाणाहि पंडिए"। साधक! तुम क्षण को पहचानो—क्योंकि—

जागरहणरा णिच्चं जागर माणस्स
जागरति सुत्तं।
जे सुवति न से सुहिते जागरमाणे
सुह होति।

जैन धर्म बताता है क्षमा, संतोष, सरलता और विनय ही धर्म के चार द्वार हैं। सभी धर्मों ने भी यही स्वीकारा। छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया—आत्म-

यज्ञ की दक्षिणा है—तप, दान, आर्जव, अहिंसा व सत्य। 'महाभारत' में वि[illegible] सदैव क्षमा, मार्दव, आर्जव और संतोष का उपदेश धृतराष्ट्र को देते रहे। महा[illegible] ने अहिंसा को सर्वोपरि बताया, यही सभी धर्म भी कहते हैं, पर जो विश[illegible] और व्यापकता जैन धर्म में है, उतनी अन्यत्र नहीं। महावीर ने अहिंसा को 'भग[illegible]' कहा। 'ऋग्वेद' का मंत्र है—"अहिंसक मित्र का सुख व संगति हमें प्राप्त हो" (५-६४.३)। वैदिक प्रार्थना में 'अहि सन्ति' का प्रयोग हुआ। यजुर्वेद ने भी [illegible] कारा—'पुमान पुमां सं परिपातु विश्वम्' (३६-८), दूसरों की रक्षा ही धर्म है। 'अथर्व वेद' में तो प्रार्थना की गई—"तद वृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः" [illegible] प्रभो, परिचित अपरिचित सबके प्रति समभाव-सद्भाव रखूं। 'विष्णुपुराण' कह[illegible] है—'हिंसा अधर्म की पत्नी है'। बौद्ध धर्म का भी यही मूलस्वर था—उसे [illegible] तक गिनाए। सबने एक ही स्वर में गाया—

अहिंसा, सत्य वचनं दानाभिन्द्रिय निग्रहः।
एतेभ्यो हि महाराज, तपो नानत्रनात्परम्॥

ईसाई धर्म में भी यही दोहराया गया—"यदि कोई कहे कि वह ईश्वर से प्रेम करता है पर अपने भाई से घृणा व द्वेष, तो समझो, वह झूठा है। [illegible] आदेशों में भी अहिंसा ही मुख्य है। मनुष्यत्व की जिस साधना का वर्णन, जि[illegible] पुरुषार्थ का विवेचन, जिस आत्म-विजय का महत्त्व, जिस अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का उपदेश हमारे तीर्थङ्करों ने आदिकाल से दिया, व[illegible] सबने स्वीकारा। महावीर कहते हैं—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणा सुत्तं, सुई सद्धा संजमंभिय वीरियं॥

संसार में चार बातें दुर्लभ हैं—मनुष्यत्व, सद्धर्म का श्रवण और [illegible] पालन, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ। इसी से महावीर ने देवताओं के कामयो[illegible] को मनुष्य से हजार गुना अधिक बताया। आचार्य समन्तभद्र ने जिन शासन [illegible] सर्वोदय कहा—"सर्वोदय- तीर्थमिदं तवैव"। यह आत्मश्लाघा नहीं, एक नि[illegible] वाद सत्य है।

भारतीय मनीषा का मूल स्वर परोपकार का रहा है। परोपकार र[illegible] जीवन से मरण अच्छा है। जिस मरण से परोपकार होता है, वही जीवन वा[illegible] में अमूल्य जीवन है, "परं परोपकारार्थं यो जीविति स जीविति"। अन्यत्र भी

जीवितान्मरणं श्रेष्ठं परोपकृति वर्जितात्।
मरणं जीवितं मन्ये यत्परोपकृति क्षमम्॥

जैन शासन ने सदैव परोपकार को ही जीवन बताया। "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" कहने वाले उमास्वाति ने इस सूत्र में जीवन के परम लक्ष्य की ही बात कही। जैन धर्मावलम्बी की यही प्रार्थना है—

सत्वेषु मैत्रीं, गुणीषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् ।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव ।

जीवन की यह परम उपलब्धि है । स्थानाङ्ग सूत्र (४-४-३७३) में कहा है—मनुष्यायु का बंध चार प्रकार से होता है—सरल स्वभाव, विनय भाव, दयाभाव और ईर्ष्यारहित भाव । 'तत्वार्थ सूत्र' में इसी की व्याख्या करते उमास्वाति कहते हैं:—

अल्पारंभ परिग्रहत्व स्वभाव मार्दवार्जव च
मानुष स्यायुष : (६-१८)

जैन धर्म की वैज्ञानिकता तो आज सर्वविदित हो रही है । हमने जीव-अजीव तत्व का जो वर्णन किया, आज विज्ञान भी उसे स्वीकार कर रहा है । 'नन्दी सूत्र' में कहा गया है—पंचत्थिकाए न कयावि नासि, न कयाइ नत्थि, न कयाइ भविस्सइ । भुविं च भुवइ अ भविस्संइ आ । धुवे नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवठ्ठि निच्चे, अरूवो" (५८)। पांच अस्तिकायों का यह वर्णन कि वे सदा थे, सदा हैं और सदा रहेंगे—ये ध्रुव, निश्चित, सदा रहने वाले, अनष्ट और नित्य पर अरूपी हैं । विज्ञान ने इस सत्य को प्रमाणित कर दिया । परमाणु दो प्रकार के होते हैं - सूक्ष्म और व्यवहार । सूक्ष्म अव्याख्येय हैं । व्यवहार परमाणु, अनन्त अनन्त सूक्ष्म परमाणु, यह दलों का समुदाय है जो सदैव अप्रतिहत रहता है, (अनुयोग द्वार--३३०-३४६) । वर्तमान विज्ञान ने एक नयी खोज की है "सुपर स्ट्रिंग्स" की इस खोज के अनुसार (जिसे टी. ओ. ई. कहते हैं) विश्व की संरचना सूक्ष्मातिसूक्ष्म तंत्री (स्ट्रिंग्स) से हुई है । प्रोटोन, न्यूट्रोन, शरीर और नक्षत्र सभी इनसे बने हैं । यह प्रोटोन का एकपद्म अति सूक्ष्म रूप है—जो मनुष्य की कल्पना से परे है—किसी यंत्र से भी । इस अनुसंधान ने विज्ञान की समूची प्रक्रिया को ही बदल दिया । यह आधुनिक खोज जैन तत्त्व दर्शन की वैज्ञानिकता को पुनः प्रमाणित कर देती है । विज्ञान के दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त "फलक्रम ऑफ रेस्ट" एन्ड "फलक्रम ऑफ मोशन" भी वस्तुतः अधर्म और धर्मास्तिकाय हैं । आज विश्व के प्रबुद्ध चिन्तक जैन धर्म के वैज्ञानिक विवेचन से आकृष्ट हो रहे हैं ।

आज समूचा मानव जीवन मानसिक उन्माद, उत्ताप और उपमर्दन से पीड़ित है । समाजशास्त्री कहते हैं कि आज व्यक्ति अपने को अस्तित्वहीन, आदर्शहीन, प्रयोजनहीन और अलगाव की स्थिति में समझकर आत्मा और समाज विपर्यस्त हो रहा है । एक ओर उसकी अन्तहीन आकांक्षाएं और एषणाएं हैं, दूसरी ओर उनकी पूर्ति के साधन सीमित हैं और अल्प । व्यक्ति और परिवेश एक-दूसरे से विच्छिन्न हैं । विनोबाजी के शब्दों में सत्ता, सम्पत्ति और स्वार्थ का ही बोलबाला है । व्यक्ति, समाज और राष्ट्र—सबमें ज्ञात-अज्ञात युद्धोन्माद है । फ्रांस

में धनिक समाज का महत्व है, इंग्लैंड में सामाजिक प्रतिष्ठा का और जर्मनी में राज्य सत्ता का। अमेरिका इन तीनों से ग्रसित है। वहां वैयक्तिक और सामाजिक जीवन आधुनिक सभ्यता की जड़ता और भौतिकता से संत्रस्त है। मानव से अधिक मशीन का महत्त्व है। आकाश के सुदूर नक्षत्रों का संधान किया पर मानवीय संवेदनशीलता सिकुड़ती गयी। बाह्य का विस्तार और अन्तर का समंचन—यही विसंगति है। आज जिस सांस्कृतिक क्रांति की आवश्यकता है उसका मूल स्रोत जैन धर्म, दर्शन और संस्कृति में ही विद्यमान है। महावीर जितने क्रांतदर्शी थे उतने ही शांतदर्शी भी। जैन धर्म ने सदैव युद्धोन्माद का विरोध किया। जिस व्यापक और विराट सत्य की प्रतिष्ठा की—वह था विश्वजनीन आत्म और विश्वजनीन समाज। उन्होंने चींटी और हाथी में समान आत्म-भाव को देखा। महावीर ने मनुष्य को पुरुषार्थ और आत्मविजय का संदेश दिया। प्राचीनतम होने के साथ वह नवीनतम भी है। एक ओर जैन धर्म ने सदैव अंधविश्वासों, जड़ परम्पराओं और पाशविक वृत्तियों के विरुद्ध क्रांति की तो दूसरी ओर उसने मानव जीवन को उच्चतम विचार, आचार और व्यवहार की ओर अग्रसर किया। उसकी यह रचनात्मक दृष्टि अनुपमेय है—हमारे आचार्य, उपाध्याय और साधु "तत्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्व कर्मणा' के आदर्श पुरुष थे।

यस्य सर्व समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणतमाहु पण्डितं बुधाः॥

जैन-मुनि पूर्णार्थ में पण्डित हैं। अपनी ज्ञानाग्नि में उनके कर्म दग्ध हो गए हैं।

आज भी शत-शत श्रमण-वृन्द तत्त्वज्ञ, योगज्ञ, सुविज्ञ और प्रमाज्ञ होकर व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और मानवता के वर्तमान का परिष्करण कर उन्हें मंगलमय भविष्य की ओर ले जा रहे हैं। पारसी धर्म के तीन महाशब्द हैं—हुमदा, हुखदा और हुविस्तार—अर्थात् सुविचार, सत्य वचन और सुकार्य। यही तो हमारे साधु समाज का जीवन है। पूज्य नानालालजी म. सा. का जीवन श्रमण आदर्शों की मंजूषा है। उन्होंने अपनी साधुता और श्रेष्ठता से जैन समाज का ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण मानव-समाज और लोक मंगल का पाञ्चजन्य फूंका है। उन्हें मेरी प्रणति।

साभिवादन,

—२-ए, देशप्रिय पार्क (ईस्ट) कलकत्ता-७०००२९ — आपका
दि. १०-१२-१९८९ — कल्याणमल लोढ़ा

जैन दीक्षा एवं संयम-साधना

❀ पं. कन्हैयालाल दक

भारतीय संस्कृति अध्यात्म-प्रधान संस्कृति है। यह संस्कृति ऋषि-मुनियों के आश्रमों तथा तपोवनों में पल्लवित व विकसित हुई है। **'दीक्षा'** शब्द भी इसी संस्कृति की एक विशेष देन है। 'दीक्षा' शब्द का अर्थ किसी विशेष प्रकार के संस्कार से लिया जाता है। जीवन में किसी विशेष प्रकार का प्रारम्भ करना भी दीक्षा की कोटि में आ सकता है, जैसे उसने गृहस्थाश्रम की दीक्षा ली, अथवा अमुक व्यक्ति ने अमुक स्थान पर जाकर व्यापार कार्य की दीक्षा ली-व्यापार कार्य का 'श्री गणेश' किया। 'जैन दीक्षा' भी इसी प्रकार का एक आध्यात्मिक संस्कार है, जिसमें सर्वप्रथम इस संस्कार से संस्कारित होनें वाले को अपने गुरु का निश्चय करना होता है, साथही अपने भावी जीवन का उच्चतम लक्ष्य भी निश्चित कर लेना होता है।

जीवनोपयोगी व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करने के साथ-साथ एक भावुक व्यक्ति को माता-पिता के सुन्दर संस्कार प्राप्त होते हैं, सत्गुरुओं का समागम प्राप्त होता है, उनके उपदेश व प्रवचन सुनकर उन पर मनन व चिन्तन करने का सुअवसर प्राप्त होता है तब हजार में से एक या दो व्यक्ति संसार की असारता का, शरीर तथा वैभव की अनित्यता का और जन्म-मरण की ध्रुवता का अनुभव करते हैं, तव उनके हृदय में संसार का परित्याग करने की इच्छा होती है। वे सोचते हैं, जो लौकिक शिक्षा मैंने प्राप्त की है, वह जीवन का कल्याण करने के लिये अपर्याप्त है। उन्हें किसी सद्गुरु से यह श्रवण करने को मिलता है कि 'सा शिक्षा या विमुक्तये' अर्थात् जिससे संसार के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त की जा सके, वही सच्ची शिक्षा है। इस मंत्र से अनुप्राणित होकर वे सांसारिक सम्वन्धों का, पिता-पुत्र के सम्वन्ध का पति-पत्नी के सम्वन्ध का, धन-वैभव का, सम्पत्ति का तथा सांसारिक सुखों का त्याग करने के लिये जब कटिवद्ध हो जाते हैं, सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्म के स्वरूप को समझने की चेष्टा करते हैं और तब जैन दीक्षा धारण करते हैं। यह है जैन-दीक्षा धारण करने की पृष्ठभूमि।

दीक्षा धारण करने वाले व्यक्ति में भी अनेक प्रकार की योग्यताएं अपेक्षित हैं। 'धर्म संग्रह' नामक ग्रंथ में दीक्षार्थी में निम्नलिखित १६ गुणों का पाया जाना आवश्यक बताया गया है—

१. दीक्षार्थी आर्य देश में उत्पन्न हुआ हो।

२. वह उच्च कुल तथा उच्च जातीय संस्कारों से सम्पन्न हो।

३. जिसके दीक्षा में वाधक अशुभ कर्म क्षीण हो गये हों।

४. वह नीरोग हो तथा कुशाग्र बुद्धि हो।

५. जिसने संसार की क्षणभंगुरता का भली-भांति प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया हो।

६. जो संसार से विरक्त होने का दृढ़निश्चय कर चुका हो।

७. जिसके कषायों तथा नो कषायों का उदय मन्द हो।

८. जो माता-पिता तथा गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करता हो तथा उनके उपकार को मानता हो।

९. जो अत्यन्त विनीत हो। दीक्षार्थी का विनीत होना इसलिये आवश्यक है कि जैन धर्म का ही नहीं, किसी भी धर्म का आधार ही विनय है।

१०. दीक्षार्थी का राज्य से या राज्याधिकारियों से किसी प्रकार का विरोध न हो। राज्य विरोधी व्यक्ति को दीक्षा प्रदान करने से धर्म की तथा गुरु की अवहेलना होने की भावना वनी रहती है।

११. दीक्षार्थी वाक्कलह करने वाला या धूर्त्त तथा चालाक न हो। दीक्षार्थी का सरल-स्वभावी तथा निष्कपट होना परमावश्यक है।

१२. जिसके सभी अंग-अवयव पूर्ण हों, वह सुडोल तथा स्वस्थ हो।

१३. दीक्षार्थी दृढ़ श्रद्धा वाला हो।

१४. जो स्थिर स्वभावी हो अर्थात् एक वार दीक्षा स्वीकार कर लेने के पश्चात् यावज्जीवन उसे निर्दोष रूप से पालने में समर्थ हो।

१५. जो अपनी स्वयं की तीव्र इच्छा से दीक्षा के लिये गुरु के समक्ष उपस्थित हो।

१६. जिस पर किसी प्रकार का ऋण न हो और जो सदाचारी हो। उपर्युक्त गुणों से युक्त मुमुक्षु दीक्षा धारण कर सकता है।

शुभ तिथि, करण तथा शुभ मुहूर्त में 'करेमि भंते' के पाठ के शब्दोच्चारण द्वारा वह जीवन पर्यन्त का (यावत्कथिक सामायिक) सामायिक व्रत ग्रहण करके सर्वतोभावेन जैन शासन को अथवा अपने गुरु को समर्पित हो जाता है। यावत्कथिक सामायिक व्रत को ग्रहण करने के साथ ही उसके सांसारिक-पारिवारिक सम्वन्ध सर्वथा विछिन्न हो जाते हैं। अब वह छह महाव्रतों—पांच महाव्रत तथा छठा रात्रि-भोजन का त्याग को धारण करने वाला साधु कहलाता है।

दीक्षित जैन साधु में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं — मूलगुण तथा उत्तरगुण। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन महाव्रतों का पालन करना तथा यावज्जीवन के लिये रात्रि भोजन (अशन, पान, खाद्य तथा स्वाद्य) का त्याग करना साधु के मूल गुणों में गिना जाता है। दीक्षित साधु स्वयं जीव

सा (छहों कायों की) न करे, न अन्य से करावे और न जीव हिंसा करने वाले
अनुमोदन ही करे । इसी प्रकार से असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह के
षय में भी समझना चाहिये । इसे तीन करण तथा तीन योग से महाव्रतों का
लन करना कहते हैं । पांच समिति, तीन गुप्ति का सम्यक् प्रकार से पालन
रना, बावीस परिषहों को समभाव से सहन करना, तीन गुप्ति—मनगुप्ति, वचन
प्ति तथा कायगुप्ति का पालन करना, निर्दोष आहार का सेवन करना अर्थात्
२ प्रकार के दोषों का परिहार करके आहार ग्रहण करना, प्रतिदिन दोनों समय—
ातःकाल तथा सायंकाल वस्त्र, पात्रादि का विवेकपूर्वक प्रति लेखन करना, प्रातः
ाल सूर्योदय से पूर्व तथा सायंकाल सूर्यास्त के पश्चात् प्रतिक्रमण करना, ये तथा
सी प्रकार के अन्य कई कार्य साधु के उत्तर गुणों में परिगणित होते हैं । नव-
ीक्षित साधु को ग्रहणी तथा आसेवनी शिक्षाओं को अपने दीक्षा गुरु अथवा आचार्य
सीख कर साधुत्व का शनैःशनैः अभ्यास करना चाहिये ।

जैन साधु के शास्त्रों में २७ गुणों का वर्णन किया गया है, वे निम्न
कार हैं—

पांच महाव्रतों का पालन करना, पांच इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना,
ार कषाय–क्रोध, मान, माया तथा लोभ का वर्जन करना, ज्ञान सम्पन्न, दर्शन
म्पन्न, चारित्र सम्पन्न, भाव से सत्य, तीन योगों से सत्य, करणों से सत्य,
क्षमावान्, वैराग्यवान्, मन में समभाव धारण करने वाले, वचन में समता भाव
का उच्चारण करने वाले तथा काया से समता को क्रियान्वित करने वाले, नव वाड़
सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करें, किसी भी प्रकार की वेदना हो, उसे समभाव
से सहन करना तथा मारणांतिक कष्ट का अनुभव हो, तब भी संयम का पालन
करना ।

इन गुणों के अतिरिक्त जीवनपर्यन्त पादविहार करना, एक वर्ष में दो
वार अपने मस्तक के बालों का लोच करना तथा गृहस्थों के घर से भिक्षा मांग
कर लाना, ये सब आभ्युपगमिक परीषह कहलाते हैं । अर्थात् दीक्षा धारण करने
से पूर्व पादविहारादि परीषह सहन करने होंगे, इसकी स्वयं दीक्षार्थी ने स्वीकृति
दी थी, इसलिये इन्हें आभ्युपगमिक परीषह कहा जाता है । यह कुल मिलाकर
संक्षेप में एक जैन दीक्षा का स्वरूप है, जिसे धारण करके एक व्यक्ति सर्वसाधारण
का पूज्य हो जाता है, वन्दनीय हो जाता है । इस प्रकार की लोकोत्तर दीक्षा को
धारण करना तथा आजीवन विवेकपूर्वक पालन करना साधारण व्यक्ति का काम
नहीं है, उसके लिये अलौकिक क्षमा, सहनशीलता, साहस तथा उच्चकोटि के मनो-
बल की आवश्यकता है ।

दीक्षा का अर्थ तथा उसका स्वरूप इन दो बिन्दुओं पर प्रकाश डालने
के पश्चात् संयम-साधना पर प्रकाश डालना आवश्यक है । साधु की दिनचर्या में

यह बतलाया गया है कि वह प्रथम प्रहर में सदा स्वाध्याय तथा दूसरे प्रहर में ध्यान करके अपने संयम को विशुद्ध बनावे । तीसरे प्रहर में विशुद्ध आहार की गवेषणा करे । संयमी साधु १८ पापस्थानों का मनसा, वचसा, कर्मणा परित्याग करे तथा १० प्रकार के यति धर्म का निरन्तर अभ्यास करे । साधु के दस प्रकार के यति धर्म निम्न प्रकार हैं—

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, तप, त्याग, अकिंचनता, सत्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य, इन दस धर्मों का जीवन में आचरण करना प्रत्येक संयमी आत्मा के लिये परमावश्यक है । साधु १७ प्रकार का संयम पालन करने वाला तथा छह काय का रक्षक कहलाता है । ऐसी उत्कृष्ट संयम–साधना का शास्त्र में वर्णन किया गया है । जो संयमी साधु उपर्युक्त संयम–साधना में रत हैं, वस्तुतः पूजनीय हैं, वन्दनीय हैं, अभिनन्दनीय हैं । कहा जाता है कि जैन साधु अपनी आत्मा का कल्याण करते हैं, वे महान् परोपकारी होते हैं, शरीर के ममत्व से रहित होते हैं और निस्पृह होते हैं ।

दीक्षा के साथ संयम–साधना का जहां तक प्रश्न है, जैन दर्शन में संयम (चारित्र) पांच प्रकार का बतलाया गया है—सामायिक, छेदोपस्थापनिक, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सम्पराय तथा यथाख्यात चारित्र । इन पाँच प्रकार के संयमों से वर्तमान में प्रारम्भ के केवल दो चारित्र की ही आराधना की जा सकती है क्योंकि पिछले तीन चारित्र की आराधना के लिये जिस प्रकार के संहनन, साम- व धैर्य की आवश्यकता है, वह आज सम्भव नहीं है । और इनके अभाव में संयम-साधना की यथेष्ट फलश्रुति का भी अभाव ही है । प्राचीनकाल में जिनकल्पी तथा स्थविर कल्पी दो प्रकार के संयमी साधु होते थे, वे उपरोक्त अन्तिम तीन चारित्र की आराधना करते थे । उनकी संयम-साधना उत्कृष्ट कोटि में आती थी । आज जिनकल्प लुप्त हो चुका है, केवल स्थविर-कल्प विद्यमान है, वह भी मध्यम या निम्न श्रेणी का है, उत्तम श्रेणी का नहीं । उत्कृष्ट संयम-साधना के लिये बाह्य तथा आभ्यन्तर तप का संयमी साधक के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है । साधु की १२ प्रकार की पड़िमाओं का वर्णन भी शास्त्रों में पाया जाता है । ये पड़िमाएं (प्रतिज्ञाएं) बहुत ही उच्चकोटि की होती हैं, जिनका वर्तमान युग में यथेष्ट संहनन व धैर्य की कमी के कारण अभाव है । उत्कृष्ट संयम–साधना के लिये जैन शास्त्रों में कई विशेष प्रकार की तपस्याओं का विधान किया गया है, उनमें से कई एक निम्नांकित हैं — कनकावली तप, मुक्तावली, रत्नावली, एकावली, बृहत् सिंह निष्क्रीड़ित तप, लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप तथा गुणरत्न संवत्सर तप । इसी प्रकार से कुछ विशेष पड़िमाओं के नाम निम्नलिखित हैं — वज्रमध्य प्रतिमा, यवमध्य प्रतिमा, सर्वतोभद्र प्रतिमा, महाभद्र प्रतिमा, भद्र प्रतिमा, श्मसान प्रतिमा आदि । इन प्रतिमाओं में भी उग्रतम तपस्या की ही प्रधानता है । इन सभी आत्म-साधना

में सहायक क्रियाओं के आचरण से दीक्षा धारण करने का प्रयोजन सिद्ध होता है और आत्म-कल्याण की भावना साकार व परिपुष्ट होती है।

जैन साधु की दिनचर्या और संयम-साधना अधिकांश में उपर्युक्त स्वरूप से विपरीत है। संयम–पालन की एकरूपता कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती है। स्वाध्याय तथा ध्यान तो लुप्त प्रायः से हैं। साधुओं में आत्म-कल्याण सम्बन्धी आध्यात्मिक व्यस्तता के बजाय लौकिक व्यस्तता विशेष दृष्टिगोचर होती है। ज्ञानार्जन करने का उत्साह प्रायः शून्य-सा है। बिना भाषा – ज्ञान के आगमों का तथा दार्शनिक ग्रंथों का ज्ञान कैसे हो ? श्लोकों तथा गाथाओं को हृदयंगम करने की प्रवृत्ति नगण्य-सी है। "पल्लवग्राही पांडित्यं" सर्वत्र चरितार्थ हो रहा है। वेष पूजा तथा व्यक्ति पूजा बढ़ती चली जा रही है। भौतिक साधनों की चकाचौंध, आधुनिक फैशन के योग्य चटक-मटक सर्वत्र व्याप्त होती चली जा रही है। अधिकांश साधुओं को दीक्षा धारण करते ही 'विद्वान्' या 'पंडित' कहलाने का व्यसन-सा लग गया है। झूठी यश-प्राप्ति, बाह्याडम्बर और स्वार्थ का पोषण साधु चर्या के प्रधान अंग बन गये हैं। जैन साधु पूर्ण ब्रह्मचारी होता है, और ब्रह्मचारी का शरीर नीरोग, तेजस्वी तथा स्फूर्तिशाली होना चाहिये, लेकिन आज साधुओं में सामान्य गृहस्थों से भी ज्यादा रोगों के दर्शन होते हैं। 'सादा जीवन उच्च विचार' वाला सिद्धान्त तो लगभग विस्मृत-सा है। ये अवश्य ही चिन्ता के विषय हैं।

संक्षेप में कहा जाय तो दीक्षित साधु की संयम–साधना लगभग चरमरा सी गई है। आत्म-कल्याण करने के बजाय पर-कल्याण ही साधुता का प्रधान लक्षण बन गया है। मोटरों में व हवाई जहाज में बैठकर जाना-आना, लाखों करोड़ों रुपये इकट्ठे करना, फोटो उतरवाना, मकान बनवाना, अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करवाकर अपनी पूजा-सन्मान करवाना, बैंकों में खाते खोलना, धर्म-साधना के स्वरूप को तोड़-मरोड़ कर नई पीढ़ी के समक्ष उपस्थित करना, अपनी जय–जयकार से आकाश को गुंजित करवाना तथा अपनी स्तुतियां करवाना, ये आज की संयम–साधना के मुख्य अंग बन गये हैं।

जिनेश्वर देव साधु समाज को भी सद्बुद्धि दे कि वे साधुता के यथार्थ स्वरूप को समझें, अपनी आत्मा का कल्याण पहिले करें और बाद में समाज का कल्याणकारी मार्ग प्रशस्त करें।

—२५३ हिरण मगरी, सैक्टर ३, उदयपुर–३१३००१

समता-साधना के हिमालय

❀ श्री मोतीलाल सुराणा

भगवान ने फरमाया
सरल है चलना
तलवार की धार पर,
पर कठिन है वहुत
संयम–साधना,
सरल है चवाना
चने, मोम के दांत से,
पर कठिन है
संयम–साधना ।

धन्य हैं वे जो
निरंतर लगे हैं
वीर के कहे अनुसार
संयम–साधना में,
वीर के वतलाये मार्ग पर
कठोर क्रिया पालन के साथ,

आज के आराम के युग में
बहुत कठिन काम
संयम–साधना का,
हिमालय तो देखा नहीं
न पास से, न दूर से,
पर संयम–साधना के
हिमालय को देखा
कई बार पास से, दूर से,
गत पचास वर्षों से ।

देखा आचार्य नानेश को
रत संयम–सामना में,
ज्ञान–ध्यान–क्रिया में ।
इस शुभ प्रसंग पर
यही शुभ भावना
क्रम यह चलता रहे
आगामी सौ-सौ साल तक ।

—१७/३, न्यू पलासिया, इन्दौर–४५२००१

जिज्ञासाएं एवं आचार्यश्री नानेश के समाधान

(१)

प्रश्नकर्त्ता : डॉ. नरेन्द्र भानावत

प्रश्न–१. आपकी दृष्टि में मानव जीवन का क्या महत्त्व है ?

उत्तर—मानव जीवन सहित संसार की सभी चौरासी लाख योनियों में भवभ्रमण करती हुई आत्माएं तथा सिद्धात्माएं भी अपने मूल स्वरूप में समान होती हैं। उनके बीच जो अन्तर होता है वह होता है वर्तमान स्वरूप की अशुद्धता व शुद्धता का। संसारगत आत्माओं में जो अशुद्धता होती है वह है कर्म रूपी मल की। इसी मल के सर्वथा अभाव में आत्मा की सिद्धि होती है अर्थात् पूर्ण शुद्धि।

मानव जीवन का इसी सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्व है कि आत्मा की पूर्ण शुद्धि की स्थिति केवल इसी जीवन में प्राप्त की जा सकती है, किसी भी अन्य जीवन में नहीं। सांसारिकता बनाम कर्मों से अन्तिम संघर्ष करने तथा उसमें चरम सफलता प्राप्त करने का मानव जीवन ही श्रेष्ठतम रणक्षेत्र है। इसी जीवन में सम्यक् निर्णय की असीम शक्ति अर्जित की जा सकती है एवं सम्पूर्ण समता की उपलब्धि। अतः मेरी दृष्टि में इसका सर्वोपरि महत्त्व है जहां वर्तमान स्वरूप में रमण करती हुई आत्मा अपने परम शुद्ध मूल स्वरूप का वरण कर सकती है।

प्रश्न–वह कौनसी शक्ति है जो मानव जीवन में ही पाई जाती है, अन्य जीवन में नहीं ?

उत्तर—मानव जीवन एवं अन्य प्राणी जीवनों में जो समानताएं होती हैं, वे सर्वविदित हैं यथा–भोजन, विश्राम, भय एवं संतानोत्पत्ति का निर्वहन आदि परन्तु वह विशिष्ट शक्ति जो मानव जीवन में ही पाई जाती है, अन्य जीवन में नहीं—वह होती है आत्म-विकास को उसकी उच्चतम श्रेणियों तक पहुंचा देने की शक्ति।

मानव जीवन में यह शक्ति संचरित होती है कि मानव यदि उसका सदुपयोग करते हुए ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूप धर्म की श्रेष्ठ उपासना में प्रवृत्त बने तो वह मुक्ति के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। धर्मोपासना की यह शक्ति इसी जीवन की अति विशिष्ट शक्ति होती है और इसी शक्ति का नाम है आध्यात्मिक शक्ति।

आध्यात्मिक शक्ति के माध्यम से उत्तम ज्ञानार्जन, प्रगाढ़ श्रद्धा, श्रे आचरण, शुद्धिकरण, प्रक्रिया, दिव्य सक्षमता आदि आत्म गुणों का विकास हो है जो आत्मा के सम्पूर्ण विकास तक पहुंच सकता। यह सारा सामर्थ्य इ जीवन की शक्ति में निहित होता है। इसी कारण मानव जीवन को उत्तम दुर्लभ कहा गया है।

प्रश्न–३. नाम से जैन हैं और इनमें जैनी परिग्रहियों की संख्या अ तथा अपरिग्रहियों की संख्या कम है, ऐसा क्यों है ?

उत्तर—जैनत्व किसी व्यक्ति, जाति या वर्ग विशेष से सम्वन्धित है। जहां अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, स्याद्वाद आदि सिद्धान्त विचार तथा आचार में भूमिका वर्तमान है, वहीं जैनत्व निरूपित है- ऐसा जा सकता है। यह कह सकते हैं कि वहीं जैन शब्द अपनी सार्थकता करता है।

मूलत: जैन धर्म के सिद्धान्त मानव जीवन की उस मौलिकता को प्राणित करते हैं जिसकी आवश्यकता प्रत्येक मानव को होती है। यदि कोई मात्र नाम से ही जैन जाना जाता है तो वह स्थिति उचित नहीं है न उसके स्वयं के जीवन के लिये एवं न ही उससे सम्वद्ध समाज के जीवन के लिये। इसके विपरीत यदि कोई मानव नाम से जैन न कहलाते हुए भी अपने अहिंसा आदि श्रेष्ठतम सिद्धांतों की अनुपालना की परिधि में आ जाता है तो उसमें जैनत्व का निरूपण किया जा सकता है। कोई व्यक्ति जन्मजात जैन होकर भी जैन सिद्धांतों के अनुरूप मौलिक जीवन जीने की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है तो समझिये कि उसकी जैनत्व की संज्ञा वास्तविक नहीं है। आशय यह है कि मात्र नाम से जैन कहलाने के महत्त्व का अधिक अंकन नहीं किया जाना चाहिये।

इस सन्दर्भ में मैं एक पूर्व घटना की याद दिलाना चाहूंगा। सं. २०० में शान्तक्रान्ति के जन्मदाता स्व. आचार्यश्री गणेशीलालजी म.सा. के विराजने प्रसंग इन्दौर नगर में था, उस समय महू में सर्वोदय सम्मेलन आयोजि हुआ और उसमें भाग लेने के लिये आचार्य विनोबा भावे आये। विनोबाजी आचार्यश्री के दर्शनार्थ भी आये। चर्चा के दौरान उन्होंने कहा–आप सोच रहे है कि विश्व में जैनियों की संख्या कम है, किन्तु मैं सोचता हूं कि जैन नाम संख्या भले ही कम हो सकती है पर जैन धर्म के मौलिक सिद्धांत अहिंसा, स अचौर्य, अपरिग्रह आदि में व्यक्त या अव्यक्त आस्था रखने वालों की संख्या बहुत है। मानवीय मूल्यों की महत्ता जानने वाले व्यक्तियों के मन-मानस में ये सिद्धांत दूध में मिश्री के समान घुले हुए हैं–एकरूप हैं। दूध में मिश्री घुल जाती है तो उसका अस्तित्व दिखाई नहीं देता किंतु क्या उसका अस्तित्व मिट जाता है ?

दापि नहीं, वह तो मिठास के रूप में कई गुना बढ़ाकर दूध पीने वाले को आह्लादित बना देता है। यही स्थिति जैन धर्म के इन मौलिक सिद्धांतों की है। जैन नाम धराने वाले इन सिद्धांतों की निष्ठा और पालना में पीछे है अथवा जैन न कहलाने वाले उनसे आगे हैं—यह विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। महत्त्व है उन सभी लोगों का जो मिश्री के मिठास का रसास्वादन करते हुए सच्चे आत्मिक आनन्द की अनुभूति लेते हैं।

जिस प्रकार गंगा और यमुना ये दोनों नदियां बहती हुई अन्त में एक ही समुद्र में जाकर मिलती हैं, उसी प्रकार कहलाने की दृष्टि से जैन हो या अजैन जो अहिंसा, अपरिग्रह आदि सभी सिद्धांतों के प्रति सम्यक् आचरण का भाव रखते हैं, वे अन्ततः आत्म-विकास के एक ही स्थान पर पहुंच कर एकरूप हो जाते हैं। हां, जैसे ये दोनों नदियां समुद्र में मिलने से पहले तक अपने पाट, जल, बहाव, भूमितल आदि की दृष्टि से भिन्न या अन्तरवाली दिखाई देती हैं, वैसे ही अपने वाह्याचार, विचार शैली या जीवन-निर्वाह पद्धति में जैन या अजैन समुदायों में अन्तर देखा जा सकता है परन्तु उनमें आंतरिक समता के कई सूत्र खोजे जा सकते हैं।

अतः यदि तटस्थ भाव से विश्व के सम्पूर्ण मानव समाज का सर्वेक्षण किया जाय तो नाम की दृष्टि से जैन कहाने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा नाम नहीं धराने वाले किन्तु जैनत्व से युक्त व्यक्तियों की संख्या अधिक ज्ञात होगी जो अपरिग्रही हैं तथा अपरिग्रहवाद में विश्वास रखते हैं। वैसे इस हेतु उपदेश भी दिया जाता रहा है तथा अन्यथा प्रयास भी किया जाता है कि जैनों की भी अपरिग्रहवाद की दिशा में अधिक प्रगति हो। उपदेश श्रवण के समय कइयों को इसका प्रतिवोध भी होता है और उनमें यह विचार भी जागता है कि हमें भावना एवं आचरण से अपरिग्रही वनना चाहिये। अपनी परिग्रही वृत्तियों के लिये कई चिन्तन और पश्चात्ताप भी करते हैं, किन्तु अधिकांशतः वह चिन्तन और पश्चात्ताप सम्भवतः उस उच्च सीमा तक नहीं पहुंच पाता है जो सीमा परिग्रह-मुक्ति की दृष्टि से निर्धारित मानी जाती है।

यह विडम्बना ही कही जायेगी कि कई बार मानव पापाचरण करते हुए भी उसे पापमय नहीं मानता। उसी प्रकार परिग्रह की मूर्छा से ग्रस्त होने पर भी जब वह उस आत्मपतन को नहीं समझ पाता है तव वह अपरिग्रह के अपरिमित महत्त्व को भी हृदयंगम नहीं कर पाता है। ऐसी मनःस्थिति में वह चिन्तन एवं पश्चात्ताप की वांछनीय सीमा तक नहीं पहुंचता है और इसी कारण अपरिग्रहवाद की श्रेष्ठता की ओर अग्रसर नहीं वनता है। फिर भी यदि दान देने की दृष्टि से सर्वे किया जाय तो आपको दीन, असहाय, रोगी, अभावग्रस्त आदि के लिये अन्नदान देने वाले दानवीरों की संख्या जैनियों में वहुलता से प्राप्त होगी जो अपरिग्रहवाद की परिचायक है। गृहस्थों के लिए अपरिग्रह से तात्पर्य

निर्धन बनना नहीं अपितु धन से मोह-मूर्च्छा हटाकर उसका निःस्वार्थ दृष्टि अनुदान करना है। बहुत से विवेकशील जैनेतर व्यक्ति भी उक्त सीमा की आगे बढ़े हैं तथा परिग्रहवादी जटिलताओं से मुक्त होने का प्रयास कर रहे वे जन्म या नाम से जैन न होने पर भी अपनी भावना, धारणा और क्रिया से जैन सिद्धांतों की परिधि में आ रहे हैं।

इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर वर्तमान समय में भी अपरिग्रहवादियों की संख्या कम नहीं है। हम सन्त-सतियों का सतत प्रयास रहता है कि परिग्रह की घातक मूर्च्छा को समझ कर लोग उस वृत्ति से हटें तथा अपने विचार एवं आचार से अधिकाधिक अपरिग्रही बनें।

प्रश्न–४. अधिकांश व्यक्ति यश, कीर्ति, नाम आदि के लोभ से दान देते हैं, क्या यह उचित है? यदि नहीं तो दान किस भावना से किस प्रकार देना चाहिये?

उत्तर—यश, कीर्ति, नाम आदि कमाने की दृष्टि से जो दान दिया जाता है, वस्तुतः उसको दान कहना मैं दान शब्द का दुरुपयोग मानता हूं। इस प्रकार के दान को दान की संज्ञा नहीं देनी चाहिये वल्कि एक प्रकार से दान का आडम्बर कहना चाहिये। व्यापारी द्वारा मूल्य चुकाकर खरीदी बेची जाने वाली वस्तु की दान के साथ समानता नहीं की जा सकती कि उसे भी कोई मूल्य चुकाकर खरीद ले। दान किसी भी प्रकार से व्यापार की क्रिया नहीं होता। दान सदा ही भावना प्रधान कर्म होता है।

दान किस प्रकार का होना चाहिये, इसकी यह व्याख्या की गई है— 'अनुग्रहार्थं स्वस्यात्तिसर्गो दानम् (तत्त्वार्थसूत्र ३३) अर्थात्—अनुग्रह के हेतु अपना उत्सर्ग ही सच्चा दान होता है। दान का मूल एवं सर्वोच्च लक्ष्य होता है आत्म शुद्धि और इस दृष्टि से दिया गया दान ही वस्तुतः दान कहलाता है। विगत काल में आत्म स्वरूप पर जो कर्मों का मैल लिपा हुआ है उसे धो डालने के लिये जो देने के रूप में त्याग किया जाता है, वही दान है–यश, कीर्ति, आदि की लालसा से दिया हुआ दान सच्चे अर्थों में दान नहीं है।

इस प्रकार कर्म-वन्धन से मुक्ति पाने की भावना के साथ निःस्वार्थ भाव से जो कुछ दिया जाता है और जब उसका लक्ष्य किसी पीड़ित को पीड़ामुक्त करने के लिये उस पर अनुग्रह–उपकार करना हो, तभी वह सच्चे अर्थों में दान कहलाता है। जो दान यश, कीर्ति या नाम के लोभ से दिया जाता है अथवा किसी भी प्रकार के स्वार्थ को पूरा करने की दृष्टि से दिया जाता है, वह दान का वास्तविक स्वरूप नहीं है।

अतः दानवृत्ति को हृदय से अपनाने वाले सत्पुरुष को बाह्य रूप से निःस्वार्थ दृष्टिकोण के साथ एवं आंतरिक रूप से आत्मशुद्धि के लक्ष्य के साथ

हो इस क्षेत्र में अग्रगामी बनना चाहिये। इस रूप में जब उसकी वृत्ति का विकास होता है तो एक ओर सच्चा दानशील बनकर वह अपनी आत्मशुद्धि कर लेता है तो दूसरी ओर दान के वास्तविक स्वरूप को वह सम्पूर्ण संसार के समक्ष प्रकाशमान बनाता है। दान के सही स्वरूप से ही दान की महत्ता प्रतिष्ठित हो सकती है।

प्रश्न–५. तपस्या कर्मों की निर्जरा के लिये की जाती है किन्तु इसमें जो जुलूस, जीमण या आडम्बर की प्रक्रिया कहीं-कहीं अपनाई जाती है, क्या वह उचित है? क्या इससे कर्मबन्धन नहीं होता?

उत्तर—तपश्चर्या के निमित्त से जो तपश्चर्या करने वाली आत्मा स्वयं यदि जुलूस, जीमण, भेंट आदि की आडम्बरपूर्ण प्रवृत्ति अपनाती है, उसके लिये यही कहा जायगा कि वह सही अर्थ में तपस्या का सही स्वरूप ही नहीं समझ पाई है।

तपश्चरण का यही आत्म लक्ष्य होता है और होना चाहिये कि पूर्व में बांधे गये कर्मों के वेग को शिथिल समाप्त किया जाय अर्थात् कर्म-निर्जरा ही उसका प्रमुख उद्देश्य होना चाहिये किन्तु ऐसे तपश्चरण के साथ जो कोई भी आडम्बर जोड़ा जाता है वह मेरी दृष्टि में अनुचित है और ऐसे आडम्बर को परम्परा का रूप देना तो और भी ज्यादा गलत है। तपकर्त्ता यदि भौतिक वस्तुओं के लेन-देन की भावना से तप करता है तो मैं उसे एक प्रकार के व्यव–साय की संज्ञा देता हूं। इसका यही कारण है कि तप करने वाला तपस्या के आत्मशुद्धि के वास्तविक लक्ष्य को भुलाकर उसके निमित्त से जुलूस, जीमण आदि के आडम्बर में फंस जाता है तो सोचिये कि उसके द्वारा कितने जीवों की हिंसा का प्रसंग बन जाता है।

तपश्चर्या संयम की साधिका होती है और यदि कोई साधक सांसारिक इच्छाओं के नागपाश से अपने को मुक्त नहीं कर पाता है तो उनसे होने वाली जीवहिंसा के दौर से गुजरता हुआ वह भला अपनी विशिष्ट आत्मशुद्धि कैसे कर पायगा? वह साधक तो त्याग की भूमिका पर आरूढ़ होता है, फिर भेंट आदि लेने से उसका क्या सम्बन्ध होना चाहिये?

महावीर प्रभु का स्पष्ट संदेश है:—

नो खलु इहलोगट्ठयाएतवमहिट्ठिज्जा, नो
परलोगट्ठयाएतवमहिट्ठिज्जा, नो खलु कित्ती–
वण्णसद्दसिलोगाट्ठयाएतवमहिट्ठिज्जा,
नन्नत्थ णिज्जरट्ठयाए–तवमहिट्ठिज्जा। -दशवैकालिक सूत्र ९/४

अर्थात्—इस लोक की कामना के लिए तप नहीं किया जाय, परलोक की कामना के लिए तप नहीं किया जाय और न ही कीर्ति, यश, श्लाघा या

प्रशंसा की भावनाओं को लेकर ही तप किया जाय। मात्र कर्मों की निर्जरा करने के लिए ही तप करना चाहिये।

इसका अभिप्राय यही है कि तपश्चर्या केवल कर्मों की निर्जरा अर्थात् कर्म-बंधन से मुक्ति की भावना हेतु ही की जानी चाहिये। तपस्या के जो बारह भेद बताये गये हैं उनमें एक अनशन भी है। परन्तु यदि कोई तपस्वी आत्मा इस एक भेद को भी आडम्बरों का निमित्त बनाती है तो वह अनुचित ही है, चाहे उस की गई तपस्या से कर्म कुछ हल्के हो सकते हैं किन्तु उन आडम्बरों से तो नवीन कर्मबंध की ही संभावना मानी जा सकती है।

प्रश्न—६. क्या तपश्चर्या के लिये भूखा रहना आवश्यक है ?

उत्तर—तपश्चर्या के लिए भूखा रहना ही आवश्यक नहीं है। प्रभु महावीर ने बारह प्रकार का तप प्रतिपादित किया है। अनशन, उसमें पहला तप है। जिसमें उपवास, बेला, तेला आदि तपानुष्ठान लिये जाते हैं, जिसमें निराहार रहना होता है। पर यह निराहार भी सम्यक्त्व के साथ कषाय (क्रोध-मान माया-लोभ) के उपशमन पूर्वक होना चाहिये। जिस आत्मसाधक से यह तप सम्भावित न हो, उसके लिए अन्य ग्यारह तपों का वर्णन भी किया गया है। भूख से इच्छापूर्वक कम खाना भी तप है। जो मानसिक वृत्तियां विभाव में भटक रही है उन्हें रोककर स्वभाव में नियोजित करना भी तप है। खानपान के रस पर समभाव रखना, दूसरों की निंदा में रस नहीं लेना, सांसारिक विषयों में रस नहीं लेना, स्त्री कथा, भक्त कथा, देश एवं राज कथा जैसी विकथाओं में रस नहीं लेना, सांसारिक विषयों में रस नहीं लेना भी तप है। सम्यक् साधना करते हुए, सेवा-वैयावृत्य करते हुए या अन्य किसी आत्मसाधक के प्रसंगों पर होने वाले कायक्लेश में समभाव रखना भी तप है। जो इन्द्रियाएं, विषयों के पोषण की ओर भाग रही हैं, उन्हें सम्यक् ज्ञानपूर्वक आत्मलीन बनाना भी तप है। इसी प्रकार अपने अपराधों को स्वीकार करते हुए प्रायश्चित लेना, गुरुजन एवं गुणवान व्यक्तियों के प्रति यथोचित सम्मान के भाव रखना, उनकी शारीरिक, मानसिक, वाचिक दृष्टि से वैयावृत्य (सेवा)करना, शास्त्राभ्यास करना, स्वयं की गल्तियों को देखना स्वात्म चिन्तन करना, वीतराग महापुरषों के जीवन चरित्र का अहोभावपूर्वक ध्यान करना, अपने शरीर से मोहभाव हटाकर आत्मलीन होना आदि भी तपश्चर्या हैं। आत्मसाधक इनमें यथानुकूल तप करता हुआ कर्म-निर्जरा कर सकता है।

प्रश्न—७. आज जल, वायु आदि शुद्धिकारक तत्त्व स्वयं अशुद्ध होते जा रहे हैं और पर्यावरण प्रदूषण का संकट बढ़ रहा है, तब इस समस्या के निवारण हेतु क्या किया जाना चाहिये ?

उत्तर—वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति तथा अनियंत्रित भोगलिप्सा ने

तो चारों ओर प्रदूषण का विस्तार किया है। यह विस्तार दो क्षेत्रों में एक साथ हो रहा है।

एक ओर कोयला, तेल, पेट्रोल, डीजल आदि के जलने से, सड़कों पर टायरों के घिसने के कारण वैसी गंध हवा में फैलने से युद्धस्त्रों के प्रयोग से बारूदी विस्फोटों के धमाके होने से विविध भांति की किरणों और तरंगों के ताप से, वायुयानों आदि से हद बाहर ध्वनि के फूटने से, परमाणु परीक्षणों के विषैले प्रभाव से, सूर्य एवं चन्द्र ग्रहणों के खगोलीय उपद्रवों, कल-कारखानों से निकलने वाले विषाणुओं के विस्तार से और इस प्रकार के अनेकानेक कारणों से जो प्रदूषण फूटता है, उसके विषैले वातावरण का शारीरिक क्रियाओं पर भयंकर प्रभाव होता है और कई तरह की विषम समस्याएं पैदा हो जाती है।

दूसरी ओर मानसिक एवं आत्मिक प्रदूषण भी उसी अनुपात में बढ़ता रहता है जो स्वस्थ विकास की जड़ों पर ही कुठाराघात कर देता है। इसे स्वयं से उत्पन्न प्रदूषण कहा जा सकता है। ईर्ष्या, क्रोध, घृणा, घमंड, चिन्ता, तनाव आदि की उत्पत्ति भी अधिकांशतः इसी वैज्ञानिक प्रगति की देन होती है। यह विकार बाहर से फूट कर भीतर में फैल जाता है। जीवन में सर्वत्र असन्तुलन की उपज इसी वैज्ञानिक प्रगति के प्रदूषण से सामने आई है।

किसी भी समस्या का सम्यक् रीति से निवारण करना है तो पहले उसके कारणों को खोजना चाहिये। कारण के बिना कोई भी कार्य नहीं होता। जरासी भी बारीकी से देखें तो पर्यावरण प्रदूषण के कई कारण साफ तौर पर ज्ञात हो सकते हैं, यथा—

(१) **उद्योगों का दुष्प्रबन्ध**—कई प्रकार के रासायनिकों एवं अन्य पदार्थों के उद्योगों की स्थापना एवं व्यवस्था पर्यावरण सन्तुलन को नजरन्दाज करके की जाती है। घातक तत्त्व भूमि पर या नदी नालों में बहा दिये जाते हैं अथवा धुआं आदि के रूप में चिमनियों से आकाश में उड़ाये जाते हैं, फलस्वरूप भूमि, जल एवं वायु सभी प्रदूषित हो जाते हैं। एक प्रकार से प्रदूषण सारे वातावरण में फैल जाता है जो सभी जीवों को हानि पहुंचाता है अतः उद्योगों का दुष्प्रबन्ध दूर किया जाना चाहिये। भोपाल गैस कांड आदि अनेक घटनाएं इस दुष्प्रबन्ध का ही परिणाम है।

(२) **जीव हिंसा के प्रयोग**—कई ऐसे दुष्ट प्रयोग किये जाते हैं जिनके द्वारा जीवों की हिंसा होती है। ऐसे प्रयोगों से भूमि अशुद्ध बनती है तथा वायु-मण्डल में भी विकार फैलते हैं। इनसे अन्ततः पर्यावरण प्रदूषित होता है अतः ऐसे प्रयोग रोके जाने चाहिये।

(३) **वन-विनाश**—पर्यावरण को असन्तुलित बनाने का एक प्रमुख कारण निहित स्वार्थियों द्वारा वनों का विनाश करना भी है। हरे-भरे वनों को

उजाड़ देने से वनस्पति आदि के जीवों की हिंसा तो होती ही है किन्तु उससे वर्षा आदि के न होने से जीवों के संरक्षण में भी व्यवधान पहुंचता है जबकि वन्य जीव पर्यावरण का सन्तुलन निवाहने में वड़े मददगार होते हैं। इस दृष्टि से वनों एवं वन्य जन्तुओं का संरक्षण किया जाना चाहिये।

(४) जल का अशुद्धिकरण—इस युग में लोगों की जीवन शैली कुछ ऐसी अविवेकपूर्ण वन गई है कि केवल जल का दुरुपयोग ही नहीं किया जाता बल्कि नाना प्रकार से जैसे मैला वहाकर, गटर डालकर शव फैंककर वहते या भरे जल को अशुद्ध बना दिया जाता है। इससे जल अशुद्ध एवं रोगकारक बन जाता है। यह अपकाय को जीव हिंसा तथा अन्य प्राणियों की शरीर हानि का कारण बनता है। जल शुद्धि के विविध उपाय आज के वैज्ञानिक युग से अदृश्य नहीं है। पानी की व्यर्थ बरवादी पर सवसे पहले रोक लगानी चाहिये।

(५) ध्वनि-प्रदूषण—वाहनों, ध्वनि विस्तारक यंत्रों अथवा कल कारखानों आदि का शोर इतना वढ़ने लगा है कि पर्यावरण को बिगाड़ने में ध्वनि-प्रदूषण भी मुख्य वन रहा है। इस सम्वन्ध में कई उपायों से शांत वातावरण को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

पर्यावरण को दोषमुक्त एवं संतुलित वनाये रखना स्वस्थ जीवन के लिये आवश्यक है।

प्रश्न—८. आध्यात्मिक साधना करने वाला व्यक्ति केवल स्वकल्याण तक ही सीमित रह जाता है, उसे समाज कल्याण की ओर किस प्रकार अपना कर्त्तव्य निभाना चाहिये ?

उत्तर—आध्यात्मिक साधना के वास्तविक स्वरूप को चिन्तन में लेने एवं तस्युत्पन्न अनुभूति को जीवन में समग्रतया स्थान देने की नितान्त आवश्यकता है। मानव की सद्वृत्तियां किस प्रकार से सामाजिक लाभ-हानि का कारण बनती हैं, उसको जानने से आध्यात्मिक साधना के सामाजिक सन्दर्भ का स्पष्टीकरण हो सकता है।

सूक्ष्म रूप से देखें तो मानव की आंतरिक वृत्तियां हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह आदि दुर्गुणों से ग्रस्त होकर स्व के साथ पर जीवन को भी दूषित बनाती है। एक आत्मा की आंतरिक अशुद्धि अनेकानेक आत्माओं की सम्पर्कगत अशुद्धि का कारण वनती हैं और तब ऐसी अशुद्धि प्रगाढ़ होकर सम्पूर्ण समाज के वातावरण को विकृत बना डालती है। वही सामाजिक विकृत वातावरण फिर व्यापक रूप से उस विकृति को बढ़ावा देता है। इस प्रकार एक आत्मा की आध्यात्मिक-हीनता सारे समाज की नैतिकता को छिन्न-भिन्न कर डालती है।

ठीक इसके विपरीत इसी प्रकार एक आत्मा द्वारा साधी जाने वाली

आध्यात्मिक साधना एक से अनेक को सुप्रभावित करती है तथा अन्ततोगत्वा सारे समाज की गतिशीलता को नैतिकता, विशुद्धता एवं उन्नति की ओर मोड़ देती है। व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधना भी इस रूप में सारे समाज को प्रभावित करती है और करती है अपने सामाजिक कर्त्तव्य का सम्यक् निर्वहन।

सांसारिक व्यामोह से आध्यात्मिक साधना के पथ पर अग्रसर होना सरल कार्य नहीं होता है। जीवन-व्यवहार में जब दुर्वृत्तियां एवं दुष्प्रवृत्तियां सिलसिला बांधकर निरन्तर चलती रहती हैं तो उससे आन्तरिक एवं बाह्य प्रदूषण छा जाता है। प्रवचनों, उपदेशों एवं प्रेरणापूर्ण सामग्री के माध्यम से जब ऐसे प्रदूषण को रोकने की सीख दी जाती है तब मानवीय मूल्यों से अनुप्राणित आत्माओं में एक विरल जागृति का संचार होता है और वही जागृति उन्हें आध्यात्मिक साधना की जीवन-यात्रा में प्रवृत्त बनाती है, अतः यह मानना चाहिये कि आध्यात्मिक साधना की प्रेरणा भी व्यक्ति एवं समाज की परिस्थितियों से ही प्राप्त होती है। इस दृष्टि से भी इस साधना का सामाजिक आधार एवं स्वरूप स्पष्ट होता है।

आध्यात्मिक साधना जहां व्यक्ति के बाह्य एवं आंतरिक प्रदूषण का शमन करती है, वहां सामाजिक समस्याओं के समाधान का द्वार भी खोल देती है। तब व्यक्ति एवं समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध बन जाता है तथा आध्यात्मिक साधना इन सम्बन्धों को निरन्तर विकसित बनाती रहती है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि आध्यात्मिक साधना की चरम अवस्था समाज-कल्याण के कर्त्तव्य निर्वहन में ही प्रतिफलित होती है।

प्रश्न—९. बहुधा देखा जाता है कि धार्मिक क्रियाओं में रचा-पचा व्यक्ति दोहरा जीवन जीता है, इसका क्या कारण है? उसे अपने जीवन के रूपांतर के लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर—वास्तव में धार्मिक जीवन कैसा हो—इस विषय का ज्ञान अन्तश्चेतनापूर्वक होना चाहिये। जीवन का सच्चा रूपांतरण ही तो धार्मिक बनाता है, परन्तु जब ऊपर से धार्मिक क्रियाओं को करने वाले पुरुष को ही धार्मिक मान लेने की दृष्टि बन जाती है, तभी भ्रान्त धारणा का जन्म होता है। किसी की आन्तरिकता में झांककर निर्णय लेना सरल नहीं होता और जब ऊपरी धार्मिक क्रियाएं (जिन्हें भावपूर्ण नहीं कह सकते) करने वाले लोग समाज में सम्मान, श्रद्धा, और प्रतिष्ठा पाने लगते हैं तो धार्मिक क्रियाओं की गहनता अस्पष्ट रह जाती है। ऐसी धार्मिक क्रियाओं को करने वाले ही दोहरा जीवन जी सकते हैं, वरना सच्चे धार्मिक पुरुष का जीवन तो सदा ही स्पष्ट, एकरूप और स्वस्थ होता है, क्योंकि उसकी धार्मिक क्रियाओं की आराधना में आत्मशुद्धि का भाव एवं प्रभाव सर्वोपरि होता है।

अधूरी धार्मिक क्रियाओं के दिखावे से कपट पूर्वक वाह्य प्रतिष्ठा भले ही प्राप्त करली जाय किन्तु उनसे जीवन में आमूलचूल परिवर्तन कभी नहीं आता अर्थात् रूपांतरण तो भाव एवं त्यागपूर्वक आराधी गई धार्मिक क्रियाओं से ही सम्भव हो सकता है।

सच पूछें तो वास्तविक ज्ञान के अभाव में ही धार्मिक क्रियाओं का अपरूप प्रचारित हो जाता है। किसी भी धार्मिक क्रिया के स्वरूप एवं उसकी साधना विधि की जब सही जानकारी होती है तो उसके प्रति वनने वाली निष्ठा भी सच्ची वनती है तथा उसकी आराधना भी सर्वांगत: श्रेयस्कर। वैसी क्रिया प्रत्येक चरण पर जीवन में सदाशयी रूपांतरण लाती रहती है। ज्ञान एवं श्रद्धा दोनों आचरण के साथ संयुक्त रहते हैं और तव वैसी दशा में आत्मोन्नति का ही मार्ग प्रशस्त होता रहता है।

इसके स्थान पर जव सम्यक् श्रद्धा तो हो पर आचारित तत्त्व जानकारी सही नहीं हो और किसी क्रिया पर आचरण किया जाय तो उसमें रूपांतरण की गति तीव्र नहीं हो सकती है तथा आत्मशुद्धि का लाभ भी विशिष्ट जानकारी के अभाव में सामान्य–सा ही रहता है। जीवन का आमूलचूल परिवर्तन उसके लिये सुलभ नहीं होता, जवकि सही जानकारी और सही श्रद्धा के अभाव में स्वार्थ बुद्धि या कि अन्ध दृष्टि से आचरित धार्मिक क्रियाओं का स्वरूप भ्रामक होता है और ऐसा व्यक्ति ही दोहरा जीवन जीने का आडम्बर रचता है। आधुनिक युग से उत्पन्न अन्य कई परिस्थितियां भी धार्मिक क्रियाओं के अधूरे आचरण को प्रोत्साहित करती हैं। इस कारण पनपती हुई दोहरी वृत्ति पर अवश्य ही सुधारात्मक आघात किये जाने चाहिये ताकि धार्मिक क्रियाओं की आराधना सच्ची और स्तरात्मक बन सके एवं जीवन की रूपान्तरणकारी भी।

प्रश्न–१०. आपके गृहस्थ अनुयायी आपकी दृष्टि में आपके धर्मोपदेश का पालन किस सीमा तक कर रहे हैं? क्या आप उससे सन्तुष्ट हैं?

उत्तर—गृहस्थ वीतरागदेव की वाणी के अनुयायी हैं। उस वाणी का कथन यथाशक्ति मुझसे जो बन पाता है, वह मैं करता हूं। इतने मात्र से वे मेरे अनुयायी हो गये—ऐसा चिन्तन मैं नहीं करता।

वीतराग देव की उस विराट् वाणी का अनुसरण कितने लोग किस मात्रा में और किस प्रकार से कर रहे हैं—इसका सर्वेक्षण मैंने नहीं किया और न ही कभी इस हेतु मैं समय निकाल पाया हूं। इसका सर्वेक्षण तो कोई तटस्थ व्यक्ति ही कर सकता है, जो वीतराग वाणी का आस्थावान् ज्ञाता हो। फिर वीतराग वाणी प्रधानत: अन्त:करण द्वारा ग्रहण की जाने वाली अनुभूति होती है और ऐसी आंतरिक अनुभूति का वस्तुत: वही सत्य परिचय पा

सकता है जो स्वयं वीतराग एवं सर्वज्ञ हो । अन्य व्यक्ति तो मात्र किसी के बाह्य व्यवहार के आधार पर ही उसके आंतरिक मनोभावों का अनुमान भर लगा सकता है । अतः वीतराग वाणी से गृहीत धर्मोपदेश का कौन कितनी मात्रा में पालन कर रहा है—इसका यथावत् निर्णय, कहा जा सकता है कि, आज के समय में शक्य नहीं है ।

मुझे उन अनुयायियों को लेकर अपनी सन्तुष्टि अथवा असन्तुष्टि का नाप भी नहीं बनाना है । मेरे लिये तो अपनी स्वयं की अन्तर्चेतना के प्रति ही अपनी सन्तुष्टि का मापदण्ड निर्धारित करना है ताकि मेरी अपनी आत्मालोचना का क्रम स्वस्थ बना रह सके । इस दिशा में मेरा अपना निरन्तर प्रयास चलता रहता है । अन्य की अन्तर्चेतनाओं के आधार पर तथा उनके लिये मेरी अपनी सन्तुष्टि या असन्तुष्टि की तुलना करना उपयुक्त नहीं हो सकता ।

सन्त-सती वर्ग इसे अपना कर्तव्य मानता है कि वीतराग वाणी पर धर्मोपदेश दिया जाय । यह श्रोता आत्माओं की भव्यता पर निर्भर करता है कि वे उस धर्मोपदेश को कितनी गहरी भावना के साथ ग्रहण करती हैं । भावना की उस गहराई का प्रत्येक भव्य आत्मा ही अपने लिये अंकन कर सकती है जबकि वह भी अन्तःकरणपूर्वक वैसा करे । अन्तरात्मा की आलोचना की सम्पूर्ण परिधियां विशिष्ट अन्तरात्मा ही ज्ञात कर सकती है ।

प्रश्न–११. तथाकथित जैन समाज के अतिरिक्त अन्य समाज के क्षेत्रों में आपका विचरण कितना हुआ है और उसका क्या प्रभाव पड़ा है ?

उत्तर—प्रश्न के अन्तर्गत विचरण की बात आई है । इसमें मैं समभाव की नीति को महत्त्व देता हूं—उस तुला के अनुसार ही तथाकथित समुदाय का विभाजन मैं गुण एवं कर्म के आधार पर करता हूं । हजारों हजार लोग या उससे भी अधिक लोग मेरे सम्पर्क में आये होंगे तथा विस्तृत विचरण भी हुआ होगा, किन्तु उन पर मेरा क्या प्रभाव पड़ा—इसका सर्वे मैंने नहीं किया और न ही इस प्रकार के सर्वे की मैं आकांक्षा रखता हूं । यह मेरा कार्य भी नहीं है ।

इस विषय की यदि कोई जानकारी ली जा सकती है तो वह विचरण-क्षेत्रों में सम्पर्कगत व्यक्तियों से मिलने व चर्चा करने से ही ज्ञात हो सकती है । उन्हीं के हृदयोद्गार इस जानकारी के, एक दृष्टि से सही पैमाने बन सकते हैं । ऐसी जानकारी के लिये मैं अपना समय लगाऊं—यह मेरे लिये उपयुक्त नहीं है ।

प्रश्न १२. जैन समाज सब प्रकार से सम्पन्न समाज है, पर भारतीय राजनीति में उसका वर्चस्व नहीं के बराबर है, इसके लिये क्या किया जाना चाहिये ?

उत्तर—जैन धर्मानुयायी अपनी गुण–कर्म की गरिमा के साथ सम्पन्न

माना जाना चाहिये । इन अनुयायियों के सामने जब तक धर्म सेवा का सार्थक कार्य क्षेत्र नहीं आता है, तब तक उन्हें अपनी इस सम्पन्नता का निरर्थक उपयोग भी नहीं करना चाहिये ।

वर्तमान की भारतीय राजनीति में जनतंत्र का प्रावधान है, तथापि विशुद्ध जनतंत्र का धरातल प्राय: कम ही दृष्टिगत होता है । कई बार तो ऐसा प्रतीत होता है कि जनतन्त्र के नाम पर कुछ न्यस्त स्वार्थी व्यक्ति ऐसे कार्य भी कर गुजरते हैं जो नैतिकता एवं मानवता से भी परे कहे जा सकते हैं । ऐसी परिस्थिति में जैन धर्मानुयायी ही नहीं, कोई भी मानव तक अपनी शक्ति-सम्पन्नता का दुरुपयोग करना पसन्द नहीं करेगा ।

तथापि जैसे एक साधक अपनी आत्मा के विकारों से अहिंसा, त्याग आदि सिद्धांतों के आधार पर संघर्ष करता है, वैसे ही समाज या राष्ट्र में फैल रहे विकारों से भी प्रत्येक मानव को सद्भावों की सफलता के लिये संघर्ष करते रहना चाहिये ।

प्रश्न–१३. आज की राजनीति विभिन्न प्रकार के दबावों की शिकार बनी हुई है, ऐसी स्थिति में गृहस्थ मतदाता अपना मत कैसे उम्मीदवार को दें ?

उत्तर—मतदाता यदि अपने मत का सही मूल्यांकन समझता है तो उसे अपनी भावना एवं मान्यता के अनुरूप ही अपना मतदान करना चाहिये । उपस्थित उम्मीदवारों में जो व्यक्ति उसे नि:स्वार्थी, सदाशयी, कुव्यसनत्यागी एवं सेवाभावी प्रतीत हो उसका समुचित रीति से परीक्षण कर अपनी स्वस्थ प्रज्ञानुसार ही मत देना सर्वथा उचित मानना चाहिये । किन्तु यदि कोई मतदाता यह विचार करे कि अमुक व्यक्ति (उम्मीदवार) को मत देने और उसके विजयी बनने से मुझे या मेरे परिवार को अमुक-अमुक प्रकार से लाभ प्राप्त हो सकेगा तथा मेरी स्वार्थपूर्ति हो सकेगी तो वैसे अवैध लाभ को प्राप्त करने का उसका विचार तथा मतदान प्राय: अनुचित ही कहा जायगा । कई बार उम्मीदवार भी अपनी अनुचित स्वार्थपूर्ति के लिये आम लोगों को झूठे और थोथे आश्वासनों के जरिये अपने पक्ष में मत दिलाने के लिये फुसलाते हैं या अन्य अवांछित कार्यवाहियां भी करते हैं । सभी मतदाताओं को ऐसे उम्मीदवारों की सही पहिचान भी बनानी चाहिये ।

आशय यह है कि मतदान जैसे दायित्वपूर्ण कर्त्तव्य का निर्वहन मतदाता को अपनी स्वस्थ प्रज्ञा एवं परीक्षा के अनुसार ही करना चाहिये ।

प्रश्न–१४. विदेशों में शाकाहार की प्रवृत्ति बढ़ रही है, किन्तु भारत में मांसाहार की, ऐसा क्यों ?

उत्तर—इससे यह लगता है कि विदेशों में रहने वाले कई चिन्तनशील मानव समय-समय पर अपने जीवन की उचित अथवा अनुचित दशाओं का अन्वेषण करते रहते हैं और उस प्रक्रिया में जब उन्हें ज्ञात होता है कि अमुक वस्तु का उपयोग जीवन के लिये हितावह नहीं है तो वे उसे त्यागने की बात को दिल खोल कर कह देते हैं, चाहे वह वस्तु उन्हें पहिले से कितनी ही पसन्द क्यों न रही हो ।

शायद, भारतीयों में ऐसी वृत्ति का समुचित विकास नहीं हो पाया है, बल्कि कई बार उनका आचरण अपने हितों के विरुद्ध भी चलता रहता है । इसका प्रधान कारण यह हो सकता है कि उनमें अन्वेषण की बजाय अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक है । किसी भौतिक प्रभावशाली व्यक्ति का कोई कथन सुना अथवा कि उसकी कोई प्रवृत्ति देखी, एक सामान्य भारतीय उसका अनुकरण करने के लिये तैयार हो जाता है, बिना यह देखे कि उससे उसके जीवन का कोई हित सधता है या नहीं । इस प्रकार वह अपने अहित को अनदेखा कर देता है । मांसाहार का अन्धा अनुकरण करने के सम्बन्ध में भी उसकी इसी प्रवृत्ति का कुप्रभाव देखा जा सकता है । कहते हैं, जब कोई नकल करता है तो उसमें अधिकांशतया अकल का जरूर घाटा होता हैं ।

प्रश्न–१५. जैन समाज भी अण्डे और मांसाहार की प्रवृत्ति से विकृत होता जा रहा है तथा नशीले पदार्थों के सेवन की प्रवृत्ति भी बढ़ रही है, इसकी रोकथाम के लिये क्या किया जाना चाहिये ?

उत्तर—दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां अवश्य ही चिन्ताजनक हैं तथा एक अहिंसक समाज के लिये तो अतीव गम्भीर ही कही जा सकती हैं, जिसकी सफल रोकथाम के लिये शीघ्र कठिन प्रयत्न किये जाने चाहिये । शुद्धाचार की दृष्टि से इस समस्या की ओर सबको अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिये ।

इन प्रवृत्तियों की रोकथाम के लिये मेरी दृष्टि में मुख्य तौर पर ये दो उपाय कारगर हो सकते हैं—

(१) टी. वी. एवं अन्य प्रचार माध्यमों के जरिये अंडों, मांस आदि के आहार के पक्ष में जो गलत विज्ञापनबाजी होती है उसे शीघ्र बन्द कराने के प्रयास होने चाहिये । कारण, ऐसे निरन्तर प्रचार से बालकों एव सरल व्यक्तियों के मानस पर विकृत प्रभाव पड़ता है तथा उन की हिताहित की बुद्धि कुंठित हो जाती है । वे उस प्रचार से दुष्प्रभावित होकर अहितकर को भी हितकर मान बैठते हैं एवं हिंसाकारी आहार तथा घातक नशेबाजी की ओर झुक जाते हैं । जैसे कि 'संडे हो चाहे मंडे, रोज खाओ अण्डे' जैसी बातें बोलते हुए बच्चे मिल जाएंगे । अतः ऐसे विज्ञापन बन्द होना आवश्यक है ।

(२) ऐसे कुप्रचार के विरुद्ध अति व्यापक सुप्रचार की भी आवश्यकता है जिसके द्वारा आम लोगों को यह समझाया जा सके एवं उनके दिलों में मज़बूती पैदा की जा सके कि वे गलत प्रचार की ओर कतई प्रभावित न हों तथा वर्तमान में यदि पहले की खराब आदतों के कारण अण्डा, मांसाहार या नशीले पदार्थों का सेवन कर रहे हों तो उनका भाव एवं संकल्प पूर्वक त्याग कर दें। इस प्रकार ऐसे सुप्रचार के ये दो मोर्चे हों।

इस तथ्य को स्पष्टतः स्वीकार करना चाहिये कि कोई भी गलत प्रचार वहीं पर कामयाब होता है जहां हिताहित का विवेक नहीं होता है तथा प्रचारित सामग्री की सही जानकारी सामने नहीं आती है। लोहे से लोहे को काटने की तरह सुप्रचार से ही ऐसे कुप्रचार को समाप्त किया जा सकता है। जब लोगों को समझ में आ जायगा कि अमुक-अमुक पदार्थों का सेवन उनके जीवन एवं स्वास्थ्य के लिये कितना अहितकारी एवं घातक है तो वे उनका सेवन नहीं करेंगे अथवा उनका सेवन त्याग देंगे।

इसी रीति से इन दुष्प्रवृत्तियों से लोगों को छुटकारा दिलाया जा सकता है तथा इसी प्रकार जैन समाज के उन क्षेत्रों में भी हिताहित का विवेक जाग्रत किया जा सकता है। जहां यह लगे कि अण्डा, मांसाहार व नशीले पदार्थों के सेवन की प्रवृत्तियां बढ़ रही हैं। किसी भी दुष्प्रवृत्ति की रोकथाम सघन कार्य करने से ही की जा सकती है। (इसके लिए आचार्य प्रवर द्वारा प्रवेचित वर्णन "अहिंसक देश में घोर हिंसा" नामक लघु पुस्तिका में प्रचारित किया जा चुका है)। –सं.

प्रश्न–१६. शास्त्रों में उल्लेख आता है कि साधु को दिन में दो प्रहर स्वाध्याय, एक प्रहर ध्यान और रात्रि में दो प्रहर स्वाध्याय व एक प्रहर ध्यान करना चाहिये। स्वाध्याय और ध्यान में क्या अन्तर है तथा ये कैसे किये जाने चाहिये?

उत्तर—स्वाध्याय का अर्थ गूढ़ व्यापक एवं मननीय है। प्रचलित अर्थ यह है कि शास्त्रों एवं ग्रन्थों में मानव के आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक जीवन के सांगोपांग हेतु विकास आत्मचिन्तन से सम्बन्धित जिन मूल पाठों का उल्लेख आया है उनका वाचन किया जाय एवं अर्थ विन्यास भी। स्पष्टीकरण की आवश्यकता अनुभव करने पर उनके सम्बन्ध में ज्ञाता पुरुष से पृच्छा की जाय। जो वाचन अर्थ एवं अध्ययन किया जाय उसे पुनः पुनः अपने स्मृति पटल पर उभारते रहने का प्रयास भी किया जाता रहे। तत्पश्चात् उस अध्ययन की चिन्तन-मनन की विधि से समीक्षा की जाय और समीक्षा-परीक्षा के उपरान्त जो निष्कर्ष रूप तत्त्व सामने आवें, उनका सही विज्ञान अन्य जिज्ञासुओं के समक्ष उपस्थित किया जाय तथा उससे जो चिन्तन के नये सूत्र उभरें उनके प्रकाश में यदि आवश्यक हो तो उस निष्कर्ष में उचित संशोधन स्वीकार किये जाय। इस प्रकार के निर्णय प्रेरक अध्ययन को स्वाध्याय की संज्ञा दी जा सकती है।

स्वाध्याय के माध्यम से जो निष्कर्ष रूप सम्यक् निर्णायक आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होती है, उस दृष्टि को उदाहरण मानकर अपने अमित आत्मबल की सहायता से अन्तर्चेतनापूर्वक समीक्षण की प्रवृत्ति में समाविष्ट करना चाहिये। ऐसा ध्यान वास्तविक ध्यान होता है तथा समीक्षण ध्यान साधक को पुष्ट रूप से आत्म-केन्द्रित बना देता है।

समीक्षण ध्यान तक की स्थिति पर पहुंचने से पहले एक निर्धारित साधना पथ स्वीकार किया जाना चाहिये। वह साधना नियमित हो तथा उसमें किसी प्रकार का स्खलन न आवे। यह साधना पथ है कि प्रतिदिन साधक अपनी सम्पूर्ण दिनचर्या का अन्वेषण करे और निश्चित करे कि कब और कहां पर उसने आत्मविरोधी आचरण किया है। उसका वह अवलोकन करे, ध्यान करे एवं पश्चात्ताप करे—साथ ही यह संकल्प कि भविष्य में वह वैसा न करने का जागरूक प्रयास करेगा। सम—ईक्षण के इसी ध्यान को समीक्षण ध्यान की संज्ञा दी गई है।

स्वाध्याय का उत्तरीय अर्थ स्वयं के स्वरूप का अध्ययन करना है, आत्मा के निज स्वरूप की अनुभूति का निरन्तर अध्ययन करते रहना है। इस आध्यात्मिक स्वरूप चिन्तन में स्थिरता का अनुभव हो, ऐसा अध्ययन ध्यान कहलाता है।

स्वाध्याय और ध्यान इस रूप में साधु जीवन के प्राण तुल्य हैं। इसी कारण इनके विषय में शास्त्रों का उक्त उल्लेख है।

प्रश्न—१७. विदेशों में जैन धर्म के प्रचार-प्रसार को अधिक आवश्यकता है, उसके लिये जैन धर्म को क्या करना चाहिये ?

उत्तर—ऐसी आवश्यकता अनुभव करने वालों को एक निष्ठावान् प्रचारक वर्ग की स्थापना की ओर ध्यान देना चाहिये, जो वर्ग प्रचार-प्रसार के आवश्यक साधनों के उपयोग की छूट रखकर अपने जीवन में धर्म के आदर्शों का प्रभाव भी यथोचित रीति से उत्पन्न करे ताकि वह प्रचार-प्रसार अतिशय प्रभावपूर्ण हो। ऐसे प्रचारक यथासाध्य अपने जीवन को नियमपूर्ण बनाकर यदि आवश्यक समय देने का संकल्प करें तो समाज विदेशों में जैन धर्म के सम्यक् प्रचार-प्रसार का उत्साह जाग्रत कर सकता है।

वस्तुतः ऐसा प्रचारक वर्ग वह तीसरा वर्ग होगा जो रत्नत्रय (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) की दृष्टि से गृहस्थ वर्ग से ऊंचा तथा साधु वर्ग तक पहुंचने के लिये उन्मुख होगा। इस वर्ग में त्याग का सन्देश लेकर व्यक्ति गृहस्थ वर्ग से ही आयेंगे, अतः इसकी स्थापना, कार्य शैली आदि के सम्बन्ध में गृहस्थ वर्ग को ही निर्णय करने होंगे। साधु वर्ग तो अपनी मर्यादाओं में अनुबंधित होता है और अपने पंच महाव्रतों पर आधारित, अतः उनका प्रचार-प्रसार का कार्य तदनुसार सीमित होता है। अतः विदेशों में या देश में भी साधनों सहित प्रचार-प्रसार के

कार्य का दायित्व गृहस्थ वर्ग को समझ कर ऐसी प्रचारक वर्ग की योजना को कार्यान्वित करना चाहिये । इसके लिए क्रान्तदृष्टा स्व. आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. ने 'वीर संघ' के नाम से पूरी योजना आज से ५०-६० वर्ष पूर्व ही रख दी थी । उसी का परिणाम कहा जा सकता है कि अनेक स्वाध्यायी संघ उभरे हैं । पर इस योजना का व्यापक स्वरूप अब तक उभर नहीं पाया है । अतः प्रबुद्ध जैन उपासकों को चाहिये कि वे इस दिशा में प्रयत्नशील बनें ।

प्रश्न—१८. आपने ढाई सौ से अधिक जैन साधु-साध्वियों को दीक्षित किया है,यह एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक योगदान है,पर आपकी प्रेरणा से कितने ऐसे समाजसेवी गृहस्थ तैयार हुए हैं जो अपने व्यवसाय से निवृत्त होकर पूर्णरूपेण समाज सेवा में लगे हों?

उत्तर—गृहस्थ वर्ग में समाज सेवा की वृत्ति का वर्तमान में अवश्य ही विशिष्ट विकास हुआ है । इतना ही नहीं, वह वृत्ति तुलनात्मक दृष्टि से अधिक व्यापक एवं अधिक सघन भी बनी है ।

इस निरन्तर विकासशील वृत्ति का परिचय समाज-सेवा की विभिन्न प्रवृत्तियों उनकी सफलता तथा उनमें कार्यरत गृहस्थ वर्ग के कार्यकर्त्ताओं की कर्मठता से पाया जा सकता है । उदाहरण के तौर पर समता प्रचार संघ के कार्य को लिया जा सकता है, जिसमें सैकड़ों की संख्या में गृहस्थ वर्ग के कार्यकर्त्ता विविध प्रकार की समाज-सेवा-प्रवृत्तियों में संलग्न हैं । जिन स्थानों पर संत सतियां नहीं पहुंच पाते हैं, वहां इस संघ के सदस्य पहुंच कर उचित उद्बोधन देते हैं तथा लोगों को सत्कार्यों के लिये प्रेरित करते हैं । उनका यह कार्य समाज सेवा का महत्त्वपूर्ण कार्य माना जा सकता है तथा यह समता प्रचार संघ इस दिशा में अधिक सक्रिय दिखाई देता है ।

प्रश्न—१८. जैन समाज प्रमुखतः व्यवसायी वर्ग है । जैसे सरकारी कर्मचारी एक निश्चित आयु के बाद सेवा निवृत हो जाते हैं क्या व्यवसायी वर्ग को भी इस प्रकार निवृत्त नहीं हो जाना चाहिये ? यदि हां, तो इस दिशा में आपकी क्या प्रेरणा रहती है ?

उत्तर—शास्त्रों में श्रावकों के जीवन क्रम का इस में उल्लेख आता है कि वे श्रावक अपने श्रावक व्रतों की मर्यादाओं का पालन करते हुए अपना व्यापार, व्यवसाय आदि किया करते थे और जब उन श्रावकों के पीछे उनकी सन्तान उनके व्यापार, व्यवसाय को सम्हालने में सक्षम हो जाती थी तब वे श्रावक अपने व्यवसाय आदि से निवृत्त होकर पूर्ण रूप से धर्म-ध्यान में ही अपना समय व्यतीत करना आरम्भ कर देते थे ।

इसी प्रकार वर्तमान में भी यदि व्यापारी-व्यवसायी वर्ग उपयुक्त समय

पर अपना काम-धन्धा अपनी योग्य सन्तान को सम्हला कर निवृत्त होने के लिये तैयारी कर लें तो वह स्वस्थ परम्परा का पालन होगा। निवृत्त होकर वे धर्म-ध्यान, समाज-सेवा आदि में अपना समय एवं अपनी शक्ति नियोजित कर सकते हैं। ऐसी भावना जगाने के लिये समय-समय पर उपदेश दिया जाता है तथा देते रहने की भावना रहती है। अनेक व्यक्ति सेवारत भी हैं, पर उनकी सेवाओं का पूर्ण उपयोग लेने के लिए संघ के जागरुक होने की भी आवश्यकता रहती है।

प्रश्न–२०. जैन समाज में अधिकांश महिलाएं कामकाजी न होकर सद्-गृहस्थ महिलाएं हैं, उन्हें अपने अवकाश का समय किन कार्यों में लगाना चाहिये ?

उत्तर—गृहस्थी में कर्मरत महिलाओं को गृहस्थ धर्म के कर्त्तव्यों को भली भांति समझना चाहिये। यह उनका प्राथमिक कर्त्तव्य भी है। उन्हें यह महसूस करना चाहिये कि जितनी जो कुछ पारिवारिक जिम्मेदारियां हैं, वे सिर्फ पति के ऊपर ही नहीं है। जहां पुरुष वर्ग अपनी जिम्मेदारियों को निभाता है, वहां महिला वर्ग को भी उन जिम्मेदारियों में अपना हिस्सा बंटाना चाहिये। महिला वर्ग घर के कामकाज में तो मुख्य रूप से हिस्सा लेता ही है लेकिन उसको यह सोचना भी कर्त्तव्योचित्त होगा कि वह किस प्रकार पुरुष वर्ग के व्यापार-व्यवसाय या अन्य कार्यों के भार को अपना योगदान देकर हल्का बना सकता है।

सद्गृहस्थ महिलाओं में यह विवेक भी जागना चाहिये कि वे पतियों के कामकाज पर अपनी दृष्टि भी रखें। यदि उस कामकाज में अनीति या भ्रष्टता घुसने लगे तो पत्नी वर्ग को हस्तक्षेप करके व्यापार, व्यवसाय आदि को नीतियुक्त वनाये रखने की प्रेरणा देनी चाहिये। पतियों को सत्पथ पर चलाते रहने का पत्नियों का नैतिक और धार्मिक कर्त्तव्य कहा गया है। वे अपना व्यवहार ऐसा सुचारू वनावें कि परिवार में समस्याएं उत्पन्न न हो और हों तो सहजता से सुलझ जांय। यों उनके लिये कार्यों की कमी नहीं है।

प्रश्न–२१. आज की शिक्षा में नैतिक एवं आध्यात्मिक संस्कारों का प्राव-धान नहीं है, आपकी दृष्टि में किस प्रकार शिक्षा पद्धति में सुधार अपेक्षित है ताकि नई पीढ़ी संस्कारित एवं चरित्रनिष्ठ वन सके ?

उत्तर—यह सही है कि देश की वर्तमान शिक्षा पद्धति में आध्यामिकता एवं नैतिकता के संस्कार नई पीढ़ी में प्रस्थापित करने हेतु कोई सीधे प्रावधान नहीं है और इसके कारण उत्पन्न नैतिकता एवं चारित्र का संकट सवके सामने है जो समाज हित की विरोधी प्रवृत्तियों में परिलक्षित होता रहता है।

ऐसे सुसंस्कारों को प्रभावपूर्ण वनाने के लिये वस्तुतः वर्तमान शिक्षा

कार्य का दायित्व गृहस्थ वर्ग को समझ कर ऐसी प्रचारक वर्ग की योजना को कार्यान्वित करना चाहिये । इसके लिए क्रान्तदृष्टा स्व. आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. ने 'वीर संघ' के नाम से पूरी योजना आज से ५०-६० वर्ष पूर्व ही रख दी थी । उसी का परिणाम कहा जा सकता है कि अनेक स्वाध्यायी संघ उभरे हैं । पर इस योजना का व्यापक स्वरूप अब तक उभर नहीं पाया है । अतः प्रबुद्ध जैन उपासकों को चाहिये कि वे इस दिशा में प्रयत्नशील बनें ।

प्रश्न–१८. आपने ढाई सौ से अधिक जैन साधु-साध्वियों को दीक्षित किया है,यह एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक योगदान है,पर आपकी प्रेरणा से कितने ऐसे समाजसेवी गृहस्थ तैयार हुए हैं जो अपने व्यवसाय से निवृत्त होकर पूर्णरूपेण समाज सेवा में लगे हों?

उत्तर—गृहस्थ वर्ग में समाज सेवा की वृत्ति का वर्तमान में अवश्य ही विशिष्ट विकास हुआ है । इतना ही नहीं, वह वृत्ति तुलनात्मक दृष्टि से अधिक व्यापक एवं अधिक सघन भी बनी है ।

इस निरन्तर विकासशील वृत्ति का परिचय समाज-सेवा की विभिन्न प्रवृत्तियों उनकी सफलता तथा उनमें कार्यरत गृहस्थ वर्ग के कार्यकर्त्ताओं की कर्मठता से पाया जा सकता है । उदाहरण के तौर पर समता प्रचार संघ के कार्य को लिया जा सकता है, जिसमें सैकड़ों की संख्या में गृहस्थ वर्ग के कार्यकर्त्ता विविध प्रकार की समाज-सेवा-प्रवृत्तियों में संलग्न हैं । जिन स्थानों पर संत-सतियां नहीं पहुंच पाते हैं, वहां इस संघ के सदस्य पहुंच कर उचित उद्बोधन देते हैं तथा लोगों को सत्कार्यों के लिये प्रेरित करते हैं । उनका यह कार्य समाज सेवा का महत्त्वपूर्ण कार्य माना जा सकता है तथा यह समता प्रचार संघ इस दिशा में अधिक सक्रिय दिखाई देता है ।

प्रश्न–१८. जैन समाज प्रमुखतः व्यवसायी वर्ग है । जैसे सरकारी कर्मचारी एक निश्चित आयु के बाद सेवा निवृत हो जाते हैं, क्या व्यवसायी वर्ग को भी इस प्रकार निवृत्त नहीं हो जाना चाहिये ? यदि हां, तो इस दिशा में आपकी क्या प्रेरणा रहती है ?

उत्तर—शास्त्रों में श्रावकों के जीवन क्रम का इस में उल्लेख आता है कि वे श्रावक अपने श्रावक व्रतों की मर्यादाओं का पालन करते हुए अपना व्यापार, व्यवसाय आदि किया करते थे और जब उन श्रावकों के पीछे उनकी सन्तान उनके व्यापार, व्यवसाय को सम्हालने में सक्षम हो जाती थी तब वे श्रावक अपने व्यवसाय आदि से निवृत्त होकर पूर्ण रूप से धर्म-ध्यान में ही अपना समय व्यतीत करना आरम्भ कर देते थे ।

इसी प्रकार वर्तमान में भी यदि व्यापारी-व्यवसायी वर्ग उपयुक्त सम

कर अपना काम-धन्धा अपनी योग्य सन्तान को सम्हला कर निवृत्त होने के लिये तैयारी कर लें तो वह स्वस्थ परम्परा का पालन होगा। निवृत्त होकर वे धर्म-ध्यान, समाज-सेवा आदि में अपना समय एवं अपनी शक्ति नियोजित कर सकते हैं। ऐसी भावना जगाने के लिये समय-समय पर उपदेश दिया जाता है तथा देते रहने की भावना रहती है। अनेक व्यक्ति सेवारत भी हैं, पर उनकी सेवाओं का पूर्ण उपयोग लेने के लिए संघ के जागरुक होने की भी आवश्यकता रहती है।

प्रश्न—२०. जैन समाज में अधिकांश महिलाएं कामकाजी न होकर सद्-गृहस्थ महिलाएं हैं, उन्हें अपने अवकाश का समय किन कार्यों में लगाना चाहिये ?

उत्तर—गृहस्थी में कर्मरत महिलाओं को गृहस्थ धर्म के कर्त्तव्यों को भली भांति समझना चाहिये। यह उनका प्राथमिक कर्त्तव्य भी है। उन्हें यह महसूस करना चाहिये कि जितनी जो कुछ पारिवारिक जिम्मेदारियां हैं, वे सिर्फ पति के ऊपर ही नहीं है। जहां पुरुष वर्ग अपनी जिम्मेदारियों को निभाता है, वहां महिला वर्ग को भी उन जिम्मेदारियों में अपना हिस्सा बंटाना चाहिये। महिला वर्ग घर के कामकाज में तो मुख्य रूप से हिस्सा लेता ही है लेकिन उसको यह सोचना भी कर्त्तव्योचित्त होगा कि वह किस प्रकार पुरुष वर्ग के व्यापार-व्यवसाय या अन्य कार्यों के भार को अपना योगदान देकर हल्का बना सकता है।

सद्गृहस्थ महिलाओं में यह विवेक भी जागना चाहिये कि वे पतियों के कामकाज पर अपनी दृष्टि भी रखें। यदि उस कामकाज में अनीति या भ्रष्टता घुसने लगे तो पत्नी वर्ग को हस्तक्षेप करके व्यापार, व्यवसाय आदि को नीतियुक्त बनाये रखने की प्रेरणा देनी चाहिये। पतियों को सत्पथ पर चलाते रहने का पत्नियों का नैतिक और धार्मिक कर्त्तव्य कहा गया है। वे अपना व्यवहार ऐसा सुचारू बनावें कि परिवार में समस्याएं उत्पन्न न हो और हों तो सहजता से सुलझ जांय। यों उनके लिये कार्यों की कमी नहीं है।

प्रश्न—२१. आज की शिक्षा में नैतिक एवं आध्यात्मिक संस्कारों का प्राव-धान नहीं है, आपकी दृष्टि में किस प्रकार शिक्षा पद्धति में सुधार अपेक्षित है ताकि नई पीढ़ी संस्कारित एवं चरित्रनिष्ठ बन सके ?

उत्तर—यह सही है कि देश की वर्तमान शिक्षा पद्धति में आध्यामिकता एवं नैतिकता के संस्कार नई पीढ़ी में प्रस्थापित करने हेतु कोई सीधे प्रावधान नहीं है और इसके कारण उत्पन्न नैतिकता एवं चारित्र का संकट सबके सामने है जो समाज हित की विरोधी प्रवृत्तियों में परिलक्षित होता रहता है।

ऐसे सुसंस्कारों को प्रभावपूर्ण बनाने के लिये वस्तुतः वर्तमान शिक्षा

पद्धति में सुधार से ही काम नहीं चलेगा। उसे पूर्ण सोद्देश्य एवं सार्थक बनाने के लिये नये ढांचे में ढालना होगा जो भारतीय संस्कृति के अनुरूप हो। जहां तक सुधारों का प्रश्न है, उसमें सकारात्मक नैतिक शिक्षण का प्रावधान किया जाना चाहिये जो आगे जाने पर स्वार्थी एवं भ्रष्ट मनोवृत्तियों पर सफल अंकुश लगा सके। ऐसे शिक्षण के लिये तदनुरूप योग्य शिक्षकों की भी आवश्यकता होगी। इसके लिये शिक्षा विभाग में ठोक बजा कर चारित्रशील एवं विद्वान व्यक्तियों को ही प्रवेश देना होगा।

ज्ञातव्य है कि नैतिक एवं आध्यात्मिक संस्कारों के अभाव में आज मानव जीवन की दशा प्राणहीन शरीर जैसी ही दिखाई देती है।

प्रश्न–२२: वैज्ञानिक दृष्टिकोण बड़ी तेजी से विकसित हो रहा है और रहन-सहन के तरीकों में बदलाव आ रहा है, ऐसी स्थिति में पारिवारिक श्रावकाचार तथा श्रमणाचार में आप क्या परिवर्तन आवश्यक समझते हैं ?

उत्तर—वैज्ञानिक प्रगति का प्रभाव दृष्टिकोण के निर्माण पर कम, किंतु रहन-सहन के बदलाव पर अवश्य ही ज्यादा पड़ रहा है, जिसके कारण एक दिशाहीन दौड़ आरम्भ हो गई है। जो पहले की सादगी भरी जीवन प्रणाली थी उसमें वैज्ञानिक सुख-सुविधाओं ने इतना अधिक स्थान घेर लिया है कि जीवन में से प्राकृतिक तत्त्वों का लोप सा होता चला जा रहा है। परिणामस्वरूप जीवन एक ओर भ्रान्तिमय, तो दूसरी ओर विकारमय हो रहा है।

आज चारों ओर आंख उठा कर देखें तो वैज्ञानिक साधनों की चकाचौंध में मानव अपने निजत्व तक को भुला बैठा है। आधुनिक सुख-सुविधाओं में रमकर उसने अपनी सांस्कृतिक जीवन-शैली को ही परिवर्तित कर डाला है एवं समग्र वातावरण को दूषित बना दिया है। विडम्बना तो यह है कि वह इस दूषित वातावरण को भी अपने और समाज के लिये हितावह मानकर चल रहा है जिसके कारण उसके विचार ही भ्रान्तिपूर्ण हो गये हैं। यह भ्रांति जीवन के सही ज्ञान के अभाव का परिणाम है और इसी कारण यह भ्रान्ति कई प्रकार के प्रदूषणों का हेतु भी बन गई है।

भ्रांत आधुनिकता के इस दलदल में फंस कर मानव कई तरह के मानसिक एवं शारीरिक रोगों की मार भी सह रहा है और आश्चर्य है कि इन रोगों के कारणों को भुगत कर भी समझ नहीं रहा है—उन कारणों से दूर हट जाने या उन्हें त्याग देने का विचार करना तो आगे की बात है। अभी तो वह इन सबका आदी हो रहा है और सारी पीड़ाएं भोग कर भी वैज्ञानिक सुविधाओं के दोषों से दूर हटने को तैयार नहीं हैं। यह अवश्य है कि जब भी उसे इस दूषितता का भलीभांति बोध हो जायगा, वह अपने जीवन को तब उधर से मोड़

लेगा। आवश्यकता है कि इस भ्रमित मानव को परिवर्तनकारी बोध का अवसर मिले, अतः इस दिशा में सामूहिक प्रयास किया जाना चाहिये।

अब आपकी श्रावकाचार एवं श्रमणाचार में परिवर्तन की बात लें। ये दोनों प्रकार के आचार शाश्वत आचार हैं जो सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं। विज्ञान की जो प्रगति स्वयं में दोषपूर्ण सिद्ध हो रही है तथा जनसमुदाय में नानाविध विकारों का प्रसार कर रही है, क्या उसी वैज्ञानिक प्रगति के लिये शाश्वत आचार पद्धति में परिवर्तन की बात सोची जाय? परिवर्तित तो उसे करें जो असत्य हो। सत्य को परिवर्तित करके उसे क्या बनाना चाहेंगे? अतः आवश्यकता है कि जनसमुदाय में स्व-विवेक को जागृत किया जाय उसमें धर्म एवं कर्त्तव्य की निष्ठा पैदा की जाय तथा आध्यात्मिकता से अन्तर्चेतना को आत्माभिमुखी बनाया जाय।

प्रश्न–२३. आज यातायात एवं दूर संचार माध्यमों के विकास के कारण जीवन में गतिशीलता बढ़ गई है, ऐसी स्थिति में क्या ध्यान-साधना व्यक्ति को स्थिर बना कर उसकी प्रगति में बाधक तो नहीं होती?

उत्तर—आज यातायात एवं दूर संचार माध्यमों के विकास के कारण जीवन में गतिशीलता बढ़ी है या कि चंचलता—इसका सही निर्णय निकालना होगा। गतिशीलता में मन इतना अस्थिर हो जाता है कि सामान्य से कार्य में भी सफल नहीं हो पाता है। अतः चंचलता मन की दुरावस्था का नाम है जो तेजी से भागने वाली इस व्यवस्था से उत्पन्न हुई है। ऐसी अस्थिरचित्तता में सामान्य मानव का ध्यान-साधना में केन्द्रस्थ होना आसान नहीं रहता।

किंतु यह भी एक सत्य है कि यदि कोई साधक दृढ़ता धारण कर ले तो कैसी भी जटिल परिस्थितियां क्यों न हों, वह ध्यान-साधना में सफलता प्राप्त कर सकता है। इसके लिये भौतिक इच्छाओं से ऊपर उठकर आध्यात्मिक क्षेत्र में रमण करना होता है। जब लगन निष्ठापूर्ण होती है तो स्थिरता को बना लेना आसान भी हो जाता है।

शास्त्रों में ऐसे एकनिष्ठ साधकों का उल्लेख तो है ही, किंतु मैं इस युग के एक तपस्वी मुनिराज का वृत्तान्त बताना चाहता हूं। वे मुनिराज सड़क के पास एक शान्त स्थान में ध्यान करके खड़े हुए थे। वे तो ध्यान में तल्लीन थे, पर उसी समय किसी उत्सव के प्रसंग से उग्र आवाजें करती हुई एक भीड़ बाजों गाजों के साथ उधर से निकली। वह निकल गई और उसके बाद जब उन मुनिराज ने अपना ध्यान समाप्त किया तब उनसे किसी ने उस भीड़ की अशांति के बारे में पूछा। वे आश्चर्य से उस पूछने वाले का मुंह ताकने लगे, क्योंकि वे समझे नहीं कि वह क्या पूछ रहा है। उन्होंने कहा—ध्यानस्थ अवस्था में मैंने तो

कोई ध्वनि सुनी ही नहीं, फिर अशान्ति कैसी ? ध्यान-साधना की ऐसी ए चित्तता भी होती है ।

अतः ध्यान-साधना आज के मानव की प्रगति में बाधक है अथवा आज की वैज्ञानिक, यातायात व दूरसंचार माध्यमों की प्रगति ध्यान-साधना में बाधक है–इस पर विचार तो आप ही करें । ध्यान-साधना की बाधाओं को दूर कर दें अथवा ध्यान-साधना में सुदृढ़ता उत्पन्न हो जाय तो मानव की वास्तविक प्रगति में चार चांद ही लगेंगे–बाधा का तो प्रश्न ही नहीं । क्योंकि ध्यान-साधना सर्वतो- मुखी प्रगति की वाहिका होती है ।

ध्यान-साधना को सुदृढ़ता के लिये जहां बाह्य वातावरण की शान्ति आवश्यक है, वहां उससे भी अधिक आन्तरिक विचारणा में शान्ति की आवश्य- कता होती है । आन्तरिक शान्ति आ जाय तो बाह्य शान्ति महत्त्वहीन सी हो जाती है । एक ध्यान साधक शरीर की भौतिक दौड़ से जरूर दूर हट जाता है, किन्तु आत्मा की आध्यात्मिक दौड़ में वह निश्चय ही आगे बढ़ जाता है । वास्त- विक प्रगति तो आत्मा की आध्यात्मिक दौड़ में आगे बढ़ना ही है ।

(२)

प्रश्नकर्त्ता : डॉ. सुभाष कोठारी

प्रश्न—१. आप आज समता दर्शन के व्याख्याता के रूप में बहुत चर्चित हैं, इस नये मौलिक दर्शन की प्रेरणा आपको कहां से मिली? यह आपकी अन्तःस्फूर्त प्रेरणा थी अथवा किसी अन्य पर आधारित ?

उत्तर—समता दर्शन की प्रेरणा ने मेरे अन्तःकरण में जन्म लिया। इसका आधार कहीं बाहर नहीं, मेरे भीतर ही था। यों निमित्त सहयोग मुझे मेरे स्व. आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. से प्राप्त हुआ। वे श्रमण संस्कृति के रक्षक एवं शान्त क्रान्ति के जन्मदाता थे। जब उनके मंगलमय स्वर्गारोहण के पश्चात् संघ नायकत्व का उत्तरायित्व मेरे कंधों पर आया तो मेरी अन्तर्चेतना की जाग्रति ने भी नवरूप धारण किया और भीतर ही भीतर विचार-मंथन होने लगा। समता दर्शन को मैं उसी मंथन का नवनीत कहूं तो समीचीन होगा। इस (आचार्य) रूप में उत्तरदायित्व बढ़ा तो मेरा समाज-सम्पर्क भी विस्तृत हुआ, अनुभव की सीमाएं व्यापक बनीं। उसके साथ-साथ मेरे चिन्तन-क्रम का अभिवृद्ध होना अनिवार्य ही था। जिज्ञासुओं के विविध प्रश्न भी सामने आने लगे तो देश व समाज की विभिन्न परिस्थितियां एवं समस्याएं भी सामने आईं, तब विचार-मंथन गहरा होने लगा। सर्व प्रकार की समस्याओं के समाधान के रूप में तब मेरा ध्यान समता, समभाव, समानता आदि पर केन्द्रित होने लगा। यही ध्यान बहुआयामी समता दर्शन का स्वरूप ग्रहण करने लगा। फिर तो निरन्तर विचार-विमर्श एवं चर्चा-समीक्षा से उस स्वरूप में निखार आता गया। इस समता दर्शन में केवलीभाषित परम समता के भाव ही समाविष्ट हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व से जोड़ते हुए सम्पूर्ण आत्म-समता पर अन्तिम रूप से बल दिया गया है।

मेरी मान्यता है कि जन, समुदाय में विचरण करने वाले साधुओं के समक्ष आपके द्वारा अपनी जिज्ञासाएं रखना तथा उनका श्रेयस्कर समाधान प्राप्त करना आप का अधिकार है। इसका दोनों पक्षों का लाभ मिलता है। मेरा अनुभव है कि प्रश्नोत्तरी के कार्यक्रम से मेरा अपना आत्म-संशोधन होता है तो गूढ़ विचारों का उद्‌भव भी। इसी प्रकिया से समता दर्शन का स्वरूप गढ़ा गया है जो मानव मात्र को कल्याण की दिशा में ले जाने के अतिरिक्त विश्व शान्ति स्थापित करने में भी समर्थ है। बीज रूप से इस दर्शन का निरन्तर विस्तार होता आ रहा है।

समता दर्शन के प्रति मेरा आत्म-विश्वास स्वयं की अन्तर्चेतना से ही

प्राप्त हुआ है, अन्य कोई आधार नहीं रहा। निमित्त रूप में केवली प्ररूपित धर्म एवं गुरुदेव के आशीर्वाद की तो विशिष्ट भूमिका है ही।

प्रश्न—२. आज साम्प्रदायिक विद्वेष चरम सीमा पर है जिससे प्रतिदिन जैनियों का विभाजन होता जा रहा है। आपकी सम्मति में क्या इसे रोकने के लिये कोई सार्थक प्रयास किया जा सकता है ?

उत्तर—आपका प्रश्न सद्भावना पूर्ण है, क्योंकि आप समाज की एकता स्थापित करने के पक्ष में है। आप इसके लिये कोई उपाय चाहते हैं तो आपको तनिक चिन्तन करना होगा कि क्या कार्य करने से और किन कार्यों को न करने से वांछि उपाय दृष्टिगत हो सकते हैं। इसकी रूप-रेखा ध्यान में लेकर प्रयास किया जाय तो वैसा प्रयास स्थिर भी होगा एवं फलदायी भी।

जैन समाज की सभी सम्प्रदायों की एकता का जहां तक प्रश्न है, उसे आरंभ करने का कोई न कोई एक विन्दु तो निर्धारित करना ही होगा, जहां से सबके चरण साथ-साथ आगे बढ़ें। मेरा मानना है कि वह विन्दु संवत्सरी का आयोजन हो सकता है अर्थात् सारी चर्चा-समीक्षा करके सभी लोग एक दिन पर एकमत हो जांय कि प्रतिवर्ष उस दिन समस्त जैन समाज एक साथ इस महापर्व को मनायेगा। इससे आरंभ हुई एकता भविष्य में अग्रगामी भी वन सकती है।

एक संवत्सरी के विषय पर पिछले कुछ वर्षों से काफी चर्चा चलती रही है और मैंने सदा ही अपनी यह भावना व्यक्त की है कि बिना किसी पूर्वाग्रह के सर्वानुभूति से संवत्सरी-आयोजन के लिये जो भी दिन निश्चित हो जायगा उसे मैं भी मान लूंगा। उसके लिये भी मेरी तैयारी रहेगी कि स्थानकवासी समाज के सभी घटक ही नहीं, स्थानकवासी एवं श्वेताम्वर मूर्तिपूजक समाज भी एक संवत्सरी का निर्धारण करलें। सारा जैन समाज संवत्सरी—आयोजन के सम्बन्ध में एकत्र हो तो एकता की दृष्टि से इसके लिये मेरी पूर्ण भावना एवं शुभकामना है। मैं तो भावना रखता हूं कि सम्पूर्ण मानव जाति की एकता बनाने का अवसर आज हमारे सबके सामने उपस्थित है और उस दिशा में हमारे प्रयास सार्थक वनें। एकता से सम्बन्धित प्रयासों में त्याग एवं पूर्ण सहयोग की तत्परता होनी ही चाहिये।

लेकिन एक तथ्य की ओर मैं सब को सावधानी दिलाना चाहूंगा। एक हाथ से ताली नहीं बजती और जब तक एकता की भावना सर्वत्र व्याप्त नहीं होती तव तक किसी योजना पर एकमत होना भी संभव नहीं बनता है। तद्हेतु जनमानस का निर्माण होना भी जरूरी है जिसके दबाव से एक संवत्सरी की मान्यता की ओर सवको झुकाया जा सके और किसी का हठाग्रह टिके नहीं। अव तक इस सम्वन्ध में जो प्रयास हुए वे इसी कारण विफल रहे हैं। सवकी तैयारी न होने से सफलता नहीं मिली। मेरी तो आज भी पूर्ववत् ही तैयारी है।

एक संवत्सरी के आयोजन के मंगलाचरण के रूप में समग्र जैन समाज का समाचरण बने तथा एकता सुदृढ़ हो—यही मेरी मंगल भावना है ।

प्रश्न–३. समाज में व्याप्त कुरीतियों यथा बाल विवाह, दहेज प्रथा, मृत्यु भोज आदि को दूर करने के लिये आपकी ओर से क्या प्रयास चल रहे हैं ?

उत्तर—हम साधु हैं तथा हमारी मर्यादाओं में रहकर ही हम किसी भी उद्देश्य के लिये प्रयास कर सकते हैं । जहां तक सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के प्रयासों का सम्बन्ध है, इस दिशा में हमारी मर्यादाओं के अनुरूप लम्बे समय से हमारे प्रयास चल रहे हैं ।

हम साधु मुख्यतः विचार-क्रान्ति के वाहक बन सकते हैं और जो लोग मेरे व्याख्यानों से परिचित हैं, वे जानते हैं कि पिछले कई वर्षों से मृत्यु-भोज, दहेज-प्रथा, बाल-विवाह जैसी अन्यान्य सामाजिक बुराइयों को त्यागने की प्रेरणा दी जाती रही है तथा महिलाओं और युवाओं को समझाया गया है कि वे इन कुरीतियों के प्रति स्वयं का त्याग समक्ष रख कर आदर्श रूप उपस्थित करें ।

निरन्तर दिये जाते रहे ऐसे उपदेश के प्रभाव से स्थान-स्थान पर संघों ने तथा व्यक्तियों ने मृत्युभोज करने के त्याग लिये हैं तथा चन्द ग्राम ही रह गये होंगे जो इस कुप्रथा को चिपकाये हुए हैं । वहां भी इतना अज्ञान नहीं रहा है तथा नई पीढ़ी के लोग जाग रहे हैं । दहेज-प्रथा एवं अन्य कुरीतियों को छोड़ने में भी युवावर्ग आगे आया है और वह समाज में क्रान्ति फैला रहा है ।

मैं मानता हूं कि इन कुरीतियों के विरुद्ध जो एक सामूहिक क्रान्ति जागनी चाहियें और इन्हें मूलतः मिटा दिया जाना चाहिये, वैसी परिस्थिति अभी तक उत्पन्न नहीं हो पाई है। इसका एक कारण यह है कि हमारे मर्यादापूर्ण प्रयासों को आगे बढ़ाने के लिये तथा उनकी निरन्तरता को बनाये रखने के लिये जिन सामाजिक संस्थाओं की निर्मिति होनी चाहिये तथा उनके तत्त्वावधान में युवावर्ग की टोलियां सोत्साह कार्यरत होनी चाहिये वैसे वातावरण एवं कार्य प्रणाली की रचना नहीं की गई है जो ग्रहस्थों का कर्त्तव्य है । प्रेरणा जगाने के बाद आन्दोलनात्मक प्रयास तो उन्हें ही करने होते हैं ।

इस अभाव के कारण ही यथार्थ में उत्पन्न हुआ विचार-क्रान्ति का स्वरूप भी सामान्य जनता की दृष्टि में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त नहीं हो पाता है । आज उसी विचार को तेजी से अमली जामा पहिनाने की जरूरत है ताकि व्यक्ति ही नहीं, परस्पर विचार-विमर्श करके गांवों-नगरों के पूरे के पूरे संघ ही इन कुरीतियों का परित्याग कर दें । जो अनुदार व्यक्ति इनके आड़े आवें, उन्हें भी प्रत्येक विधि से सहमत बनालें ।

कार्य प्रणाली का ऐसा ढंग बनाया जायगा तो सम्पूर्ण कुरीतियों के निवारण में भी सफलता प्राप्त हो सकेगी।

प्रश्न–४. साधु समाज की मुख्यतः आध्यात्मिक भूमिका होती है, इस दृष्टि से समाज में वैमनस्य को समाप्त करने, युवकों को धर्माभिमुख बनाने एवं खान-पान व रहन-सहन की विकृतियों को दूर करने में साधु-कर्त्तव्यों के विषय में आपके क्या विचार हैं?

उत्तर—साधु समाज का यह कर्त्तव्य मैं मानता हूं कि वे जन समुदाय को उनकी भांति-भांति की विकृतियों के विरुद्ध सचेत बनाते हुए इस प्रकार से शिक्षित करें कि अन्ततः वे आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर हो सकें।

इस दृष्टि से समाज में स्थान-स्थान पर फैले या फैलने वाले वैमनस्य के दुर्भाव साधु समाज के उपदेश से समाप्त हुए हैं और होते हैं। युवक भी निरन्तर जाग्रति की दिशा में आगे बढ़ते हुए धर्माचरण के मर्म को समझ-बूझ रहे हैं। खानपान, रहनसहन एवं सामान्य जीवन के शुद्धिकरण की अपेक्षा से भी महत्त्वपूर्ण कार्य समाज के विशाल क्षेत्र में स्थल-स्थल पर हो रहे हैं। इस विषय में मालवा के क्षेत्र में हो रहा कार्य उल्लेखनीय है। वहां पर धर्मपाल समाज की रचना हुई है तथा हजारों की संख्या में लोगों ने अपने खान-पान, रहन-सहन तथा समूचे जीवन क्रम को शुद्ध बनाने एवं शुद्ध बनाये रखने की प्रतिज्ञा ग्रहण की है। ऐसे लोगों की संख्या इस समय में अस्सी हजार से भी अधिक बताई जाती है। सन्तों के उपदेश एवं इन लोगों के हृदय परिवर्तन के बाद भी समाज के कर्मनिष्ठ व्यक्ति इनसे बराबर सम्पर्क साधे रखते हैं। इनके क्षेत्रों में पदयात्राएं करते रहते हैं तथा उनकी विभिन्न समस्याओं के समाधान में अपनी सहायता पहुंचाते रहते हैं। फलस्वरूप यह नव संस्कारित धर्मपाल समाज निरन्तर प्रगति पथ पर आगे बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार कई दिशाओं में शुभ प्रयास हो रहे हैं।

सन्त समुदाय तो अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहता है पर उसका संकलन करना तथा उसे सामान्य जन में प्रकट करते रहना यह गृहस्थ वर्ग का कर्त्तव्य है। सन्त तो अपनी स्थिति से कार्य करते हैं और उस कार्य को ग्रहस्थ वर्ग चाहें जितना आगे बढ़ा सकते हैं। ऊपर मैंने आपको धर्मपाल प्रवृत्ति का उल्लेख किया है. उसकी अपूर्व प्रगति में सभी वर्गों के कर्त्तव्यों के सुचारु निर्वहन का ही योगदान है।

ऐसा ही सभी प्रकार की विकृतियों को दूर करने में तथा आध्यात्मिक दिशा में गतिशील बनने में कर्त्तव्यों का निर्वहन होता रहे और उसमें पर्याप्त जन सहयोग मिलता रहे तो कोई कारण नहीं है कि सफलता की उपलब्धि न हो।

मैं समझता हूं इस विषय में मेरा विचार आपको स्पष्ट समझ में आ गया होगा।

प्रश्न—५. बहुत से युवक-युवतियां भावुक होकर दीक्षा ले लेते हैं, फिर दुःखी होते हैं। क्या आपके संघ में भी ऐसा प्रसंग आया? यदि हां, तो उस पर आपने क्या कदम उठाया?

उत्तर—सर्व प्रथम तो संघ की व्यवस्था ऐसी है कि अधिकांश युवक एवं युवतियां तो दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व सन्त एवं सती वर्ग के समक्ष रहकर दीक्षा एवं मुनिव्रत पालन सम्बन्धी समुचित तथा आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और दीक्षा के बाद में भी व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान की प्रगति के लिए भी संघ ने प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था कर रखी है।

इस प्रकार जब मुनिव्रत के सम्यक् पालन सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान एवं निष्ठा का विकास हो जाता है तो दीक्षा लेकर दुःखी होने जैसा प्रसंग आने की संभावना नहीं रहती है। कारण, दीक्षार्थी इस मूल तत्त्व को हृदयंगम कर लेता है कि उसकी आत्म-शान्ति किस आधार पर कायम हो सकेगी। आत्मिक भावों में स्थिरता आ जाने पर संयम के अनुपालन में भी स्थिरता आ जाती है। पूर्व प्रशिक्षण एवं पश्चात् का स्वस्थ वातावरण इस स्थिरता में पूरी तरह से सहायक होता है। यों दीक्षा ही हृदय-परिवर्त्तन पर आधारित होती है तथा यही परिवर्तन प्रबुद्ध संरक्षण में स्थायी होता जाता है। आत्म-सुख की आनन्दानुभूति इसकी प्रेरणा बनकर प्रवाहित होती रहती है।

वस्तुतः इस कारण जहां पर भी दीक्षार्थियों ने दीक्षा ग्रहण की है और दीक्षा देने का प्रसंग आया है, आपके प्रश्नानुसार प्रसंग बना हो, ऐसा नहीं लगता है। फिर भी यदि कहीं पर प्रकृति या व्यवहार सम्बन्धी कोई बात मेरे सामने आती है तो सम्बन्धियों को यथार्थ वस्तुस्थिति की दृष्टि से मैं समझा देता हूं।

प्रश्न—६. क्या आपने दीक्षार्थियों के लिये दीक्षा से पूर्व शिक्षण के लिये कोई केन्द्र या पाठ्यक्रम बना रखा है जहां वे संयमी जीवन के कठोर परीषहों की जानकारी प्राप्त कर अध्ययन कर सकें?

उत्तर—दीक्षा ग्रहण करने वाले भावुक वैरागी एवं वैरागिनों के लिये दीक्षा से पूर्व संयमी जीवन के कठोर परीषहों को समझने एवं उनकी जानकारी सहित अध्ययन करने के लिये संघ ने समुचित व्यवस्था कर रखी है। ऐसी व्यवस्था अन्यान्य स्थानों पर है तथा जिस व्यवस्था के अन्तर्गत अपने जीवन को पवित्र बनाने की अभिलाषा रखने वाली वे भावुक आत्माएं शिक्षा लेना चाहती हैं, वहां वे ऐसा कर सकती हैं। शिक्षा के साथ-साथ यथाक्रम एवं यथा समय परीक्षा ली जाने की भी व्यवस्था की हुई है। यह परीक्षा निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार भी होती है। परीक्षा प्रणाली से शिक्षार्थी यह समझता चला जाता है कि ज्ञान के क्षेत्र में वह किस रूप में विकास कर रहा है।

इसके सिवाय दीक्षार्थी सन्त एवं सती वर्ग के समक्ष रह कर भी व्यावहारिक रूप में उनके संयमाचरण से कठोर परीषहों की आदर्श जानकारी ले लेता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान उनके प्रशिक्षण को अधिक सुदृढ़ बना देता है।

प्रश्न—७, आप अपने वैरागी एवं वैरागिनों को शीघ्र ही दीक्षा देने मानस रखते हैं या उनकी गुणवत्ता को देखने के बाद आ मानस बनाते हैं ? यदि उनकी गुणवत्ता को देखने के मानस बनाते हैं तो क्या वह उनकी गुणवत्ता शैक्षणिक धार्मिक अथवा दोनों प्रकार की मानी जाती है ?

उत्तर—दीक्षार्थियों को शीघ्र ही दीक्षा दे देने की भावना मैं नहीं रखता प्रथमतः तो मैं उनकी मानसिकता को परखता रहता हूं तथा उनकी गुणव को जांचता रहता हूं तदनन्तर जिस दीक्षार्थी में उत्साहपूर्ण मानसिकता एवं गु वत्ता का अनुभव पाया जाता है, उसे ही दीक्षा देने का विचार करता हूं। ऐ दीक्षार्थियों को तब दीक्षा देने का प्रसंग आता है।

यों ऐसे प्रसंग भी मेरे सामने आये हैं जब दीक्षार्थी ही नहीं, दीक्षा अनुमति देने वाले उनके अभिभावक भी दीक्षा देने के लिये उतावले हो जाते तब मैंने भलीभांति समझाया है कि ऐसी ताकीदी मत करो, दीक्षा की पूर्व योग की प्राप्ति आवश्यक है। किसी दीक्षार्थी में वैसी योग्यता दिखाई दी है दीक्षार्थी एवं उसके अभिभावकों के अत्यन्त आग्रह पर दीक्षा देने का प्रसंग आया है।

प्रश्न—८. आज प्रचार-प्रसार का युग है और अनेक सम्प्रदाय इसके लि माईक आदि का उपयोग करने लगे हैं। क्या आप नहीं चाह कि जैन धर्म का प्रसार हो और आपके ज्ञान व उपदेश का सभी ल ले सकें आज ? आज जबकि सूर्य के प्रकाश से बैटरियां बनती हैं, उसमें तो जीव हिंसा नहीं होती फिर उसका प्रयोग आप क्यों नहीं करते ?

उत्तर—युग प्रचार-प्रसार का हो या आचार का, युग को देखकर स जीवन में उसकी मर्यादाओं का परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता है। कारण, यु परिवर्तित होता रहता है किन्तु जीवन के शाश्वत सिद्धान्त परिवर्तित नहीं होते युग को मानव के अनुसार चलना चाहिये—मानव युग के अनुसार परिवर्ति नहीं हो सकता है। मानव का सच्चा धर्म वही है जो वीतराग प्रभु के सिद्धा के अनुरूप होता है। आज के युग में तो निरा भौतिकवाद भी है और नास्तिक का बोलबाला भी हो रहा है तब क्या युग के अनुसार साधु भी भौतिकवादी एवं नास्तिक बन जाय ? इसका निर्णय आप ही करें।

सन्त जीवन का एक लक्ष्य होता है कि साधु आध्यात्मिक साधना के माध्यम से जीवन में पूर्ण चिन्तन-मनन के साथ आत्मिक विकास को साधे। उसका जीवन न प्रचार के लिये होता है और न प्रसार के लिए—वह तो मात्र आत्म-शुद्धि के लिये होता है। इस प्रकार आत्म-शुद्धि साधु-जीवन का प्रधान लक्ष्य है। जब

मी जीवन अंगीकार किया जाता है तो उसके अन्तर्गत पांच मूल महाव्रतों को कार करना होता हैं और उनका स्वस्थ रीति से पूर्ण पालन करना ही साधु ग्रहण करने वाली मुमुक्षु आत्मा का परम कर्त्तव्य बन जाता है। यह कर्त्तव्य लक्ष्योन्मुख रहना चाहिये ।

वास्तविक आत्म-शुद्धि के लक्ष्य के साथ पंच महाव्रतों का यथाज्ञा पालन ते हुए जितना प्रचार-प्रसार का कार्य किया जा सकता है, उसकी पूरी चेष्टा ती है । मर्यादा के भीतर रहते हुए जितना प्रचार-प्रसार किया जा सकता है, ीकत में वह तो हो ही रहा है । किन्तु महाव्रतों को भूल कर या उनके पालन शिथिलता बरतकर अथवा उनमें दोष लगाकर प्रचार-प्रसार करने की भावना धु जीवन में कदापि नहीं आनी चाहिये, क्योंकि सन्त जीवन का प्रधान लक्ष्य चार-प्रसार करना नहीं है, अपितु आत्म-शुद्धि करना है ।

वैसे एक सन्त आजीवन मौन साधना को साधकर भी आत्मशुद्धि के रूप अपनें जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त कर सकता है, उसके लिये प्रचार-प्रसार रना आवश्यक नहीं । आत्म-शुद्धि की दिशा में गतिशोल रहते हुए प्रचार-प्रसार कार्य में वह संलग्न होता है तो यह उसका अतिरिक्त उपकार है । किन्तु सके लिये वह जीव-हिंसा आदि में लगे और महाव्रत को भंग करे—यह कतई मीचीन नहीं । यह निश्चित है कि माईक आदि के प्रयोग से अनेकानेक जीवों की हिंसा होने की संभावना रहती है, बल्कि संभावना क्या, जीवहिंसा होती ही है । वैसे माईक के उपकरण तो निर्जीव होते हैं, परन्तु उनके उपयोग में आने वाली विद्युत् आदि के माध्यम से तेजस्काय के जीवों की हिंसा के साथ पृथ्वीकाय, वायुकाय एवं वनस्पतिकाय के जीवों की भी हिंसा होती है और किसी भी रूप में हिंसक प्रवृत्ति को अपनाने से साधु अपनी मर्यादा से तो डुलता ही है तथा महाव्रत (अहिंसा) का खंडन भी करता ही है, पर साथ ही वह अपने प्रधान लक्ष्य से भी दूर हट सकता है ।

यदि साधु माईक पर प्रवचन देने लग जायगा तो फिर माईक पर ही प्रवचन देने की उसकी आदत बन जायगी जिसके परिणामस्वरूप वह वहीं पर प्रवचन देने के लिये तैयार होगा जहां पर माईक उपलब्ध हो सकेगा । अन्य स्थलों पर वह प्रवचन देने से कतराने लगेगा, क्योंकि यह अभ्यास दोष उसमें पनप जायगा । जहां माईक नहीं मिलेगा, वहां प्रवचन नहीं दिया जायगा तो इसके फलस्वरूप आशा के विपरीत स्थिति होगी कि अधिकांश क्षेत्र प्रचार-प्रसार से वंचित रहने लगेंगे तथा वास्तव में प्रचार-प्रसार का कार्य घटकर, जनता की लाभ-प्राप्ति में कमी आ जायगी ।

किसी न किसी रूप में हिंसा के आधार पर चलने वाले वैज्ञानिक साधनों से यों भी जैन धर्म का सही प्रचार नहीं हो पायगा । धर्म के प्रति रुचि रखने

वाला विवेकशील युवक जब यह जानेगा कि माईक आदि के प्रयोग से जीव हिंसा होती है और साधु ऐसी हिंसक प्रवृत्ति करता है तो उसके मन में साधुत्व की गरिमामय छबि का लोप होने लगेगा । इस प्रकार महिमापूर्ण सन्त जीवन का अवमूल्यन होगा ।

आप सामान्य रूप से भी चिन्तन करें कि जब बादलों में चमकने वाली घर्षण से उत्पन्न बिजली भी भूमि पर गिरती है तो उससे भी छःकाय की हिंसा हो जाती है—मनुष्य, पशु तक उसकी चपेट में आ जाय तो मर जाते हैं और प्रयोग में ली जानी बिजली भी अन्ततः तो बिजली ही है । वह प्राकृतिक है और यह बिजलीघरों में बनाई जाती है । दोनों के स्वरूप में कोई खास अन्तर नहीं होता है—यह विज्ञान का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है । विद्युत्-प्रयोग में जीवहिंसा होती है या नहीं- यह प्रसंग मेरे सामने ही नहीं, बल्कि पूर्व के महापुरुषों के सामने भी आया था और उन्होंने भी इसमें हिंसा बताकर प्रयोग करना उचित नहीं समझा था । युगद्रष्टा आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. जब एक बार जयपुर में विराज रहे थे तब उनके सामने ऐसा प्रसंग आया--लोगों ने उनसे माईक प्रयोग का सविनय निवेदन किया किन्तु उन्होंने उसे उचित नहीं माना तथा माईक का प्रयोग नहीं किया । वही प्रयोग यदि अब किया जाता है तो क्या महाव्रत के उल्लंघन के साथ उन महापुरुषों के मार्ग दर्शन का भी उल्लंघन नहीं होगा । मैं उस समय उनके ही चरणों में वहां था । इससे स्पष्ट है कि साधु को माईक आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिये । किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट माना जाना चाहिये कि यदि माईक का प्रयोग किया जाता है तो फिर साधु का प्रधान लक्ष्य प्रचार-प्रसार ही बन जाता है । ऐसी दशा में आत्म-शुद्धि और अन्तर की खोज उसके लिये कठिन हो जायगी । इस रूप में प्रचार-प्रसार के ऐसे साधन साधु को उसके प्रधान लक्ष्य से दूर हटाने वाले हैं अर्थात् आत्मशुद्धि में बाधक हैं ।

समझिये कि प्रचार-प्रसार में सहायक नवीन साधनों का प्रयोग करना ही है तो उसके द्वारा सन्त जीवन को सकारात्मक प्रवृत्तियों से विमुख करना कतई उचित नहीं है—यह कार्य गृहस्थों का हो सकता है अथवा प्रचारक वर्ग का । वैसे प्रचारक प्रवास भी कर सकते हैं, प्रचार-प्रसार में साधन-प्रयोग भी कर सकते हैं क्योंकि वे खुले हैं, पर साधु तो अपनी व्रत-मर्यादा में बंधा हुआ होता है । उसे मर्यादाहीन बनाने का प्रयास कतई श्रेयस्कर नहीं ।

साधु जीवन एक प्रकार से प्रकाश स्तंभ होता है, अपनी ज्ञान की महिमा एवं आचरण की उच्चता के साथ । यदि वह उपदेश न भी दे तब भी उस आदर्श-जीवन से भव्य आत्माओं को प्रकाश प्राप्त होता है । उस प्रकाश से आंख मूंद कर माईक पर उपदेश दिलाने से कैसा प्रकाश फैलाने की अपेक्षा की जा[illegible] है ? इस प्रकाश के बिना क्या इस प्रकाश में वैसी उज्ज्वलता की आशा र[illegible]

जा सकती है ? ऐसी अवस्था में कौन चाहेगा कि साधु उपदेशक बन जाय पर साधु न रहे ? साधुत्व खोकर क्या कोई साधु प्रभावशाली उपदेशक बन भी सकता है ? मूल है साधुत्व, अतः मूल सुरक्षित और निर्दोष रहे वैसी कोई भी उपकारक प्रवृत्ति साधु कर सकता है, उसमें कोई मतभेद नहीं। सच्चे साधु के तो दर्शन ही प्रभावपूर्ण होते हैं क्योंकि उसका सारा उपदेश उसके आचरण में सजा-संवरा दिखाई देता है। क्या आप यह चाहेंगे कि पवित्र साधु जीवन को पतित बनाकर आप उपदेश-श्रवण की अपनी स्वार्थपूर्ति करें ? मैं समझता हूं, आप कभी ऐसा नहीं चाहेंगे। इसलिये आप जरा तटस्थ भाव से सोचिये कि मैं प्रचार-प्रसार के लिये अपनी मर्यादा को कैसे त्याग सकता हूं ?

आपके मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि आधुनिकता की दृष्टि से मनुष्य अपने में आवश्यक परिवर्तन क्यों न लावे ? सामान्य रूप से इसमें मेरा मतभेद नहीं है कि हम सब आधुनिक युग के अनुसार अपने जीवन में परिवर्तन लावें। लेकिन आधुनिक युग भी यह नहीं चाहता है कि माईक का प्रयोग करके ध्वनि-प्रदूषण को बढ़ावा दिया जाय। आधुनिक वैज्ञानिकों ने ही जांच करके यह निष्कर्ष निकाला है कि मनुष्य के कान जितनी आवाज को सुनकर सहन कर सकते हैं, माईक की आवाज उससे कई गुनी अधिक होती है जिससे कान के पर्दों को क्षति पहुंचती है। क्षतिग्रस्त होते-होते कान के पर्दे फट भी जाते हैं। ध्वनि-प्रदूषण से अन्य कई प्रकार के रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं जिनमें मस्तिष्क की विक्षिप्तता भी शामिल है। आप तो जानते हैं कि कई बार माईक प्रयोग न करने के सरकारी आदेश निकलते रहते हैं। एक ओर विज्ञान स्वयं एवं सरकारी-तंत्र माईक प्रयोग को घातक बता रहा है तो दूसरी ओर इसे धार्मिक प्रचार-प्रसार के लिये योग्य बताना कहां तक उचित है ? सरकार तो समय-समय पर जन सहयोग मांगती रहती है कि माईक के प्रयोग को रोक कर ध्वनि प्रदूषण के दुष्परिणामों से बचा जाय।

अतः वैसे साधनों के प्रयोग का क्यों आग्रह किया जाय जिससे साधु की मर्यादा भंग होती है तथा जिसके विरुद्ध वैज्ञानिकों के निष्कर्ष भी हैं ? यह प्रयोग सर्वदृष्ट्या हिंसाकारी है। हिंसा को साधु कभी नहीं अपना सकता क्योंकि वह तीनों करण और तीनों योगों से हिंसा का परित्याग करता है। यदि साधु को साधु रहना है और साधु कहलाना है तो वह माईक आदि का कभी भी प्रयोग नहीं कर सकता है। आत्म-शुद्धि का लक्ष्य उसके लिये सर्वोपरि है।

किसी के मन में यह प्रश्न भी उठ सकता है कि परोपकार के लिये हिंसा हो भी जाय तो उसका प्रायश्चित क्यों नहीं हो सकता ? मेरी सम्मति में यह संभव नहीं है। इसे एक स्थूल उदाहरण से समझें। एक व्यापारी यदि सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य सूची से किसी वस्तु का अधिक मूल्य किसी उपभोक्ता-ग्राहक से वसूल करता है तो उस पर एक अपराध बनता है और इसके लिये

अर्थदंड भी किया जाता है। ऐसा प्रावधान जनहित के लिये रखा गया है। यदि दंडित व्यापारी यह कहे कि मैंने अधिक वसूले गये मूल्य का धन जनहित-परोपकार में ही लगाया है अतः मुझ पर अपराध न लगाया जाय तो क्या सरकार उसे छोड़ देगी ? मर्यादा तोड़ने से अपराध बनता है, उससे साधे गये परोपकार से भी वह छूटता नहीं है। इस कारण परोपकार भी सही विधि से ही किया जाना न्याय-संगत माना जाता है। अब साधु मर्यादा भंग करने का अपराध करले और उसे परोपकार के संदर्भ में छुड़ाना चाहें तो क्या वह अपराध मुक्त हो सकेगा ? अतः मेरी स्पष्ट मान्यता है कि माईक आदि के प्रयोग से हिंसक प्रवृत्ति का भागीदार बनकर साधु आत्म-शुद्धि के अपने प्रधान लक्ष्य का सम्यक् रीति से अनुसरण नहीं कर सकता है—इस कारण संयमी जीवन के सिद्धान्तों को छोड़कर तथा उसकी मर्यादाओं को तोड़कर प्रचार-प्रसार में साधु को संलग्न नहीं बनना चाहिये।

जहां तक सूर्य-ऊर्जा से बैटरियां बनाने की बात कही गई है—ये कैसे बनती हैं तथा इनके बनने में हिंसा का कोई योग रहता है या नहीं, इस सम्बन्ध की मुझे कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं होने से इस विषय पर कोई विशेष कथन नहीं किया जा सकता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सूर्य की किरणों को संकुचित करने वाले विशेष कांच के नीचे यदि रूई आदि कोई शीघ्र ज्वलन-शील वस्तु रखी जाती है तो उससे अग्नि पैदा होती ही है—वैसी ही अग्नि जैसी कि आरणी आदि की लकड़ी के घर्षण से पैदा होती है। उस उत्पन्न अग्नि से रसोई आदि बनाने का काम हो सकता है। इस तरह से आग पैदा होती है तो तेजस्काय की जीवोत्पत्ति का प्रश्न सामने आता ही है। परन्तु विशेष जानकारी नहीं होने से इस विषय पर मैं विशेष कथन करना नहीं चाहूंगा।

प्रश्न—९. संघ के साधु,साध्वियों के लेख आदि प्रकाशित क्यों नहीं होते, जब कि इससे उनके ज्ञान, अध्ययन एवं योग्यता का सही मूल्यांकन होता है ?

उत्तर—संत-सती वर्ग के लेख आदि प्रकाशित होने में कई बातें सामने आती हैं। आरंभ में चाहे संत-सतियों का बौद्धिक विकास इन लेख आदि के प्रकाशन के माध्यम से हो सकता हो परन्तु आगे का उनका सर्वतोमुखी विकास इससे हो, यह कोई निश्चित नहीं है, क्योंकि यदि संत-सतियां इन लेख आदि के लिखने और उन्हें प्रकाशित करवाने में रम जाते हैं, तब आत्म-शुद्धि के लिये चिन्तन-मनन करना तथा नवीन तत्त्वों की शोध करना उनके लिये कुछ कठिन बन जाता है। वैसी मानसिकता में वे फिर साधु-मर्यादाओं का निर्वहन भी सुगमता पूर्वक नहीं कर पाते हैं। लेख आदि की तरफ अधिक रुचि बढ़ जाने पर प्रिंटिंग प्रेसों पर आने-जाने का दौर भी बढ़ जाता है तथा अन्य संलग्नताएं भी, जिनके कारण साधुचर्या की पालना अवश्य अवरोधित हो जाती है।

यदि इस प्रवृत्ति के पीछे योग्यता-वृद्धि का ही उद्देश्य है तो यह उद्देश्य इसी प्रवृत्ति से पूरा हो, यह आवश्यक नहीं। अन्य समीचीन प्रवृत्तियों से भी इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। उन प्रवृत्तियों के लिये मैं तत्पर रहता हूं। मेरी दृष्टि में साहित्य की चोरी वह कहला सकती है कि साधु कोई लेख लिखे और उसे किसी अन्य के नाम से छपवावे. अतः साधु इससे दूर ही रहे तो श्रेष्ठ है।

प्रश्न–१०. श्वेताम्बर परम्परा में जैन गृहस्थ विद्वानों की कमी से आप स्वयं परिचित हैं तो इस क्षेत्र में आपका क्या प्रयास रहा है? यह एक गंभीर समस्या है कि जैन विद्वानों एवं शिक्षाविदों को वह सम्मान प्रदान नहीं किया जाता जितना धनपतियों को किया जाता है, क्या इसके समाधान हेतु आपने कोई प्रयास किये हैं?

उत्तर—यह सही है कि श्वेताम्बर परम्परा में आगम शास्त्रों के मर्मज्ञ ज्ञाता–विद्वानों की आवश्यकता रहती है और इस आवश्यकता पूर्ति के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करने के भाव भी रहते हैं किन्तु श्रद्धानिष्ठ आगम-ज्ञाता विद्वान् उपलब्ध नहीं हो पा रहे हैं। इस दिशा में आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने भी पर्याप्त प्रयास किये हैं तथापि सुनने में यही आया है कि वांछित सफलता नहीं मिल पा रही है।

इस विषय में मैं मानता हूं कि पूर्ण प्रयत्न किया जाना अपेक्षित है। है। साथ ही समाज को भी अपने प्रयत्न अधिक तेज करने चाहिये।

प्रश्न–११. राष्ट्रीय स्तर पर आये दिन दिल दहलाने वाली घटनाएं घटती हैं, क्या वे घटनाएं आपको भी प्रभावित करती हैं? यदि हां तो उनके बारे में आप किस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं?

उत्तर—राष्ट्रीय धरातल पर दिल दहलाने वाली ऐसी घटनाएं जब कर्णगोचर होती हैं जिनका सम्बन्ध जनता की अहिंसा भावना एवं नैतिक प्रवृत्तियों को विकृत बनाने से होता है तो गहन चिन्तन उभरता है कि यदि इस प्रकार सामान्य जन समुदाय की जीवन-चर्या कठिनाइयों से जटिल बनती हुई विकारपूर्ण होती रही तो सारे राष्ट्र के स्वस्थ विकास का क्या भविष्य होगा?

जहां तक समुचित प्रतिक्रिया व्यक्त करने का सम्बन्ध है, वह यथायोग्य रीति से प्रवचनों का सम्बन्ध है, वह यथायोग्य रीति से प्रवचनों के माध्यम से, प्रश्नोत्तरों या चर्चा में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अवश्य अभिव्यक्त होती है ताकि संस्कार-क्रान्ति को बल मिले तथा जन समुदाय में सभी प्रकार की अनैतिकताओं से संघर्ष करने की प्रेरणा जागे। हमारी ओर से इसी प्रकार का प्रयत्न संभव हो सकता है।

प्रश्न—१२. आपको दीक्षा लिये ५० वर्ष बीत गये हैं। पहले वैरागी, फिर साधु, फिर युवाचार्य और अब आचार्य—इस बदलते परिवेश में आपको कैसा-कैसा अनुभव हुआ ?

उत्तर—मेरे हृदय में वैराग्य भाव जागृत हुआ उससे पहिले साधु जीवन के प्रति मेरी कोई रुचि नहीं थी। यही खयाल था कि व्यापार, धंधा या खेती आदि से जीवन-निर्वाह के योग्य बनना है, किन्तु संसार की विभिन्न क्रियाओं के बीच भी पतिक्रिया रूप भाव तो उभरते ही हैं। उनके पीछे अमुक परिस्थितियां भी रहती हैं।

अल्पायु में मेरे पिताश्री का देहावसान होगया। साथ ही विद्यालयी शिक्षा भी अवरूद्ध हो गई। मुझे ध्यान है कि उस समय की शिक्षा का सामान्य पाठ्यक्रम भी बड़ा प्रभावी था। उससे मन-मस्तिष्क के विकास में बड़ी सहायता मिलती थी। मेरा अनुभव है कि उससे भी मेरी बुद्धि का विकास हुआ, साहस की मात्रा में वृद्धि हुई तथा चिन्तन-मनन की अभिरुचि प्रखर बनी। मैंने एक बार छः आरों का वर्णन सुना। उसके पश्चात् भादसोड़ा से भदेसर घोड़े पर बैठकर जाते समय बीच के वनखंड में चिंतन उभरा कि आत्मा और परमात्मा क्या है? आत्मा की शक्ति कैसे बढ़ सकती है ? क्या परमात्मा का कहीं दर्शन भी हो सकता है ? आदि आदि। और इसी निरन्तर चिन्तन से मेरे हृदय में वैराग्य भाव का अंकुर प्रस्फुटित हुआ। उस समय मुझे परमात्मा की कल्पना भी होने लगी और अपनी भूलों की तरफ भी ध्यान जाने लगा। मैं अपनी आत्मालोचना में ज्यों-ज्यों डूबता गया, त्यों-त्यों मेरा वैराग्य भाव अधिकाधिक मुखर होने लगा।

मैंने विचार किया कि मैं अपनी माता के धार्मिक कृत्यों में भी बाधाएं डालता रहा हूं, क्यों नहीं उसका अनुसरण करके अपने जीवन को भी धार्मिक बना लूं ? इस प्रकार अनेकानेक बातें सोचता हुआ मैं रो पड़ा—और कई बार एकान्त में रोता ही रहता था। ऐसी ही अवस्था में एक बार मैं माताजी के पास पहुंचा। कंठ तो रूंधा हुआ था ही, प्रायश्चित के स्वर में बोलने लगा—माताजी, मैं कैसा हूं जो आपको साधु-सतियों के यहां जाने से टोकता हूं या सामायिक आदि धार्मिक क्रियाएं नहीं करने देता हूं ? यह मेरी बड़ी गलती है। किन्तु अब मैं आत्मा और परमात्मा पर सोचने लगा हूं, अब ऐसी गल्ती नहीं करूंगा। मैं स्वयं आपको सन्तों के पास ले जाऊंगा जो जीवन-सुधार की अच्छी-अच्छी शिक्षाएं देते हैं। मेरे मुख से ऐसे भाव सुनकर मेरी माता को आश्चर्य हुआ और आनन्द भी। उन्हें चिन्ता भी हुई कि कहीं मैं वैरागी तो नहीं हो गया हूं ! और सचमुच मेरी वह अवस्था वैरागी की ही हो गई थी और मन ही मन मैंने साधु बनने की ठान ली थी।

मन में सदा परमात्मा का चिन्तन चलता रहता था और बाहर योग्य

की खोज में घूमता रहता था । मैं एक साधु के पास जाता, उनसे शिक्षा
ण करता और जब मुझे योग्यतर साधु के दर्शन होते तो मैं उनके पास चला
ता । इस प्रकार कई साधुओं के समीप रहने का मुझे अनुभव मिला, परन्तु
ी तरह से आत्म-सन्तुष्टि नहीं मिली । घर पर मेरा मन बिल्कुल नहीं लगता
और इसी धुन में इधर-उधर घूमता फिरता था । इसी क्रम में मैंने आचार्य
वाहरलालजी म. सा. के विषय में सुना कि वे खादी पहिनते हैं तथा भावप्रवण
वचन दिया करते हैं । मेरे मन को लगा कि जिनकी मुझे अब तक खोज थी
मुझे मिल गये हैं । उस समय मेरा चिन्तन उभरा—अब तक कई साधुओं के
स गया, मुझे बड़ा आदर उन्होंने दिया और दीक्षा का आग्रह किया परन्तु वहां
ात्म-शुद्धि हेतु मुझे उचित वातावरण नहीं लगा । मेरे मन में आदर या पद की लालसा
तई नहीं थी, आत्म-शुद्धि का भाव ही सर्वोपरि था । आचार्य श्री जवाहर के दर्शन तो
स समय मैं नहीं कर पाया पर उन्हीं के संत युवाचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा.
स समय कोटा विराज रहे थे, दर्शन किये । मैंने महाराज सा. के सामने अपनी
ीक्षा लेने की भावना व्यक्त कर दी । युवाचार्य श्री ने फरमाया—यह तुम्हारी भावना
च्छी है परन्तु दीक्षा से पूर्व तुम्हें समुचित अध्ययन करना होगा । इसके सिवाय
ीक्षा के लिये न उन्होंने मुझे कोई प्रलोभन दिया और न ही कोई ऐसी-वैसी
ात कही । मैं उनके भव्य व्यक्तित्व के प्रति आकृष्ट हो गया और उनके समीप
अध्ययन करने लगा । इस बीच घर वाले वहां आ गये और बलात् मुझे घर लेकर
चले गये । मैं फिर भाग आता, फिर वे मुझे ले जाते—इस तरह प्रसंग बनता
रहा । उस समय मैंने सुना कि आचार्य जवाहरलालजी म. सा. केवल दूध छाछ
पर ही अपना निर्वाह कर रहे हैं तो मेरा भी विचार बना कि मैं केवल जल पर
ही निर्वाह करूं । इस विचार से मैं अन्न की मात्रा कम करता गया—आधी और
पाव रोटी तक पहुंच गया । तब गुरुदेव ने फरमाया—आचार्य श्री को तो शक्कर
की बीमारी है इस वास्ते अन्न नहीं लेते हैं, परन्तु तुम्हें तो आत्म-शुद्धि हेतु जीवन
चलाना है । आहार नहीं करोगे तो शरीर दुर्बल हो जायगा और संयम का पालन
कठिन । इस मनुष्य जीवन को यों व्यर्थ थोड़े ही करना है । वह बात मैंने स्वी-
कार करली और वापिस धीरे-धीरे आहार की वृद्धि की—आत्म-शुद्धि का प्रश्न
मेरे अन्तर्मन में समाया हुआ था ।

एक विचित्र प्रसंग भी बना । मेरे वैराग्य भाव को समाप्त करने के
लिये मेरे भाई साहब ने कोई तांत्रिक प्रयोग भी किया । मैं विचारमग्न वैसे ही
लेटा हुआ था कि भाई सा. आये और मुझे नींद में सोया हुआ जानकर मुझ पर
राख (भभूत) छिड़कते हुए कुछ टोटका करने लगे । मैंने उठकर साफ कह दिया
कि मुझे दीक्षा लेनी है और आप उसके लिये सहर्ष आज्ञा दे दीजिये । फिर भी
उन्होंने कई तरह के प्रयास किये कि मैं दीक्षा न लूं, पर हार थक कर उन्होंने
मुझे आज्ञा दे दी और मैंने स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. के चरणों
में दीक्षा अंगीकार कर ली । मैं साधु बन गया । दीक्षा के समय गुरुदेव ने मुझे

यह शिक्षा दी थी कि तुम्हें जितने भी सच्चे साधु और योग्य श्रावक मिलें—सबसे यही कहना—मेरे में कोई त्रुटि दिखाई दे तो उसे कृपा करके मुझे अवश्य बतावें। कोई त्रुटि बतावे तो उस पर गुस्सा कभी मत करना एवं संशोधन यथार्थ हो तो उसे सविनय स्वीकार कर लेना। मैंने गुरुदेव की इस शिक्षा को विनयपूर्वक हृदय में धारण की है और इसको सदा याद रखता हूं—चाहे मैं युवाचार्य हुआ या आचार्य समाज और संघ के उत्तरदायित्व का वहन करते हुए भी यह शिक्षा मेरे लिये पूर्ण उपयोगी सिद्ध हुई है। तब मैंने गुरुदेव को और संघ को स्पष्ट निवेदन किया था कि आप यह पद किसी अधिक योग्य साधु को देवें—मेरी इसके लिये इच्छा नहीं है। परन्तु जब किसी ने मेरा निवेदन नहीं सुना तो मुझे यह दायित्व लेना ही पड़ा।

और आज मैं आपके समक्ष हूं इस बीच कई प्रकार के अनुभव हुए पर उनको अभी बताने का समय नहीं है। अब तक मेरा विशिष्ट अनुभव यही समझिये कि मैं आत्म-शुद्धि के नये-नये प्रयोग खोजता रहा हूं और यथासम्भव उन्हें प्रकट भी करता रहा हूं। उनमें प्राप्त सफलता के विषय में मेरा यही कहना है कि अभी तक मैं पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं हूं।

आपसे यही अपील है कि आत्म-शुद्धि एवं शान्ति के जो उपाय मैं बताऊं उन में आप आवश्यक संशोधन सुझावें। मेरा यही चिन्तन चलता है कि संयम मर्यादा में रहकर वैज्ञानिक विधि से भी प्रयोगों को साधकर आत्म-शुद्धि एवं शान्ति के लिये नये-नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर सकूं। और यही नम्र प्रयास आज भी चलता रहता है।

—शोध अधिकारी आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर

आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म.सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	:	टोडा रायसिंह (राजस्थान)
पिता	:	श्री रतनचन्दजी चपलोत
माता	:	श्रीमती मोतीयादेवी
दीक्षा स्थल	:	बूंदी (राजस्थान)
दीक्षा तिथि	:	मार्गशीर्ष अष्टमी वि.सं. १८७९
गुरुजी	:	पूज्य श्री लालचन्दजी म.सा.
स्वर्गवास स्थान	:	जावद (मध्यप्रदेश)
स्वर्गवास तिथि	:	वैशाख शुक्ला पंचमी वि.सं. १९१७

❀ संयमीय साधना की गहराईयों में उतरकर आत्म-कल्याण के साथ परात्म कल्याण के लिये जिन्होंने ज्ञान सम्मत विशिष्ट क्रिया का शंखनाद किया था।

❀ तत्कालीन युग में निर्ग्रन्थ संस्कृति में व्याप्त संयम शैथिल्य की उपेक्षा कर आत्म-शक्ति जागृत करने के लिये जिन्होंने संयमीय क्रियाओं का विशिष्टता के साथ अनुपालन कर साधु समाज के समक्ष एक आदर्श उपस्थित किया था।

❀ भयंकर से भयंकर शीत ऋतु में भी एक ही चादर को ओढ़कर जो आत्म-साधना में तल्लीन रहते थे।

❀ २१ वर्ष तक जिन्होंने बेले-२ की तप साधना की थी। जिन्होंने १८ द्रव्यों से अधिक द्रव्य का, मिष्ठान्न एवं तली चीजों का यावत्-जीवन परित्याग कर दिया था।

❀ प्रतिदिन दो हजार शक्रस्तव एवं दो हजार गाथाओं का परावर्तन जिनके जीवन का अंग था।

❀ जिनका जीवन अनेकानेक चमत्कारिक घटनाओं से सम्बद्ध था।

❀ ऐसे थे ज्ञात सम्मत क्रियोद्धारक साधु मार्ग परम्परा के आसन उपकारी आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म.सा.

आचार्यश्री शिवलालजी म.सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	:	धामनिया (मध्यप्रदेश)
दीक्षा स्थान	:	बूंदी (राजस्थान)
दीक्षा तिथि	:	वि.सं. १८६१ पौष शुक्ला षष्ठी
युवाचार्य पद स्थान	:	बीकानेर
युवाचार्य पद तिथि	:	वि.सं. १६०७
आचार्य पद स्थान	:	जावद (मध्यप्रदेश)
आचार्य पद तिथि	:	वि.सं. १६१७
स्वर्गवास स्थान	:	जावद (मध्यप्रदेश)
स्वर्गवास तिथि	:	वि.सं. १६३३ पौषशुक्ला षष्ठी

❀ संसार की असारता एवं मुक्ति के अक्षय सुख के स्वरूप को समझकर जिन्होंने उत्कृष्ट भावों के साथ संयमीय साधना में प्रवेश किया था।

❀ अपनी प्रखर प्रतिभा के बल पर जिन्होंने विद्वत समाज में जोरदार प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।

❀ जिज्ञासुओं की जिज्ञासा का सटीक समाधान देकर उन्हें संतुष्ट करने में जो समर्थ थे।

❀ जिनका शक्ति रस से परिपूर्ण जीवन-स्पर्शी उपदेश जन-जन की आत्मा को झंकृत करने वाला था।

❀ ३५ वर्ष तक निरन्तर एकान्तर की तपस्या करके जिन्होंने विद्वता के साथ ही तपस्या में भी एक कीर्तिमान स्थापित किया था।

❀ जिनकी स्वाध्याय के प्रति गहरी रुचि, आचार एवं विचार के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं जिनवाणी पर अगाध श्रद्धा थी।

❀ ऐसे थे प्रखर प्रतिभा सम्पन्न महान् शिवपथानुयायी आचार्य श्री शिवलालजी म.सा.

आचार्य श्री उदयसागरजी म.सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थल	:	जोधपुर (राज.)
जन्म तिथि	:	वि.सं. १८७६ पौष मास
पिता	:	श्री नथमलजी खिवेसरा
माता	:	श्रीमती जीवूदेवी
दीक्षा स्थान	:	बूंदी (राजस्थान)
दीक्षा तिथि	:	वि.सं. १८९८ चैत्र शुक्ला एकादशी
स्वर्गवास स्थान	:	रतलाम
स्वर्गवास तिथि	:	वि.सं. १९५४ माघ शुक्ला दशमी

❋ भोग से योग की ओर मुड़कर अर्थात् शादी से सन्यास की ओर मुड़कर जिन्होंने जनता के समक्ष एक विशिष्ट आदर्श उपस्थित किया था।

❋ संयमीय साधना के साथ ही जिन्होंने सम्यक् ज्ञान के क्षेत्र में भी विशिष्ट योग्यता प्राप्त की थी।

❋ शासन का संचालन जिन्होंने विशिष्ट योग्यता के साथ सम्पन्न किया था।

❋ आचार्य पद के विशिष्ट गरिमामय पद पर रहकर भी जिनमें विनम्रता शालीनता आदि के विशिष्ट गुण थे।

❋ जिनकी उत्कृष्ट संयम साधना से उनका शिष्य वर्ग भी तदनुरूप आराधना में गतिशील रहा।

❋ जिनशासन नभ में उदित होकर जिन्होंने अज्ञान तिमिर का निवारण किया था।

❋ ऐसे थे विरक्तों के आदर्श आचार्य श्री उदयसागरजी म.सा.।

आचार्य श्री चौथमलजी म. सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	:	पाली (राजस्थान)
दीक्षा स्थल	:	बूंदी (राजस्थान)
दीक्षा तिथि	:	वि.सं. १६०६ चैत्र शुक्ला द्वादशी
युवाचार्य पद तिथि	:	वि.सं. १६५४ मार्गशीर्ष शुक्ला त्रयोदशी
आचार्य पद स्थान	:	रतलाम (मध्यप्रदेश)
आचार्य पद तिथि	:	वि.सं. १६५४ माघशुक्ला दशमी
स्वर्गवास स्थान	:	रतलाम (मध्यप्रदेश)
स्वर्गवास तिथि	:	वि.सं. १६५७ कार्तिक शुक्ला नवमी

❀ संसार से उद्विग्न होकर शाश्वत् सुख की पिपासा को शान्त करने के लिये जिन्होंने जैनेश्वरी दीक्षा स्वीकार की थी। सम्यक् ज्ञान के साथ संयमीय आचरण में जो विशेष रूप से सतर्क थे।

❀ संयम शैथिल्य में जो वज्रादपि कठोराणि-वज्र से भी कठोर थे तो संयम-साधना में मृदुनि कुसुमादपि फूल से भी कोमल थे जिनके सम्यक् आचरण का प्रत्येक चरण साधना के लिये प्रेरणा स्रोत रहा है।

❀ ऐसे थे महान् क्रियावान् संयम के सशक्त पालक आचार्य श्री चौथमलजी म.सा.।

आचार्य श्री श्रीलालजी म. सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	:	टौंक (राजस्थान)
जन्म तिथि	:	वि.सं. १९२६ मार्गशीर्ष द्वादशी
पिता	:	श्री चुन्नीलालजी बम्ब
माता	:	श्रीमती चांदकुंवर बाई
दीक्षा स्थान	:	बनेड़ा (राजस्थान)
दीक्षा तिथि	:	वि.सं. १९४४ पौष कृष्णा सप्तमी
युवाचार्य पद स्थान	:	रतलाम (मध्यप्रदेश)
युवाचार्य पद तिथि	:	वि.सं. १९५७ कार्तिक शुक्ला द्वितीया
आचार्य पद स्थान	:	रतलाम (मध्यप्रदेश)
आचार्य पद तिथि	:	वि.सं. १९५७ कार्तिक शुक्ला नवमी
स्वर्गवास स्थान	:	जेतारण (राजस्थान)
स्वर्गवास तिथि	:	वि.सं. १९७७ आषाढ़ शुक्ला तृतीया

❀ होनहार विरवान के होत चीकने पात और श्री के लाडले लाल ।

❀ विलक्षण बाल क्रीड़ा तथा टोकरी पर चिंतन प्रवाह ।

❀ वैराग्य का वेग अवरोध मोचक ।

❀ दीक्षा प्रभाव की अतिशयता एवं आचार्य पदारोहण ।

❀ एक-एक चातुर्मास भी धर्मोपकार का इतिहास ।

❀ जन्मभूमि में स्मरणीय चातुर्मास ।

❀ मरुभूमि मेवाड़ एवं मालवा धरा पर धर्मानंद की लहर ।

❀ राजाओं व जागीरदारों की भक्ति तथा सफल जीवदया अभियान ।

❀ ब्यावर में एक साथ पांच दीक्षा ।

❀ सौराष्ट्र के दीर्घ प्रवास में अपूर्व त्याग, तप व परोपकार ।

❀ शतावधानीजी महाराज की दृष्टि में आचार्यश्री का व्यक्तित्व ।

❀ पूज्यश्री के पक्के मुस्लिम भक्त मौलवी सैयद आसद अली ।

❀ सम्प्रदाय की सुव्यवस्था एवं आत्मशक्ति का प्रयोग ।

❀ थलियों की जलती रेत पर अमृत की वर्षा ।

❀ जयपुर चातुर्मास से अभिनव अहिंसा प्रचार : राजवंशियों ने सत्संग करने में होड़ लगा दी ।

❀ युवाचार्य पदारोहण महोत्सव एवं अपूर्व सम्मेलन ।

❀ जैन गुरुकुल की स्थापना । ❀ शरीर पिंड से विदाई ।

❀ श्रीजी के प्रति व्यक्त भावभीने उद्‌गार ।

❀ महान् सद्‌गुणों से अलंकृत एवं अति विशिष्ट व्यक्तित्व ।

आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	:	थांदला (मध्यप्रदेश)
जन्म तिथि	:	वि.सं. १९३२ कार्तिक शुक्ला चतुर्थी
पिता	:	श्री जीवराजजी कवाड़
माता	:	श्रीमती नाथीवाई
दीक्षा स्थान	:	लिमड़ी (म.प्र.)
दीक्षा तिथि	:	वि.सं. १९४८ माघशुक्ला द्वितीया
युवाचार्य पद स्थान	:	रतलाम (मध्यप्रदेश)
युवाचार्य तिथि	:	वि.सं. १९७६ चैत्र कृष्णा नवमी
आचार्य पद स्थान	:	जैतारण (राजस्थान)
आचार्य पद तिथि	:	वि.सं. १९७६ आषाढ़ शुक्ला तृतीया
स्वर्गवास स्थान	:	भीनासर (राज.)
स्वर्गवास तिथि	:	वि.सं. २००० आषाढ़ शुक्ला अष्टमी

❁ विपत्तियों की तमिस्र गुफाओं को पार कर जिसने संयम-साधना का राजमार्ग स्वीकार किया था ।

❁ ज्ञानार्जन की अतृप्त लालसा ने जिनके भीतर ज्ञान का अभिनव आलोक निरन्तर अभिवर्द्धित किया ।

❁ संयमीय साधना के साथ वैचारिक क्रांति का शंखनाद बजाकर जिसने भू-मण्डल को चमत्कृत कर दिया ।

❁ उत्सूत्र सिद्धांतों का उन्मूलन करने, आगम सम्मत सिद्धांतों की प्रतिष्ठापना करने के लिये जिसने वाद-विवाद में विजयश्री प्राप्त की ।

❁ परतन्त्र भारत को स्वतन्त्र बनाने के लिये जिसने गांव-गांव नगर पाद विहार कर अपने तेजस्वी प्रवचनों द्वारा जन-जन के मन को जागृत किया ।

❁ शुद्ध खादी के परिवेश में खादी अभियान चलाकर जिसने जन-मानस में खादी धारण करने की भावना उत्पन्न कर दी ।

❁ अल्पारम्भ-महारम्भ जैसी अनेकों पेचीदी समस्याओं का जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आगम सम्मत सचोट समाधान प्रस्तुत किया ।

❁ स्थानकवासी समाज के लिये जिसने अजमेर सम्मेलन में गहरे चिन्तन मनन के साथ प्रभावशाली योजना प्रस्तुत की ।

❁ महात्मागांधी, विनोबा भावे, लोकमान्य तिलक, सरदार वल्लभभाई पटेल, पं. श्री जवाहरलाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओं ने जिनके सचोट प्रवचनों का समय-समय पर लाभ उठाया ।

❁ जैन एवं जैनेतर समाज जिसे श्रद्धा से अपना पूजनीय स्वीकर करती थीं ।

❁ सत्य सिद्धांतों की सुरक्षा के लिये जो निडरता एवं निर्भीकता के साथ भू-मण्डल पर विचरण करते थे ।

❁ वे हैं ज्योतिर्धर, क्रांतद्रष्टा, युगपुरुष स्वर्गीय आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	:	उदयपुर (राज.)
जन्म तिथि	:	वि.सं. १९४७ श्रावण कृष्णा तृतीया
पिता	:	श्री साहबलालजी मारू
माता	:	श्रीमती इन्द्रादेवी
दीक्षा स्थान	:	उदयपुर (राज.)
दीक्षा तिथि	:	वि.सं १९६२ मार्गशीर्ष कृष्णा एकम
युवाचार्य पद स्थान	:	जावद (मध्यप्रदेश)
युवाचार्य पद तिथि	:	वि.सं. १९९० फाल्गुन शुक्ला तृतीया
आचार्य पद स्थान	:	भीनासर (राजस्थान)
आचार्य पद तिथि	:	वि.सं. २००० आषाढ़ शुक्ला अष्टमी
स्वर्गवास स्थान	:	उदयपुर (राजस्थान)
स्वर्गवास तिथि	:	वि.सं. २०१९ माघ कृष्णा द्वितीया

❀ विनय विवेक-विनम्रता जिनके रग-रग में समाहित थीं ।

❀ जिनको समूह नहीं, संयम प्रिय था ।

❀ संयमीय साधना से अनुस्यूत जो, सिंहों के समक्ष भी निर्भय निर्द्वन्द्व विचरण करते थे ।

❀ जिनकी कुशल वाग्मिता जन-जन के मन को प्रभावित किये बिना नहीं रहती ।

❀ जिनके गीतों की सुमधुर झंकृति मन के अन्तस्तल को छू जाती थी ।

❀ प्रायः स्थानकवासी समाज के जो एकमात्र सर्वसता सम्पन्न अनुशास्ता बनाए गए थे ।

❀ जिन्होंने अपनी संयमीय आन-बान और शान की रक्षा के लिये बहुत बड़े पद की कुर्बानी दे दी ।

❀ कैंसर जैसी भयंकर बीमारी में ही जिसने उफ तक नहीं किया था ।

❀ बड़े-बड़े साधु सम्मेलनों का भी जिन्होंने कुशलता के साथ संचालन किया ।

❀ अपने नाम के अनुसार ही जो एक गण से दो गणों के, दो से बहुत गणों के ईशस्वामी बने थे ।

❀ पूर्ण सजगता की स्थिति में संलेखना संथारा कर जिन्होंने समाधि पूर्वक देहोत्सर्ग किया था ।

❀ ऐसे थे, हुक्म गच्छ के सप्तम पट्ट शाँतक्रांति के जन्मदाता आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. ।

आचार्य श्री नानालालजी म. सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	:	दांता जि० चित्तौड़गढ़ (राज.)
जन्म तिथि	:	वि.सं. १९७७ ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया
पिता	:	श्री मोड़ीलालजी पोखरना
माता	:	श्रीमती शृंगारबाई
दीक्षा तिथि	:	वि.सं. १९९६ पौष शुक्ला अष्टमी
दीक्षा स्थान	:	कपासन (राज.)
युवाचार्य पद स्थान	:	उदयपुर (राज.)
युवाचार्य पद तिथि	:	वि.सं. २०१९ आश्विन शुक्ला द्वितीया
आचार्य पद स्थान	:	उदयपुर (राज.)
आचार्य पद तिथि	:	वि.सं. २०१९ माघकृष्णा द्वितीया

❀ साधना की पगडंडी पर जो अविचल रूप से निर्भयता के साथ चलते रहे।

❀ श्रमण संस्कृति की अक्षुण्य सुरक्षा के लिये जो अनेक तूफानों एवं झंझावातों के बीच भी हिमानी की तरह अडिग बने रहे।

❀ गुरु चरणों में सर्वतोभावेन समर्पित होकर जो आत्मिक-मशाल को निरन्त[illegible] प्रज्वलित करते रहे।

❀ चिन्तन की गहराइयों से निसृत समता-सुधा द्वारा जो, विषमता से विषा[illegible] विश्व को आप्लावित कर रहे हैं।

❀ दलित-पतित, शोषित- उत्पीड़ित निम्न समझे जाने वाले जनसमूह को जिस[illegible] अपने पावन पूत जीवन से संस्कारित कर धर्मपाल की संज्ञा से अभिव्यंजि[illegible] किया है।

❀ जैन समाज की भावनात्मक एकता के लिये जो अपने महत्त्वपूर्ण चिंतन के स[illegible] सदा तत्पर है।

❀ मानवों के मानसिक तनाव की उपशांति के साथ आत्मिक शांति जागृत क[illegible] के लिये जिसने आगम सम्मत समीक्षण ध्यान साधना का अभिनव प्र[illegible] जनता के समक्ष प्रस्तुत किया है।

❀ जटिल से जटिल प्रश्नों का समाधान जो अपनी प्रखर-प्रतिभा से सहजता के साथ आगमिक वैज्ञानिक तार्किक एवं व्यवहारिक तरीके से पूर्ण सन्तोष पद प्रस्तुत करते हैं।

❀ जिनके प्रवचन आगमिक विवेचना के साथ ही विश्व की तात्कालीन समस्याओं का सचोट समाधान प्रस्तुत करते हैं।

❀ एक साथ २५ दीक्षाएं देकर जिसने ५०० वर्ष पूर्व के इतिहास को पुनः तरो-ताजा कर दिया है।

❀ जिनके जीवन का नैसर्गिक चमत्कारिक प्रभाव आधिव्याधि और उपाधि से संतप्त जीवन में शांति का वर्षण करता है।

❀ भारत के कोने-कोने में विस्तृत इस विशाल संघ का जो कुशल संचालन कर रहे हैं।

❀ पंचमाचार्य श्री श्रीलालजी म.सा. की भविष्य घोषणा वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में सत्यता की कसौटी पर कसी जाती हुई जिनके जीवन से प्रदीप्त हो रही है।

❀ ऐसे युग-पुरुष है समता विभूति, विद्वद्व शिरोमणि, जिनशासन प्रद्योतक, धर्म-पाल प्रतिबोधक, समीक्षण ध्यान योगी, हुक्म गच्छ के अष्टम पाट सुशोभित हमारे चरित्र नायक आचार्य श्री नानेश।

शुचि शान्ति प्रचेता

हुक्म संघ क्षितिज के अभिनव अधिनेता हो,
परिपूर्ण संयममय इन्द्रिय विजेता हो ।
तुमसा अपूर्व इस भूतल पर तुम्हीं हो,
अनुपम चरित्रयुक्त 'शुचि शान्ति प्रचेता' हो ।

वह दांता गांव है सुख का दाता,
जिस भू पर तुम अवतार लिये ।
वह धन्य धन्य है शृंगारा,
जिसने गुणमय संस्कार दिये ।

तुम मोडी सुकुल तम हारक हो,
गुरुदेव गणेशी के पटधर ।
हो ध्यान समीक्षण उद्बोधक,
करूणा संयम संपूर्ण सने ।
गाम्भीर्य पूर्ण गुण सागर हो,
नभ मंडल कीर्ति वितान तने ।

कोई कितना गुण गण गावे,
पर भाव भंगिमा एक रही ।
अन्तर बाहर दोनों दिशि में,
है दृष्टि एक नित नेक रही ।
पावन चरित्र का अभिव्यंजन,
मानव क्या किन्नर भी करते ।
सद्भाव भरित होके सतत,
समता सौरभ सुषमा भरते ।

❀ विद्वद्वर्य, कविरत्न श्री वीरेन्द्र मुनिजी की डायरी से
प्रस्तोता:—कमलचन्द लूणिया, बीकानेर

आचार्य श्री नानेश : शिष्यों की दृष्टि में

(प्रश्नों के माध्यम से)

प्रश्न जो पूछे गये—

१. आपको संयम धारण करने में आचार्य श्री से किस प्रकार प्रेरणा मिली ?

२. आपकी दृष्टि में आचार्य श्री के संयमी जीवन की क्या मौलिक विशेषताएं है ?

३. आचार्य श्री द्वारा प्रतिपादित समीक्षण ध्यान में आपकी क्या उपलब्धि रही है ?

४. आपके संयमी जीवन को पुष्ट बनाने में आचार्य श्री का किस प्रकार योगदान रहा है ?

५. आचार्य श्री के चातुर्मास एवं विहार-काल में घटित ऐसे घटना-प्रसंगों का उल्लेख कीजिए, जिसने आपको सर्वाधिक प्रभावित किया हो ।

सागरवत् गम्भीर एवं मेदिनीवत् सहनशील

❀ धायमातृपद विभूषित श्री इन्द्रचन्दजी म.सा

उत्तर–१. मैं शान्तक्रान्ति के अग्रदूत श्री गणेशीलालजी म.सा. से दीक्षित हुआ था। गुरु भाई होते हुए भी अनुशासित शिष्य ही मानता हूं अपने को।

उत्तर–२. वीर शासन के अधिशास्ता आचार्य श्री का जीवन जिस किसी दृष्टि से देखता हूं तो मुझे पारसमणिवत् प्रतीत होता है। जैसे पारसमणि जंग लगा हुआ लोहा हो या विना जंग लगा हुआ, उसको अपने संस्पर्श से स्वर्ण बना देती है, उसी प्रकार जो कोई भी आचार्य श्री के सम्पर्क में आता है, उसे अपने महनीय व्यक्तित्व के द्वारा प्रभावित किये विना नहीं रहते। भक्तामर स्तोत्र का "नात्यद्भुतं भुवन भूषण भूतनाथ:" श्लोक का जव भी मैं आचार्य श्री की तरफ चिन्तन करता हूं, मुझे याद आ ही जाता है।

आपके जीवन में मूलरूप से आगमकारों ने जो ३६ गुण बतलाये है, वे तो हैं ही, साथ ही साथ अन्य अनेक गुण भी सूत्रों में गुम्फित मणियों की तरह निरन्तर प्रतिभाषित होते हैं।

साधक को प्रत्येक वस्तु के प्रति अनासक्त रहने का उपदेश आगमकारों ने दिया है। आचारांग सूत्र में कहा है "जे गुणे से मूलठाणे, जे मूलठाणे से गुणे।" अर्थात् जो शब्दादि गुण हैं, वे ही आसक्ति के मूलस्थान हैं और जो कर्म-बन्धन के मूलस्थान हैं वे ही शब्दादि गुण हैं। इस प्रकार कर्मबन्धन का प्रमुख कारण आसक्ति है अत: साधक को अनासक्त रहना चाहिये। दशवैकालिक सूत्र में भी ममत्व को ही परिग्रह बतलाते हुए कहा है "मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" अत: साधक को ममत्व का त्यागी बनना चाहिये। आगम की इस गहन वाणी को आचार्य श्री ने अपने व्यवहार क्षेत्र में पूर्ण महत्ता प्रदान की है।

यद्यपि आप श्री चतुर्विध संघ के कार्यभार को बड़ी सजगता से सम्भालते हैं, किंतु आप श्री की किसी भी वस्तु विशेष के प्रति आसक्ति नहीं हैं। वस्तुत: आप एक कुशल नेतृत्वकर्त्ता हैं। आचारांग के लोक-विजय अध्ययन में कहा है "जहेत्थ कुसले णोवलिंपिज्जासि"—अर्थात् जो संयम के पालन में पारंगत हैं, वे किसी के प्रति आसक्ति नहीं रखते। इस वक्त मुझे एक घटना याद आ रही है जो मेरे ही साथ घटित हुई थी। एक बार मैं स्वयं जब वैराग्यवस्था में था तब मेरे मन में आचार्य श्री के पुनीत दर्शनों की जिज्ञासा समुत्पन्न हुई और मैं आचार्य श्री के दर्शनार्थ वीकानेर आया। मैंने विधिवत् वन्दन किया। आ. श्री ने मुझे दया

पालो से सम्बोधित किया । मैंने कहा भगवन् मेरी दीक्षा लेने की भावना है । तब आपश्री ने 'अच्छा' इतना ही कहा ।

(मैंने भी इस विषय में श्रद्धेय इन्द्र भगवन् के मुखारविन्द से सुना है— कितना निर्लेप जीवन है आपका कि आपका किसी के प्रति भी ममत्व नहीं है । आपका जीवन तो इतना निर्लेप है कि आप तो पदवी लेने के लिए भी तैयार नहीं थे किन्तु इस विषय में कई बार श्रवण करने को मिला है कि श्रद्धेय इन्द्र भगवन् की बहुत अधिक प्रेरणा रही है । उन्होंने समाज एवं साधु-साध्वियों को इसके लिए बहुत उत्साहित किया और आचार्य भगवन् को भी इसके लिए बहुत प्रेरित किया । आपश्री की निर्लेपता का यह सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है । —सम्पादक)

आपश्री सागरवत् गम्भीर एवं मेदिनीवत् सहनशील हैं संयमी जीवन में आने वाले कष्ट एवं उपसर्गों को आप हंसते-२ झेल लेते हैं । संयम के प्रति आप श्री की उत्कट अभिरुचि है । इस युग में भी संयम की इतनी सजगता देखकर हम बहुत आनन्द का अनुभव करते हैं । आचारांग-सूत्र की यह उक्ति "अरइं आउट्टे से मेहावी खणंसि मुक्के ।" अर्थात् जो मेधावी संयम के प्रति अरति से निवृत हो गया है वह क्षण भर में ही झुक जाता है ।" आपश्री के जीवन पर यह पूर्णतया चरितार्थ हो जाती है ।

आपश्री के जीवन का एक अद्वितीय गुण है मितभाषी होना । आपका जीवन प्रारम्भ से ही सुसंस्कार निर्मित है, यह आपके जीवन की एक प्रमुख विशेषता है । आप बहुत ही नपे तुले शब्दों का प्रयोग करते हैं । पूर्व में आप श्री के इस गुण से प्रभावित होकर स्व. मुनिश्री घासीलालजी म.सा. (छोटे घासीलालजी म.सा.)कहा करते थे कि आपका बोलना मुझे बहुत प्रिय लगता है । जिस प्रकार घड़ी टाइम से बोलती है उसी प्रकार आप भी सारगर्भित बात कहते हैं एवं अल्पभाषी हैं ।

आप श्री का अध्ययन इतना गहन है कि कोई भी जटिल प्रश्न क्यों न हो, आप उसका बड़ा ही सुन्दर शास्त्र सम्मत, तर्क सम्मत समाधान देते हैं । आप आन्तरिक भावों का सूक्ष्म निरीक्षण करने में कुशल कारीगर हैं । किसी भी साधक की मन:स्थिति का सूक्ष्मावलोकन कर शिक्षामृत द्वारा उसका जीवन संयम के प्रति सजग बनाते हैं । जैसे एक मां अपने बालक को वात्सल्य भाव से सिंचित करती है, पिता अपने पुत्र पर अनुशासन कर उसे सुयोग्य बनाता है, गुरु उसे अमूल्य ज्ञान देकर पारंगत बना देता है । इन तीनों का योगदान जीवन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । किन्तु जब आचार्यश्री के सन्निधि में रहता हूं तब मैं स्वयं अनुभव करता हूं कि माता-सा पवित्र वात्सल्य, पिता-सा श्रेष्ठ अनुशासन और महनीय गुरु-सा मार्गदर्शन की त्रिवेणी एकमात्र शासनेश में पूर्णतया विद्यमान है । आप अकेले ही महत्त्वपूर्ण कार्यों को सहज में ही कर डालते हैं ।

आगम मंथन और अध्ययन के प्रति आपका उच्चतम दृष्टिकोण है ।

आपका अध्ययन इतना तलस्पर्शी है कि गूढ़ रहस्यात्मक शास्त्रीय स्थलों को सरल प्राञ्जल भाषा में समझा देते हैं।

आप श्री की गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा भक्ति थी। आपश्री ने 'अन्तेवासी' शब्द को सार्थक बनाया है। अन्तेवासी का तात्पर्य है समीप में रहना। आप सदा ही स्व. आ. श्री गणेशीलालजी म.सा. के सामीप्य में रहकर "आणाय धम्मो" की उक्ति चरितार्थ करते थे। स्व. आ. श्री जैसा आदेश दे देते थे आप वैसा ही परिपूर्ण रूप से पालन करते थे। उसी श्रद्धा भक्ति का परिणाम देख रहे हैं कि आप श्री आज हमारे गणनायक के रूप में सुशोभित हैं। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

"जे आयरिय उवझायाणं सुस्ससावयणं करा। तेसिं सिक्खा पवढंति, जल सत्ता इव पायवा।" अर्थात् जो कोई साधक आचार्य उपाध्याय की शुश्रूषा करता है, उनकी आज्ञा का पालन करता है। उसकी शिक्षा जल से सिंचित पादप की तरह निरन्तर वृद्धिगत होती है।

आप श्री बड़े ही कर्तव्य निष्ठ, सेवापरायण एवं आज्ञापालक शिष्य थे। उन्हीं आन्तरिक गुणों का विकास आप श्री को इस महनीय पद पर सुशोभित कर रहा है।

समता की अद्वितीय प्रतिमूर्ति आचार्य श्री का जीवन ही समतामय है। आपका जीवन उस चन्द्रमा की भांति है जिसे देखकर प्रत्येक श्वेत कमल सोचता है अहा! निशाकर कितना सौम्य है। अपनी शीतल रश्मियां मेरी तरफ प्रसारित कर रहा है। किंतु वह तो सामान्य रूप से सभी को प्रतिभासित करता है। इसी प्रकार आचार्य श्री का तो सभी शिष्य–शिष्याओं के प्रति वही वात्सल्य निर्झर प्रवाहित होता है किन्तु प्रत्येक साधक यह सोचता है कि आचार्य श्री की मेरे ऊपर महती अनुकम्पा है। वे तो समता विभूति हैं, उनका प्रत्येक कार्य समत्व समन्वित है।

चिन्तन की चांदनी में जो आध्यात्मिक आलोक आचार्य श्री ने स्वयं प्राप्त किया और जो कुछ हमें दिया, वस्तुतः वह अकथनीय है। आचार्य श्री के गुण हिमगिरी से भी विस्तृत एवं पयेधि से भी गम्भीर हैं। उनकी खोज तो विशिष्ट ज्ञानी ही कर सकते हैं। उनके गुणों का वर्णन करना असम्भव ही नहीं अशक्य भी है।

उत्तर–३. वृद्धावस्था के कारण समीक्षण ध्यान का अभ्यास सम्भव नहीं हुआ।

उत्तर–४. प्रत्येक साधक यह चाहता है कि मेरा नेतृत्व एक कुशल आचार्य करे तो मेरा जीवन सफलीभूत बन सकेगा। क्योंकि गुरु में वह शक्ति निहित है जो कि जीवन में संव्याप्त समस्त दुर्गुणों को सद्गुणों में बदल देता है प्रत्येक

शिष्य के जीवन में गुरु का बहुत योगदान रहता है । आचारांग सूत्र में कहा है— "जहा से दीवे असंदीणे एवं सेधम्मे आयरिया पडेसिए ।" अर्थात् जिस प्रकार असंदीपन द्वीप जल में डूबते हुए प्राणियों का रक्षा-स्थान होता है, उसी प्रकार आचार्य द्वारा बतलाया हुआ मार्ग ही इस संसार—सागर से तिरने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है । हम कितने भाग्यशाली हैं कि आज अरिहंत हमारे सामने विद्यमान नहीं फिर भी उनके द्वारा बतलाया गया मार्ग हम आचार्य श्री के तत्वावधान में प्राप्त कर रहे हैं । हमारा सम्पूर्ण संयमी जीवन इन्हीं के चरणों में सुरक्षित है । इससे बढ़कर और क्या योगदान हो सकता है । जो संयम की सुरक्षा आचार्य श्री के सान्निध्य में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । आचारांग सूत्र में कहा है "एवं ते सिस्सा दिया य, राओय अणुपुव्वेण वाइया" अर्थात् माता जैसे प्रतिदिन पौष्टिक आहार खिलाकर उनका संवर्धन करती है, उसी प्रकार आचार्य श्री द्वारा प्रतिदिन आगम की गूढ़ वाणी रूपी पौष्टिक भोजन प्राप्त कर शिष्य निरन्तर बढ़ते रहते हैं ।

श्रद्धेय आचार्य भगवन् का आंतरिक एवं बाह्य जीवन उन्नत बनाने में महत्वपूर्ण योगदान है । आप श्री छोटी से छोटी बात को भी इतनी सुन्दर रीति से समझाते हैं कि वह हमेशा मस्तिष्क में बैठ जाती है । एक बार हम संत मंडल आचार्य श्री गणेशीलालजी की सन्निधि में आहार कर रहे थे । मैं उस समय नव दीक्षित ही था अतः हल्का सा क्रोध किसी कारण आ ही गया । वर्तमान आचार्य श्री बड़ी शांत मुद्रा से मेरा अवलोकन कर रहे थे । जब कुछ समय पश्चात् मैं आचार्य श्री के समीप गया तो कहने लगे (वर्तमान आचार्य श्री) ।

"क्यों आज गोचरी के समय कुछ क्रोध"........मैंने कहा—'हां, भगवन् ।'

आचार्य श्री ने कहा "देखो ! भोजन करते समय क्रोध नहीं करना चाहिये । क्योंकि भोजन के समय क्रोध करने से वह भोजन रस नहीं बनाता, भोजन विषाक्त हो जाता है और सम्पूर्ण भोजन व्यर्थ चला जाता है । अतः अपने को ऐसा नहीं करना चाहिये ।" आचार्य श्री की उस मधुर वाणी ने इतना प्रभाव दिखलाया कि आज भी जब आहार करने बैठता हूं तो आपकी वह मधुर वाणी कानों में गूंज उठती है और मुझे बहुत प्रेरणा मिलती है । इस प्रकार जीवन को संयमानुकूल बनाने में आचार्य श्री का अवर्णनीय योगदान रहा है ।

उत्तर—५ आचार्य श्री का सम्पूर्ण जीवन और प्रत्येक कार्य प्रभावशाली ही प्रतीत होता है । आपकी इर्या-समिति, भाषासमिति,एषणादि समिति के विषय में तो इतनी सजगता है कि जिसे देख हम मन्त्रमुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते । इन सब दृष्टि क्रियाओं की बात जाने दीजिए आपका मति श्रुतज्ञान भी इतना निर्मल है कि कई बार भावी संकेत आप वर्तमान में ही कर दिया करते हैं ।

एक बार की बात है कि उज्जैन से इन्दौर की ओर आचार्य भगवन् विहार कर रहे थे । उनकी सेवा में मैं भी था । एक गांव में हम विहार करके पहुंचे

और निरन्तर मूसलाधार वर्षा होने लगी। मैंने भगवन् से निवेदन किया कि—"आपश्री कुछ देर के लिए विश्राम कर लीजिए क्योंकि अवसरानुसार व्याख्यान भी देना होगा।" भगवन् विश्राम के लिए कक्ष में गये और कुछ ही क्षणों बाद पुनः बाहर आये और पूछने लगे कि "गांव के मुखिया दलाल साहब गये क्या?" मैंने निवेदन किया "हां, भगवन्"। तो आचार्य भगवन् ने कहा कि—"रतलाम से अभी भाई दया पालेंगे, उनको असुविधा न हो। यदि दलाल होते तो उनको मैं संकेत कर देता।" मैंने कहा—"भगवन्! यहां रतलाम वाले कैसे दर्शन लाभ लेने आ सकते हैं? इन्दौर या उज्जैन से तो भाइयों का आना फिर भी सम्भव है लेकिन रतलाम से·······।"

आचार्य भगवन् तो कक्ष में पधार गये लेकिन कुछ ही क्षणों में रतलाम के भाइयों को सम्मुख आया देख मेरे आश्चर्य की सीमा न रही।

वस्तुतः एक ही नहीं ऐसी अनेक घटनाएं हैं, जिनको स्मरण कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

आचार्य श्री के ऐसे घटना प्रसंगों ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया है जो कि उनकी सफल साधना के प्रबल प्रमाण हैं।

वन्दना

❀ श्री भगवन्तराव गाजरे

जन्म सार्थक जो करते हैं, जन-जन के जो उद्धारक।
यश फैला है जिनका जग में, दया-धर्म के हैं पालक॥
गुणगान श्रावक-पाठक करते, समता-दर्शन के जो प्रणेता।
रूप निज का असली जाने, जागृत चित्त के हैं जो चेता॥
नाना रूप धारण कर घूमे, जीव हमारा योनि धारे।
नाना गुरु की वाणी सुनकर, प्राणी मुग्ध हो जाते सारे॥
समता-सार जो ग्रहण करता है, मुक्ति मार्ग पर जाता है।
ममता-माया में फंसता जब, अज्ञान-अंधेरा छा जाता है॥
तार रहे ज्ञान-गंगा से, चिन्तन का मंथन सब करलें।
दर्शन पाकर गुरु नाना के, भावों का शोधन हम करलें॥

—सी-२३, आदर्श कॉलोनी, निम्बाहेड़ा

उत्तर जो दिये गये-[२]

सच्चे पथ प्रदर्शक

❀ श्री सेवन्त मुनि

१, संयम मार्ग में अग्रसर होने में आचार्य श्री का समुन्नत जीवन ही प्रेरणादायी बना। आपश्री की संयमी जीवन में सतत् जागरूकता तथा सजगता से मेरे जीवनोन्नति में प्रेरणा का योगदान रहा।

वैराग्यकाल में प्रथम बार ही उदयपुर में दर्शनों का शुभ अवसर प्राप्त हुआ था। व्याख्यान श्रवण, साधना में तन्मयता तथा स्वर्गीय गुरुदेव श्री गणेशीलालजी म. सा. के सेवा आदि कार्यों में दक्षता देखकर तो अनूठी प्रेरणा उपस्थित हुई। दशवैकालिक सूत्र की वाचना सर्व प्रथम आपश्री से ही प्राप्त की। साधु जीवन की मर्यादाओं में सजगता के साथ-२ व्रतों में दृढ़ता के साथ वहन करने एवं सुसंस्कार प्राप्त हुए थे। ज्ञान, दर्शन चारित्र की आराधना आगम-वीतराग सिद्धांतों के अनुरूप करते हुए आत्म-समाधिभाव में विचरण कर रहे थे। स्वर्गीय गुरुदेव की सेवा में सतत् जागरूक रहना, शास्त्रोक्त विनय पद्धति से गुरु के चित्त को प्रसन्न करते हुए, शास्त्रों की वाचना लेते हुए मैंने आपश्री को देखा था, जिससे साधु वनकर मुझे भी इसी तरह शास्त्रोक्त विधि से सेवा करना है तथा जीवन को इसी तरह ढालना है, ऐसी प्रेरणा प्राप्त हुई। वास्तव में प्रेरणा जितनी कहने से नहीं, उतनी आचरण से प्राप्त होती है। आपश्री की आचरण पद्धति अभूतपूर्व एवं अनोखी ही है। आपकी उच्चतर साधना स्थिति ने ही आपश्री को चतुर्विध संघ का शिरोमणि वना दिया। आज की स्थिति में चतुर्विध संघ आपकी साधना से अत्यन्त सन्तुष्ट एवं तृप्ति का अनुभव कर रहा है।

२. वर्तमान आचार्य-प्रवर श्री नानेश ने आचार्य पद प्राप्ति के कुछ समय पश्चात् ही वीतराग सिद्धान्तों का मन्थन करके चतुर्विध संघ को समता-दर्शन की देन दी जिसके चार मुख्य आयाम हैं—

(१) समता सिद्धान्त (२) समता जीवन दर्शन (३) समता आत्म-दर्शन और (४) समता परमात्म दर्शन।

आपश्री के गरिमामय जीवन व उपदेश से हजारों की तादाद में धर्मपाल बन्धुओं ने प्रतिवोध पाकर अपना जीवन उन्नत किया है। वे आज सही मार्ग पर चलते हुए आनन्दमय जीवन का अनुभव कर रहे हैं। समाज-सुधार की दृष्टि से आचार्य पद प्राप्ति के वाद आपने कई ग्रामों के तथा शहरों के झगड़े मिटाकर समाज को एकता के संगठन से संगठित किया है। आपश्री ने जव से शासन की

बागडोर संभाली तब से लेकर अब तक के कुछ ही वर्षों में ढाई सौ से ऊपर मुमुक्षु आत्माएं दीक्षित हो चुकी है तथा संघ में बढ़ोतरी के साथ ही साथ शासन की जो भव्य प्रभावना हो रही है, वह आपसे अपरिचित नहीं है। मानव समाज की अनेकविध विषमताओं को दूर करने रूप प्रेरणास्पद उपदेश आप से मिलता रहा है। आचार्य श्री ने अपने जीवन काल में अनेक बुद्धि जीवियों को योग्य समाधान देकर उनकी ग्रन्थियां सुलझा कर सद्मार्ग पर आरूढ़ किया है।

राजनैतिक क्षेत्र के उच्च नेता, पदाधिकारी आदि अनेक व्यक्ति आपश्री द्वारा प्रदत्त समता सिद्धान्त से आकर्षित होकर उस पर अमल कर रहे हैं। आपश्री किसी भी विकट से विकट परिस्थिति में भी विषम भाव नहीं आने देते। समतामय सिद्धान्त आपश्री के जीवन में मनसा, वाचा, कर्मणा रूप से व्याप्त है। इसी से आपको आज "समता विभूति" के नाम से भी जाना जाता है।

३. आचार्य भगवन् के द्वारा समीक्षण ध्यान के समाचरण से आत्म-समुन्नति एवं समाधि भाव प्राप्त होता है। यद्यपि समीक्षण ध्यान में मैं सक्षम नहीं हुआ हूं, किन्तु आचार्य भगवन् ने जरूर इस समीक्षण ध्यान साधना की सम्यक् आराधना में बहुत सफल एवं उच्चत्तम स्थान प्राप्त किया है। अपने ऊपर आई हुई किन्हीं भी विषम परिस्थितियों को समीक्षण ध्यान के बल से समाहित करके आप समाधिष्ट हो लेते हैं। जब कभी मैं अदृश्य शक्ति द्वारा सताया जाता, तब स्फूर्ति से मैं आचार्य भगवन् के पास पहुंचता। आपकी समीक्षण ध्यान-साधना आदि शक्तियों से मेरे को सताने वाली वह अदृश्य शक्ति न मालूम कब गायब हो जाती और मैं पूर्ववत् स्वस्थ एवं प्रसन्नचित्त हो जाता। ऐसा एक बार नहीं अनेक बार अनुभव हुआ है मेरा।

४. हमारे संयमी जीवन को पुष्ट बनाने में आचार्य भगवन् का बहुत ही उच्चस्तर का योगदान रहा है। यथा—अहिंसा, सत्य-अस्तेय, आदि मौलिक सिद्धान्तों के समाचरण में सर्वप्रथम विशेष ज्ञान प्राप्त कराया, तत्पश्चात् मूल गुण और उत्तर गुणों के सम्यक् आचरण, मर्यादाओं की सुरक्षा के लिए समय-२ पर प्रशिक्षण देते रहे हैं। निर्ग्रन्थ, श्रमण-संस्कृति की सुरक्षा के लिए सतत जागरूक करते रहे हैं। सारणा, वारणा एवं धारणा भी यथासमय कराते रहे हैं तथा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार आदि आचारों का सम्यक्रूपेण परिपालन करते तथा कराते रहे हैं। हम मुनियों का संयमी जीवन उन्नतिशील रहे, इसके लिए आचार्य भगवन् का अनेक बार उद्बोधन मिलता रहा है। गुरुदेव की परम कृपा के फलस्वरूप संयमीजीवन सुरक्षित एवं उन्नतिशील है तथा आगे भी होता रहेगा........।

५. आचार्य भगवन् का चातुर्मास अमरावती (महाराष्ट्र) में था, तब मुझे भी आचार्य श्रीजी के सान्निध्य का अवसर प्राप्त हुआ था। उस चातुर्मास की अनेक विशेषताओं के साथ एक यह भी थी कि अमरावती क्षेत्र में

ुजराती समाज में एक बहुत बड़ा झगड़ा था । उस समाज में काफी वर्षों से दरार पड़ी हुई थी । एक सप्ताह के पूर्ण प्रयास से या यों कहूं कि आचाय भगवन् के प्रवचनों से प्रभावित होकर वह झगड़ा समाहित हो गया ।

इसी तरह महाराष्ट्र में पुहूर ग्राम में भी आपश्री के उपदेशों से झगड़ा समाप्त हो गया था । भीनासर के सेठिया परिवार में भी इसी प्रकार आपस में कलुषता थी, वह भी आपश्री की अमृतदेशना से समाप्त हो गयी बल्कि उस परिवार पर ऐसा असर पड़ा कि छोटा भाई, बड़े भाई के यहां पहले पहुंचकर दोनों एक साथ भोजन करने को तत्पर हुए । ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण हैं लेकिन उन सबका लिखवाना पृष्ठों को बढ़ाना ही है ।

आपश्री की अमृत देशना का भारत के पूर्व राष्ट्रपति वी. वी. गिरि के सुपुत्र पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा था । वे बड़ीसादड़ी वर्षावास में आपश्री के सान्निध्य में उपस्थित हुए थे ।

भटेवर के पास एक गांव की घटना भी स्मृति में है । वहां पर भी समाज में कई वर्षों से झगड़ा चल रहा था, जिसको मिटाने के लिए बड़े-२ संत, मुनिराजों, समाज के लोगों ने भरसक प्रयास किये, लेकिन वे सफल नहीं हो सके । लेकिन उस गांव का, उस समाज का सौभाग्य ही समझिये कि आचार्य भगवन का वहां शुभागमन हो गया, और एक ही उपदेश उन लोगों ने श्रवण किया कि वह झगड़ा मिट गया, समाज में प्रेम की धारा प्रवहमान हो गयी । यह है वाणी का अद्‌भुत प्रभाव । इस तरह अनेकों बार मन को आचार्य देव की संयम साधना, ध्यान मुदा ने आर्कषित किया है, और शासन की भव्य जाहोजलाली में चार चांद लग रहे हैं ।

साधना के क्षेत्र में ध्यान मुद्रा भी जनसमुदाय को आश्चर्यचकित करने वाली है । मेरे को भी उस साधना ने चमत्कृत कर दिया । हृदय पर अनूठा प्रभाव डालने वाली ध्यानमुद्रा को देखने का अवसर प्राप्त हुआ, मानो ध्यान में अभूतपूर्व उपलब्धि हो रही हो, ईश्वर से मानों साक्षात्कार हो रहा हो, ऐसा भी अनुपम दृश्य देखने को मिलता है । ऐसी स्थिति को देखकर मन भक्ति-विभोर हो जाता है, परम शांति प्राप्त होती है ।

निर्लिप्त जीवन : क्षमाशील स्वभाव

❀ श्री शांति मुनि

उत्तर—१. मुझे संयम धारण करने में आचार्य श्री नानेश की ओर से कोई सीधी प्रेरणा नहीं मिली है। मेरे संयम-साधना के प्रेरक थे आचार्य प्रवर के गुरु भ्राता श्री सुमेरचन्दजी महाराज। आचार्य श्री से प्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त नहीं होने का कारण है कि आचार्य प्रवर का व्यक्तित्व अपनी साधना के प्रारम्भ से ही आत्म-केन्द्रित व्यक्तित्व रहा है। उनका सम्पूर्ण मुनि जीवन-काल परिचय विस्तार से वचकर अधिक से अधिक अध्ययन एवं साधना की गहराई में पैठने में ही व्यतीत हुआ है। यहां तक कि जब मैं संयम साधना में प्रवेश का संकल्प लेकर आपश्री के चरणों में पहुंचा, अध्ययन करने लगा, तब भी आप श्री अपने आराध्य देव स्वर्गीय आचार्य प्रवर श्री गणेशीलाल जी म.सा. की सेवा में ही लीन रहते थे। हमें समय पर अध्यापन हेतु पाठ देने के अतिरिक्त कभी यह प्रेरणा तक नहीं दी कि विलम्ब क्यों करते हो, यथाशीघ्र मुनि जीवन में प्रवेश करो। हां, साधना की कठिनाइयों का शिक्षण आप अवश्य प्रदान करते थे।

मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि जब आपश्री युवाचार्य पद पर समासीन हो गये थे और आपश्री के प्रथम शिष्य के रूप में श्री सेवन्तीलाल जी (वर्तमान मुनिश्री) की दीक्षा के प्रयास चल रहे थे, कर्मठ सेवाव्रती धायमातृ पदालंकृत श्री इन्द्रचन्दजी म.सा. ने एक बार आपश्री को निवेदन किया कि वैरागी जी की दीक्षा के लिये प्रयास करें, आपश्री उनके माता-पिता को समझाएं तो कुछ कार्य हो सकता है। इस पर आचार्य श्री का सीधा सपाट उत्तर था—"आप जानो, आपका काम जाने।"

और यह प्रसंग उस समय का है जबकि आपश्री के साथ शौचादि के लिये साथ जाने वाला एक भी सहयोगी सन्त नहीं था। इतनी निस्पृहता वाले व्यक्तित्व के विषय में हम सहज समझ सकते हैं कि उनकी प्रत्यक्ष प्रेरणा किसी को कैसे प्राप्त हो सकती है? हां, आचार्य श्री का व्यक्तित्व अवश्य प्रेरणा का अविरल स्रोत है। आपके जीवन के अणु-अणु से, सम्पूर्ण परिपार्श्व से साधना की प्रेरणा निःसरित होती रहती है। और मेरे अपने चिन्तन के अनुसार वाणी की प्रेरणा की अपेक्षा व्यक्तित्व की मूक प्रेरणा ही अधिक प्रभावक होती है। एक आर्ष वाक्य है—"गुरवस्तु मौन व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्न संशया।" अर्थात् [illegible] का मौन प्रवचन होता है और शिष्यों के संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं

अस्तु मैं यह कह सकता हूं कि संयम में प्रवेश हेतु मुझे आचार्य देव की यों प्रारम्भिक वचनात्मक प्रेरणा तो नहीं मिली किन्तु उनके भव्यतम व्यक्तित्व ने मुझे साधना में प्रवेश की अबूझ एवं अद्भुत प्रेरणा अवश्य प्रदान की है और आज भी वह प्रेरणा प्रतिपल प्राप्त होती रहती है।

उत्तर—२. आपने अपने द्वितीय प्रश्न में आचार्य श्री नानेश के जीवन की मौलिक विशेषताएं जाननी चाही हैं, किन्तु इस प्रश्न में आपने मेरे समक्ष एक अगाध–अथाह सागर खड़ा कर दिया है और चाहा है कि इसके अन्तरंग में छिपे मणि-मुक्ताओं को खोज दीजिये। आप स्वयं बुद्धिनिष्ठ-प्रज्ञाजीवि हैं—विचार करें कि क्या सागर के गर्भ में छिपी रत्न-राशि का पार पाया जा सकता है? फिर भी चूंकि आपने मौलिक शब्द प्रयुक्त किया है अतः मैं उस रत्न राशि-मुक्तानिधि में से कुछ मणि-मुक्ता निकालने का प्रयास करूंगा।

जहा अन्तो तहा बहिं—आचार्य प्रवर के जीवन में मैंने जो सबसे मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण विशेषता पाई, वह है उनके जीवन की निश्छलता अथवा अन्त्-र्वाह्य एकरूपता। "जहा अन्तो तहा बहिं, जहा बहिं तहा अन्तो," का आगम-वाक्य उनके व्यक्तित्व में पद-पद पर प्रत्येक कोण में एकाकार-सा प्रतीत होता है। 'अन्दर में कुछ और बाहर में कुछ' यह द्विरूपता उनको अच्छी नहीं लगती। मैं जहां तक सोचता हूं साधक की सच्ची पहचान भी यही है कि वह कितना ऋजुभूत है, अन्तर्वाह्य एकरूप है। धार्मिकता की पहचान कराते हुए प्रभु महावीर ने कहा है—'सोहि उज्जुय भूयस्य धम्मो सुद्धस्य चिट्ठई।' ऋजुभूत, सरल एवं शुद्ध हृदय में ही धर्म ठहर सकता है। कुटिलता अथवा द्विरूपता में धर्म का निवास नहीं हो सकता है। अन्तर्वाह्य की एकरूपता ही साधक को आत्मा के दर्शन करवाती है, और यह एकरूपता ही आचार्य भगवन् के साधक जीवन की विशेषता है।

दृष्टाभाव—आचार्य भगवन् के जीवन की दूसरी मौलिक विशेषता है—स्थितप्रज्ञता अथवा द्रष्टाभाव। किसी भी प्रकार की शुभाशुभ परिस्थिति हो, अपने मन को, अपने परिपार्श्व को अप्रभावित बनाए रखना आचार्य प्रवर की साधना का मूर्त रूप है। मैंने अनेक बार प्रत्यक्षतः अनुभव किया है कि संघीय व्यवस्थाओं में जब कभी उतार-चढ़ाव आए, एक सर्वतोमहत् दायित्व पूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होने के कारण, उन परिस्थितियों में मन का उद्वेलित होना स्वाभाविक था, किन्तु आचार्य प्रवर उन क्षणों में भी द्रष्टाभाव में स्थिर हो जाते। मेरे जैसे सामान्य साधकों के मन में कई बार उथल-पुथल मच जाती कि आचार्य प्रवर ऐसा निर्णय क्यों नहीं ले रहे हैं, किन्तु उनका द्रष्टाभाव अद्भुत ही रहता।

यों साधना एवं अनुशासकता दोनों को समन्वित करके चलना सामान्य बात नहीं है। बिना आन्तरिक सन्तुलन अथवा द्रष्टाभाव के अनुशासकता हो

सकती है, साधना नहीं। आचार्य देव इतने विशाल संघ के अनुशास्ता होते हुए भी साधक हैं, उच्चकोटि के साधक। हानि-लाभ की सभी परिस्थितियों में आप आपको समत्व में प्रतिष्ठित बनाए रखते हैं। इस रूप में आप समत्व योगी तो हैं ही स्थितप्रज्ञ एवं द्रष्टाभाव के उच्चतम साधक भी हैं।

निर्लिप्तता—आचार्य प्रवर के जीवन की तीसरी मौलिक विशेषता मैंने देखी 'निर्लिप्तता'। यों साधक जीवन निर्लिप्त जीवन ही होता है किन्तु आचार्य प्रवर महत्तम दायित्वों का निर्वहन करते हुए भी उन सबसे जल कमलवत् निर्लिप्त रहते हैं।

आम लोगों की यह धारणा होती है कि श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ इतनी प्रवृत्तियां चला रहा है, उसका सालाना लाखों का बजट होता है। क्या यह सब आचार्य श्री के संकेतों के बिना हो सकता है? ये अवश्य इन सभी प्रवृत्तियों में भाग लेते होंगे। लाखों रुपये साहित्य प्रकाशन पर व्यय होते हैं, क्या यह सब बिना आचार्य श्री की प्रेरणा से हो सकता है?

किन्तु मैं यहां किसी प्रकार के पूर्वाग्रह से रहित होकर आन्तरिकता पूर्वक कह सकता हूं कि आचार्य प्रवर इन सब प्रवृत्तियों से सर्वथा निर्लिप्त रहते हैं। यह बात मैं इसलिए नहीं कह रहा हूं कि मैं एक गुरुभक्त शिष्य हूं—अपितु यह एक नग्न सत्य,यथार्थ का प्रतिपादन है। आचार्य प्रवर की निर्लिप्तता के अनेकों प्रसंग मैंने अपनी आंखों से देखे हैं। मुझे अभी भी अच्छी तरह स्मरण आता है-जब आचार्य प्रवर का बम्बई बोरीवली में वर्षावास था। मैं भी उस वर्षावास में श्री चरणों की सन्निधि में ही था। एक दिन श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ के तत्कालीन मन्त्री श्री पीरदानजी पारख एवं संघ के प्रति सर्वाधिक समर्पित दानवीर श्री गणपतराजजी बोहरा दोनों आचार्य प्रवर से कुछ चर्चा करना चाहते थे। दूसरी मंजिल में, जहां आचार्य प्रवर विराज रहे थे, वहां एकान्त स्थान नहीं होने से वे आचार्य भगवन् को निवेदन कर ऊपर तीसरी मंजिल पर जहां मैं अध्ययनादि किया करता था, लेकर आए। आचार्य भगवन् एक तरफ खड़े हुए थे कि श्री पारखजी ने मुझे संकेत किया कि आप भी चलिये, आचार्य श्री से कुछ चर्चा करना है। मैंने पूर्व में तो कहा—आप ही कर लीजिये किन्तु उन्होंने आग्रह किया कि आप भी चलिये, तो मैं भी आचार्य प्रवर के चरणों में वहीं निकट खड़ा हो गया।

बात प्रारम्भ करते हुए श्री पारखजी ने कहा—"हम संघ अध्यक्ष पद के लिये श्री चुन्नीलालजी मेहता का चयन करना चाहते हैं, आपश्री की क्या राय है? आचार्य प्रवर ने बड़ा सीधा और स्पष्ट उत्तर दिया—"क्या आज तक कभी आपने इस विषय में मुझे पूछा है? मैंने कभी आपके ऐसे कार्य में सुझावात्मक भी भाग लिया है? फिर आज आप मुझे इस विषय में क्यों घसीटते हो?

इतना कहते ही आचार्य प्रवर सीधे नीचे उतर गए। दोनों संघ प्रमुख अवाक्, एक दूसरे का मुंह देखने लगे। मैं स्वयं आश्चर्यचकित रह गया कि इतना सचोट स्पष्ट उत्तर कितनी निर्लिप्तता को अभिव्यक्त करता है। जहां तक मेरी स्मृति में है आचार्य प्रवर की शब्दावली उपर्युक्त प्रकार की ही थी।

कुछ क्षणोपरान्त दोनों संघ प्रमुख मेरी ओर उन्मुख होकर कहने लगे— "आचार्य प्रवर तो कुछ नहीं फरमाते हैं—आप तो कुछ राय दीजिये ?"

मैंने कहा—"जब आचार्य भगवन् कुछ नहीं फरमाते हैं तो मैं क्या बोलूं?"

मूल बात यह कि आचार्य प्रवर संघ के शास्ता होते हुए भी जल-कमल वत् निर्लिप्त रहते हैं। ऐसी एक नहीं अगणित विशेषताएं आचार्य-प्रवर के व्यक्तित्व में समाई हुई हैं या यों कहें गुणात्मक विशेषताओं का पुंजीभूत रूप ही आचार्य श्री नानेश का व्यक्तित्व है।

उत्तर—३. आचार्य प्रवर द्वारा प्रतिपादित समीक्षण ध्यान की उपलब्धि के सन्दर्भ में आपका प्रश्न कुछ बौना-सा लगता है। आप ध्यानगत अनुभूति या उपलब्धि को शब्द का परिवेश दिलाना चाहते हैं, जो कि मुझे असम्भव-सा प्रतीत होता है। ध्यान होता है- अन्तर्रमणता में। और क्या अन्तर्रमणता को अथवा अन्तरंग अनुभूतियों को शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है ? शब्दों के द्वारा तो हम अनुभूति के उथले रूप को ही व्यक्त कर पाते हैं। फिर भी चूंकि आपने पूछा है तो मैं चन्द शब्दों में उस उथले रूप को ही व्यक्त करने का प्रयास कर रहा हूं -

समीक्षण ध्यान की साधना मेरी दृष्टि में अन्त:प्रवेश की बेजोड़ प्रक्रिया है। चूंकि मैंने इसके अनेक प्रयोग किये हैं—हजारों व्यक्तियों को इसके प्रयोग करवाये हैं अत: मैं अपने प्रत्यक्षीकृत अनुभव के आधार पर कह सकता हूं कि यह साधना आत्म-रमणता की गहराई में पैठने की सर्वाधिक उपयोगी साधना है। मैं जहां तक सोचता हूं समीक्षण ध्यान साधना की सर्वाधिक प्रायोगिकता से एवं अनुभूतियों में मैं गुजरा हूं। चूंकि मैंने इस ध्यान विद्या पर सैंकड़ों पृष्ठों में विशालकाय ग्रन्थ भी लिखे हैं जो व्याख्यात्मक ही नहीं,प्रयोगात्मक भी हैं। अस्तु मैं अनेक प्रसंगों पर इस भाव भूमिका से अभिभूत हुआ हूं कि उसे शब्दों में अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती है। प्रयोगात्मक प्रक्रिया के क्षणों में अनेक वार देहातीत अवस्था की अनुभूति का प्रसंग आया है। यों ध्यान-साधना की जो सामान्य उपलब्धियां होती हैं—वृत्तियों का संशोधन, प्रशस्त वृत्तियों का उन्मेष, इन्द्रियों का संयमन, कषायों का शमन, विनय-विवेक का जागरण, अन्तराभिमुखता

आदि । इस विषय में मैं कह सकता हूं कि समीक्षण ध्यान साधना के प्रयोगों के पश्चात् इन सभी विषयों में मुझे यथेष्ट लाभ प्राप्त हुआ है । किन्तु मैं इसे समीक्षण ध्यान की अवान्तर उपलब्धियों के रूप में स्वीकार करता हूं । उसकी जो मूल उपलब्धि है वह है साक्षी भाव का जागरण–आत्म रमणता । उसी स्थिति में अधिक से अधिक पैठने का प्रयास अनवरत गतिशील है ।

उत्तर—४. एक गुरु का शिष्य की साधना को सम्पोषित करने में जो योगदान होना चाहिये, वही योगदान मुझे आराध्य गुरुदेव का प्राप्त हुआ है—हो रहा है । किन्तु जिस रूप में, जिस अहोभाव एवं आत्मीयता के परिवेश में मुझे योगदान प्राप्त हो रहा है—वह अनुलेख्य है, शब्दातीत है ।

आचार्य प्रवर का जीवन ही—जीवन का प्रत्येक क्रियाकलाप अपने आप में मार्गदर्शक होता है । उनके जीवन की संयमीय क्रियाओं के प्रति सजगता अपने आप में पथ प्रदर्शन का कार्य करती है । उनके आचरण–अनुशीलन का यह दृष्टिकोण मेरी साधना में सर्वाधिक सहयोगी रहा है कि संयमीय मर्यादाओं की सामान्य सी स्खलनाओं में 'वज्रादपि कठोर' होकर सचेत करना एवं शिक्षा प्रदान करते समय मृदुनि कुसुमादपि की स्थिति में प्रवेश कर जाना । राजस्थानी कविता के अनुसार—

गुरु प्रजापति सारखा, घट-घट काढ़े खोट ।
भीतर से रक्षा करे ऊपर लगावे चोट ।।

आचार्य भगवन् का व्यक्तित्व उस कुम्भकार के समान है जो, ऊपर से चोट करते हुए भी भीतर से रक्षा करता है, और इसी व्यक्तित्व का प्रभाव मुझे अपनी संयम साधना में प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है । निष्कर्ष की भाषा में कहूं तो मेरे जीवन में संयम-साधना का जो कुछ भी है, वह आचार्य प्रवर का ही प्रदेय है । मेरा अपना तो अपने पास कुछ है ही नहीं ।

यहां एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि आचार्य प्रवर का योगदान तो वायुमण्डल में बिखरी ऑक्सीजन के समान प्रतिपल बरस रहा है । यह मेरी ही अपात्रता है कि मैं उसे उतने रूप में ग्रहण नहीं कर पा रहा हूं ।

उत्तर—५. आपके पांचवे एवं अन्तिम प्रश्न के उत्तर में अनेक घटना प्रसंग मेरी आंखों के समक्ष चलचित्र की भांति उभरने लगे हैं, जिन्होंने मेरे मानस पर अमिट प्रभाव अंकित कर दिया है । मेरे समक्ष एक समस्या-सी खड़ी हो गई है कि मैं किन घटना प्रसंगों को शब्दों का परिवेश प्रदान करूं और किन्हें छोड़ूं? फिर भी एक-दो ऐसे प्रसंग हैं, जो भुलाए नहीं भूले जाते हैं ।

क्रोध–विजय—घटना उस समय की है जब चरितनायक आचार्य पद पर आसीन हो रतलाम एवं इन्दौर के गौरवशाली ऐतिहासिक चातुर्मास पूर्ण कर

छत्तीसगढ़ संघ की आग्रह भरी विनती पर छत्तीसगढ़ प्रान्त की ओर पधार रहे थे। मार्ग में कुछ दिन बैतूल विराजना हुआ। वहां अमरावती (बैतूल से ११० मील दूर) से समाज के प्रतिष्ठित श्रावक श्री जवाहरलालजी मुणोत अपने कुछ साथियों के साथ दर्शनार्थ उपस्थित हुए। आचार्यश्री बैतूलगंज में गोठीजी के मकान की दूसरी मंजिल पर ठहरे हुए थे। रात्रि में नित्यप्रति की तरह ज्ञान–चर्चा का दौर आरम्भ हुआ। एक बन्धु ने ध्वनिवर्धक यंत्र साधुमर्यादा के अनुकूल है या प्रतिकूल, इस सन्दर्भ में प्रश्न प्रस्तुत किया। इस पर श्री मुणोतजी खुलकर चर्चा करने लगे। लगभग तीन घण्टे तक तर्क-वितर्क चलता रहा। मुणोत जी आचार्य देव के समक्ष कुछ उत्तेजनापूर्ण शब्दावली का भी प्रयोग करते चले जा रहे थे। समीपस्थ हम सन्तों एवं श्रावकों को भी उत्तेजना आ रही थी कि एक आचार्य के समक्ष कैसे बोलना चाहिए, इसका भी विवेक नहीं है। समय अधिक हो जाने के कारण हमने दो-तीन बार इतना ही निवेदन किया कि समय हो गया है। उत्तेजनापूर्ण वातावरण होते हुए भी आचार्य श्री अपनी उसी गम्भीर एवं शांत मुद्रा में कहते जा रहे थे—"मुणोतजी ! जरा तटस्थ बनकर चिन्तन करिये। किसी बात का आग्रह हो सकता है,किंतु दुराग्रह नहीं। आप चाहे ध्वनि–वर्धक यन्त्र को श्रमण जीवन के लिए उपयोगी मान सकते हैं, किन्तु सैद्धांतिक दृष्टि से आगमिक आधार के बल पर यदि थोड़ा गम्भीरता से सोचेंगे तो स्पष्ट हो जावेगा कि यह बात हमें अभी मामूली-सी लग रही है, किन्तु आगे चलकर श्रमण संस्कृति को ही ध्वस्त करने वाली बन जायगी" आदि। किन्तु मुणोतजी उस समय आवेशपूर्ण स्थिति में थे, अतः वे किसी भी तर्क को मानने को तैयार नहीं थे।

समय अधिक हो जाने से चर्चा बीच में ही समाप्त कर दी गई। मुणोत जी उसी समय मांगलिक सुनकर चले गये। दूसरे दिन पुनः अमरावती से लौटकर चले आये और चरणों में सिर रखकर क्षमायाचना करने लगे। आचार्य श्री के पूछने पर कि रात्रि में ही जाकर प्रातःकाल ही वापिस चले आने का क्या कारण हुआ ? उनके साथी कहने लगे—महाराज श्री ! यहां से कार में ज्योंही रवाना हुए, मैंने मुणोतजी से कहा, यदि ऐसी उत्तेजना पूर्ण चर्चा होने की सम्भावना होती तो मैं प्रश्न ही नहीं छेड़ता, किन्तु एक लाभ अवश्य हुआ है कि इस प्रसंग से एक जैनाचार्य को पहचानने का मौका मिला। मैंने देखा, तुम अधिक आवेश-शील बनते चले गये, उत्तेजना दिलाते चले गए, किन्तु महाराजश्री के चेहरे पर क्रोध की रेखा पैदा होना तो दूर रहा, आवाज में भी तेजी नहीं आई। बड़े अद्भुत योगी साधक हैं वे। मेरा इतना कहना हुआ कि मुणोतजी में पश्चात्ताप की अग्नि प्रज्वलित हो उठी और यह पश्चात्ताप अमरावती तक चलता रहा। प्रातः उठकर कहने लगे, "मैंने उस महापुरुष की बहुत आशातना की है, उनकी उस शान्ति ने मेरा हृदय बदल दिया है। मैं अभी पुनः जाकर क्षमायाचना

करूंगा। और हम सब पुनः सेवा में उपस्थित हो गए। आचार्य देव ने कहा, ऐसी कोई अवज्ञा की बात नहीं थी, जहां चर्चा-विचर्चा होती है, स्वर कुछ तेज हो ही जाता है। इसमें अपराध और क्षमायाचना की क्या बात है? आदि।

ऐसी एक नहीं, अनेक घटनाएं हमारे चरितनायक के जीवन में घटी हैं, जिनके द्वारा कई व्यक्तियों ने आपकी शान्ति, निष्क्रोध वृत्ति से प्रभावित होकर सदा-सदा के लिए क्रोध के प्रत्याख्यान ले लिए हैं।

असह्य वेदना बनाम अदम्य साहस :

दूसरा प्रसंग है जिसने मेरी चेतना को झकझोर दिया। आचार्य देव सहवर्ती संत समुदाय के साथ आरंग से रायपुर की ओर बढ़ रहे थे कि अशुभ कर्मोदयजनित एक दुर्घटना घटित हो गई। प्रातःकाल आरंग से रायपुर की ओर प्रस्थान किया। लगभग ढाई मील पर मार्गवर्ती ग्राम रसनी में ग्रामवासियों के आग्रह को देखते हुए लगभग आधा घण्टे तक धर्मामृत का पान कराया, तत्पश्चात् वहां से साढ़े तीन मील पर स्थित लाखोली ग्राम के बाहर विश्राम-गृह पर पधारे। आहार आदि से निवृत्त हो पुनः चार मील पर स्थित नावगांव के लिए प्रस्थान कर दिया। लगभग दो मील मार्ग पार किया होगा कि वर्षा की सम्भावना को देखते हुए उमरिया मोटर स्टैंड पर यात्रियों के लिए निर्मित छपरे में कुछ समय रुक गये। वर्षा बन्द होने पर पुनः विहार किया और लगभग एक मील चले होंगे कि सामने से आते हुए ट्रक से उड़ने वाले पानी के छींटों से बचने हेतु सड़क को छोड़कर एक ओर बढ़ रहे थे कि मिट्टी की चिकनाहट एवं सड़क के ढलान के कारण अचानक पैर फिसल गया और सम्पूर्ण शरीर का भार दाएं हाथ पर आ गिरा। परिणामतः दाएं हाथ की कलाई की हड्डी दो जगह से टूट गई तथा लगभग आधा इंच हड्डी चमड़ी सहित ऊपर निकल आई।

उस सयय आचार्य देव के साथ श्री कंवर मुनिजी चल रहे थे। घोर तपस्वी श्री अमरचन्दजी महाराज एवं मैं (लेखक) लगभग पचास कदम की दूरी पर पीछे थे। आचार्यदेव को गिरते हुए देखते ही शीघ्र गति से हम भी घटना-स्थल पर पहुंच गए। आचार्यदेव ने तत्काल जिस अदम्य साहस का परिचय दिया,व वर्णनातीत है। आचार्य देव ज्योंही बाएं हाथ का सहारा लेकर खड़े हुए और दाएं को देखा तो लगभग एक-डेढ़ इंच हड्डी कलाई से ऊपर चढ़ आई। आचार्य श्री ने तुरन्त सहवर्ती सन्तों से कहा—"हाथ को दोनों ओर से पकड़ कर जोर से खींचो।" सोचता हूं उस समय की अपनी दशा को, तो तरस आती है अपने आप पर। आचार्य देव ने दुबारा कहा, तब भी मैं तो अधीर बन रोता रहा। हाथ को खींचना तो दूर रहा, उसे स्पर्श करने में भी कांप रहा था, परन्तु घोर तपस्वी श्री अमरचन्दजी म.सा. तथा मधुर व्याख्यानी श्री कंवरचन्दजी म.सा. ने दोनों ओर से हाथ पकड़ कर खींचा, जिससे बाहर निकली हुई हड्डी अन्दर बैठ गई और ऊपर से कपड़े की पट्टी कसकर बांध दी गई।

उस असह्य वेदना के क्षण में भी आचार्य देव की उस सौम्य मुद्रा में तनिक भी अंतर नहीं आया। उसी शांत एवं सहज मुद्रा में एक मील का विहार कर नावां गांव पहुंचे। सन्त समुदाय कपड़ों का प्रतिलेखन एवं आर्द्र कपड़ों को सुखाने में व्यस्त हो गया। इधर रायपुर श्रावक संघ को इस दुर्घटना की जानकारी मिली तो संध्या प्रतिक्रमण प्रारम्भ होने के कुछ समय पश्चात् विरक्तात्मा श्री सम्पतराजजी धाड़ीवाल डॉक्टर साहब को लेकर उपस्थित हुए। किन्तु धैर्य की प्रतिमूर्ति आचार्यदेव ने सूर्यास्त हो जाने के कारण डॉक्टर साहब को हस्त स्पर्श के लिए सर्वथा निषेध कर दिया कि "मैं रात्रि में कुछ भी उपचार नहीं ले सकता। यदि आप कुछ समय पूर्व पहुंच जाते तो उपचार लिया जा सकता था।'

चिकित्सक महोदय ने बड़े विनम्र शब्दों में आचार्यदेव से निवेदन किया—"आचार्य श्री, हमने बहुत शीघ्र ही यहां पहुंचने का प्रयास किया किन्तु दुर्भाग्य कहें या और कुछ मार्ग में कार खराब हो गई और हमें कुछ विलम्ब हो गया। अब आप उपचार नहीं लेना चाहते हैं, तो कम से कम मुझे हाथ एवं अंगुलियाँ हिलाकर दूर से ही दिखाला दीजिए, मुझे उसमें भी कुछ सन्तोष हो जाएगा।"

तदनुसार आचार्यदेव ने अपनी कलाई एवं अंगुलियों को हिलाने का प्रयास किया किन्तु असह्य वेदना के कारण वैसा नहीं किया जा सका। चिकित्सक महोदय वन्दन के साथ यह कहते हुए चले गए कि "स्पर्श किए बिना पूरा निर्णय नहीं लिया जा सकता है, किन्तु सूजन बहुत बढ़ जाने से लगता है हड्डी टूट गई है। अतः कल पुनः आकर योग्य उपचार की व्यवस्था की जानी चाहिए।"

रात्रि में वेदना असह्य हो गई। हाथ कोहनी तक सूज गया। सामान्य से आघात पर असह्य पीड़ा का अनुभव होता है, किन्तु आचार्यदेव के मुख-कमल पर झलकने वाले सस्मित सौम्य भाव में कहीं कोई परिवर्तन परिलिक्षित नहीं हो रहा था। दूसरे दिन उसी वेदना में वहां से ६-७ मील का विहार कर जोरा गांव पधारे। तब मध्याह्न तीन बजे के लगभग चिकित्सक आए और अस्थि को व्यवस्थित कर पक्का प्लास्टर बांध दिया। वहां से दूसरे दिन रायपुर पधार गए।

ऐसी कई घटनाएं हैं जिन्हें शब्दों का परिवेश दिया जाय तो विशालकाय ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। सार-संक्षेप में कहूं तो आचार्य-प्रवर का व्यक्तित्व ऐसी अनेकानेक घटनाओं का मूर्त रूप है जो चेतना पर सीधा प्रभाव अंकित करता है।

उत्तर जो दिये गये—[४]

सन्तुलित एवं संयमित व्यक्तित्व

❀ श्री विजय मुनि

मैं अपने गुरु को सूर्यातिशायी प्रकाश पुञ्ज के रूप में देखता हूं, जिन्होंने एक प्रभात मुझे नवज्योति से आलोकित किया ।

संवत् २०२८ कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन आचार्यश्री नानेश की दिव्य ज्योति से ज्योतिर्मान होने वाली ९ मुमुक्षु आत्माओं का दीक्षा प्रसंग था । बीकानेर संभाग परिसर से श्रद्धालु भक्तों की एक विशाल भीड़ उक्त प्रसंग पर उपस्थित थी । मैं बीकानेर बालक मण्डली के संस्थापक, सम्पोषक संरक्षक श्रीमान् जयचन्द लालजी सुखानी के नेतृत्व में आई बालक-मण्डली की करीब ५०-६० लड़कों की टीम के साथ मण्डली के सदस्य रूप में ही साथ था । मुझे यह पता नहीं था कि मेरा भविष्य-भाग्य किस ओर मुड़ने वाला है ? पर अन्तर्मन में एक अपूर्व उत्साह था, बाल सुलभ मन की तरंगें गुरु भक्ति में अत्यन्त उग्र थीं । इसी का फलित था कि हमने एक दिन पूर्व गुरुवर के चरणों में एक प्रार्थना की थी—मुझे आज भी याद है उस प्रार्थना के प्रारम्भिक बोल जो हमारे अन्तर्मन से उद्‌गीत हुए थे-

म्हारे हिवडे री सुण लो पुकार,
गुरुवर चालोनी ।
म्हारे मनडे री सुन लो पुकार
गुरुवर चालोनी ।........

उसी टीम में मुझ जैसे कई ऐसे बालक थे जिन्होंने प्रथम बार ही गुरु दर्शनों से अपने नेत्र पवित्र किये थे, गुरुवाणी सुनकर अपने मन को पावन किया था । मेरे लिए ये प्रथम दर्शन ही सच्चे जीवन दर्शन का वरदान लेकर आये थे। प्रथम गुरु वचन ही सम्यक् दिशा बोध दर्शन का अभियान लेकर आये थे ।

प्रथम दर्शन से प्राप्त हुई नई ताजगी, नई स्फूर्ति, नई प्रेरणा लेकर अपने आप में एक अजीब-सी अनुभूति लिए मैं अपने संचालक महोदय के साथ आवास-स्थल पर आ गया । पूरा दिन अन्तर्मन के आनन्दोल्लास के साथ सम्पन्न हो गया। इधर धीरे-धीरे रात्रि का सघन अन्धकार घिरा रहा था, उधर मन को नव सूर्य के साक्षात्कार की प्रकाश किरणें आलोकित कर रही थीं । साथियों की बातों के साथ रात्रि का समय व्यतीत हो गया । प्रातः अन्य साथियों से पहले ही मैं तैयार हो गया था । रात्रि में हुआ एक विशिष्ट अनुभव जो बड़ा ही रोमांचक, मनोहारी,

पुलकित एवं प्रेरित करने वाला था । आज भी वह अनुभव जब स्मृति-पटल पर उभरता है तो रोम्रां-रोम्रां हर्षित हो उठता है ।

संक्षेप में—उस दिव्य अनुभूति को शब्दों का परिवेश दूं तो वह इस प्रकार होगी—प्रातःकाल उठने के पहले करीब २ घण्टे भर पहले का समय होगा—मुझे कोई शक्ति झकझोर रही है और पुकार रही है—'सोया क्या है—उठ जल्दी कर, गुरुदेव के दर्शन करने जाना है, सभी चले जायेंगे, तू पीछे रह जायेगा ।' इस तरह करीबन दो-तीन मिनट तक वह शक्ति मुझे आवाज लगाती रही । मैं हड़-बड़ा कर उठा, इधर-उधर देखने लगा—सभी सो रहे हैं, कोई भी अभी तक जगा नहीं है । उठकर बाहर आया—देखा तो अभी रात भी काफी लग रही है । मैं सोचने लगा—मुझे किसने जगाया ? कोई जगाने वाला नजर नहीं आया, काफी देर इधर-उधर देखता रहा, कुछ नजर नहीं आया । आखिर सोचा—कोई न कोई शक्ति ही मुझे जगा रही है, अब नहीं सोना है, जगता रहा । कल की सारी स्मृतियां उभरने लगीं, व्याख्यान में बोलने की, सम्यक्त्व लेने की, परिचय की, इस तरह दिनभर की अनुभूत स्मृतियों में खोया रहा । धीरे-धीरे सभी उठने लगे । एक-एक करके सभी से मैंने पूछा—किसी ने मुझे आवाज लगाई.......सभी ने मना कर दिया । तब यह विचार दृढ़ीभूत हो गया कि किसी दिव्य शक्ति ने ही मुझे झकझोरा है, उसी ने जगाया है । मैंने अपने साथियों से भी यह बात कहीं । सबने आश्चर्य व्यक्त किया ।

हम सभी साथी एक ही परिवेश में, एक साथ चल पड़े—गुरु दर्शन के लिए । हम सभी मुनिवरों के दर्शन करते हुए महावीर भवन के ऊपरी भाग जहां आचार्य श्रीजी विराजित थे, वहां पहुंचे पता चला कि वे उसी क्षण मुझ में क्रांति-कारी परिवर्तन घटित करने के लिए मुनिपुंगव मेरे समक्ष उपस्थित हुए । मेरा मत्था उनके श्री चरणों की ओर झुक गया । मुनिश्री कहने लगे—तुझे कुछ नियम लेना है ? मैं सोचने के लिए मजबूर हो गया—एक-दो क्षण सोचकर मैंने कहा—जरूर नियम लूंगा, क्या नियम दिलवायेंगे ? उन्होंने कहा—जो मैं कहूंगा वो नियम लेना पड़ेगा । मैं फिर विचारां में खो गया । किन्तु अन्तःचेतना ने तत्काल जीवट होते हुए कहा—मंजूर । जो आप नियम दिलवायेंगे वो लेने के लिए मंजूर हूं । मुझे कुछ पता नहीं चला कि वे क्या नियम दिलवायेंगे । पर मन की मकम्मता जो अभिव्यक्त हुई उससे मैं खुद आश्चर्याभिभूत हो गया । मुनिश्री मुझे अकेले को लेकर चल पड़े जहाँ समत्व साधना की अटल गहराई में डूबे आचार्य श्री ध्यानस्थ थे । मैं पूज्य गुरुदेव की उस अप्रतिग मंगल मूर्ति को अपलक देखता रहा । थोड़ी देर के बाद पूज्य गुरुदेव की वह ध्यान प्रक्रिया पूर्ण हुई—उन्होंने अपने निर्विकार नेत्रों से मुझे खड़े देखा, मेरा तन-मन सम्पूर्ण अंतरंग पूर्ण श्रद्धा के साथ झुका था, आचार्य देव ने अपनी मधुरिम वाणी में पूछा—कौन हो भाई तुम ? यहां क्यों खड़े हो ? क्या बात है ? पूज्य गुरुदेव की मधुर वाणी इतनी सन्निकटता

से आज ही, इस जन्म में पहली वार ही सुनने को मिल रही थी। मैं कुछ कहना चाह ही रहा था कि वे मुनिपुंगव जो मुझे भीतर खड़ाकर चले गये थे, पुनः उप-स्थित हो गये और गुरुदेव से विनम्र हो निवेदन करने लगे, गुरुदेव ! इसे इस जीवन में शादी नहीं करने का नियम दिलवा दीजिये। कहकर वे मुझे देखने लगा—मैं मन्द स्मिति के साथ गर्दन हिलाकर अनुमति दे रहा हूं....मेरी अनुमति सूचक अवस्था देखकर वे मुनिश्री वाहर हो गये। वाद में मुझे पता चला वे मुनि पुंगव थे—विद्वद्वर्य श्री प्रेम मुनिजी म. सा. ! पूज्य गुरुदेव मुझे अपार स्नेह औ आत्मीयता की भावधारा वहाते हुए देखने लगे—मैंने कहा—गुरुदेव आप मु नियम दिलवा दीजिये कि मैं इस जन्म में शादी नहीं करूंगा—मुझे मुनि बन है। मैं आपका शिष्य बनकर आत्म-कल्याण करना चाहता हूं।

पूज्य गुरुदेव ने मेरी सहज अभिव्यक्ति की सच्चाई को जानने के लि पूछा—क्या समझते हो भाई तुम शादी में ? वैसे यह प्रश्न सामान्य है, पर गुरुदेव के कहने में बड़ा रहस्य भरा था, मैंने इतना ही निवेदन किया—इसमें समझने की क्या वात है, सारा संसार इस प्रपंच में उलझा हुआ है, मैं इस उल-झन में नहीं फंसना चाहता। मैं तो अपने जीवन को प्रारम्भ से ही भव्य वनाना चाहता हूं। मेरी अभिव्यक्ति को सुनकर गुरुदेव ने वात को मोड़ देते हुए कहा—अच्छा-अच्छा कौन है तुम्हारे पिताजी ? कहां के हो तुम ? मैंने अपना सामान्य परिचय दिया। गुरुवर्य ने उस समय इतना ही कहकर मुझे आश्वस्त किया कि तुम अपने पिताजी को लेकर उपस्थित होना। फिर सोचेंगे ? मैं कमरे से वैसे तो खाली हाथ बाहर हो गया। किन्तु निश्चय यह करके निकला कि मैं पिताश्री को लेकर यह नियम लूंगा और अपने आपको संयम–साधना के योग्य सावित करूंगा। पूज्य गुरुदेव की सन्निकटता का वह क्षण वास्तव में बड़ा आनन्दकारक था।

अन्तर्मन में अनेक विचार तरंगें तरंगित हो रही थीं। मैं कुछ समय पश्चात् अपने पू. पिताश्री को लेकर गुरुदेव के चरणों में उपस्थित हुआ। वहीं मेरा निश्चय अब आग्रह में बदल गया—मैंने पूज्य गुरुदेव के समक्ष पिताजी से कहा—मैं दीक्षा लेना चाहता हूं इसके लिए मैं यह नियम लेना चाहता हूं कि मैं इस जीवन में शादी नहीं करूंगा। इसके लिए आपकी अनुमति चाहिए। पू. गुरु-देव ने भी मेरी भावनाओं में मौन संबल प्रदान किया। पिताश्री हलुकर्मी आत्मा थे। उन्होंने कहा—गुरुदेव मेरे नियम हैं। मैंने तो स्वर्गीय गुरुदेव से बचपन में ही नियम ले रखा है कि मेरे परिवार से कोई भी दीक्षा लेना चाहेगा तो मैं कभी उसके मार्ग में बाधक नहीं बनूंगा। यह बच्चा चाहता है तो मेरा इसमें कोई विरोध नहीं है—आप जैसा उचित समझें। पू. पिताजी की अनुमति के वाद तो मेरे हर्ष की सीमा नहीं रही। मेरा निश्चय, साकार हो रहा है, इस बात की बड़ी खुशी हो रही थी। पर गुरुदेव जो एक महान् निस्पृह साधक हैं, उन्होंने

अपनी उसी अल्हड निस्पृहता को अभिव्यक्त करते हुए कहा—भाई ! अभी तुम बच्चे हो, अपरिपक्व हो, इसलिए मैं तुम्हें २५ वर्ष तक अर्थात् २५ वर्ष की तुम्हारी वय-अवस्था न हो जाय तब तक के लिए शादी नहीं करने का त्याग करवा देता हूं। उसके बाद...इतना कह ही रहे थे—मैंने चरण पकड़ लिये, नहीं गुरुदेव ! ऐसा नहीं होगा, मुझे तो आप आजीवन के लिए ही त्याग करवा दीजिये। मेरी भावना को देखकर गुरुदेव कहने लगे...भाई...अभी बच्चे हो...बच्चे हो...बाद में कर लेना। ...तुम अपने निश्चय में दृढ़ रहो...यही सोचो कि मैं तो आजीवन का त्याग कर रहा हूं...आदि कहते हुए मुझे समझाने लगे। उस समय मेरा मन बड़ा आनन्दित था। मैं अपने आप में आत्मा की अनन्त विराटता का अनुभव कर रहा था।

उस समय पूज्य गुरुदेव के एक संक्षिप्त किन्तु मर्मस्पर्शी उद्‌बोधन की अमृत वर्षा मुझ पर हुई—

पूज्य गुरुदेव ने जीवन की सार्थकता का स्वरूप समझाते हुए फरमाया—कि हमें यह जीवन मौज शौक, आमोद-प्रमोद करने के लिए प्राप्त नहीं हुआ है। इस जीवन से जितनी संयम की साधना कर ली जाय, उतना ही आत्म गुणों का विकास किया जा सकता है। साथ ही हमें अपनी आत्मा पर अनादिकाल से लगे विकारों को धोने का यही सुन्दरतम अवसर है। काम, क्रोध, मोह, माया, छल-कपट, ईर्ष्या, द्वेष आदि से सारा संसार भरा हुआ है। जिधर देखो उधर इन्हीं का बोलबाला है—इनसे निवृत्त होने के लिए जिन शासन में आचार साधना का जो श्रेष्ठतम मार्ग बताया गया है, वही सर्वोत्तम है।

मैं पूज्य गुरुदेव के अमृत वचनों का एकरस होकर रसपान करता रहा। अपूर्व आत्म जागृति का अभिनव संचार पाकर मन गद्‌गद् हो गया। मैं निर्णायक चिन्तन में स्थिर हो गया, वहां से अपूर्व निर्णय लेकर मैं अपनी आत्म साधना की भव्यता में एवं वैराग्य भावना की अभिवृद्धि में जागरूक रहने के लिए अनन्त उपकारी कर्मठ सेवा. धायमातृ पदालंकृत श्री इन्द्रचन्दजी म. सा. की सन्निधि में रहने लग गया। मुनि भगवन् ने बड़ी आत्मीयता से हमारे ज्ञान एवं चारित्र की विकास भूमि को प्रशस्त किया।

मेरे दीक्षित होने के निर्णय से मेरे पिता श्री, मातु श्री एवं लघु भगिनी के भी ये ही विचार बने और वे भी आचार्य श्री नानेश के शासन में दीक्षित हुए।

उत्तर—२. आपने आचार्य श्री के साधनागत जीवन की मौलिक विशेषताओं के बारे में पूछा है। पूज्य गुरुदेव का साधनामय जीवन सभी दृष्टिकोणों से सर्वोत्तम है। उनका अंतरंग जीवन इतना सध चुका है कि वे अब कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, सदैव प्रसन्न रहते हैं। कई बार ऐसी विकटसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं जिनमें हम चिंतित से हो जाते हैं परन्तु गुरुदेव की समता में कोई फर्क नहीं पड़ता।

प्रारम्भ से ही अर्थात् मुनि अवस्था से ही गुरुदेव मन से पवित्र हैं, वाचा से संयमित हैं, और काय से सेवा परायण हैं। प्रभु महावीर ने आगम में आत्म साधक की भव्यताओं की ओर जो संकेत उपदेश एवं महत्त्व बताये हैं वे सारे अक्षरशः पूज्य गुरुदेव के जीवन में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं।

हम कतिपय आगम की आलोक किरणों में पू. गुरुदेव श्री के जीवन को झांकने का प्रयास करेंगे—

यथार्थ निश्चय—प्रभु ने कहा—'दुल्लहे खलु माणुसे भवे'—मनुष्य जन्म निश्चित ही दुर्लभ है। इस दुर्लभ जन्म को पाकर आचार्य श्री ने उसका सदुपयोग करने की तीव्र ललक लिए गुरुणांगुरु श्रीमद् गणेशाचार्य के श्री चरणों में अपना सर्वस्व समर्पित किया। पूज्य गुरु चरणों में आपश्री ने रत्नत्रय की सांधना के लिए—

सव्वाओ पाणाइ वायाओ वेरमणं
जाव सव्वाओ राइ भोयणओं वेरमणं........

अर्थात्—सर्वथा रूप से प्राणातिपात—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह एवं रात्रि भोजन-पान का आजन्म के लिए त्याग-परित्याग किया। वाह्य संयोगों का त्याग साधना जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है लेकिन हमारे आचार्य श्री इस पहलू तक ही सीमित नहीं रहे किन्तु वे इस त्याग के साथ अंतरंग जीवन-साधना के प्रति प्रणत हो गये—

महापथ-समर्पण—"पणयावीए महावीहिं"—वीर वही है जो महावीथि-महापथ-साधना जीवन के प्रति समर्पित हो। आचार्य श्री की साधना का महापथ कैसा रहा—

"अकुसलमण निरोहो
कुशलमण उदीरणं चेव"

अकुशल-अशुभ विचारों का निरोध तथा कुशल-अशुभ विचारों का उदीरण-उदीपन (संविकास) करने को साधना ही हमारे आराध्य देव की रही। अशुभ से शुभ को और शुभ से शुद्ध को प्रकट करना ही प्रत्येक वीतराग साधक का लक्ष्य होता है, यही लक्ष्य रहा आचार्य श्री का। क्योंकि इस लक्ष्य के विना न धर्म की साधना होती है और न आत्म-शुद्धि—

पवित्रता के पुञ्ज—"मनो पुण्णं गमा धम्मा"—मन की पवित्रता से ही धर्म-साधना की पवित्रता साधी जा सकती है। मन की पवित्रता ही वचन एवं काया में प्रतिबिम्बित होती है। आचार्य श्री का मनोभाव हर समय पवित्र भावों से ओतप्रोत रहता है। वे 'मित्ति में सव्व भूएसु' मैत्री है मेरी समस्त प्राणियों के साथ—इस अमृत वचन में सदा साराबोर रहते हैं। वे कभी भी किसी को अपना शत्रु नहीं मानते। जब कोई व्यक्ति अज्ञानता से या गलतफहमी से कुछ

निंदा—अपमान के भावों में बहकर कुछ कह देता है या लिख देता है तो भी उसके प्रति कोई द्वेष नहीं, रोष नहीं । मानसिक पवित्रता के पुञ्ज हैं आचार्य श्री ।

समत्व के शिखर पर—निम्न आगम वाक्यों पर आचार्य देव का जीवन स्थिर है—

चरित्तं खलु धम्मो
धम्मो जो सो सम्मो त्ति निद्दिडो ।
मोह क्खोह विहीणो
परिणामो अप्पणो हु समो ।

समत्व वहीं होता है जहां आत्मा मोह और लोभ से मुक्त होती है । यही निर्मल, शुद्ध वीतराग भाव से सम्पन्न चारित्र साधना है । आचार्य-प्रवर के जीवन से यह बात सुस्पष्ट है कि उनमें न शिष्यों का मोह है और न किसी घटना या परिस्थिति से क्षोभ पैदा होता है । समत्व साधना के उत्तुंग शिखर पर विराजित आचार्य देव की यह भव्य चारित्र साधना है ।

तप से प्रदीप्त चर्चा—आगमों में—'उग्गतवे, दित्ततवे घोर तवे' के विशेषण गौतमादि गणधरों के लिए प्रयुक्त हुए हैं । इस तपस्तेज से आचार्य-प्रवर की जीवन चर्या हरक्षण अनुप्राणित रहती है । आभ्यंतर विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग में समर्पित गुरुदेव उग्रतपस्वी, दीप्त तपस्वी एवं घोर तपस्वी हैं ।

सेवा के आदर्श—'जेगिलाणं पडियरइ से धन्ने'—जो ग्लान की सेवा में अभिरत रहते हैं, वे धन्य हैं । पूज्य गुरुदेव आचार्य जैसे विशिष्ट पद पर आसीन हैं फिर भी कोई अहं नहीं, किसी कार्य को करने में ग्लानि का अनुभव नहीं करते । शैक्ष तपस्वी, रुग्ण मुनियों की सेवा में अहर्निश तत्पर रहते हैं । फलतः 'वैयावच्चेणं तित्थयर नाम गोयं कम्मं निबंधइ' सेवा का यह उदात्त भाव आपको तीर्थंकर नाम कर्म की सर्वोत्तम पुण्य प्रकृति का बोध करवाने वाला बन सकता है ।

लोकेषणा से मुक्त— **न लोगस्सेसणं चरे**
जस्स नत्थि इमा जाइ
अण्णा तस्स कओ सिया ?

साधक को लोकेषणा से मुक्त होना चाहिए । आचार्य श्री को नाम की, प्रतिष्ठा की, यशकीर्ति की, अपने व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को प्रचारित, प्रसारित करने की किंचित् भी लोकेषणा नहीं है । अगर यह लोकेषणा होती तो पद एवं प्रतिष्ठा के, मान, सम्मान के बहुतेरे अवसर आये पर आपने श्रमण संस्कृति के प्राण स्वरूप श्रमण जीवन की आचार-संहिता के विरुद्ध समझौता नहीं किया ।

जागरूकता—आचार्य श्री हर समय जागरूक रहते हैं, कौन-सा कार्य किस समय करना है, इस बात के लिए आप विशेष रूप से सजग रहते हैं । आगम वचन के अनुसार आप असमय में किसी कार्य को करके पश्चातापित नहीं होते—

'जेहि कालं परक्कंतं, न पच्छा परितप्पइ'—प्रत्येक कार्य को करने में एक विशेष प्रकार की तन्मयता आपश्री की जीवन-शैली है। आपश्री अपनी कर्मण्य शक्ति का कभी गोपन करके नहीं रहते। 'नो निह्लवेज्जवोरियं'—साधक को अपनी साधना में आत्म शक्ति नहीं छिपाना चाहिए—आप इस बात के सजग साधक हैं।

इस तरह अनेक प्रकार की आचार्य श्री के अंतरंग साधना जीवन की विशेषताएँ हैं जो आगम पुरुष के रूप में प्रत्येक साधक के लिए प्रेरणास्पद हैं।

संक्षेप में पूज्य गुरुदेव का जीवन, अध्ययन, अध्यापन, चिंतन, मनन साधना, ध्यान, योग सभी सर्वोत्तम हैं। आज आप श्री उस परम अवस्था की भाव स्थिति पर प्रतिष्ठित हैं, जहां अनुकूल–प्रतिकूल, सुख-दुःख, संयोग-वियो जन्य विविधताएं–विचित्रताएं परिव्याधित नहीं करतीं। एक अलौकिक आलो पुञ्ज के रूप में आप श्री युग चेतना को दिशा एवं दृष्टि प्रदान कर रहे हैं आपश्री का आगम की भाषा में—

"समाहि यस्सग्गी सिहा व तेयसां
तवो य पन्ना य जस्सो वड्ढइ।"

अग्नि शिखा के समान प्रदीप्त एवं प्रकाशमान रहने वाले अन्तर्लीन, आत्म-साधक के तप और यश निरन्तर प्रवर्धमान रहते हैं।

उत्तर—३. आचार्य श्री नानेश के द्वारा प्रदत्त समीक्षण ध्यान–साधना के बारे में आपने पूछा है। वैसे जब से आचार्य देव के चरणों में दीक्षित होने का सौभाग्य मिला तब से जीवन का प्रशस्त विकास किस तरफ से हो इस दिशा में पूज्य गुरुदेव का सतत मार्ग दर्शन मिलता रहा है, यह कहने में किंचित् भी संकोच नहीं और न किसी प्रकार की अतिशयोक्ति ही है कि हमें दीक्षित होने के अनन्तर पूज्य गुरुदेव का जो संबल, संरक्षण प्राप्त हुआ, वह अपने आप में अद्भुत है। उसकी अभिव्यक्ति शब्दों से नहीं की जा सकती है। शब्द सीमित हैं और गुरुदेव के उपकार असीम हैं।

ध्यान-साधना के बारे में वैसे प्रारम्भ से ही गुरुदेव श्री के संकेत मिलते रहे हैं, परन्तु अहमदाबाद चातुर्मास में आचार्य श्री भगवन् ने हमारी योग्यता-पात्रता को देखकर सक्रिय रूप से ध्यान और योग की दिशा में गतिशील होने के लिए प्रेरित किया। वैसे प्रेरणा तो सतत मिलती ही रहती थी, किन्तु इतनी सक्रिय रूप से नहीं। जब से प्रेरणा के साथ स्वयं आचार्य देव का साक्षात् मार्ग-दर्शन मिलने लगा तब से मन में ध्यान-साधना के प्रति जिज्ञासा, पिपासा एवं अभिरुचि विशेष रूप से उभरने लगी। पूज्य गुरुदेव ने स्वयं कई प्रयोग करवाये और इस दिशा में अब तक कई प्रयोग, परीक्षण एवं मार्ग-दर्शन मिलते रहे हैं। पूज्य गुरुदेव के द्वारा अभिहित प्रयोगों से हमारे जीवन में जो कुछ घटित हुआ है, वह अपने आप में अलौकिक हैं सामान्य कल्पना से परे हैं।

सबसे बड़ी उपलब्धि हमें हमारे जीवन में महसूस होती है वह यह कि हमारी वृत्तियों में एवं प्रवृत्तियों में एक अतिशयकारी परिवर्तन हुआ है। सामान्य तौर पर काफी समय लग जाता है, कई वर्ष लग जाते हैं साधना जीवन में, वृत्तियों के रूपान्तरण में, किन्तु हमें यह अनुभव होता है—यह कोई गर्व की बात नहीं है कि बहुत थोड़े समय में हमारे में जो रूपान्तरण घटित हुआ है, वह वास्तव में गुरुदेव की ध्यान-साधना का चामत्कारिक परिणाम है। आज भी इस दिशा में हम आगे बढ़ रहे हैं। यह कहने में किंचित् भी संकोच नहीं कि इसी उत्साह, अभ्यास एवं आशीर्वाद से हम बढ़ते रहें तो निश्चित है—दीक्षित-प्रव्रजित होने का लक्ष्य बहुत शीघ्र ही प्राप्त करने में सक्षम बन सकेंगे। वैसे अनुभूति गम्य बातों की अनुभूति ही श्रेयस् होती है, उनको शब्दों का परिवेश नहीं दिया जा सकता। ध्यान-साधना से हुए अनुभव, हो रहे अनुभव तक ही सीमित रखने के विचार ही इस समय उपयुक्त हैं।

उत्तर—४. आचार्य श्रीजी की सरलता व सहजता बड़ी गजब की है, वे कृत्रिमता जरा भी पसन्द नहीं करते। बातें बहुत सामान्य-सी होती हैं, पर होती हैं बहुत बड़ी प्रेरक। जब कभी भी किसी शहर में प्रवेश करने का प्रसंग होता है, या दीक्षा-प्रसंग होता है, या कोई विशेष अवसर होता है तो हम शिष्यों का एक स्वाभाविक आग्रह होता है कि आज आपको यह नया परिवेश धारण करना है हालांकि वह कोई विशिष्ट-अतिविशिष्ट नहीं होता, किन्तु फिर भी पूज्य गुरुदेव आनाकानी करने लग जाते हैं, उनका यह स्वर अन्तस्तल को छूने वाला होता है—अरे भाई! हमें क्या दिखावा करना है, जो है वही अच्छा है। जो प्रतिदिन पहना या धारण किया जा रहा है, वही ठीक है। यह केवल पहनावे के सम्बन्ध में ही सहजता या स्वाभाविकता नहीं होती। इस तरह की जितनी भी कृत्रिमता वाली बातें होती हैं उन सब बातों में गुरुदेव अत्यन्त सहज एवं सरल होते हैं।

पूज्य गुरुदेव की एक अन्य विशेषता है कि वे हर समय अत्यन्त संतुलित रहते हैं। उनके सन्तुलन का स्वभाव बड़ा जबर्दस्त है। किसी भी बात को लेकर वे क्षणिक सोच भले ही करलें किन्तु उस सोच ही सोच में उलझे नहीं रहते हैं। गुरुदेव श्री के पास सभी तरह के अलग-अलग स्वभाव के साधु हैं, उनमें कोई मुनि या साध्वी किसी तरह की गलती कर देता है तो गुरुदेव उसे शिक्षा के प्रसंग से कह देते हैं किन्तु बाद में हर समय उसको टोंचना, उपालम्भ देना या हीन दृष्टि से देखना उनका स्वभाव नहीं है। वे उसको उसी प्रेम, स्नेह और आत्मीयता के नजरिये से देखते हैं। क्षणिक-क्षणिक बातों में न वे उलझते हैं और न अपने नजरिये को बदलते हैं।

पूज्य गुरुदेव की विशेषताओं में एक विशेषता है कि वे संयम जीवन के सजग प्रहरी हैं। किसी को दिखाने के लिए नहीं किन्तु निश्छल आत्म-भावना से वे छोटी-सी, सामान्य-सी बात के लिए अत्यंत सजग रहते हैं। सामान्य मुनि

या साध्वी यह कह देती हैं कि क्या है इसमें ? छोटी-सी बात है—ध्यान रखो तो ठीक नहीं तो कोई खास बात नहीं ? किन्तु गुरुदेव कभी यह बर्दास्त नहीं करते । वे कहते हैं– छोटी बात है क्या ? उसका भी बराबर ध्यान रखो । यह मात्र उनका आदेश ही नहीं होता बल्कि वे पालन करते हैं । ऐसे पालन करने के सैंकड़ों उदाहरण हैं ।

पूज्य गुरुदेव की मनोवैज्ञानिक समझाइश बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। मनोविज्ञान का बड़ा गहरा अनुभव एवं अध्ययन है आपश्री को । यही कारण है कि आप किसी भी बात के लिए हठात् निर्णय नहीं लेते । बहुत सोच-विचार करके निर्णय पर पहुंचते हैं । जब निर्णय ले लेते हैं तो फिर उस पर स्थिर रहते हैं। उस निर्णय में हेराफेरी करना आपका स्वभाव नहीं है । इसका मतलब यह नहीं कि आप सत्य की स्वीकृति के लिए सदा के लिए दरवाजा बन्द कर देते हैं। सत्य के लिए आपके द्वार सदैव खुले रहते हैं । सत्य-हकीकत अगर कोई छोटा बच्चा भी कहता है तो उसे आप बेहिचक स्वीकार करते हैं। और अगर सत्य के विपरीत कोई बात बड़ा व्यक्ति भी कहता है तो उसे आप स्वीकार नहीं करते ऐसे अनेक प्रसंग रोजमर्रा जीवन में आते हैं ।

पूज्य गुरुदेव का जीवन कई विशिष्टताओं को लिए हुए हैं। आप 'वज्रादयि कठोराणि, मृदूनि कुसमादपि' दोनों प्रकार की अवस्थाएं रही हुई हैं

संक्षेप में आप निश्छल मानस, वाक्पटु एवं व्यवहार कुशल हैं । आप में साधना की अतल गहराई है, ज्ञान की उच्चतम ऊंचाई है, सागर सम-गांभीर्य हैं । सुमेरुसम विराटता है । आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के बावजूद आप निराभिमानी हैं और सर्वाधिक विशेषता है आपकी कि आप सहिष्णुता के प्रज्ञावतार हैं ।

उत्तर—५. हमारे संयम जीवन को पुष्ट बनाने वाली ऐसी अनेक विशेषताएं हैं जो हमारा सतत मार्ग दर्शन करती हैं । अबूझ अवस्था में संबोध अवसर देती हैं । तनाव विमुक्ति एवं आत्म-शान्ति का मार्ग प्रशस्त करती हैं।

—विजय मुनि के भावों में
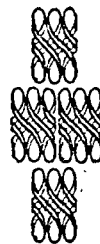
उत्तर जो दिये गए-[५]

सागर कभी नहीं छलकता

❀ श्री ज्ञान मुनि

उत्तर—१ संयम स्वीकार करने प्रेरणा का जहां तक प्रश्न है, मुझे पष्ट रूप से किसी की प्रेरणा मिली हो, ऐसा उपयोग में नहीं है। हां पारिवारिक संस्कार धार्मिक होने से एवं संत-मुनिराज एवं महासतियां जी म. सा. के र्शनार्थ जाने से साधुत्व के प्रति सहज आकर्षण पैदा हो गया। अतः बाल्यकाल । ही संयम धारण करने की भावना बनी रही है। पर आचार्य-प्रवर के ब्यावर ातुर्मास में श्रद्धेय गुरुदेव आचार्य भगवन् का एवं साथ ही धायमाता पद विभूषित, र्मठ सेवाभावी श्री इन्द्रचन्द जी म. सा. का सान्निध्य प्राप्त होने से भावना में वेशेष उभार आया। आचार्य-प्रवर के करीब-करीब चारों मास के प्रवचन-श्रवण रने का लाभ लिया। यद्यपि उस समय उम्र ११ वर्ष की ही होने से प्रवचन ूरा तो समझ में नहीं आता था पर प्रवचनों के एवं चार मास के सतत सान्निध्य के प्रभाव स्वरूप शीघ्र ही संयम जीवन स्वीकार करने के लिए जागृत हो उठा था और करीव दो वर्ष के वैराग्याभ्यास के वाद गुरुदेव ने दीक्षित कर मुझ अवोध को अपने सान्निध्य में ले लिया। गुरुदेव के पास दीक्षित शिष्यों में सर्वाधिक अल्पायु होने पर भी मुझे दीक्षित कर गुरुदेव ने मेरे ऊपर अधिक उपकार किया है।

उत्तर—२ इस प्रश्न का उत्तर कहां से आरम्भ किया जाए, और कहां तक दिया जाए, यह स्वयं की शक्ति से वाहर है। आप ही वतलाइये कि यदि कोई यह पूछे कि यह मोदक (लड्डू) किस ओर से मधुर, तो क्या जवाब दिया जाय? जिस प्रकार मोदक सभी ओर से मधुर होता है, उसी प्रकार आचार्य-प्रवर का संयमी जीवन तो जव से आरम्भ हुआ है, तब से अव तक मौलिक ही रहा है, उनका हर चिन्तन, उच्चारण और आचरण अपने आपमें मौलिक ही रहता है, ऐसी स्थिति में उन सवको व्याख्यापित कर पाना शक्य नहीं, यह अनुभूति का विषय है जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती। फिर भी आपने पूछ ही लिया है तो मेरी अल्पमति के अनुसार जो कुछ वातें अनुभूत हुईं उनमें से कुछेक आपके सामने प्रस्तुत कर देता हूं।

प्रथम तो आपने जिस लक्ष्य को लेकर साधुत्व स्वीकार किया है, उसके प्रति आपश्री पूर्ण रूप से जागरूक हैं, संयमीय क्रियाओं में आंशिक भी कटौती आपको कतई अभीष्ट नहीं रही है। इसका आपश्री के वाहरी व्यवहार से सहज

ही अनुमान लगाया जा सकता है। अध्ययन के क्षेत्र में भी आप श्री ने गम्भीर अध्ययन किया है। इसमें विशेष बात यह परिलक्षित हुई कि जब भी किसी भी जटिल विषय को हृदयंगम करना होता तो आप श्री उपवास कर लिया करते ताकि जो ऊर्जा शारीरिक कार्यों में खर्च हो रही, वह भी अध्ययन में ही लग जाने से वह विषय सहज ही हृदयंगम हो जाता। किसी के द्वारा किसी भी प्रकार का व्यवहार आपश्री के साथ किये जाने पर भी आपश्री का व्यवहार उनके प्रति विनय, सौहार्द एवं संयमीय आत्मीयता के साथ ही बना रहा है, पत्थर मारने वाले को भी आपश्री ने आम्रफल की तरह मधुरता ही दी है। स्व. गुरुदेव की सेवा में सर्वतोभावेन समर्पित होकर आपश्री ने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है।

यश लिप्सा, पद प्रतिष्ठा से तो आपश्री का दिल कोसों दूर रहा है। आचार्य पद जैसे महान् पद पर प्रतिष्ठित होकर भी आपश्री को अहंकार छू तक नहीं पाया। आपश्री में इतनी अधिक निस्पृहता समाई हुई है कि कभी किसी भी विरक्तात्मा को शीघ्र दीक्षा देने के लिए उत्साहित न कर, पहले उसकी परिपक्वता का परीक्षण करते रहते हैं। लघुता के भाव इतने अधिक गहरे हैं कि अपने शिष्य-शिष्याओं के लिए भी कभी यह नहीं कहते कि ये मेरे चेले—चेली हैं। सदा यही फरमाते हैं कि आप सभी मेरे भाई-बहिन हैं। हम सभी इस संघ के सदस्य हैं। एक विशाल संघ के अनुशास्ता होने के कारण कई प्रकार की समस्याएं आती रहती हैं, जिन समस्याओं से सामान्य साधक तो घबरा जाता है, पर आपश्री अपनी विचक्षण प्रज्ञा और स्वस्थता के साथ उन सभी समस्याओं का समाधान करते चले जाते हैं।

सामान्य तौर पर यह देखा जाता है कि आदमी का मानस किसी बात को लेकर तनाव में आ जाता है तो फिर उससे दूसरा कोई भी कार्य ठीक नहीं हो पाता है, वह उस तनाव के कारण सारा समय उदास ही बना रहता पर आचार्य-प्रवर में तो यह विलक्षणता है कि कभी किसी भी कार्य में रुकावट, बाधा या समस्या आ भी गई तो भी उससे आपश्री के मन-मस्तिष्क में असंतुलन की अवस्था नहीं आती। अन्य सभी कार्यों का आपश्री पूर्ण स्वस्थता के साथ निर्वहन करते हैं, आपश्री में यह भी गजब की शक्ति है कि आपश्री किसी से कुछ भी बात कर रहे हों, उसे समझा रहे हों, और इसी बीच, तत्क्षण आपश्री को अन्य किसी भी व्यक्ति से भी बात करनी पड़े तो, आपश्री के हाव-भाव में इतनी अधिक तन्मयता आ जाती है कि सामने वाला व्यक्ति आपश्री की मुखमुद्रा से यह अनुमान कभी नहीं लगा सकता कि आपश्री पूर्व में क्या बात कर रहे थे। किसी भी मानसिक व्यावहारिक दौर में आपश्री गुजर रहे हों, ऐसी स्थिति में भी यदि कोई साधक आपश्री से कोई प्रश्न पूछ ले तो आपश्री को मूड बनाने

की आवश्यकता नहीं, आपश्री की सारी प्रज्ञा स्वत: ही उसके समाधान में लग जाती है ।

आप जब भी आएंगे आपको करीब-करीब सब समय भक्तों की भीड़ नजर आएगी, पर आश्चर्य इस बात का है कि इतनी भीड़ एवं कोलाहल के वीच में भी आपश्री अपने आप में अकेले हैं । भीड़ एवं कोलाहल के बीच में भी अध्ययन में इतने अधिक तन्मय हो जाते हैं कि आपश्री को भीड़ का अहसास ही नहीं होता ।

गुरुदेव के अनुशासन की यह बड़ी विशेषता रही है कि आपश्री जल्दी से किसी को कुछ भी आदेश नहीं देते, पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसके मन का विश्लेषण करते हुए उसे तदनुकूल गति करने के लिए प्रेरित करते हैं ।

एक विशाल संघ के अधिनायक होने के बावजूद भी आपश्री में धैर्य, क्षमा, सहनशीलता, सरलता, उदारता आदि गुण कूट-कूट कर भरे हुए हैं । छद्मस्थतावश हम शिष्यों में से किसी से यदि कोई अविनय भी हो जाए तो आपश्री कभी भी उत्तेजित नहीं होते । ऐसे प्रसंगों पर कभी-कभी ऐसा लगता है कि अन्य कोई साधक हो तो तुरन्त उत्तेजित हो सकता है, पर सत्य है सागर कभी नहीं छलकता ।

किसी के द्वारा संयम-मर्यादा के प्रतिकूल यदि कोई कार्य हो भी जाए तो आपश्री कभी भी उत्तेजित होकर या आक्रोश में आकर शिक्षा नहीं देते, पर इतने प्रेम, स्नेह और आत्मीयता के साथ प्रशिक्षित करते हैं कि सामने वाला अपनी गलती को स्वीकार करता हुआ दण्ड प्रायश्चित ग्रहण कर सदा के लिए संयग मर्यादा में सुस्थिर होने के लिए तत्पर हो उठता है । संयम पालन में न्यूनता लाने वाले बड़े से बड़े साधक को भी आप श्रीसंघ से बाहर करने में नहीं हिचकिचाते ।

आज भी आप स्वयं का काम स्वयं करने की ओर सदा उत्सुक रहते हैं । कोई भी कार्य आदि अवशेष रह जाए, हमारे ध्यान में न आ पावे, तो उसे पूरा करने के लिए आप श्री सहर्ष लग जाते हैं, और यह फरमाते हैं कि भाई मुझे यह कार्य करने दो ताकि मेरा शरीर ठीक रहेगा । यह भी आपकी महानता है कि आप सेवा करके भी एहसास नहीं कराना चाहते ।

निर्णय लेने की भी आपश्री में अद्भुत क्षमता है । कभी-कभी तो ऐसे प्रसंग सामने आ जाते हैं कि 'इधर कुआ और उधर खाई' ऐसी स्थिति में भी आपश्री की विचक्षण प्रज्ञा बड़ी सहज गति से संकटों को हटाती हुई आगे बढ़ती जाती है । आपश्री के मुख-मण्डल पर आक्रोश, विषाद, निराशा की रेखाएं कभी भी परिलक्षित नहीं होगी । किसी भी विकट परिस्थिति में भी आपश्री सदैव प्रसन्न मुद्रा में रहते हैं । इसके पीछे क्या रहस्य है ? इसका मुझे यह अनुभव

हुआ कि गुरुदेव प्रवचन एवं बातचीत के दौरान यह फरमाया करते हैं कि मैं जो भी कार्य करता हूं, पहले निर्णय लेता हूं, या फिर निर्देश देता हूं, तो उन सब में संयम को मुख्य रखते हुए निःस्वार्थ दृष्टिकोण के साथ संघ-कल्याण की भावना को लक्ष्य में रखता हूं, इस पर भी यदि परिणाम विपरीत आता है तो मैं उसे अच्छे के लिए आया मानता हूं।

आपश्री की अन्तर चेतना इतनी अधिक सशक्त है कि जब आपश्री के कंधों पर संघ का भार सौंपा गया था, उस समय संघ की स्थिति एक जर्जरित खण्डहर जैसी थी। महल का निर्माण करना उतना कष्टप्रद नहीं होता है जितना कि खण्डहर को मजबूत बनाना होता है, पर आपश्री ने अपने तप-संयम के प्रभाव से जर्जरित हो रहे खण्डहर को भी एक सुसज्जित विशाल महल के रूप में स्थापित कर दिया।

प्रवचन-पटुता, प्रश्नों का सचोट समाधान प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता आपश्री में है। समता-दर्शन, समीक्षण-ध्यान, २५० से अधिक दीक्षाएं, धर्मपाल उद्धार आदि विशेषताएं तो जग-जाहिर हैं।

भानावत जी! आपने आचार्य-प्रवर के संयमी जीवन की मौलिक विशेताएं पूछीं, पर मुझे तो उनके जीवन में कहीं भी अमौलिकता दिखाई ही नहीं देती। मौलिकता उसकी बताई जाती है कि जिसमें दो-चार मुख्य विशेषताएं हों, बाकी सब सामान्य हों, पर आचार्य-प्रवर का सारा जीवन ही मौलिक है। खान-पान, रहन-सहन, व्यवहार आदि प्रत्येक क्रिया में संयम की मौलिकता सदा-सदा से अनुगुंजित रही है। ऐसी स्थिति में मौलिकता का सम्पूर्ण आख्यान कथमपि संभावित नहीं है, तथापि आपकी भावनाओं को लक्ष्य में रखते हुए समुद्र में बूंद की भांति कुछ बातें प्रस्तुत की हैं। इन सब विशेषताओं के साथ मैं आचार्य-प्रवर के जीवन से अनुभूत किये अनेक संस्मरण भी प्रस्तुत कर सकता हूं। पर समाधान की यह प्रक्रिया विस्तृत हो जाएगी। अतः केवल विशेषताओं का आंशिक संकेत मात्र ही किया है।

उत्तर—३. आचार्य-प्रवर ने शारीरिक, मानसिक सभी प्रकार की उलझनों के विमोचन पूर्वक आत्मा में परमात्मा की अभिव्यक्ति हेतु ध्यान की विशिष्ट प्रक्रिया के रूप में जैनागमों की गहराई में उतरकर समीक्षण-ध्यान को प्रस्तुत किया है। अहमदाबाद वर्षावास में स्वयं आचार्य-प्रवर हमको समीक्षण-ध्यान की प्रक्रिया करवाते थे। उसके बाद तदनुसार मैंने उसमें गति करने का प्रयास किया, फिर बम्बई प्रवास के दौरान गुरुदेव से इस विषय में अन्य अनेक जानकारियां ग्रहण कीं। तदनुरूप फिर गति करने का प्रयास किया। समीक्षण-ध्यान के इस प्रयोग से मुझे कई उपलब्धियां हुई हैं। उन सबका वर्णन तो संभव नहीं है, फिर भी कुछेक प्रस्तुत कर देता हूं।

१, प्रथम तो संयम को पालन करने में सहजता, स्वस्थता एवं रूचि में संवृद्धि हुई । २. स्मरण-शक्ति में विकास हुआ । ३. कषायों के उभार में पूर्व की अपेक्षा कमी आयी । ४. अन्यों के सद्‌गुण ग्रहण करने में विशेष रूचि जागृत हुई । ५. किसी के द्वारा गलत आक्रोश किये जाने पर भी स्वयं की सहनशीलता में प्रगति हुई । ६. विचारों में सहजता, सरलता, क्षमता, संयम ने विशेष प्रगति दीं । ७. हर परिस्थिति में धैर्य, सत्साहस रखने का संवल मिला । ऐसी अनेक उपलब्धियां तो व्यावहारिक जीवन के साथ जुड़ी हुई हैं । इसके नाथ ही समीक्षण-ध्यान करते समय अनुभव में आने वाली विलक्षण आनन्दानुभूति को तो अभिव्यक्त किया नहीं जा सकता । उस अनुभूति को यथावत् अभिव्यक्ति का रूप देना संभव नहीं । गुरु-कृपा से रतलाम, ब्यावर, बीकानेर, देशनोक आदि क्षेत्रों में भव्यात्माओं को समीक्षण-ध्यान सिखाने के लिये शिविर भी किये ।

उत्तर—४. आपने पूछा कि मेरे संयमी जीवन को पुष्ट बनाने में आचार्य प्रवर का किस प्रकार और क्या योगदान रहा ? पर आपके इस प्रश्न का उत्तर मैं किस प्रकार और क्या दूं, यह खोज ही नहीं पा रहा हूं । क्योंकि दूध और पानी में जब एकाकारता आ जाती है तब यह दूध है और यह पानी है यह कह पाना संभव नहीं हो पाता है । सुइयों के एकीकरण को जब आग में तपाकर घन पर कुटा जाता है तब उसका विलगीकरण संभव नहीं होता, ठीक उसी प्रकार मेरे संयमी जीवन को पुष्ट बनाने में श्रद्धेय गुरुदेव ने एक-दो-तीन प्रकार से ही योगदान नहीं किया, जिससे कि मैं उसका उल्लेख कर सकूं । यह बात तो वैसी होगी कि कोई व्यक्ति घट (घड़े) से पूछे कि तुम्हें बनाने में कुंभकार का किस प्रकार और क्या योगदान रहा ? जबकि यह स्पष्ट है कि मिट्टी से घट तक की सारी प्रक्रिया में सारा का सारा योगदान कुंभकार का ही होता है । कुंभकार के योग को संख्या.दृष्टि से परिगणित नहीं किया जा सकता । वैसे ही श्रद्धेय गुरुदेव के द्वारा मेरे संयमीय जीवन में जो योगदान रहा है, उसे गणना के आधार पर अभिव्यक्त कर पाना, कथमपि संभव नहीं । क्योंकि १४ वर्ष की अल्पवय में ही गुरुदेव ने मुझे दीक्षित कर अपना संयमीय सुखद सान्निध्य प्रदान कर दिया था । जो अवस्था एक मिट्टी के तुल्य ही होती है, उस अवस्था से आज जो कुछ भी मैं आपके सामने हूं, उन सब में आचार्य-प्रवर का सर्वविध योगदान रहा है । आचार्य-प्रवर मेरे लिए ही नहीं, अपने शिष्यों-शिष्याओं के संयमीय जीवन में तेजस्विता, पुष्टता लाने के लिए जागरूक सतत रहते हैं । वे एक ऐसे बीज के तुल्य हैं, जो मिट्टी में मिलकर एक विराट वृक्ष का रूप धारण कर जन-जन को शीतलमय बनाता है । आचार्य-प्रवर ने स्वयं साधना-पथ पर चलकर हमें ऊपर उठाया है । इस बात को एक मुक्तक के रूप में व्यक्त कर देता हूं ।

अथक परिश्रम से इस बगिया को, सींचा आमूल-चूल से तुमने,
खिलाने पुरुष कलियों को, किया अनुकूल उसे तुमने ।

बहा दी ज्ञान की धारा, करने शुद्ध हम सबको,
बढ़ाया जिनशासन का गौरव, कर उद्घोष तुमुल तुमने ।।

उत्तर—५. मैं सोच रहा हूं कि आपके इस प्रश्न का उत्तर कहां से आरम्भ करूं और कहां पूर्ण करूं । क्योंकि प्रश्न के समाधान की पूर्ण अभिव्यक्ति करना तो दूर किनार रही, पर उसको पूर्ण रूप से मानसिक स्तर पर भी उभार पाना शक्य नहीं । आपने आचार्य-प्रवर के जीवन से जुड़ी महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख चाहा है । जिस प्रकार भूखे व्यक्ति के लिए सामने वाला प्रतिदिन का भोजन सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है, इसी प्रकार आचार्य-प्रवर के जीवन की लघियसी घटना भी मुझे अत्यधिक प्रभावित करने वाली होती है । जब आचार्य प्रवर का सारा जीवन ही संयम-समता-समीक्षण से अनुरंजित है तो फिर किसी एक घटना को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कैसे समझा जाए ? किसी एक दो घटना के मूल्यांकन से अन्य घटनाओं का गौण करना कथमपि अभीष्ट नहीं । इसलिए यह बात मैं पहले ही स्पष्ट कर देता हूं कि मैं तो गुरुदेव की सभी संयमानुरंजित घटनाओं से प्रभावित रहा हूं । लेकिन जिन एक दो घटनाओं का उल्लेख कर रहा हूं इसका तात्पर्य यह नहीं कि मैं इन्हीं घटनाओं से प्रभावित रहा हूं । ये तो मात्र नमूने के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूं ।

आज से करीब १५ वर्ष पूर्व का यह घटना प्रसंग दीक्षित हुआ ही था। ज्येष्ठ मास का महीना था, वर्षा हो रही थी फिर भी सूर्य प्रचण्डता के साथ तप रहा था । वैसी स्थिति में विहार होने से मेरे दोनों पैरों में छाले उभर आये जिससे चलने में बड़ी दुविधा होने लगी थी । तब डॉक्टर के परामर्शनुसार उन छालों पर दवा लगाकर पट्टी बांधना था । गुरुदेव ने फरमाया-इधर आओ, मैं पट्टी बांध देता हूं । यह कहने के साथ ही आपश्री ने अपने हाथ में पट्टी ले ली । तब आसपास विराजमान संत-मुनिराजों ने निवेदन किया कि भगवन्, हम बांध देंगे । पर गुरुदेव स्वयं ही बांधना चाह रहे थे । इधर मैं भी बच्चा ही तो ठहरा अतः मैं बोला कि पट्टी तो गुरुदेव से ही बंधवाऊंगा । तब संत मुनिराज क्या करते ? इधर गुरुदेव तो पहले से ही तैयार थे । आखिर पट्टी बांध दी गई । यह उपक्रम लगातार तीन-चार दिनों तक चलता रहा । पर एक दिन और भी विचित्र घटना घटी । वह यह थी कि मारवाड़ में एक श्री बालाजी नामक गांव है । वहां से मध्यान्तर में विहार होने जा रहा था । आचार्य-प्रवर ने पट्टी बांध ही दी थी, पर ज्यों ही माहेश्वरी धर्मशाला से विहार शुरू हुआ, मिट्टी में ही चल रहे थे, जो कि सूर्य की प्रचण्डता के कारण तप्त हो उठी थी, पैर भी उस पर मुश्किल से रखे जाते थे । इसी बीच मेरे पैर की पट्टी खुल गई। गुरुदेव ने जब यह देखा तो वे तुरन्त ही उस तपती हुई मिट्टी में विराजकर पट्टी को बांधने लगे । निवेदन भी किया कि आगे छाया में बांध ली जाए, पर तब

छालों में विस्तार न हो जाए, इस दृष्टि से गुरुदेव ने स्वयं की परवाह नहीं कर पट्टी बांधने में तन्मय रहे, तत्पश्चात ही आगे विहार हुआ । यह है गुरुदेव की महानता ।

इसी प्रकार अजमेर वर्षावास के अन्तिम चरण में जब मेरे गले के टॉन्सिल का ऑपरेशन हुआ । उस समय करीब डेढ़ बजे तपती धूप में स्थानक से चलकर हॉस्पीटल पधारे । और फिर तो प्रतिदिन पधारते रहे । और जब हॉस्पिटल से मुझे उपाश्रय लाया जाने लगा तो शारीरिक स्थिति कुछ कमजोर होने से आचार्य प्रवर ने मुझे सहारा देकर उठाया और अपने हाथ के सहारे से ही करीब डेढ किलोमीटर की यात्रा करवाई । जब तक उपाश्रय में संत-महापुरुषों ने संस्थारक नहीं बिछा दिया तब तक मुझे हस्तावलम्बन दिये रखा । जबकि गुरुदेव किसी संत को भी संकेत कर सकते थे । इधर हजारों लोग आचार्य-प्रवर के प्रवचन में पधारने का इन्तजार कर रहे थे, परन्तु जब तक मुझे शयनित नहीं कर दिया, तब तक गुरुदेव प्रवचन देने नहीं पधारे ।

इसी प्रकार अहमदाबाद में हो रही १५ दीक्षाओं के समय का प्रसंग है । शाहीबाग परिसर में बन रहे हॉस्पिटल में आचार्य-प्रवर अपने शिष्य-परिवार के साथ विराज रहे थे । उस समय एकदा रात्रि के उत्तरार्ध में मेरे उदर में यकायक तीव्र वेदना प्रादुर्भूत हुई । पहले तो यथाशक्ति सहन करता रहा पर जब क्षमता नहीं रही तो कहराने लगा । गुरुदेव की यह चिन्तन, मनन एवं ध्यान-साधना की वेला थी । साधना में बैठने ही वाले थे कि मेरी स्वर-ध्वनि सुनकर निकट पधारे, फर्श पर ही विराजकर मेरे पेट पर हाथ फेरने लगे । करीब आधे घण्टे तक पेट पर हाथ फेरने से वेदना के कुछ उपशांत होने पर शांति मिली और कुछ ही समय के अनन्तर मैं स्वस्थता का अनुभव करने लगा । फिर भी साधना में प्रविष्ट होने से पूर्व पुनः मेरे निकट पधारे और कहा कि मैं यहीं बैठ जाता हूं । तब मैंने निवेदन किया भगवन् ! मैं स्वस्थ हूं, आप पधारें । सच-मुच आपश्री का वरदहस्त सर्व रोगोपशात्मक है ।

इसी प्रकार राणावास वर्षावास के पूर्व बूसी गांव का एक घटना-प्रसंग है । जब मैं कपड़ों का प्रक्षालन कर रहा था, उस समय मेरे और श्रद्धेय गुरुदेव के कपड़े होने से कुछ ज्यादा कपड़े थे । तब गुरुदेव ने सोचा कि इसे धोने में समय भी अधिक लगेगा और शारीरिक क्लान्ति भी आएगी । बस फिर क्या था, मुझे सहयोग देने की भावना से वे मेरे समीप पधारे और बोले-स्थानक के सभी दरवाजे खिड़कियां बन्द कर दो, ताकि बाहर से कोई व्यक्ति भीतर न झांक सके । पहले तो मैं इस बात का रहस्य नहीं समझ पाया और गुरुदेव के निर्देशानुसार सब फाटक बंद कर दिये । तब गुरुदेव ने फरमाया कि मुझे भी कपड़े धोने दो । वह भी इसीलिए नहीं कि तुम्हें सहयोग करना है, पर कपड़े

धोने से मेरे शरीर में स्वस्थता रहेगी, क्योंकि शरीर की स्वस्थता के लिए परिश्रम आवश्यक है। सब दरवाजे वन्द हो गए हैं, गृहस्थ कोई नहीं देख रहा है, अतः तुम्हें कोई यह नहीं कहेगा कि गुरुदेव से कपड़े क्यों धुलवाये। तुम कोई विचार न करो और मुझे कपड़े धोने दो। तब मैं समझा दरवाजे बंद करवाने का रहस्य। मैंने कहा—गुरुदेव यह कभी संभव नहीं कि आप वस्त्र प्रक्षालनार्थ यहां विराजें। यह सब तो हो जाएगा, आप किसी प्रकार का विचार न करें। बहुत कुछ अनुनय-विनय करने पर गुरुदेव वहां से उठे। इस घटना से भी मुझ पर विशेष प्रभाव पड़ा। दूसरों का काम भी करना और यह भी नहीं कि मैं सहयोग कर रहा हूं, वल्कि इसलिए कि ऐसा करने से मेरा स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। यह अपने आपमें महानता का परिचायक हैं।

आज भी गुरुदेव अपने काम के लिए किसी संत को संकेत नहीं करते और तो और अन्यों का कार्य भी स्वयं करने में तत्पर रहते हैं। यह तो मैंने मेरे से संवन्धित प्रसंग रखे हैं, पर इसी प्रकार आचार्य-प्रवर प्रत्येक संत मुनिराज का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। गुरु के प्रति शिष्यों की श्रद्धा उनके आदेश के कारण नहीं, विशिष्ट संयमी जीवन के कारण है।

इसी प्रकार अध्ययन के प्रसगों पर भी जब कभी चर्चा का प्रसंग आ जाता है तो गुरुदेव का कभी यह उद्देश्य नहीं रहता कि मैं कहता हूं, वह मान लो। वे सदा यही फरमाते हैं कि मैं जो समझा रहा हूं वह ५+५=१० होते हैं। इस तरह तुम्हें समझ में आवे तो मानों, नहीं तो और पूछो, मैं विस्तार से समझा दूंगा।

आचार्य-प्रवर के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का उल्लेख करते ही जाए तथापि वह पूर्ण होने वाली नहीं है। मैं अपने आपको धन्य समझता हूं कि इ दुखम आरे में भी ऐसे दिव्य अलौकिक महापुरुष का मुझे सान्निध्य प्राप्त हुआ

इस पचास वर्षीय दीक्षा पर्याय के पावन प्रसंग पर मैं शासनदेव से यह कामना करता हूं कि गुरुदेव का स्वस्थ्य रहे और युगों-युगों तक आपका सान्निध्य हमें मिलता रहे।

भव्य दिव्य व्यक्तित्व

❀ साध्वी श्री सूर्यमणि

१. संसार में प्रकाश पुंजों की कमी नहीं है, किन्तु जो जीवन में सच्चा प्रकाश फैलायें, उन महान ज्ञाननिधि, सच्चे गुरु की सन्निधि जीवन को प्रकाश से दीप्तिमान बनाकर, सत्पथगामी बना सकती है। जन जीवन के सृजेता की ज्ञान किरणों का प्रकाश समस्त वायुमण्डल में अविरल गति से गतिमान होकर भव्यात्माओं को प्रभावित करता रहता है।

और ऐसी विरल विभूति का जब साक्षात् दर्शन-प्रवचन प्रभा का दिव्य प्रसारण हो, तब आत्मा परिवर्तित हुए बिना नहीं रह सकती। ऐसा ही हुआ, जब अजमेर चातुर्मास में आचार्य भगवन् के वैराग्य गर्भित समता, शान्ति सर्जित प्रवचनों को मैंने श्रवण किया तो संसार की अनित्यता, जीवन की क्षण भंगुरता का ज्ञान सत्य रूप प्रवचन के माध्यम से ज्ञात हुआ। वैराग्योत्पादक आचार्य भगवन् की मंगल वाणी ने जीवन की धारा मंगलता की ओर मोड़ दी। वैराग्य का बीज अंकुरित हुआ सदा-सदा के लिए गुरु-चरणों में समर्पणा की भावना फूट पड़ी। मेरा बालक हृदय गुरु चरणों में आजीवन शादी न करने का संकल्प लेकर उपस्थित हुआ। आचार्य भगवन् ने फरमाया-अभिभावकों की साक्षी के बिना मैं प्रत्याख्यान नहीं कराता। ऐसे निर्लोभी अणगार के प्रति, उनके कठोर अनुशासन के प्रति मेरे मन में अनन्त श्रद्धा उमड़ पड़ी।

अन्तर हृदय अनासक्त, निर्लिप्तमान, (शिष्य सम्प्रदाय के प्रति) ऐसे महान योगीराज के प्रति समर्पणा की भावना तीव्रतम हो उठी। पारिवारिक सदस्यों ने इन्कार कर दिया। अभी यह बालिका है, किन्तु मेरे बहुत आग्रह पर आचार्य भगवन् ने पारिवारिक जनों को समझाया। इनकी तरफ से हां न हो तो आप जबरन शादी न करें।

मुझे "सत्यम् शिवं सुन्दरम्" की अलख जगाने वाले सच्चे दीर्घ द्रष्टा गुरु का अवलम्बन मिल गया। रतनपुरी में "युग दृष्टि के उन्नायक-आचार्य भगवन् में अपने मुखारविन्द से संयम जीवन अंगीकार कराकर मेरी आत्मा को शाश्वत शान्ति का दिव्यमार्ग प्रदान किया। जन्म-जन्मातरों में भटकती आत्मा को नया दिशाबोध देकर मुझे निहाल कर दिया। ऐसे प्रेरणापुंज महाप्रभु की प्रेरणा पाकर मेरी आत्मा को संसार विरक्ति मोक्ष अवाप्ति का भान हुआ।

३. आचार्य भगवन् के संयमी जीवन की विशिष्टताएं निराली हैं। शासनेश प्रभु महावीर की इस परम्परा को अक्षुण रूप देने में वे विरल विभूति है। प्रभु महावीर के सिद्धान्त **"आचारांग सूत्र"** में मूल रूप से कथन किये

गये "समियाए धम्मे" सिद्धान्त आचार्य भगवन् के प्रवचनों में एवं जीवन के रग-रग में व्याप्त पाया जाता है।

"एकता व संगठन के हिमायती" आचार्य भगवन् के जीवन में कथनी व करणी में एकरूपता पाई जाती है। "मन स्यैकं-वयस्यैकं-कायस्यैकं महात्मनां" की उक्ति आपश्री के जीवन में चारितार्थ होती है। जिन वचनों, जिन आदेशों को आप फरमाते हैं उन्हें स्वयं पहले जीवन में आचरित करते हैं। अतः आप "निज पर शासन फिर अनुशासन" की उक्ति से जीवन को अलंकृत कर रहे हैं।

संयम की जगमगाती मशाल "आचार्य श्री नानेश" ने संयम-विशिष्टताओं पर स्थिर रहते हुए संयम-शिथिलाचार के विरुद्ध क्रान्ति की। अध्यात्म प्रधान भारतीय संस्कृति के इस ज्योतिमय सूर्य ने परिमार्जित धर्म व्यवस्था का सूत्रपात किया. विशाल शिष्य मण्डल का संचालन किया और पवित्र संयम यात्रा पर अडिग रहे। जिन शासन के शिरोमणि आचार्य श्री के पद-चिन्हों पर विशाल शिष्य सम्पदा एवं चतुर्विध संघ एक निष्ठा एक शिक्षा-एक दीक्षा रूप अगाध श्रद्धा से नत मस्तक हो एक स्वर में मुखारित हो कह उठते हैं। "होगा प्रभु का जिधर इशारा उधर बढ़ेगा कदम हमारा" इसमें केवल भावात्मक सम्बन्ध ही नहीं वरन् संयम की सत्यता-गुणात्मकता एवं तीर्थंकर की परम्परा के अनवरत प्रवाहत्व आचार्य पद की गरिमा हेतु यथार्थता का सम्प्रेक्षण जुड़ा है। कैसी भी परिस्थितियां क्यों न हो, प्रभु महावीर की वाणी को हर क्षण आपश्री जीवन में उतारे रहते हैं। "समोनिंदा पसंसासु", "पुढ़वी समो मुणि हव्वेज्जा" एवं "जे पूण्णस्स कत्थई ते तुच्छस्स कत्थइ" की उक्तियों से जीवन को अलंकृत किये रहते हैं।

इन संयम जीवन की अनुपम विशिष्टताओं से लाखों भक्त गण चरण कमल में भ्रमरवत् दिव्य आभा रूपी पराग का पान करते रहते हैं।

३. भौतिकता और विलासिता के युग में मानसिक तनाव से मुक्ति का अचूक साधन है "समीक्षण ध्यान=सम+ईक्षण अर्थात् सम्यक् प्रकार से प्रत्येक क्षण में आत्मावलोकन करना। क्रोध मान-माया-लोभ व आत्म-समीक्षण की धारा में मैं अधिक तो नहीं जा सकी, किन्तु कुछ उग्र परिस्थितियों में जब इनका चिन्तन मैंने किया, तो प्रत्यक्षफल आत्म-संतुष्टि, तनाव-मुक्ति एवं व्यक्तिगत सामंजस्यता पाई।

कुछ अंशों का चिन्तन मन में अनुपम सन्तोष, आत्मा को स्थिर करने में सक्षम बनाता है—तो नित्य प्रयोग विधि से मानस-तल दिव्यालोकमय बन सकता है, जो हर पल-हर क्षण सम्यक् दर्शन द्रष्टा की धारा बनाकर आत्मा को उस पथ पर बढ़ाये तो कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, वह समता सुख व शान्ति से जीवन में आनन्द की घड़ियों को उपलब्ध कर लेता है।

४. संयमी जीवन की पुष्टि हेतु एक सफल अनुशास्ता व जीवन-निर्माता

का दिव्य अवलम्बन आवश्यक है। आचार्य भगवन् ने अन्तरंग के मूलमंत्रों से मुझे अनुगुंजित किया। संयमी जीवन की पुष्टि हेतु समता सिद्धान्त, सैद्धान्तिक पक्षों एवं संयम अभिवर्द्धित शिक्षाओं का प्रबलतम योगदान दिया।

जीवन-निर्माता आचार्य भगवन् का परमोपकार रहा, जिन्होंने जीवन का परिपूर्ण रूपान्तरण करके नवजीवन प्रदान किया व संयमपुष्टि हेतु समय-समय पर ऐसी जीवन घुट्टियां प्रदान की, जिन घुट्टियों में जीवन निर्माण की औषधियां थीं। शासन-निष्ठा, विनय गुण सम्पन्न कैसे होना साहजिक योग की साधना, ज्ञान-ध्यान, संयम क्रियाओं में एक दृष्टि, सर्वोतम समर्पणा से चलना, इन शिक्षाओं से मेरे जीवन को समय-समय पर सिंचित किया। मेरी जीवन बगिया महकती हुई कर्म-क्षय करने के क्षेत्र में समता निधि की सन्निधि में पुष्पित-एवं पल्लवित हो रही हैं। यह मेरा परम सौभाग्य है।

साथ ही आचार्य भगवन् की विनय गुण सम्पन्नतामयी जीवन-घटनाओं ने भी मुझे बहुत प्रभावित किया। संयम अस्खलना में दृढ़तम मेड़ीभूत आचार्य को पाकर तदनुरूप जीवन-गरिमा बनाने की भावना में सक्षम बनने का प्रयास कर रही हूं।

आचार्य भगवन् ईर्या-भाषा-एषणा-समिति-गुप्ति का पालन हेतु एवं समत्व भावी जीवन निर्माण हेतु दिव्य शिक्षाओं से हमें आत्मकल्याण पर अधिक अग्रसर करते रहते हैं। वे हैं—"पुढ़वी समो मुनि हव्वेज्जा" एवं "समो निंदा पसंसासु" आदि अनेक आगमिक उक्तियों जिनका सार गर्भित विश्लेषण संयम जीवन को पुष्ट बनाता है।

साथ ही महिदपुर के प्रवचन-कणों में "यह भी नहीं रहेगा" नामक रूपक ऐसा हृदय में पैठा कि मेरे जीवन को बहुत कुछ रूपान्तरित कर दिया। संयम जीवन में अभाव जन्म स्थितियों का चिन्तन ही नहीं रहता। हर क्षण चिन्तन मनन एवं शुभ संकल्पों से मन सन्नद्ध होकर संयम निष्ठा में अधिक जागरूक रहने को प्रेरित होता रहता है।

५ आचार्य श्री के जीवन की विहार चर्याओं, चातुर्मास कालिक घटनाओं के अनेक प्रेरणांश हैं, जिन्हें सम्पूर्णतः रूप से नहीं लिखा जा सकता। महापुरुषों के जीवन का हर क्षण-चिन्तन-मनन-शुभ संकल्पों से युक्त होता है। विचारों-आचारों का शुभ सम्प्रेक्षण जनमानस में हुए बिना नहीं रहता है।

एक बार विहार चर्या के माध्यम से छोटे से ग्राम में आचार्य भगवन् का पदार्पण हुआ। देखा कि ग्राम छोटा है। घर कम है। कुछ ही शिष्य साथ में थे। शिष्यों ने ग्राम में जाकर देखा तो आहार-पानी कुछ भी उपलब्ध नहीं हुआ। दूसरी बार भी नहीं। महापुरुष चमत्कार नहीं करते, किन्तु अचानक जो कुछ घट जाता है, वह निराला ही होता है। अचानक आचार्य भगवन् ने

फरमाया कि जाओ, आहार पानी मिल जायेगा । संत थके हुए थे लेकिन "आणाए धम्मो" स्वर के अनुपालक थे । चल पड़े, विनम्र भावों व अगाध श्रद्धा को लेकर जिस ग्राम में कुछ नहीं था, वहीं आहार-पानी और निर्दोष प्रासुक वस्तुएं उपलब्ध थीं । यह है आचार्य भगवन् की साधना का अनूठा प्रभाव ।

यों आचार्य भगवन् जहां भी पधारते कहीं व्याधि-मुक्ति, कहीं दिव्य दृष्टि की सम्प्राप्ति तो कहीं मानसिक टेन्शनों से मुक्ति दृष्टिगत होती है । सबसे महत्त्व-पूर्ण उपलब्धि तो यह है कि विघटित स्थितियों में भी साधना से संगठित प्रेम स्नेह का अनूठा चमत्कार जहां तहां देखा पाया जा रहा है ।

जहां मानवों के हृदय-मशीन में स्नेहतार ढ़ीला हो गया हो, स्नेह-स्रोत, प्रेम का नीर सूख गया हो, तनाव व संत्रास से जीवन घुट रहा हो, वहां आचार्य भगवन् अपने धर्मोपदेश व समता-सिद्धान्त से सबको स्नेह-सूत्र में बांध देते हैं, पारस्परिक विग्रह-कलह मिटा देते है । कानोड़ चातुर्मास का प्रसंग है । एक परि-वार ऐसा भी था जिसमें वर्षों से मां-बेटे, बाप-बेटे बिन बोले रह रहे थे । काफी प्रयास पर भी स्नेह-मिलन नहीं हो पाया था । श्री संघ भी निराश हो जवाब दे रहा था कि भगवन् हम कोई भी इसमें भाग न लेंगे । आचार्य भगवन् आप भी कुछ कहने या करने का प्रयास न करें । यह मामला बड़ा जटिल है । किन्तु आचार्य भगवन् ने ऐसी अनूठी स्नेह-प्रभा बिखेरी कि पिता-पुत्रों ने, मां बेटों ने, भाई-भाई देवरानी-जेठानियों ने राग-द्वेष मन की कलुषता आचार्य भगवन् की झोली में बहरा दी ।

ऐसे एक नहीं अनेकानेक प्रसंग हैं, जहां आचार्य भगवन् अपनी अनूठी प्रतिभा से स्नेह के टूटे तारों को जोड़ने की कला अपनाते हैं । आचार्य भगवन उस सेतु बन्ध के समान हैं, जो दो भिन्न-भिन्न किनारों को जोड़ने का कार्य करते हैं ।

शब्दातीत—वर्णनातीत गुणनिधि के गुणों को किन भावों में अभिव्यक्त किया जाये, उन घटनाओं को, उन गुणों को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती हैं । ऐसे अद्वितीय संयम शिखरारूढ़ आचार्य भगवन् दीर्घायु प्राप्त जिन शासन के समुत्कर्ष में अपना योगदान प्रदान करें । सदाकाल जयवन्त हों ।

ऐसे आगम-मोहदधिका अभिनन्दन-अभिवन्दन करते हुए हम सदा-सदा आत्मोन्नति की प्रेरणा चाहते हैं । आचार्य श्री नानेश का भव्य दिव्य व्यक्तित्व सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के अज्ञान अंधकार को दूर करते हुए, जन-जन के प्रेरणा स्त्रोत बने । इसी मंगल भावना से ५० वीं दीक्षा जयन्ती के शुभावसर पर अनंतानंत भाव-समुनों से समर्पणा.......

□

आचार्य प्रवर की नेश्राय में विचरण करने वाले एवं उनसे दीक्षित संत सतियांजी म. सा. की तालिका

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
१.	श्री ईश्वरचन्दजी म. सा.	देशनोक	सं. १९९९ मिगसर कृष्णा ४	भीनासर
२.	श्री इन्द्रचन्दजी म. सा.,	माडपुरा	सं. २००२ वैशाख शुक्ला ६	गोगोलाव
३.	श्री सेवन्तमुनिजी म. सा.,	कन्नौज	सं. २०१९ कार्तिक शुक्ला ३	उदयपुर
४.	श्री अमरचन्दजी म. सा.,	पीपलिया	सं. २०२० वैशाख शुक्ला ३	पीपलिया
५.	श्री शान्तिमुनिजी म. सा.,	भदेसर	सं. २०१९ कार्तिक शुक्ला १	भदेसर
६.	श्री कंवरचन्दजी म. सा.,	निकुम्भ	सं. २०१९ फाल्गुन शुक्ला ५	बड़ीसादड़ी
७.	श्री प्रेममुनिजी म. सा.,	भोपाल	सं. २०२३ आश्विन शुक्ला ४	राजनांदगांव
८.	श्री पारसमुनिजी म. सा.,	दलोदा	सं. २०२३ आश्विन शुक्ला ४	राजनांदगांव
९.	श्री सम्पतमुनिजी म. सा.,	रायपुर	,, ,, ,, ,,	,,
१०.	श्री रतनमुनिजी म. सा.,	भाड़ेगांव		सोनार
११.	श्री धर्मेशमुनिजी म. सा.,	मद्रास	सं. २०२३ फाल्गुन कृष्णा ९	रायपुर
१२.	श्री रणजीतमुनिजी म. सा.,	कंजार्ड़ा	सं. २०२७ कार्तिक कृष्णा ८	बड़ीसादड़ी
१३.	श्री महेन्द्रमुनिजी म. सा.,	गोगुन्दा	सं. २०२७ कार्तिक कृष्णा ८	बड़ीसादड़ी
१४.	श्री सौभागमलजी म. सा.,	बड़ावदा	सं. २०२८ कार्तिक शुक्ला १३	ब्यावर
१५.	श्री रमेशमुनिजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०२८ कार्तिक शुक्ला १३	ब्यावर
१६.	श्री वीरेन्द्रमुनिजी म. सा.,	आष्टा	सं. २०२९ माघ शुक्ला २	देशनोक
१७.	श्री हुलासमलजी म. सा.,	गंगाशहर	सं. २०२९ माघ शुक्ला १३	भीनासर

. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
८.	श्री विजयमुनिजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०२९ माघ शुक्ला १३	भीनासर
९.	श्री नरेन्द्रमुनिजी म. सा.,	बम्बोरा	सं. २०३० माघ शुक्ला ५	सरदारशहर
२०.	श्री ज्ञानेन्द्रमुनिजी म. सा.,	ब्यावर	सं. २०३१ जेठ शुक्ला ५	गोगोलाव
२१.	श्री बलभद्रमुनिजी म. सा.,	पीपलिया	सं. २०३१ आश्विन शुक्ला ३	सरदारशहर
२२.	श्री पुष्पमुनिजी म. सा.,	मंडी डब्बावाली	सं. २०३१ आश्विन शुक्ला ३	सरदारशहर
२३.	श्री रामलालजी म. सा.,	देशनोक	सं. २०३१ माघ शुक्ला १२	देशनोक
२४.	श्री प्रकाशचन्दजी म. सा.,	देशनोक	सं. २०३२ आश्विन शुक्ला ५	देशनोक
२५.	श्री गौतममुनिजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०३२ मिगसर शुक्ला १३	बीकानेर
२६.	श्री प्रमोदमुनिजी म. सा.	हांसी	सं. २०३३ माघ कृष्णा १	भीनासर
२७.	श्री प्रशममुनिजी म. सा.,	गंगाशहर	सं. २०३४ वैशाख कृष्णा ७	भीनासर
२८.	श्री मूलचन्दजी म. सा.,	नोखामण्डी	सं. २०३४ मिगसर शुक्ला ५	नोखामण्डी
२९.	श्री ऋषभमुनिजी म. सा.,	बम्बोरा	सं. २०३४ माघ शुक्ला १०	जोधपुर
३०.	श्री अजितमुनिजी म. सा.,	रतलाम	सं. २०३५ आश्विन शुक्ला २	जोधपुर
३१.	श्री जितेशमुनिजी म. सा.,	पूना	सं. २०३६ चैत्र शुक्ला १५	ब्यावर
३२.	श्री पद्मकुमारजी म. सा.,	नीमगांवखेड़ी	सं. २०३६ चैत्र शुक्ला १५	ब्यावर
३३.	श्री विनयमुनिजी म. सा.,	ब्यावर	सं. २०३६ चैत्र शुक्ला १५	ब्यावर
३४.	श्री सुमतिमुनिजी म. सा.,	नोखामण्डी	सं. २०३७ पौष शुक्ला ३	भीम
३५.	श्री चन्द्रेशमुनिजी म. सा.,	फलोदी	सं. २०३८ वैशाख शुक्ला ३	गंगापुर
३६.	श्री धर्मेन्द्रकुमारजी म. सा.,	सांकरा	सं. २०३९ चैत्र शुक्ला ३	अहमदाबाद
३७.	श्री धीरजकुमारजी म. सा.,	जावद	सं. २०४० फाल्गुन शुक्ला २	रतलाम
३८.	श्री कांतिकुमारजी म. सा.,	नीमगांवखेड़ी	सं. २०४० फाल्गुन शुक्ला २	रतलाम
३९.	श्री विवेकमुनिजी म. सा.	उदयपुर मांडपुरा	सं. २०४५ माघ शुक्ला १०	मन्दसौर

महासतियांजी म. सा. की तालिका

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
१.	श्री सिरेकंवरजी म. सा.,	सोजत	सं. १९८४	सोजत
२.	श्री वल्लभकंवरजी म. सा., (प्रथम)	जावरा	सं. १९८७ पौष शुक्ला २	निसलपुर
३.	श्री पानकंवरजी म. सा., (प्रथम)	उदयपुर	सं. १९९१ चैत्र शुक्ला १३	भीण्डर
४	श्री सम्पतकंवरजी म. सा.,)प्रथम)	रतलाम	सं. १९९२ चैत्र शुक्ला १	रतलाम
५.	श्री गुलाबकंवरजी म. सा., (प्रथम)	खाचरौद	सं. १९९२	खाचरौद
६.	श्री केसरकंवरजी म. सा.,	बीकानेर	सं. १९९५ ज्येष्ठ शुक्ला ४	बीकानेर
७.	श्री गुलाबकंवरजी म. सा. (द्वि.)	जावरा	सं. १९९७	खाचरौद
८.	श्री धापूकंवरजी म. सा., (प्रथम)	भीनासर	सं. १९९८ भादवा कृष्णा ११	भीनासर
९.	श्री कंकूकंवरजी म. सा.,	देवगढ़	सं. १९९८ वैशाख शुक्ला ६	देवगढ़
१०.	श्री पेपकंवरजी म. सा.,	बीकानेर	सं. १९९९ ज्येष्ठ कृष्णा ७	बीकानेर
११.	श्री नानूकंवर म. सा.	देशनोक	सं. १९९० आश्विन शुक्ला ३	देशनोक
१२.	श्री धापूकंवरजी म. सा. (द्वि.)	चिकारड़ा	सं. २००१ चैत्र शुक्ला १३	भीलवाड़ा
१३.	श्री कंचनकंवरजी म. सा.	सवाईमाधोपुर	सं. २००१ वैशाख कृष्णा २	ब्यावर
१४.	श्री सूरजकंवरजी म. सा.,	बिरमावल	सं. २००२ माघ शुक्ला १३	रतलाम
१५.	श्री फूलकंवरजी म. सा.,	कुस्तला	सं. २००३ चैत्र शुक्ला ९	सवाईमाधोपुर
१६.	श्री भंवरकंवरजी म. सा. (प्रथम)	बीकानेर	सं. २००३ वैशाख कृष्णा १०	बीकानेर
१७.	श्री सम्पतकंवरजी म. सा.	जावरा	सं. २००३ आश्विन कृष्णा १०	ब्यावर पुरानी
१८.	श्री सायरकंवरजी म. सा. (प्रथम)	केशरसिंहजी का गुड़ा	सं. २००४ चैत्र शुक्ला २	राणावास
१९.	श्री गुलाबकंवरजी म. सा., (द्वि.)	उदयपुर	सं. २००६ माघ शुक्ला १	उदयपुर
२०.	श्री कस्तूरकंवरजी म. सा. (प्रथम)	नारायणगढ़	सं. २००७ पौष शुक्ला ४	खाचरौद
२१.	श्री सायरकंवरजी म. सा. (द्वि.)	ब्यावर	सं. २००७ ज्येष्ठ शुक्ला ५	ब्यावर

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
२२.	श्री चान्दकंवरजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २००८ फाल्गुन कृष्णा ८	बीकानेर
२३.	श्री पानकंवरजी म. सा., (द्वि.)	बीकानेर	सं. २००६ ज्येष्ठ कृष्णा ६	बीकानेर
२४.	श्री इन्द्रकंवरजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २००६ ज्येष्ठ कृष्णा ५	बीकानेर
२५.	श्री बदामकंवरजी म. सा.,	मेड़ता	सं. २०१० ज्येष्ठ कृष्णा ३	बीकानेर
२६.	श्री सुमतिकंवरजी म. सा.,	भज्जू	सं. २०११ वैशाख शुक्ला ५	भीनासर
२७.	श्री इचरजकंवरजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०१३ आश्विन शुक्ला १०	गोगोलाव
२८.	श्री चन्द्राकंवरजी म. सा.,	कुकड़ेश्वर	सं. २०१४ फाल्गुन शुक्ला ३	कुकड़ेश्वर
२९.	श्री सरदारकंवरजी म. सा.,	अजमेर	सं. २०१५ आश्विन शुक्ला १३	उदयपुर
३०.	श्री शांताकंवरजी म. सा., (प्रथम)	उदयपुर	सं. २०१६ ज्येष्ठ शुक्ला ११	उदयपुर
३१.	श्री रोशनकंवरजी म. सा., (प्रथम)	उदयपुर	सं. २०१६ आश्विन शुक्ला १५	बड़ीसादड़ी
३२.	श्री अनोखाकंवरजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०१६ कार्तिक कृष्णा ८	उदयपुर
३३.	श्री कमलाकंवरजी म. सा., (प्रथम)	कानोड़	सं. २०१६ कार्तिक शुक्ला १३	प्रतापगढ़
३४.	श्री भमकूकंवरजी म. सा.,	भदेसर	सं. २०१७ मिगसर कृष्णा ५	उदयपुर
३५.	श्री नन्दकंवरजी म. सा.,	बड़ीसादड़ी	सं. २०१७ फाल्गुन वदी १०	छोटीसादड़ी
३६.	श्री रोशनकंवरजी म. सा., (द्वि.)	बड़ीसादड़ी	सं. २०१८ वैशाख शुक्ला ८	बड़ीसादड़ी
३७.	श्री सूर्यकान्ताजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०१६ वैशाख शुक्ला ७	उदयपुर
३८.	श्री सुशीलाकंवरजी म. सा., (प्रथम)	उदयपुर	सं. २०१६ वैशाख शुक्ला १२	उदयपुर
३९.	श्री शान्ताकंवरजी म. सा., (द्वि.)	गंगाशहर	सं. २०१८ फाल्गुन कृष्णा १२	गंगाशहर
४०.	श्री लीलावतीजी म. सा.,	निकुम्भ	सं. २०२० फाल्गुन शुक्ला २	निकुम्भ
४१.	श्री कस्तूरकंवरजी म. सा. (द्वि.)	पीपल्यामण्डी	सं. २०२० वैशाख शुक्ला ३	पीपल्यामण्डी
४२.	श्री हुलासकंवरजी म. सा.	चिकारड़ा	सं. २०२१ वैशाख शुक्ला १०	चिकारड़ा
४३.	श्री ज्ञानकंवरजी म. सा., (द्वि.)	मालदामाड़ी	सं. २०२१ आश्विन शुक्ला ८	पीपलियाकलां

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
४४.	श्री ज्ञानकंवरजी म. सा., (द्वि.)	राणावास	सं. २०२३ आश्विन शुक्ला ४	राजनांदगांव
४५.	श्री प्रेमलताजी म. सा. (प्रथम)	सुरेन्द्रनगर	सं. २०२३ आश्विन शुक्ला ४	राजनांदगांव
४६.	श्री इन्दुबालाजी म. सा.,	राजनांदगांव	सं. २०२३ आश्विन शुक्ला ४	राजनांदगांव
४७.	श्री गंगावतीजी म. सा.,	डोंगरगांव	सं. २०२३ मिगसर शुक्ला १३	डोंगरगांव
४८.	श्री पारसकंवरजी म. सा.	कलंगपुर	सं. २०२३ मिगसर शुक्ला १३	डोंगरगांव
४९.	श्री चन्दनबालाजी म. सा.,	पीपल्या	सं. २०२३ माघ शुक्ला १०	पीपल्यामण्डी
५०.	श्री जयश्रीजी म. सा.,	मद्रास	सं. २०२३ फाल्गुन कृष्णा ६	रायपुर
५१.	श्री सुशीलाकंवरजी म. सा., (द्वि.)	मालदामाड़ी	सं. २०२४ आश्विन शुक्ला २	जावरा
५२.	श्री मंगलाकंवरजी म. सा.,	बड़ावदा	सं. २०२४ आश्विन शुक्ला १	दुर्ग
५३.	श्री शकुन्तलाजी म. सा.,	बीजा	सं. २०२४ मिगसर कृष्णा ६	दुर्ग
५४.	श्री चमेलीकंवरजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०२५ फाल्गुन शुक्ला ५	बीकानेर
५५.	श्री सुशीलाकंवरजी (तृ.) म. सा.	बीकानेर	सं. २०२५ फाल्गुन शुक्ला ५	बीकानेर
५६.	श्री चन्द्राकंवरजी म. सा.,	रतलाम	सं. २०२६ वैशाख शुक्ला ७	ब्यावर
५७.	श्री कुसुमलताजी म. सा.	मन्दसौर	सं. २०२६ आश्विन शुक्ला ४	मन्दसौर
५८.	श्री प्रेमलताजी म. सा.,	मन्दसौर	सं. २०२६ आश्विन शुक्ला ४	मन्दसौर
५९.	श्री विमलाकंवरजी म. सा.,	पीपल्या	सं. २०२७ कार्तिक कृष्णा ८	बड़ीसादड़ी
६०.	श्री कमलाकंवरजी म. सा.,	जेठाणा	सं. २०२७ कार्तिक कृष्णा ८	बड़ीसादड़ी
६१.	श्री पुष्पलताजी म. सा.,	बड़ीसादड़ी	सं. २०२७ कार्तिक कृष्णा ८	बड़ीसादड़ी
६२.	श्री. सुमतिकंवरजी म. सा.,	बड़ीसादड़ी	सं. २०२७ कार्तिक कृष्णा ८	बड़ीसादड़ी
६३.	श्री विमलाकंवरजी म. सा.,	मोडी	सं. २०२७ फाल्गुन शुक्ला १२	जावद
६४.	श्री सूरजकंवरजी म. सा.,	बड़ावदा	सं. २०२८ कार्तिक शुक्ला १२	ब्यावर
६५.	श्री ताराकंवरजी म. सा., (प्रथम)	रतलाम	,, ,, ,, ,,	,,

क्र. सं,	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
६६.	श्री कल्याणकंवरजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०२८ कार्तिक शुक्ला १२	ब्यावर
६७.	श्री कान्ताकंवरजी म. सा.,	बड़ावदा	,, ,, ,, ,,	,,
६८.	श्री कुसुमलताजी म. सा., (द्वि.)	रावटी	,, ,, ,, ,,	,,
६९.	श्री चन्दनाजी म. सा., (द्वि.)	बड़ावदा	,, ,, ,, ,,	,,
७०.	श्री ताराजी म. सा., (द्वि.)	रतलाम	सं. २०२९ चैत्र शुक्ला २	जयपुर
७१.	श्री चेतनाश्रीजी म. सा.,	कानोड़	सं. २०२९ चैत्र शुक्ला १३	टौंक
७२.	श्री तेजप्रभाजी म. सा.,	अजमेर	सं. २०२९ माघ शुक्ला १३	भीनासर
७३.	श्री कुसुमकान्ताजी म. सा.,	जावरा	,, ,, ,, ,,	,,
७४.	श्री बसुमतीजी म. सा.,	बीकानेर	,, ,, ,, ,,	,,
७५.	श्री पुष्पाजी म. सा.,	देशनोक	,, ,, ,, ,,	,,
७६.	श्री राजमतीजी म. सा.,	दलोदा	,, ,, ,, ,,	,,
७७.	श्री मंजुबालाजी म. सा.,	बीकानेर	,, ,, ,, ,,	,,
७८.	श्री प्रभावतीजी म. सा.,	बीकानेर	,, ,, ,, ,,	,,
७९.	श्री ललिताजी म. सा., (प्रथम)	बीकानेर	सं. २०२९ फाल्गुन शुक्ला ११	बीकानेर
८०.	श्री सुशीलाजी म. सा., (द्वि.)	मोड़ी	सं. २०३० वैशाख शुक्ला ९	नोखामण्डी
८१.	श्री समताकंवरजी म. सा.,	अजमेर	सं. २०३० वैशाख शुक्ला ९	नोखामण्डी
८२.	श्री निरंजनाश्रीजी म. सा.,	बड़ीसादड़ी	सं. २०३० कार्तिक शुक्ला १३	बीकानेर
८३.	श्री पारसकंवरजी म. सा.,	बांगेड़ा	सं. २०३० मिगसर शुक्ला ९	भीनासर
८४.	श्री सुमनलताजी म. सा.,	बांगेड़ा	सं. २०३० मिगसर शुक्ला ९	भीनासर
८५.	श्री विजयलक्ष्मीजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०३० माघ शुक्ला ५	सरदारशहर
८६.	श्री स्नेहलताजी म. सा.,	सरदारशहर	सं. २०३० माघ शुक्ला ५	सरदारशहर
८७.	श्री रंजनाश्रीजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०३१ ज्येष्ठ शुक्ला ५	गोगोलाव

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
८८.	श्री अंजनाश्रीजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०३१ ज्येष्ठ शुक्ला ५	गोगोलाव
८९.	श्री ललिताजी म. सा.,	ब्यावर	" " " "	"
९०.	श्री विचक्षणाजी म. सा.,	पीपलिया	सं. २०३१ आश्विन शुक्ला ३	सरदारशहर
९१.	श्री सुलक्षणाजी म. सा.,	पीपलिया	" " " "	"
९२.	श्री प्रियलक्षणाजी म. सा.,	पीपलिया	" " " "	"
९३.	श्री प्रीतिसुधाजी म. सा.,	निकुम्भ	सं. २०३१ माघ शुक्ला १२	देशनोक
९४.	श्री सुमनप्रभाजी म. सा.,	देवगढ़	" " " "	"
९५.	श्री सोमलताजी म. सा.,	रावटी	" " " "	"
९६.	श्री किरणप्रभाजी म. सा.,	बीकानेर	" " " "	"
९७.	श्री मंजुलाश्री जी म. सा.,	देशनोक	सं. २०३२ वैशाख कृष्णा १३	भीनासर
९८.	श्री सुलोचनाजी म. सा.,	कानोड़	" " " "	"
९९.	श्री प्रतिभाजी म. सा.,	बीकानेर	" " " "	"
१००.	श्री वनिताश्रीजी म. सा.,	बीकानेर	" " " "	"
१०१.	श्री सुप्रभाजी म. सा.,	गोगोलाव	" " " "	"
१०२.	श्री जयन्तश्रीजी म. सा.	बीकानेर	सं. २०३२ आश्विन शुक्ला ५	देशनोक
१०३.	श्री हर्षकंवरजी म. सा.,	अमरावती	सं. २०३२ मिगसर शुक्ला ८	जावरा
१०४.	श्री सुदर्शनाजी म. सा.,	नोखामण्डी	सं. २०३३ आश्विन शुक्ला ५	नोखामण्डी
१०५.	श्री निरुपमाजी म. सा.,	रायपुर	सं. २०३३ आश्विन शुक्ला १५	नोखामण्डी
१०६.	चन्द्रप्रभाजी म. सा.,	मेड़ता	सं. २०३३ मिगसर शुक्ला १३	नोखामण्डी
१०७.	श्री आदर्शप्रभाजी म. सा.,	उदासर	सं. २०३४ वैशाख कृष्णा ७	भीनासर
१०८.	श्री कीर्तिश्रीजी म. सा.,	भीनासर	सं. २०३४ वैशाख कृष्णा ७	भीनासर
१०९.	श्री हर्षिलाश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	सं. २०३४ वैशाख कृष्णा ७	भीनासर

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
११०.	श्री साधनाश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	सं. २०३४ वै. कृष्णा ७	भीनासर
१११.	श्री अर्चनाश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	सं. २०३४ वै. शुक्ला १५	"
११२.	श्री सरोजकंवरजी म. सा.,	धमतरी	सं. २०३४ भादवा कृष्णा ११	दुर्ग
११३.	श्री मनोरमाजी म. सा.,	रतलाम	सं. २०३४ भादवा कृष्णा ११	दुर्ग
११४.	श्री चंचलकंवरजी म. सा.,	कांकेर	सं. २०३४ भादवा कृष्णा ११	दुर्ग
११५.	श्री कुसुमकंवरजी म. सा.,	निवारी	सं. २०३४ भादवा कृष्णा ११	दुर्ग
११६.	श्री सुप्रतिभाजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०३४ आश्विन शुक्ला २	भीनासर
११७.	श्री शांताप्रभाजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०३४ आश्विन शुक्ला २	भीनासर
११८.	श्री मुक्तिप्रभाजी म. सा.,	मोडी	सं. २०३४ मिगसर कृष्णा ५	बीकानेर
११९.	श्री गुणसुन्दरीजी म. सा.,	उदासर	सं. २०३४ मिगसर कृष्णा ५	बीकानेर
१२०.	श्री मधुप्रभाजी म. सा.,	छोटीसादड़ी	सं. २०३४ मिगसर कृष्णा ५	बीकानेर
१२१.	श्री राजश्रीजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०३४ माघ शुक्ला १०	जोधपुर
१२२.	श्री शशिकांताजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०३४ माघ शुक्ला १०	जोधपुर
१२३.	श्री कनकश्रीजी म. सा.,	रतलाम	सं. २०३४ माव शुक्ला १०	जोधपुर
१२४.	श्री सुलभाश्रीजी म. सा.,	नोखामण्डी	सं. २०३४ माघ शुक्ला १०	जोधपुर
१२५.	श्री निर्मलाश्रीजी म. सा.,	देशनोक	सं. २०३५ आश्विन शुक्ला २	जोधपुर
१२६.	श्री चेलनाश्रीजी म. सा.,	कानोड़	" " " "	"
१२७.	श्री कुमुदश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	" " " "	"
१२८.	श्री कमलश्रीजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०३६ चै. शु. १५	ब्यावर
१२९.	श्री पदमश्रीजी म. सा.,	महिन्दरपुर	" " " "	"
१३०.	श्री अरुणाश्रीजी म. सा.	पीपल्या	" " " "	"
१३१.	श्री कल्पनाश्रीजी म. सा.,	देशनोक	" " " "	"

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
१३२.	श्री ज्योत्स्नाश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	सं. २०३६ चै. शु. १५	ब्यावर
१३३.	श्री पंकजश्रीजी म. सा.,	बीकानेर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१३४	श्री मधुश्रीजी म. सा.,	इन्दौर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१३५.	श्री पूर्णिमाश्रीजी म. सा.,	बड़ीसादड़ी	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१३६.	श्री प्रवीणाश्रीजी म. सा.,	मन्दसौर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१३७.	श्री दर्शनाश्रीजी म. सा.,	देशनोक	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१३८.	श्री वन्दनाश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१३९.	श्री प्रमोदश्रीजी म. सा.,	ब्यावर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१४०.	श्री उर्मिलाश्रीजी म. सा.	रायपुर	सं. २०३७ ज्ये. शु. ३	बुसी
१४१.	श्री सुभद्राश्रीजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०३७ श्रा. शु. ११	राणावास
१४२.	श्री हेमप्रभाजी म. सा.,	केसींगा	सं. २०३७ श्रा. शु. ३	राणावास
१४३.	श्री ललितप्रभाजी म. सा.,	विनोता	सं. २०३८ वै. शु. ३	गंगापुर
१४४.	श्री वसुमतीजी म. सा.,	अलाय	सं. २०३८ श्रा. शु. ८	अलाय
१४५.	श्री इन्द्रप्रभाश्रीजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०३८ का. शु. १२	उदयपुर
१४६.	श्री ज्योतिप्रभाश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१४७.	श्री रचनाश्रीजी म. सा.,	उदयपुर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१४८.	श्री रेखाश्रीजी म. सा.,	जोधपुर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१४९.	श्री चित्राश्रीजी म. सा.,	लोहावट	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१५०.	श्री लधिताश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	सं. २०३८ का. शु. १२	उदयपुर
१५१.	श्री विद्यावतीजी म. सा.,	सवाईमाधोपुर	सं. २०३८ मि. शु. ६	हिरणमंगरी
१५२.	श्री विख्याताश्रीजी म. सा.,	विनोता	सं. २०३८ मा. कृ. ३	बम्बोरा
१५३.	श्री जिनप्रभाश्रीजी म सा.,	राजनांदगांव	सं. २०३९ चै. कृ. ३	अहमदाबाद

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
१५४.	श्री अमिताश्रीजी म. सा.,	रतलाम	सं. २०३९ चैत्र कृष्णा ३	अहमदाबाद
१५५.	श्री विनयश्रीजी म. सा.,	दुरखखान	” ” ” ” ”	”
१५६.	श्री श्वेताश्रीजी म. सा.,	केशकाल	” ” ” ” ”	”
१५७.	श्री सुचिताश्रीजी म. सा.,	रतलाम	सं. २०३९ चै. कृ. ३	अहमदाबाद
१५८.	श्री मणिप्रभाजी म. सा.,	गंगाशहर	” ” ” ” ”	”
१५९.	श्री सिद्धप्रभाजी म. सा.,	नागौर	” ” ” ” ”	”
१६०.	श्री नम्रताश्रीजी म. सा.,	जगदलपुर	” ” ” ” ”	”
१६१.	श्री सुप्रतिभाश्रीजी म. सा.	राजनांदगांव	” ” ” ” ”	”
१६२.	श्री मुक्ताश्रीजी म. सा.,	कपासन	” ” ” ” ”	”
१६३.	श्री विशालप्रभाजी म. सा.,	गंगाशहर	” ” ” ” ”	”
१६४.	श्री कनकप्रभाजी म. सा.,	बीकानेर	” ” ” ” ”	”
१६५.	श्री सत्यप्रभाजी म. सा.,	बीकानेर	” ” ” ” ”	”
१६६.	श्री रक्षिताश्रीजी म. सा.,	पाली	सं. २०४० आ. शु. २.	भावनगर
१६७.	श्री महिमाश्रीजी म. सा.	अहमदाबाद	” ” ” ” ”	”
१६८.	श्री मृदुलाश्रीजी म. सा.,	वैशालीनगर	” ” ” ” ”	”
१६९.	श्री वीणाश्रीजी म. सा.,	वैशालीनगर	” ” ” ” ”	”
१७०.	श्री प्रेरणाश्रीजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०४० फा. शु. २	रतलाम
१७१.	श्री गुणरंजनाश्रीजी म. सा.,	उदयपुर	” ” ” ” ”	”
१७२.	श्री सूर्यमणिजी म. सा.,	मन्दसौर	” ” ” ” ”	”
१७३.	श्री सरिताश्रीजी म. सा.,	बीकानेर	” ” ” ” ”	”
१७४.	श्री सुवर्णाश्रीजी म. सा.,	रतलाम	” ” ” ” ”	”
१७५.	श्री निरूपणाश्रीजी म. सा.,	उदयपुर	” ” ” ” ”	”

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
१७६.	श्री शिरोमणिश्रीजी म. सा.,	डोंडीलोहारा	सं. २०४० फा. शु. २	रतलाम
१७७.	श्री विकासप्रभाजी म. सा.,	बीकानेर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१७८.	श्री तरुलताजी म. सा.,	चित्तौड़	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१७९.	श्री करुणाश्रीजी म. सा.,	मोड़ी	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१८०.	श्री प्रभावनाश्रीजी म. सा.,	बड़ाखेड़ा	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१८१.	श्री सुयशमणिजी म. सा.,	गंगाशहर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१८२.	श्री चित्तरंजनाजी म. सा.,	रतलाम	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१८३.	श्री मुक्ताश्रीजी म. सा.,	बीकानेर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१८४.	श्री सिहमणिजी म. सा.,	बेंगू	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१८५.	श्री रजमणिश्रीजी म. सा.,	बंगमुण्डा	सं. २०४० फा. शु. २	रतलाम
१८६.	श्री अर्पणाश्रीजी म. सा.,	कानोड़	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१८७.	श्री मंजुलाश्रीजी म. सा.,	भीनासर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१८८.	श्री गरिमाश्रीजी म. सा.,	चौथ का बरवाड़ा	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१८९.	श्री हेमश्रीजी म. सा.,	नोखामण्डी	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१९०.	श्री कल्पमणिजी म. सा.,	पीपल्या	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१९१.	श्री रविप्रभाजी म. सा.,	जावरा	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१९२.	श्री मयंकमणिजी म. सा.,	पीपलियामण्डी	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१९३.	श्री चन्दनबाला श्रीजी म. सा,	बड़ीसादड़ी	सं. २०४१ मिगसर सुदी १३	बड़ीसादड़ी
१९४.	श्री मिता श्री श्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	सं. २०४१ माघ सदी १०	गंगाशहर-भीनासर
१९५.	श्री पीयूष प्रभाजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०४२ कार्त्तिक सुदी ६	घाटकोपर
१९६.	श्री संयम प्रभाजी म. सा.,	शाहदा	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१९७.	श्री रिद्धि प्रभाजी म. सा,.	अकलकुवा	,, ,, ,, ,, ,,	,,

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
१९८.	श्री वैभव प्रभाजी म. सा.,	अकलकुवा	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१९९.	श्री पुण्य प्रभाजी म. सा.,	शाहदा	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२००.	श्री लक्ष्य प्रभाजी म. सा.,	जांगलु	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२०१.	श्री पराग श्रीजी म. सा.,	कपासन	सं. २०४३ चैत सुदी ४	इन्दौर
२०२.	श्री भावना श्रीजी म. सा.,	भीम	सं. २०४३ चैत सुदी ४	इन्दौर
२०३.	श्री सुमित्रा श्रीजी म. सा.,	बाड़मेर	सं. २०४४ वैशाख सुदी ६	बाड़मेर
२०४.	श्री लक्षिता श्रीजी म. सा.,	बाड़मेर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२०५.	श्री इंगिता श्रीजी म. सा.,	बाड़मेर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२०६.	श्री दीव्य प्रभाजी म. सा.,	डोंडीलोहरा	सं. २०४४ वैशाख सुदी २	इन्दौर
२०७.	श्री कल्पना श्रीजी म. सा.,	रायपुर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२०८.	श्री उज्ज्वल प्रभाजी म. सा.,	राजनांदगांव	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२०९.	श्री अक्षय प्रभाजी म. सा.,	वड़ीसादड़ी	सं. २०४५ जेठ सुदी २	जावरा
२१०.	श्री श्रद्धा श्रीजी म. सा.,	उदयपुर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२११.	श्री अर्पिता श्रीजी म. सा.,	बम्बोरा	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२१२.	श्री समता श्रीजी म. सा.,	खंडेला	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२१३.	श्री किरण प्रभाजी म. सा.,	नीमच	सं. २०४५ माघ सुदी १०	मन्दसौर
२१४.	श्री पुनीता श्रीजी म. सा.,	बाड़मेर	सं. २०४६ वैशाख सुदी ६	बालोतरा
२१५.	श्री पूजिता श्री जी म. सा.,	वायतु	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२१६.	श्री विवेक श्रीजी म. सा.,	पाटोदी	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२१७.	श्री चरित्र प्रभाजी म. सा.,	विल्लूपुरम	सं. २०४६ वैशाख सुदी ६	विल्लूपुरम
२१८.	श्री कल्पना श्रीजी म. सा.,	नांदगाव	सं. २०४६ वैशाख सुदी ६	निम्बाहेड़ा

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
२१६.	श्री रेखा श्रीजी म. सा.,	नांदगांव	सं. २०४६ वैशाख सुदी ६	निम्बाहेड़ा
२२०.	श्री शोभा श्रीजी म. सा.,	बोल्ठाणा	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२२१.	श्री गरिमा श्रीजी म. सा.,	नांदगांव	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२२२.	श्री स्वर्ण प्रभाजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०४६ पौष सुदी ७	उदयपुर
२२३.	श्री स्वर्ण रेखा श्रीजी म. सा.,	ब्यावर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२२४.	श्री स्वर्ण ज्योति म. सा.	कोटा	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२२५.	श्री स्वर्णलता जी म. सा.,	गंगाशहर	,, ,, ,, ,, ,,	,,

समूची मानवता के सार्थक पर्याय

❀ श्री राजेश

पंच महाव्रतों के प्रतिपालक,
जैन धर्म के गौरव !
आचार्य श्री नानेश! आपका व्यक्तित्व एक सूरज है,
जो नित्य नवीन प्रभात देता है !
एक प्रकाश पुंज है,
जो सत्पथ की ओर ले जाता है,
एक जादू है,
जो सत्रांस हर लेता है ।
एक सागर है,
जो नए रत्न देता है ।

इन सब के मध्य,
मैं आपको खोजता हूं ।
आप मेरी जाति के ही नहीं,
बल्कि समूची मानवता के सार्थक पर्याय हैं !
मेरा प्रणाम स्वीकारें, महामुनि !
जहां आप विराजते हैं,
वहां की माटी,
उजली हो जाती है ।

—जैन बोर्डिंग, भवानीमंडी

□

तपोधनी ! तुमको वंदन हो

❀ डॉ. महेन्द्र भानावत

तुमने तिल-तिल तापी काया,
दागी देह, मोह और माया।
ज्योति जगाई जल जल हलहल,
मधुरे-मधुरे धूपी छाया ॥
जिस पर सांप जहर देते हैं,
तपसीजी तुम वह चंदन हो।
तपोधनी ! तुमको वंदन हो ॥१॥

तुमने परम आत्म पहचाना,
साधु संत मुनि जिन को जाना।
कंचन काया की छलनी में,
पतझर के बसंत को छाना ॥
पत को तप में तपा-खपा कर,
तुम तपसी निखरे कुंदन हो।
तपोधनी ! तुमको वंदन हो ॥२॥

भारत की आध्यात्म भूमि पर,
संत और सत ही सुर देते।
तन–भट्टी में मन को महका,
अन्तस के असुर हर लेते ॥
दलदल से ऊपर उठकर तुम,
पंकज से निखरे स्पन्दन हो।
तपोधनी ! तुमको वंदन हो ॥३॥

—३४२, श्रीकृष्णपुरा, उदयपुर (राज.)

तृतीय खण्ड
आचार्य श्री नानेश
व्यक्तित्व
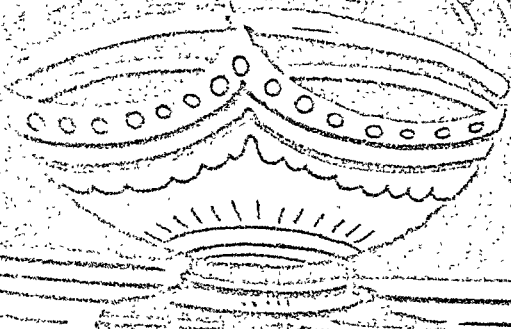
मेरी श्रद्धा के एक मात्र आधार हो तुम !

❀ संकलन—विजय मोगरा

(१)

मेरी जीवन नैया के खेवनहार हो तुम
मेरे हृदय के अनुपम हार हो तुम ।
दिन रात स्मृति रहती है तेरी,
मेरी श्रद्धा के एक मात्र आधार हो तुम ।।

(२)

मेरी साधना सदा तेरा ही अनुगमन करती रहे,
मेरी भावना सदा तेरा ही स्मरण करती रहे ।
एकमेक हो जाय अस्तित्व तुम से,
मेरी धारणा सदा तेरा ही अनुसरण करती रहे ।।

(३)

मन मेरा तेरी ही यादों में खोया रहे,
तन मेरा तेरे ही वादों में पिरोया रहे ।
तेरे ही पथ पर बढ़ता रहूं अविरल,
हृदय मेरा तेरे ही पादों में सोया रहे ।।

(४)

अस्तित्व की विलुप्त शक्ति को तुमने ही जगाया है,
जीवन-पथ प्रशस्त बनाकर जीना सही सिखाया है ।
क्या कहूं मैं तेरी गरिमा कही नहीं कुछ जाती,
शासित हो शासक बनकर शासन खूब चमकाया है।।

(५)

सुषुप्त चेतना जगाई तूने शक्ति दीप जगा करके,
प्राण फूंक दिया संघ में तूने ऐक्य भाव अपना करके ।
सुख स्रोत भी फूट पड़ा है तेरे अन्तर के तल से,
चमत्कृत किया है जग को तूने समता को अपना करके ।।

(६)

गिरते हुये व्यक्ति को सहारा दिया तूने,
डूबते हुये व्यक्ति को किनारा दिया तूने ।
पालन महाव्रत का करते और करवाते हो,
भ्रमित हुये व्यक्ति को सही इशारा दिया तूने ।।

(७)

चन्द्रमा सम शीतल लग रहा है चेहरा तेरा,
पंकज के सम खिल रहा है चेहरा तेरा ।
देख तुम्हें खुश हो रहा मन मेरा,
सबको आकर्षित करता है चेहरा तेरा ।।

(८)

लौ को जलने के लिये दीपक का सहारा चाहिये,
मीन को तिरने के लिये पानी का सहारा चाहिये।
जीवन नैया को पार करने के लिये मुझको,
हे नरपुंगव ! तुम्हारा सहारा चाहिये ।।

(९)

उठती हुई आहों को भरता चल,
जीवन के कष्टों को सहता चल ।
गुरु 'नाना' के सम्बल को पा,
साधना के पथ पर तू बढ़ता चल ।।

(१०)

ज्ञानदीप जलाकर तुमने अन्धकार मिटाया है,
क्षमाभाव अपनाकर तुमने जीवन खूब सजाया है।
दुर्गम पथपर अविरल बढ़कर,
जनमन को तुमने समता पाठ पढ़ाया है।

(११)

रागद्वेष की जड़ें खोखली करने संयम अपनाया है,
समता, शुचिता अरू क्षमा को जीवन में खूब रमाया है ।
निर्भय होकर विकट विपत्तियों की रजनी में,
चन्द्र द्वितीया सम बढ़कर तुमने शासन खूब चमकाया है ।।

(१२)

अथक परिश्रम को जिसने जीवन में अपनाया है
चिन्तन की धारा को जिसने जीवन में बहाया है
झुक जाता है मस्तक मेरा ऐसे ही के चरणों में
समता के निर्झर में जिसने अपने को नहलाया है।

(१३)

मेरे जीवन के अमूल्य शृंगार हो तुम,
मेरी कल्पनाओं के जीवन्त साकार हो तुम ।
बिखरी सरिताएं मिलती तब सागर में,
मेरी अभेद सुरक्षा के प्राकार हो तुम ।।

(१४)

समता की है सच्ची आराधना तेरी,
समता ही है सच्ची साधना तेरी ।।
विश्वशान्ति के प्रतीक हो तुम,
समता ही है सच्ची विचारणा तेरी ।।

(१५)

समता का विस्तार करना है जग में,
समता को ही आधार बनाना है जग में ।
शान्ति की सुरभि फैलाने के लिये,
समता का ही विचार भरना है अग-जग में ।।

(१६)

समता साधना के प्रतीक हो तुम,
निशा के जगमगाते दीप हो तुम ।
अपनी ही निर्मित राह पर चलने वाले,
इस दुनिया के आदर्श निर्भीक हो तुम ।।

(१७)

नाना दीपों को जलाने वाले हो तुम,
नाना जीवों को तिराने वाले हो तुम ।
वंदामि नंमंसामि करता हूं तुमको,
नाना दुःखों को मिटाने वाले हो तुम ।।

(१८)

हजारों हजार पुरुषों के हृदय सम्राट् हो तुम,
हजारों हजार गुणों के धारी गणिराज हो तुम ।
आत्म-शान्ति-पथ दर्शाने वाले,
हजारों हजार आत्माओं के अधिराज हो तुम ।।

(१९)

आत्म-विकास के पथ पर बढ़ते ही जा रहे तुम,
मुक्ति की ओर प्रयाण करते ही जा रहे तुम ।
समता-संयम तप से आप्लावित होकर,
संघोन्नति भी निरन्तर करते ही जा रहे हो तुम ।।

(२०)

भक्तिशील भक्तों के लिये भगवान हो तुम,
भयभीत आत्माओं के लिये सुरक्षित स्थान हो तुम ।
समतारस की सुर-सरिता में कर अवगाहन,
मुक्ति-पथ बतलाने वाले विशिष्ट विद्वान् हो तुम ।।

—६५ कुशलपुर, वड़ा बाजार उदयपुर (राज.)

दूरदर्शी आचार्य श्री नानेश

श्री गणपतराज बोहरा, पीपलिया-क

सन् १९८५ की घटना है। उन दिनों आध्यात्मिक विभूति पंडितरत्न श्री नानालाल जी म. सा. जावरा विराजमान थे। वे अपने गुरु शांतक्रांति के दाता तत्कालीन शासनेश आचार्य-प्रवर श्री गणेशीलाल जी म. सा. की सेवा में सर्वभावेन समर्पित थे। स्व. श्री गणेशाचार्य जी म. सा. पर उन दिनों उपाचार्य के रूप में श्रमण संघ के कार्य का दायित्व भी था और पंडित रतन श्री नानालाल जी म. सा. अपने गुरु के कार्य-दाय की सहज पूर्ति हेतु सदैव सजग रहकर सहयोग में तत्पर रहा करते थे। मैं उन्हीं दिनों में आज से करीब ३१-३२ वर्ष पूर्व गुरुदेव के दर्शनों हेतु जावरा पहुंचा। मैं स्पष्ट बता दूं कि मैं गुरुदेव के निकट सम्पर्क में न था और न ही मुझे ऐसी आशा थी कि गुरुदेव मुझसे कुछ अन्तरंग परामर्श कर सकते हैं किन्तु पंडित रतन श्री नानालाल जी म. सा. ने मुझे विश्वास में लिया और समाज को उद्वेलित कर देने वाले पाली-कांड के विषय में मुझे पूर्ण वस्तु स्थिति अलग से समझाई। गुरुदेव के इस विश्वास से मुझे निश्चय ही अपार हर्ष भी हुआ और संघ तथा शासन के निकट आने की एक सहज भावना भी मेरे मानस में विकसित हुई। मैं आज अनुभव करता हूं कि यह गुरुदेव की दूरदर्शिता का एक प्रतीक उदाहरण है। चतुर्विध संघ के लिए उपयोगी हो सकने वाले प्रत्येक घटक की पहिचान करना और समय की कसौटी पर उसे पहचान का खरा उतरना, उनकी महान् दूरदर्शिता है।

कालान्तर में मैं शनैः शनैः संघ कार्यक्रमों में तनिक रूचि लेने लगा और इन्दौर अधिवेशन में श्री सरदारमल जी कांकरिया आदि ने मुझे जबरदस्ती संघ अध्यक्ष चुन लिया। रायपुर में मैंने संघ अध्यक्ष का पदभार जब वहन किया था तो मैं सर्वथा नया-नया सा था और आज पुनः अध्यक्ष पद पर आसीन हूं तो लगभग २५ वर्ष पूर्व के उस अध्यक्षीय कार्यकाल और आज के संघ के बहुआयामी प्रवृत्तियों से संयुक्त विशालकाय स्वरूप की जब कभी तुलना करता हूं तो मुझे पुनः-पुनः वर्त्तमान शासनेश की सहज दीर्घदृष्टि के अनेकानेक उदाहरण याद आ जाते हैं। श्रद्धा से मेरा मन अभिभूत हो उठता है।

संवत् २०४० में गुरुदेव का भावनगर में चौमासा हुआ। इस चातुर्मास की सलाह देने में मैं ही था और आचार्य-प्रवर बड़ी कृपा कर परिषहपूर्ण विहार कर भावनगर चातुर्मास हेतु पधारे। सौराष्ट्र में स्व. ज्योतिधर श्री जवाहराचार्य जी के पश्चात् आप चौमासा करने पधारे, इससे वहां की धर्मप्राण जनता को कितनी अपार खुशी हुई, इसका अनुमान लगाना कठिन है। भावनगर में बरवाला सम्प्रदाय के आचार्य श्री चम्पक मुनिजी म. सा. के साथ आचार्य श्री नानेश का

संयुक्त चातुर्मास कल्पनातीत रूप से सफल रहा । गुरुदेव का नवीन क्षेत्रों में जाना और जन-जीवन को आकर्षित कर शुद्ध व आदर्श बनाना, जिनशासन के प्रद्योतन का अहर्निश प्रयास आज भी यथापूर्व जारी है और दक्षिणांचल में संत-सतीवृन्द का विहार उसी प्रयास का एक अंगीभूत सार्थक यत्न है ।

ऐसे दूरदर्शी, युगद्रष्टा, जिनशासन प्रद्योतक, समता विभूति, समीक्षण ध्यानयोगी आचार्य-प्रवर श्री नानेश को मेरे कोटि-कोटि वन्दन । □

समता व क्षमा के देवता

❀ श्री बालमुकन्द शर्मा

मन्दसौर वर्षावास के बाद आपश्री का मंगलमय पदार्पण छोटी सादड़ी हुआ । करीब २० वर्ष गुजर गये, लेकिन अभी भी प्रसंग याद आता है । एक-२ दृश्य सजीव हो जाता है । सचमुच आदर्श महापुरुषों का सहवास प्राप्त होना पुण्यानुबन्धी पुण्य का ही सुफल है । चाहते हुए भी महापुरुषों का सुअवसर नहीं मिलता ।

परम पूज्य गुरुदेव एक उच्च कोटि के आदर्श सन्तरत्न हैं । आपके परम पवित्र दर्शनों का व वचनामृत सुनने का मझे २० वर्ष में कई बार सुनहरा अवसर मिला है ।

इतने उच्च कोटि के संत होते हुए भी आपका रहन–सहन सीधा–सादा है । समता व क्षमा के तो मानों आप साक्षात् देवता हैं । आपके मुख-कमल पर कभी क्रोध की रेखा परिलक्षित नहीं हुई ।

आचार्य श्री नानेश की आकृति में परम शांति व समता-सरलता टपकती है । जैन आचार्य होते हुए भी अन्य धर्मों का आपका गहन अध्ययन है । आप गच्छवाद व साम्प्रदायिकता के संकुचित दायरे से परे हैं ।

आप ज्ञान, दर्शन चारित्र की सम्यग् प्रकार से आराधना करते हैं । आपकी परम साधना है ध्यान, चिन्तन, मनन, प्रवचन, पठन-पाठन, समाधान, लेखन आदि ।

सद्गुरु में जो दिव्य गुण होने चाहिए वे सब आपमें सदा ही देखे गये हैं, यथा—संयम, त्याग, चारित्र-बल, समता, व्यापक, गहन, आत्म-चिंतन निरन्तर प्रगति करना, आगे बढ़ते रहना, अपनी साधना में प्रमाद करना आदि ।

आप जैसे उच्च–कोटि के सन्त महात्मा, अणगार मैंने नहीं देखे । आपश्री का सानी संत–साधु दृष्टिगोचर नहीं हुआ । कितना अद्भुत प्रेरणाप्रद जीवन है परम पूज्य गुरुदेव का । आचार्य–प्रवर दीर्घायु हों, युगों–२ तक प्रेरणा देते रहें, यही हार्दिक अभिलाषा है ।

—खिड़की दरवाजा, छोटी सादड़ी–३१२६०४

"यादों की परतों से"

❀ पीरदान पारख
मंत्री—श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ

कई दिनों से सोच रहा था कुछ लिखूं पर क्या लिखूं ? लिखना भी ऐसे महापुरुष के संयमी जीवन तथा उनके सान्निध्य में हुए अपने अनुभवों से, जिनकी महानता का कोई ओर-छोर ही नहीं। फिर भी साहस करके लिखने बैठा। आंखें बन्द करके याद करने लगा कहां से शुरू करूं। धीरे-धीरे चिन्तन सन् १९८२ के अहमदाबाद चातुर्मास के आसपास घूमने लगा।

उदयपुर चातुर्मास समाप्त होने के पश्चात् गुर्जर धरा की ओर आचार्य श्री नानेश के चरण बढ़ रहे थे। लम्बे अन्तराल बाद हुक्म शासन के पट्टधर के कदम इस धरती की तरफ बढ़ रहे थे। होली चातुर्मास होना था, साथ ही १५ दीक्षाओं का प्रसंग था। अनेक व्यवस्थाएं होनी थीं, करनी थी। अहमदाबाद जैसी जैन नगरी में यह प्रसंग होने जा रहा था, एक चुनौती जैसी लग रही थी। दिन-रात एक ही चिन्तन रहता था कैसे इस प्रसंग को यादगार बनाया जाय, कैसे यह सब हो सकेगा ? सारी गुजराती स्थानकवासी जैन समाज इस प्रसंग का उत्सुकता पूर्वक इन्तजार कर रहा था। विभिन्न संप्रदाय व संघ सभी तरह सहयोग हेतु तत्पर थे पर दो मुख्य समस्यायें सामने थी—होली चातुर्मास पर शासनेश का का विराजना कहां हो तथा इतने बाहर से पधारने वाले आगन्तुक महानुभावों की आवासीय व्यवस्था किस प्रकार हो। काफी विचार विमर्श राजस्थान स्थानकवासी जैन संघ अहमदाबाद के साथियों में चल रहा था। सभी में एक उत्साह था कि इस कार्य को जैसे भी हो सफल बनाना है।

काफी चिन्तन के बाद एक भवन पर विचार सभी का ठहरा वह था नवनिर्मित लाजपतराय हॉस्पीटल भवन। कई महीनों से प्रस्तुत भवन बनकर तैयार था पर कुछ आर्थिक कारण, कुछ आपसी विचार भेद कार्य को आगे बढ़ने नहीं दे रहे थे।

सभी साथियों ने मिलकर प्रस्तुत भवन के ट्रस्टीगणों से निवेदन किया पर सीधा उत्तर मिला कि आज तक किसी धार्मिक प्रसंग पर इस भवन को दिया नहीं गया अतः कैसे संभव है। काफी निवेदन किया पर स्वीकृति मिल नहीं रही थी। अचानक एक विचार सूझा तथा उन्हें निवेदन किया गया कि आप प्रयोग के तौर पर ही सही एक बार इस भवन का धार्मिक उपयोग होने दें। धर्म के प्रभाव से सब शुभ होगा शायद यह आपका अधूरा कार्य जो विचार भेद से रुका है शान्त होकर सुलट जावेगा। तब चिन्तन का आश्वासन मिला।

इधर शासनेश नजदीक पधार रहे थे,गुर्जर सीमा में प्रवेश हो चुका था । अनायास भवन के ट्रस्टीगण की तरफ से स्वीकृति की सूचना प्राप्त हुई । सभी साथियों के मन में हर्ष की लहर दौड़ गई ।

एक बात का समाधान तो हो गया पर आवासीय व्यवस्था का प्रश्न अभी वैसे ही खड़ा था । जानकारी मिल चुकी थी कि पास में ही पुलिस कर्मियों वास्ते नये क्वार्टर्स बने हैं जिनका कब्जा अभी सौंपा जाना है तथा संख्या भी काफी थी सारा कार्य सुगमता से सलट सकता था । पुलिस कमिश्नर साहब से निवेदन किया गया पर पता चला कि अभी तक ठेकेदार ने कब्जा नहीं दिया है अतः बात उनके अधिकार में नहीं है । बिल्डिंग ठेकेदार से वार्तालाप करने पर पहले इनकारी मिली पर बाद में पता चला कि यदि कमिश्नर सा. थोड़ा आग्रह करें तो वह शायद राजी हो जावे । काम कठिन था सभी सोच रहे थे कि कैसे क्या किया जावे कुछ सूझ नहीं रहा था । अचानक कमिश्नर कचहरी से सूचना मिलने वास्ते आई । वहां जाने पर तत्काल अर्जी देने की राय मिली । उसी अनुसार अर्जी पेश की गई जिसकी स्वीकृति भी आश्चयजनक शीघ्रता से प्राप्त हुई ।

सभी अत्यन्त प्रफुल्लित थे सारा कार्य निर्विधन बढ़ता जा रहा था । यथा समय होली चातुर्मास तथा १५ दीक्षाओं का यादगार प्रसंग जो अहमदाबाद के इतिहास में अनूठा था, सानन्द सम्पन्न हुआ । सभी जगह हर्ष व्याप्त था, सभी साथी संतुष्ट थे । बाहर से पधारे हुए मेहमान प्रसन्न थे । स्थानीय स्थानकवासी समाज में भी कुछ प्रशंसात्मक बातें सुनने को मिल रही थी । इन सभी बातों के होते हुए भी मन में एक अदृश्य भय समाया हुआ था कि क्या वास्तव में यह सभी इतना अच्छा हुआ ? क्या हम कसौटी पर खरे उतरे ? इसका निर्णय अभी होना था ।

आगामी चातुर्मास की घोषणा बाकी थी एक ही चिन्तन था क्या हमारी वर्तमान की सफलता में एक चांद और लगेगा ? अथवा चातुर्मास कहीं और घोषित हो जावेगा ?

चातुर्मास घोषणा का दिन था । व्याख्यान पंडाल खचाखच भरा था । अनेक स्थानों की विनंतिया प्रस्तुत थी । आचार्य श्री की अमृतवाणी अबाध गति से प्रसारित हो रही थी । अन्य-अन्य चातुर्मास घोषित हो रहे थे । अब बारी थी स्वयं के चातुर्मास घोषित होने की । एक मिनट का सन्नाटा दूसरे मिनट सारा पण्डाल जयघोष से गूंज रहा था । अहमदाबाद की सफलता में एक चांद और लगने पर ।

आज भी वही दृश्य सामने है । सोच रहा हूं कि क्या बिना ऐसे उत्तम संयमी महापुरुष के उत्तम एवं त्यागमय जीवन के प्रभाव के यह सब संभावित था ?........

—जयपुर (राज.)

विलक्षण व्यक्तित्व

❀ श्री गुमानमल चौरड़िया

परम पूज्य चारित्र चूड़ामणि, समतादर्शन प्रणेता, जिन शासन प्रद्योतक, समीक्षण ध्यान योगी, जिन नहीं पर जिन सरीखे, प्रातः स्मरणीय, अखंड बाल-ब्रह्मचारी १००८ आचार्य श्री नानालालजी म. सा. जैन समाज के विरल आचार्यों में से एक हैं। आचार्य के लिए जो छत्तीस गुण होने चाहिये, वे आप में सब परिपूर्ण हैं।

बाल्यकाल में आपको धर्म के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं थी, लेकिन जब से आप संतों के सम्पर्क में आये, तभी से आपकी प्रवृत्ति में काफी परिवर्तन आया एवं आपकी जिज्ञासा चिन्तनशील बनी, तत्त्वों के प्रति आकर्षित हुई। आप शान्त प्रकृति के एवं गंभीर है। दीक्षा लेने के पश्चात् आप सामान्य संतों की तरह ज्ञानाभ्यास करते हुए भी गंभीरता एवं सेवा भावना से ओत-प्रोत थे। आपने स्व. आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. की जिस समर्पित भाव से सेवा की, उसी का आज यह प्रतिफल है कि आप एक महान् आचार्य के रूप में हमारे समक्ष विद्यमान हैं। सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र का विशुद्ध पालन करना व करवाना आपको शुरू से विरासत में ही मिला है।

आप में विशिष्ट ज्ञान हो ऐसा सहज ही प्रतीत होता है। उदयपुर में जब आप स्व. आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. की, जिन्हें कैंसर जैसी भयंकर व्याधि थी, सेवा में थे, डाक्टरों ने यह कहा कि अब आचार्य श्री का समय नजदीक है, आप अपना अवसर देख सकते हैं, तब आपने कहा कि मुझे ऐसी बात नजर नहीं आती। उसके पश्चात् आचार्य श्री काफी महीनों तक विद्यमान रहे। सेवा करते-करते आपको यह ज्ञान हुआ कि अब आचार्य श्री अधिक समय नहीं निकालने वाले हैं, तब आपने डॉ. साहब से पूछा कि आपकी क्या राय है। डॉ साहब ने एक ही जवाब दिया कि आपके ज्ञान के आगे हमारी डाक्टरी चल नहीं पाती है। आपने समय पहचान कर आचार्य श्री से अर्ज किया एवं तदनुरूप स्व. आचार्य श्री को संलेखना-संथारा कराया जो अधिक समय नहीं चला। ऐसा आपमें विशिष्ट ज्ञान एवं दृढ़ आत्म-विश्वास दृष्टिगोचर होता है।

आप पूर्ण अतिशयधारी हैं। जब आपको आचार्य पद प्रदान किया गया, तब आपके पास अल्प मात्रा में शिष्य समुदाय था, उसमें भी अधिकतर स्थविर ही थे। यदि आपका अतिशय नहीं होता तो शायद इस संघ की जाओजलाली जो आज दृष्टिगोचर हो रही है, नहीं होती। आपके हाथ से लगभग २६३ भागवती दीक्षाएं हो चुकी हैं, जो अपने आप में ही एक विशिष्टता लिए हुए है। आपके

पास रतलाम में २५ दीक्षाओं का एक साथ प्रसंग बना, जो इतिहास के स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है, कारण लोंकाशाह के पश्चात् आज तक इस स्थानकवासी समाज में एक आचार्य के पास इतनी दीक्षाएं सम्पन्न नहीं हुई।

आपकी प्रेरणाएं अप्रत्यक्ष ही होती हैं। जो आपके प्रवचन सुनते हैं या आपके चरित्र से प्रभावित होते हैं, वे मुमुक्षु आत्माएं आपके पास प्रव्रजित हो जाती है। प्रत्यक्ष में आप किसी को विशेष प्रेरणा नहीं देते, लेकिन आपका संयम, आपका जीवन सबके लिए विशेष प्रेरणास्पद है। आपने भगवान का एक वाक्य हृदयंगम कर रखा है "अहा सुहं देवाणुप्पिया" अतः हे देवताओं के प्रिय, जैसा सुख उपजे वैसा ही करो। पर धर्म करने में विलम्ब मत करो।

आपने स्व. दादागुरु आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. की भावना लक्ष्य में रखकर अछूतोद्धार का कार्य किया। जब आप रतलाम का प्रथम चातुर्मास पूर्ण कर आस-पास के ग्रामों में विचर रहे थे, तब आपके पास बलाई जाति के लोग आये और उन्होंने अपनी व्यथा व्यक्त की एवं कहा कि हम धर्मपरिवर्तन कर लें, इसाई बन जाये या मुसलमान बन जावें या आत्महत्या कर लें, कारण हमें कोई गले नहीं लगाता, पशुओं से भी बदतर मारी हालत है। तब आचार्य प्रवर ने एक बात फरमाई कि आप व्यसन बुराइयों, मदिरा, मांस का सेवन बन्द कर दें, समाज आपको गले लगा लेगा। तदनुरूप उन लोगों ने आपकी बात स्वीकार की, बुराइयों का त्याग किया और धर्मपाल बने। आपने आहार-पानी के परिषह की परवाह किये बिना उधर के ग्रामों में विचरण किया, जिसका प्रतिफल यह है कि आज लाखों लोग व्यसन-मुक्त हुए हैं, एवं हजारों लोग धर्मपाल बने हैं। यह एक ऐतिहासिक कार्य हुआ है।

साहित्य के लिए आपसे निवेदन किया कि साहित्य संघ का दर्पण होता है, इसके बारे में आप कुछ चिन्तन करें ताकि संघ से हम साहित्य प्रकाशित कर सकें। तदनुरूप आपने बड़ी कृपा करके जो पाण्डुलिपियां संघ को परठीं, वह साहित्य संघ द्वारा प्रकाशित किया गया और हमें लिखते हुए परम संतोष है कि जो साहित्य प्रकाशित हुआ है, एवं होने वाला है, वह अपने आपमें विशिष्टता रखता है।

संयम-साधना के लिए समता एवं ध्यान दोनों ही आवश्यक हैं, और दोनों ही दिशाओं में आचार्य प्रवर ने पूर्ण शक्ति लगाकर जो कार्य किया, वह अपने आपमें एक उपलब्धि प्रतीत होती है। समता के बारे में आपका साहित्य पठन करने से पाठक समता के आनंद में रस लेने लगता है, आप्लावित हो जाता है। समीक्षण ध्यान के बारे में आपने जो कुछ लिखा वह भी बहुत ही अनुभवगम्य पाण्डित्य पूर्ण है।

कषाय-समीक्षण के बारे में जो विशद विवेचन आपने किया है, उसमें

से क्रोध, मान माया लोभ समीक्षण पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इन सबमें आचार्य प्रवर ने आत्मानुभूति प्रवण सामग्री प्रदान की है।

आप रात्रि में अल्प समय ही विश्राम करते हैं एवं करीब २-३ बजे उठकर ध्यान साधना में मग्न हो जाते हैं। भोपालगढ़ में आपका और आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. का प्रेम संबंध स्थापित हुआ। उस संदर्भ में हम आपके पास कुचेरा रात्रि ९ बजे पहुंचे। कुछ विचार-विमर्श हुआ, फिर हमने अर्ज किया कि हमें सवेरे सूर्योदय तक आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. के पास जैतारण पहुंचना है। ४ बजे आपके दर्शन कर आपके विचार सुनकर उन्हें अर्ज करना है। आपने फरमाया कि मैं तो करीब २-३ बजे उठ जाता हूं, आप अपना अवसर देख सकते हैं, ऐसे महान् आचार्य की साधना भी कितनी जबर्दस्त है, इसका हमें तभी आभास हुआ।

आप निरभिमानी एवं पूर्ण सेवाभावी हैं। जयपुर चातुर्मास में श्री रवीन्द्रमुनिजी म. सा. की दीक्षा होने के पश्चात् (बड़ी दीक्षा के पूर्व) दूसरे दिन रात्रि में, तबियत विशेष खराब हो गई थी, उन्हें वमन काफी हुआ। उस वक्त आपने स्वयं वमन मिट्टी से साफ किया। आपने सन्तों की विनंती पर ध्यान नहीं दिया, संतों पर यह कार्य नहीं छोड़ा, स्वयं ने यह सेवा कार्य किया। इससे आपकी निरभिमानता एवं सेवा-भावना अद्वितीय दृष्टिगोचर होती हैं।

ऐसे आचार्य प्रवर के दीक्षा पर्याय के ५० वर्ष पूर्ण हो रहे हैं। ऐसे आचार्य को पाकर आज संघ निहाल हुआ है। वीर-प्रभु से यही प्रार्थना है कि आपके सान्निध्य में चतुर्विध संघ ज्ञान, दर्शन, चारित्र में अभिवृद्धि करता रहे, आपका वरद हस्त रहे एवं सान्निध्य हमेशा प्राप्त होता रहे। आप दीर्घायु हो, यशस्वी हो। ऐसे आचार्य प्रवर को हमारा शत-शत वंदन।

—भूतपूर्व अध्यक्ष, श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
सोंथली वालों का रास्ता, जयपुर-३

□

नानेश वाणी

❀ **संकलन—श्री धर्मेशमुनिजी**

० पांच महाव्रतों का पालन करने वाला चाहे किसी भी सम्प्रदाय का हो—चाहे किसी स्थान में हो, उसके साथ मिलने में एक सच्चा साधु आनंद का ही अनुभव करता है।

० ईश्वर के समग्र स्वरूप का जब प्रार्थना के माध्यम से चिन्तन किया जाता है तो उस समय मानसिक धरातल पर पवित्र संस्कारों का उदय होता है तथा अभ्यास के साथ ये पवित्र संस्कार समुज्ज्वल जीवन का निर्माण करते हैं।

आचार्य श्री नानेश : एक सिद्धांतनिष्ठ व्यक्तित्व

❀ श्री पी. सी. चौपड़ा

समस्त साधुमार्गी जैन संघ का परम सौभाग्य है कि हमारे महान अनुशास्ता, शासन नायक, समता विभूति, जिनशासन प्रद्योतक समीक्षण ध्यानयोगी, महान शासन प्रभावक आचार्य-प्रवर श्री नानेश अपने संयमी जीवन के ५० वर्ष पूर्ण करने जा रहे हैं। इस अर्धशताब्दी के पावन प्रसंग पर मैं पूज्य श्री के पावन चरणों में अपनी विनम्र अनुवन्दना समर्पित करते हुए गौरव की अनुभूति करता हूं।

पूज्य आचार्य-प्रवर का जीवन विराट और विशाल है। उसे शब्दों की परिधि में बांधना संभव नहीं है। उनके अनेकानेक गुण-रत्नों में से किसका बखान करूं और किसका न करूं, ऐसी असमंजस वाली स्थिति मेरे सामने है। फिर भी उनके अनेक गुण मण्डित जीवन के बहु आयामी पहलुओं में से जिस गुण ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया है वह उनकी सिद्धान्त निष्ठता। आचार्य-प्रवर की सिद्धान्तों के प्रति गहरी निष्ठा है कि वे किसी भी स्थिति में, चाहे कितने दबावों के होने पर भी सिद्धान्तों की कीमत पर कोई समझौता नहीं करते। अपनी इस दृढ़ सिद्धान्त निष्ठता के कारण वे आज के युग के सुविधावादी नवीनता के अन्ध प्रवाह में न बहते हुए श्रमण-संस्कृत की मूल परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। मैं जब श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ का अध्यक्ष था तब मुझे विशेष रूप से आचार्य-प्रवर के इस महान् सिद्धान्त निष्ठता के सद्गुण का परिचय और प्रमाण मिला। समस्त जैन संघ की एकता, स्थानकवासी समाज का संगठन, संवत्सरी की एकरूपता आदि अनेक प्रश्न समय-समय पर उठते रहे और इन प्रश्नों को लेकर सब सम्प्रदायों के अनेक प्रतिष्ठित प्रमुख नेतागण आचार्य श्री के सम्पर्क में आते रहे और संघ एकता आदि के सम्बन्ध में चर्चाएं करते रहे। आज का युग गुण-अवगुण की समीक्षा किये बिना किसी भी कीमत पर एकता और संगठन का हिमायती है और इसके लिए वह सिद्धान्तों को एक ओर रखने को भी तैयार हो जाता है। ऐसे माहोल में भी आचार्य-प्रवर दृढ़ता के साथ कहते हैं कि मैं भी एकता और संगठन का पक्षधर हूं किन्तु वह सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिये। सिद्धान्तों की अवहेलना करके की जाने वाली एकता कदापि संघ के हित में नहीं हो सकती। अनेक बार नेतागण आचार्य श्री की इस सिद्धान्त निष्ठता को संगठन में बाधक समझकर आचार्य-प्रवर की आलोचना भी करते हैं किन्तु आचार्य श्री इससे तनिक भी विचलित नहीं होते।

आचार्य-प्रवर की सिद्धान्त निष्ठता के कारण चतुर्विध संघ में अनुशासन का वातावरण है और साधु-साध्वी समुदाय में समाचारी के पालन के प्रति जागरूकता है। यही कारण है कि श्री साधुमार्गी संघ पूज्य आचार्य-प्रवर के नेतृत्व में उत्तरोत्तर प्रगति कर रहा है।

पूज्य आचार्य श्री अनुशासन के मामले में जितने सुदृढ़ और कठोर हैं उतने ही अपने साधु-साध्वी समुदाय के प्रति संवेदनशील भी हैं। एक ओर वे अनुशासन में वज्र से भी कठोर है जिसका अनुभव मैंने रतलाम चातुर्मास में निकट से किया। श्री पंकज मुनि और श्री अशोक मुनि का निष्कासन प्रतीक है। दूसरी ओर आचार्य-प्रवर साधु-साध्वी समुदाय के संयम पालन में सहायक होते हुए उनकी समुचित देखभाल के प्रति फूल से भी कोमल हैं। ऐसी एक घटना मेरी स्मृति में उभर रही है—

रतलाम में २५ दीक्षाओं का ऐतिहासिक समारोह सम्पन्न हो चुका था। आचार्य श्री छोटे सन्त श्री चन्द्रेश मुनि को रतलाम में विराजित संतों के पास छोड़कर विहार कर धराड़ ग्राम पहुंच गये थे। इस पर श्री चन्द्रेश मुनि को अप्रसन्नता हुई। वे आचार्य श्री के साथ ही रहना चाहते थे। थोड़े समय पश्चात हम आचार्य श्री के दर्शनार्थ धराड़ गये तब आचार्य श्री ने संतों के सम्बन्ध में पूछा। हमने कहा कि और तो सब ठीक है परन्तु श्री चन्द्रेश मुनि के भी आंखों में पानी नजर आया। इस पर आचार्य श्री ने तुरन्त संतों को भेजकर श्री चन्द्रेश मुनि को अपने पास बुला लिया। घटना साधारण-सी है परन्तु इससे यह तो साबित होता है कि आचार्य-प्रवर अपने अधीनस्थ संतों और सतियों का कितना ध्यान रखते हैं। वे वृद्ध एवं ग्लान साधु-साध्वियों की सुव्यवस्थित सेवा संयोजना के प्रतीक हैं। रूग्ण-संतों की सेवा के लिए उनमें जीवन्त तत्परता है।

अन्त में, मैं आचार्य-प्रवर के ५० वर्ष के सुदीर्घ संयमी जीवन की भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूं और कामना करता हूं कि आचार्य-प्रवर चिरकाल तक जैन शासन की सेवा करते रहें और उनकी छत्र छाया में हमारा संघ दिन दूना, रात चौगुना समृद्ध और सुदृढ़ बनता रहे।

पूर्व अध्यक्ष—श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
डालू मोदी बाजार, रतलाम (म. प्र.) ४५७००१

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के संगम

❀ श्री जुगराज सेठिया

पूर्व अध्यक्ष श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ

प्रातः स्मरणीय पूजनीय परम श्रद्धेय आचार्य श्री का मैं जीवन-पर्यन्त कृतज्ञ रहूंगा कि उन्होंने मुझे धर्मानुरागी बनाया । उनके सम्पर्क में आने पर मुझे लगा कि ये ज्ञान, दर्शन और चारित्र के संगम की प्रतिमूर्ति है । इसकी एक झलक मुझे उस समय मिली, जब आपको उदयपुर में युवाचार्य पद का गुरुतम भार सौंपा गया । आप उस महान् पद को ग्रहण करने के लिये अनिच्छुक थे, मगर संघ के वरिष्ठ श्रावकों ने सर्वसम्मति से आप पर यह उत्तरदायित्व ग्रहण करने के लिये दबाव डाला, तब कहीं जाकर आपने स्वीकृति दी । सारे सम्प्रदाय में एक उल्लास की लहर दौड़ गई कि शासन को एक योग्यतम नायक से सुशोभित करने का उनका प्रयास सफल हुवा । आज आपकी शिष्य मण्डली में शास्त्रीय ज्ञान के प्रकाण्ड सन्त एवं महासतियां अपने प्रवचनों में शास्त्रीय गूढ़ रहस्यों से जनसाधारण को अवगत कराते हैं तो श्रोताओं को एक अपूर्व उपलब्धि प्राप्त होती है और अपने जीवन में वीर प्रभु का उपदेश उतारने की प्रेरणा मिलती है ।

आचार्य श्री एक सम्प्रदाय विशेष के आचार्य हैं, मगर उनका चिन्तन, मनन सम्प्रदाय तक ही सीमित नहीं, मानवतावादी है । संकीर्णता के दायरे में नहीं, विश्वव्यापी है । संयम की मर्यादा के अन्दर समाज में व्याप्त कुरीतियों के विरुद्ध एक समतावादी समाज की रचना, असमानता को हटाना, आपके प्रवचनों का सार होता है । आपकी विशेषता यह है कि आत्म-चिन्तन और ध्यान को अपने जीवन में विशेष स्थान दिया और नियमित रूप से आतम-ध्यान को अपनाया । आपका पठन-पाठन भी अबाध है । क्योंकि आप अपने शिष्य समुदाय को स्वयं शास्त्रीय वाचना देते हैं ।

—रानी बाजार, बीकानेर

विचार-साकार

❀ श्री सरदारमल कांकरिया

आज से करीव ३२ वर्ष पूर्व मेरे गांव गोगोलाव में स्व. आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. का चातुर्मास था। उस समय श्रमण संघ वना ही था और आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. श्रमणसंघ के उपाचार्य पद पर सुशोभित थे और श्रमणसंघ के मंत्री पंडितरत्न श्री मदनलाल जी म. सा. थे। पं. र. श्री मदनलाल जी म. सा. ने विशेष कारण वश मंत्री पद से इस्तीफा दे दिया था और फलस्वरूप श्रमणसंघ के सारे कागजात उपाचार्य श्री जी की सेवामें आने लगे। वर्त्तमान शासनेश उस समय पत्र-व्यवहार का कार्य संभाले हुए थे। स्वाभाविक रूप से उपाचार्य श्री जी की ओर से पत्राचार का जिम्मा मेरे ऊपर आ गया।

मैंने पत्राचार के उन अन्तरंग क्षणों में पंडित रत्न श्री नानालाल जी म. सा. को निकट से देखा और पाया कि आप शांत स्वभावी, दृढ़ निश्चयी और लगन के पक्के थे। जो गुण आपकी उस युवावस्था में मैंने आपमें देखे, वे गुण उत्तरोत्तर बढ़ते ही चले गए। आपकी अतुलनीय ग्रहणशीलता ने आपको गुणों का सागर बना दिया।

मैंने पत्राक्ष से देखा कि श्रमण संघ के अनेकानेक उलझे हुए मामलों में चाहे वह प्रसिद्ध पाली कांड हो या अन्य कोई उलझन, गुरुदेव सदैव शांत-चित्त रहकर अपनी राय उपाचार्य श्री जी की सेवा में निवेदन करते थे। निर्णय के उन क्षणों में वर्त्तमान आचार्य श्री जी ने समाज के वातावरण में ढ़ोंगी साधुओं के जीवन को देखा और लगता है मन ही मन शुद्ध श्रमण आचार की गांठ बांध ली। आज के शासनेश श्री नानेश ने अपना वह विचार–साकार किया। पहले स्वयं अपने जीवन में शुद्धाचार को साकार किया और तदनन्तर चतुर्विध संघ में शुद्धाचार की प्रस्थापना के महनीय कार्य का शुभारम्भ किया।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि वर्त्तमान आचार्य श्री जी यदि शुद्ध श्रमण-संस्कृति की मशाल नहीं जलाते तो संभव है आज हमें एक अलग ही प्रकार की श्रमणों की स्थिति मिलती। इस शुद्ध संस्कृति की रक्षा का सारा श्रेय आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. एवं वर्त्तमान आचार्य श्री जी को है। आपकी क्रिया और आचरण में कठोरता है किन्तु मन में कोमलता है। आप निर्लिप्त और स्थितप्रज्ञ हैं।

मैंने विगत ३२ वर्षों में आचार्य-प्रवर को वहुत निकट से देखा है, उन्होंने कभी श्रावक संघ की व्यवस्था में दखलंदाजी नहीं की। कभी पूछा तक नहीं कि किसे अध्यक्ष वताएंगे या मंत्री? अपनी साधना में मस्त रहने वाले महान् आगम पुरुष को दीक्षा की इस अर्धशताब्दी के अवसर पर मेरा शत-शत वंदन-अभिनन्दन और शुभकामना कि आप शतायु होकर धर्म संघ की गौरव पताका फैलाते रहें और उसके आदर्शों की रक्षा करते रहें।

- २ ए. क्वीन्स पार्क, कलकत्ता

त्याग-वैराग्य की पारसमणि—आचार्य श्री नानेश

❀ भंवरलाल कोठारी

परम पूज्य आचार्य श्री नानालालजी महाराज सा. की कपासन में हुई दीक्षा के समय मैं लगभग छह वर्ष का एक बालक वैरागी था। दीक्षा पूर्व के सभी कार्यक्रमों में निरंतर उनके साथ रहा। उनके चेहरे पर कितना अपूर्व तेज, कितना ओज उस समय था, मुझे आज भी स्मरण है। वैराग्य की वह उत्कृष्ट-तम स्थिति थी। अप्रमत्त संयमी के सातवें गुण स्थान में जैसी श्रेष्ठतम मनो-दशा रहती है ठीक वैसी ही भाव-धारा उस समय उनकी थी। मेरी पूज्या माताजी की भी गृह त्याग कर उनके साथ ही संयमी जीवन में प्रवृष्ट होने की अत्यन्त तीव्र भावना थी पर मेरी अल्पवयता के कारण उन्हें उस समय पारिवारिकजनों से आज्ञा नहीं मिली थी। होनहार भावी आचार्य-प्रवर की दीक्षा में उनका आत्य-न्तिक व आन्तरिक सहयोग था। उन्हीं की प्रेरणा से मुझे सब समय पूज्य श्री के निकट रहने का तब सौभाग्य प्राप्त था। संयम की तेजस्विता से कांतिमान दीक्षा पूर्व के उनके मुख मंडल की छवि मेरे मानस पर आज भी अंकित है। वही कांतियुक्त मुखाकृति और अधिक तेजस्विता के साथ विगत ५० वर्षों में सदा सर्वदा मैं देखता रहा हूं। वही उत्कृष्टता की अखंड भाव-धारा। तीव्रता से तीव्र-तर व तीव्रतम की स्थिति तक पहुंचने वाली ऐसी उत्कृष्ट संयम यात्रा ऐसे महान् व विरल युग पुरुषों को ही प्राप्त हो सकती है।

भगवान महावीर ने मुक्तता के आभ्यंतर आरोहण क्रम में विनय, वैय्या-वच्च (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग की उत्तरोत्तर उच्च स्थिति प्राप्त करने की श्रृंखला का निरुपण किया है। पूज्य आचार्य प्रवर की संयम साधना यात्रा उसी क्रम से निरन्तर ऊर्ध्वारोहण की ओर गतिशील रही है। अपने परम श्रद्धेय गुरु स्व. गणेशाचार्य की शारीरिक अस्वस्थता की लंबी अवधि में आपने जिस विनम्रता, एकाग्रता, तन्मयता और समर्पण भाव से अहर्निश सेवा की है वह शास्त्रोक्त वैय्यावच्च का एक जीवन्त एवं अप्रतिम उदाहरण है। गुरु सेवा में वे उस समय इतने तल्लीन व एकाकार रहते थे कि उन्हें वंदना व संबोधन करने वालों को बहुधा निराश होना पड़ता था। सेवाभाव की वह उत्कृष्टता आज भी आचार्य श्री में उसी प्रकार विद्यमान है। छोटे से छोटे संत की भी देखभाल करना उनका सहज स्वभाव है। वे दया और करुणा की मूर्ति हैं। सभी पीड़ित संतप्त जनों के लिए उनके अन्तर से मंगल-भावनाओं का निर्झर सदा झरता रहता है।

विचार-साकार

❀ श्री सरदारमल कांकरिया

आज से करीब ३२ वर्ष पूर्व मेरे गांव गोगोलाव में स्व. आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. का चातुर्मास था। उस समय श्रमण संघ बना ही था और आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. श्रमणसंघ के उपाचार्य पद पर सुशोभित थे और श्रमणसंघ के मंत्री पंडितरत्न श्री मदनलाल जी म. सा. थे। पं. र. श्री मदनलाल जी म. सा. ने विशेष कारण वश मंत्री पद से इस्तीफा दे दिया था और फलस्वरूप श्रमणसंघ के सारे कागजात उपाचार्य श्री जी की सेवामें आने लगे। वर्त्तमान शासनेश उस समय पत्र-व्यवहार का कार्य संभाले हुए थे। स्वाभाविक रूप से उपाचार्य श्री जी की ओर से पत्राचार का जिम्मा मेरे ऊपर आ गया।

मैंने पत्राचार के उन अन्तरंग क्षणों में पंडित रत्न श्री नानालाल जी म. सा. को निकट से देखा और पाया कि आप शांत स्वभावी, दृढ़ निश्चयी और लगन के पक्के थे। जो गुण आपकी उस युवावस्था में मैंने आपमें देखे, वे गुण उत्तरोत्तर बढ़ते ही चले गए। आपकी अतुलनीय ग्रहणशीलता ने आपको गुणों का सागर बना दिया।

मैंने पत्राक्ष से देखा कि श्रमण संघ के अनेकानेक उलझे हुए मामलों में चाहे वह प्रसिद्ध पाली कांड हो या अन्य कोई उलझन, गुरुदेव सदैव शांत-चित्त रहकर अपनी राय उपाचार्य श्री जी की सेवा में निवेदन करते थे। निर्णय के उन क्षणों में वर्त्तमान आचार्य श्री जी ने समाज के वातावरण में ढ़ोंगी साधुओं के जीवन को देखा और लगता है मन ही मन शुद्ध श्रमण आचार की गांठ बांध ली। आज के शासनेश श्री नानेश ने अपना वह विचार–साकार किया। पहले स्वयं अपने जीवन में शुद्धाचार को साकार किया और तदनन्तर चतुर्विध संघ में शुद्धाचार की प्रस्थापना के महनीय कार्य का शुभारम्भ किया।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि वर्त्तमान आचार्य श्री जी यदि शुद्ध श्रमण-संस्कृति की मशाल नहीं जलाते तो संभव है आज हमें एक अलग ही प्रकार की श्रमणों की स्थिति मिलती। इस शुद्ध संस्कृति की रक्षा का सारा श्रेय आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. एवं वर्त्तमान आचार्य श्री जी को है। आपकी क्रिया और आचरण में कठोरता है किन्तु मन में कोमलता है। आप निर्लिप्त और स्थितप्रज्ञ हैं।

मैंने विगत ३२ वर्षों में आचार्य-प्रवर को बहुत निकट से देखा है, उन्होंने कभी श्रावक संघ की व्यवस्था में दखलंदाजी नहीं की। कभी पूछा तक नहीं कि किसे अध्यक्ष बताएंगे या मंत्री ? अपनी साधना में मस्त रहने वाले महान् आगम पुरुष को दीक्षा की इस अर्धशताब्दी के अवसर पर मेरा शत-शत वंदन-अभिनन्दन और शुभकामना कि आप शतायु होकर धर्म संघ की गौरव पताका फैलाते रहें और उसके आदर्शों की रक्षा करते रहें।

- २ ए. क्वीन्स पार्क, कलकत्ता

त्याग-वैराग्य की पारसमरिण—आचार्य श्री नानेश

❀ भंवरलाल कोठारी

परम पूज्य आचार्य श्री नानालालजी महाराज सा. की कपासन में हुई दीक्षा के समय मैं लगभग छह वर्ष का एक बालक वैरागी था। दीक्षा पूर्व के सभी कार्यक्रमों में निरंतर उनके साथ रहा। उनके चेहरे पर कितना अपूर्व तेज, कितना ओज उस समय था, मुझे आज भी स्मरण है। वैराग्य की वह उत्कृष्टतम स्थिति थी। अप्रमत्त संयमी के सातवें गुण स्थान में जैसी श्रेष्ठतम मनो-दशा रहती है ठीक वैसी ही भाव-धारा उस समय उनकी थी। मेरी पूज्या माताजी की भी गृह त्याग कर उनके साथ ही संयमी जीवन में प्रवृष्ट होने की अत्यन्त तीव्र भावना थी पर मेरी अल्पवयता के कारण उन्हें उस समय पारिवारिकजनों से आज्ञा नहीं मिली थी। होनहार भावी आचार्य-प्रवर की दीक्षा में उनका आत्यन्तिक व आन्तरिक सहयोग था। उन्हीं की प्रेरणा से मुझे सब समय पूज्य श्री के निकट रहने का तब सौभाग्य प्राप्त था। संयम की तेजस्विता से कांतिमान दीक्षा पूर्व के उनके मुख मंडल की छवि मेरे मानस पर आज भी अंकित है। वही कांतियुक्त मुखाकृति और अधिक तेजस्विता के साथ विगत ५० वर्षों में सदा सर्वदा मैं देखता रहा हूं। वही उत्कृष्टता की अखंड भाव-धारा। तीव्रता से तीव्रतर व तीव्रतम की स्थिति तक पहुंचने वाली ऐसी उत्कृष्ट संयम यात्रा ऐसे महान् व विरल युग पुरुषों को ही प्राप्त हो सकती है।

भगवान महावीर ने मुक्तता के आभ्यंतर आरोहण क्रम में विनय, वैय्यावच्च (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग की उत्तरोत्तर उच्च स्थिति प्राप्त करने की शृंखला का निरुपण किया है। पूज्य आचार्य प्रवर की संयम साधना यात्रा उसी क्रम से निरन्तर ऊर्ध्वारोहण की ओर गतिशील रही है। अपने परम श्रद्धेय गुरु स्व. गणेशाचार्य की शारीरिक अस्वस्थता की लंबी अवधि में आपने जिस विनम्रता, एकाग्रता, तन्मयता और समर्पण भाव से अहर्निश सेवा की है वह शास्त्रोक्त वैय्यावच्च का एक जीवन्त एवं अप्रतिम उदाहरण है। गुरु सेवा में वे उस समय इतने तल्लीन व एकाकार रहते थे कि उन्हें वंदना व संबोधन करने वालों को बहुधा निराश होना पड़ता था। सेवाभाव की वह उत्कृष्टता आज भी आचार्य श्री में उसी प्रकार विद्यमान है। छोटे से छोटे संत की भी देखभाल करना उनका सहज स्वभाव है। वे दया और करुणा की मूर्ति हैं। सभी पीड़ित संतप्त जनों के लिए उनके अन्तर से मंगल-भावनाओं का निर्झर सदा झरता रहता है।

आचार्य श्री प्रारम्भ से ही अन्तर्मुखी रहे हैं । विनय और वैय्यावच्च के साथ स्वाध्याय और ध्यान में अविचल स्थिति उनकी सहज साधना है । समता दर्शन और समीक्षण ध्यान उसी साधना की फलश्रुति है । आचार्य पद पर आसीन होते ही रतलाम के प्रथम चातुर्मास में उन्होंने समता-दर्शन की रूप-रेखा प्रस्तुत कर दी । एक जिज्ञासु के "किं जीवनम्" प्रश्न के अपने सूत्रात्मक उत्तर "सम्यक् निर्णायकम् समतामय च यत् तद् जीवनम्" की व्याख्या में जयपुर चतुर्मास के चार माह के नवसमाज सृजनकारी प्रवचनों की अजश्र-धारा प्रवाहित की । आचारांग जैसे गहन आगम ग्रंथों के गूढ़ सूत्रों की अन्तरानुभूति के आधार पर जीवन से जुड़ी हुई गहरी सटीक व्याख्याएं करके आपने अन्तर साधना की अनेक गुत्थियों को सुलझाया । आज की उलझन भरी वैयक्तिक राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्यक् समाधान हेतु विचार मंथन करके समता को एक बीज-मंत्र के रूप में प्रस्तुत किया । सामान्य जन को विकार मुक्त करने के लिए क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों का द्रष्टाभाव से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर आपने समीक्षण-समभाव पूर्वक अन्तरावलोकन का अभिनव दिशा निर्देश दिया । जीवन उत्थान के साथ समता युक्त नव समाज रचना के लिए "समता दर्शन और व्यवहार" व "कषाय समीक्षण" आदि आचार्य श्री के मौलिक ग्रंथ इस दृष्टि से इस युग की महान् युगान्तकारी रचनाएं मानी जावेंगी ।

समतादर्शी समीक्षण ध्यान-योगी आचार्य श्री का उद्दाम साधनायुक्त व्यक्तित्व त्याग और वैराग्य की पारसमणि के समान है । जो भी निकट संपर्क में आया प्रभावित हुए बिना नहीं रहा । व्यसनयुक्त व्यक्ति व्यसनमुक्त बन गये । इस युग की एक महान क्रांति घटित हुई । रतलाम, जावरा, मंदसौर, मक्सी आदि मालवा के सैकड़ों गांवों के हजारों बलाई जाति के परिवारों ने आपके उपदेशों से प्रभावित होकर मांस-मदिरा आदि दुर्व्यसनों का त्याग करके धर्मपाल समाज के रूप में एक नए समाज की बुनियाद रखी । पिछड़े वर्गों को ऊपर उठाने का यह उत्कृष्ट राष्ट्रीय कार्य हमारे समय की एक ऐतिहासिक युग निर्माणकारी घटना है ।

आधुनिकता के व्यामोह, व्यसन एवं फैशन के चंगुल में फंसती हुई आज की युवा पीढ़ी को भी आचार्य श्री ने कम प्रभावित नहीं किया है । यह चमत्कार ही है कि भोग-विलास और राग-रंग के आकर्षक माहौल में अपनी अप्रतिम साधना के बल से २६ वर्ष की आचार्य पद की अवधि में २५० से अधिक आधुनिक युवक युवतियों को आपने वीतरागता के कठोर संयमी मार्ग पर आरूढ़ करके भागवती दीक्षाएं प्रदान की हैं । जीवन रूपान्तरण का ऐसा प्रभावी उदाहरण भौतिकता की इस चकाचौंध में अन्यत्र मिलना दुष्कर है ।

ऐसे तपोधनी आचार्य श्रीजी के चरणारबिंदों में दीक्षा अर्धशताब्दी वर्ष के पावन प्रसंग पर मेरा विनययुक्त वंदन ! शत शत अभिनन्दन !

जीवन में परिवर्त्तन

❀ दीपचन्द भूरा

पूर्व अध्यक्ष–श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ

समस्त प्राणियों में मानव जीवन को श्रेष्ठ माना गया है। प्रेम, भलाई और सेवा ही जीवन का ध्येय है और अहिंसा, परोपकार व सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया की भावना में ही विश्व का कल्याण सम्भव है। संचित पुण्य के प्रताप से अच्छे कर्म किए जाते हैं तथा सुफल की प्राप्ति होती है। विरले महापुरुष ही इस धरती पर विश्व कल्याण की भावना का संदेश प्रचारित करने अपनी तेजोमय आभा के साथ अवतरित होते हैं। आज विश्व में यत्र-तत्र हिंसा, आतंकवाद और नृशंस कृत्यों का नंगा नाच हो रहा है। दुनिया बारूद के ढ़ेर पर बैठी है। कुटिलता, घृणा, धोखाधड़ी अविश्वास, आडम्बर, विलासिता और चारों तरफ अनैतिक आचरण का बोलबाला है। इस वातावरण में धर्मप्रधान भारत देश पूज्य संत-महात्माओं, गुरुजनों और उपदेशकों के प्रभाव से बचा हुआ है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवानराम, सत्य और अहिंसा का संदेश देने वाले भगवान महावीर, बुद्ध और महात्मागांधी के देश में शांति पाठ पढ़ाने वालों का अभाव नहीं है। भारतवर्ष में सुख व शान्ति उन्हीं का प्रभाव है। सभी धर्माचार्यों की शिक्षा में शान्ति का ही संदेश है।

हमारा सौभाग्य है कि हमें महान मनीषी, संयम विभूति, आचार्य श्री पूज्य नानालालजी जैसे गुरुवर मिले हैं जो अर्द्ध शताब्दी से उदारमना कल्याण कार्यों में सत्त रत हैं। पारस के स्पर्श से लोहा भी सोना हो जाता है, उसी प्रकार पूज्य आचार्यश्री के सान्निध्य में ज्ञात-अज्ञात अनेक भाई-बहिनों के जीवन में अप्रत्याशित विलक्षण परिवर्त्तन हुआ और हो रहा है। आज के भौतिकवाद में सांसारिक प्रपंचादि में फंसे प्राणी को आभास ही नहीं होता कि वह क्या कर रहा है और उसे क्या करना चाहिए ? कर्त्तव्य की दिशा में प्रवृत्त कराने के लिए गुरुदेव की कृपा रश्मि आवश्यक है जो उसे भटकने से रोके और सही पथ प्रदर्शन करे।

परम पूज्य आचार्यश्री की महिमा का वर्णन करना सूर्य को दीपक दिखाना है। गुरुदेव की वाणी से कितने ही लोगों को मार्गदर्शन मिला है कितने ही भाई-बहिनों ने संसार का त्याग किया है और आत्मकल्याण की ओर अग्रसर हुए हैं। कितने श्रावक-श्राविकाओं ने अपने जीवन को सुधारा है। उनकी महिमा असीमित है और हमारी दृष्टि सीमित है। मैं जब अपने ही परिवेश में देखता हूं तो पाता हूं कि देशनोक श्री संघ ने शासन सेवा में कितने भाई-बहिन दिए हैं

और कितने संसार में रहते हुए भी आत्मा का कल्याण कर रहे हैं। फिर भला पूरे देश में परम पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी म. सा. के सम्प्रदाय के आचार्यों व सतियों ने कितनी आत्माओं का कल्याण किया होगा, गिनती सम्भव नहीं है। पूज्यश्री के सम्प्रदाय में आढ़्यापाठ चल रहा है जिसकी व्याख्या करना तो मेरे लिए सम्भव नहीं है। परन्तु इतना जरूर जानता हूं कि मेरे पूज्य नानाजी श्री बुद्धमलजी दफ्तरी परम भक्त थे और उन्हीं की कृपा से मेरी माताजी का संयम पालने वाले संतों से सम्पर्क बना रहा। उनके आशीर्वाद से हमारा पूरा भीखमचन्द भूरा परिवार इस सम्प्रदाय को मानने वाला है। पुण्योदय के कारक चरित्रवान संतों का ही मुझे सान्निध्य मिला है जिनके संबल और कर्मठ कार्यकर्त्ता श्री सरदारमलजी कांकरिया की प्रेरणा से मैं श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ की किंचित सेवा कर सका।

मैं इस लेख को अनुभूत घटनाओं के आधार पर व्यक्तिपरक बनाते हुए आचार्यश्री के सम्पर्क द्वारा जीवन में हुए परिवर्त्तन पर प्रकाश डालना चाहता हूं। गुरुदेव के सम्पर्क में आने से मैंने आत्म विश्लेषण करने पर पाया कि अपने जीवन में कार्य एवं व्यवहार द्वारा बहुत पाप किए हैं और उस पाप की गठड़ी का बोझ ढोना बहुत दुष्कर है। सुयोग से आचार्यश्री का चातुर्मास देशनोक में वि. सं. २०३२ में हुआ। मैंने अपने मन का बोझ विनीत भावना के साथ गुरुदेव के चरणों में बैठ कर समर्पित किया। अपने दोष मन खोलकर प्रकट किए। करुणानिधान आचार्यश्री ने असीम कृपा कर मुझे कुछ प्रायश्चित दिए जिनका मैंने पालन शुरू किया और १४ वर्षों से कर रहा हूं। तभी से मेरे मन में शान्ति का स्फुरण और जीवन में अभूतपूर्व परिवर्त्तन हुआ है। महापुरुषों की शरण में आने वालों को उनके कृपा प्रसाद से बड़ी शान्ति मिलती है।

पूज्य गुरुदेव श्री नानालालजी म. सा. की अर्द्धशताब्दी दीक्षा महोत्सव के उपलक्ष में स्वर्ण जयन्ती समारोह प्रत्येक गांव, कस्बा, नगर में त्याग और तपस्या के साथ मनाया जा रहा है। मैं भी अपने हृदय से उनके दीर्घजीवी होने की कामना करता हूं कि वे चतुर्दिक अपनी मधुरवाणी से ज्ञानामृतपान कराते रहें और हमारे जीवन को आलोकित करते रहें। आप तो स्वयं सूर्य है, प्रकाश पुंज हैं। आपके जीवन पर हम क्या प्रकाश डालें, हम तो उसके प्रकाश में अपनी राह पाते हैं। आप तो चन्द्र हैं, हम चक्कोर हैं। आप तो पूज्य हैं, हम पतित हैं। आपके आशीर्वाद के लिए हम न मस्तक है।

......जे पीर पराई जाणे रे।

❀ श्री फतहलाल हिंगर
मंत्री, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान

परम श्रद्धेय आचार्य-प्रवर श्री नानेश का यह दीक्षा अर्धशताब्दी वर्ष है। उनकी अपनी संयम साधना के पचास वर्ष पूरे होने जा रहे हैं। इस काल में हमारे आराध्य देव ने अपनी कठोर संयम साधना द्वारा जिनशासन की अपूर्व अनुपम सेवा की है। यह सर्व विदित है। इन्द्रिय संयम के साथ-साथ प्राणी संयम द्वारा अपने व्यक्तित्व के अन्तरतर में अहिंसा-संयम-तप की त्रिवेणी को निरन्तर प्रवहमान करके आचार्य-प्रवर ने नये कीर्तिमान स्थापित किये हैं। समता दर्शन की गहराइयों में बैठकर अपने जीवन को समता की कसौटी पर कसते और अपने जीवन में पूर्ण स्थान देते हुए कथनी और करनी को साकार किया है आचार्य श्री नानेश ने। वैराग्य अवस्था संयम साधना क्षेत्र में प्रवेश का प्रथम चरण है, प्रथम सीढ़ी है। इस अवस्था में रहते हुए संयम मार्ग में उपस्थित होने वाले कठोर परिषहों को सहन करते हुए संयम पथ पर निरन्तर अग्रसर होने की स्पष्ट भूमिका निर्माण करनी होती है। मनसा, वाचा, कर्मणा-'आत्मवत् सर्व भूतेषु' के स्वरों को आत्मसात करना होता है।

आचार्य-प्रवर ने अपनी मुमुक्षु अवस्था में ही आत्मा-अनात्मा के स्वरूप को समझते हुए भोग को रोग एवं इन्द्रिय विषयों को विष तुल्य माना था। पूर्ण विरक्ति-शरीर सम्बन्धी ममत्व के परित्याग द्वारा आत्माराधना की—तल्लीनता युक्त अपने मानस सरोवर में पूर्ण वैराग्य की उर्मिया लहराने लगी थी। इस अवस्था के इनके जीवन संस्मरण को याद करते हुए उक्त कथन की पुष्टि होती है।

उदयपुर नगर की ही वात है जव हमारे श्रद्धा के केन्द्र आचार्य–प्रवर वैराग्य अवस्था में भागवती दीक्षा अंगीकार करने के कुछ ही समय पूर्व नगर में ही मुमुक्षु जीवन व्यतीत करते हुए अध्ययनरत थे। सभी जैन परिवारों की इच्छा सदैव प्रवल वनी रहती थी उनको इनके आतिथ्य का सौभाग्य प्राप्त हो।

इसी शृंखला में (मेरे पितामह के अनुसार) हमारे परिवार को अतिथि सत्कार का सौभाग्य मिला-मिलता रहा। एक दिन की वात। प्रासुक भोजनोपरांत-हस्तशुद्धि के प्रसंग से एक स्थान की ओर इंगित कर दिया गया। स्थान को अयोग्य ठहराते हुए जल को ऊंचे स्थान से गिरने पर पृथ्वी पर चलने वाले जीवों की हिंसा होना स्वाभाविक है, ऐसा निरुपित किया। ऐसी आदर्श अहिंसक

वृत्ति की उच्चतम धारणा के प्रति पारिवारिकजन मन ही मन नतमस्तक हो रहे थे शीघ्र ही अन्य व्यवस्था द्वारा समस्या का समाधान हो सका।

आत्म एवं परात्म का रूप समान है। सब आत्माएं जीना चाहती हैं। ऐसा साम्य भाव वैराग्य काल में ही अंकुरित हो गया था। कठोर संयमी जीवन की आराधना का मार्ग प्रशस्त कर लिया था। प्राणीमात्र को किंचित मात्र भी कष्ट अपने कर्म द्वारा नहीं पहुंचे। इस पाठ को आत्मसात् कर लिया गया है ऐसा सब को आभास हुआ, सब मन ही मन इनके जागरूक संयमी जीवन की इस पूर्व भूमिका की सराहना करने लगे।

जनसाधारण के लिये यह प्रसंग कथन भले ही सामान्य प्रतीत हो पर यह भावात्मक प्रसंग हम सबके लिये निश्चित ही प्रेरणादायक है। सन् १९८१ का उदयपुर का ऐतिहासिक वर्षावास सदा ही स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। समीक्षण-ध्यान का प्रारम्भिक प्रथम सार्वजनिक कथन-उपदेश-विवेचन-जन-जन की तीव्र भावनाओं को लक्ष्य में रखते हुए—श्रद्धेय आचार्य-प्रवर ने किया और इसी वर्ष ध्यान-साधना का यह स्वरूप पुस्तिका के रूप में जनता के समक्ष उपस्थित हो सका।

आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान का शुभारम्भ भी इसी वर्ष हुआ। नगर में उस समय अन्य सम्प्रदायों के साधु-साध्वीगण भी वर्षावास काल नगर के विभिन्न स्थानों में व्यतीत कर रहे थे।

एक दिन की बात है श्रद्धेय आचार्य-प्रवर ने संकेत पूर्वक अन्य सम्प्रदाय विशेष की साध्वीजी को उनके निवास स्थान के समीप ही एक ईसाई परिवार द्वारा निरन्तर अशिष्ट अभद्र व्यवहार से हो रहे कष्ट का करूणाजनक विवरण स्वयं साध्वियों के मुंह से सुनकर उचित आवश्यक व्यवस्था-निरापद स्थान की करने हेतु साधु भाषा में मुझसे कहा। व्यवस्था समुचित हो चुकी है ऐसे समाचार ज्ञात होने पर उनके मुख मंडल पर सन्तोष की झलक हमें दिखाई दी। इससे सहज ही अनुमान लगता है उनकी रग-रग में प्रवाहमान करूणाभाव का।

उदयपुर के वर्षावास की समाप्ति पर गुरुदेव का विहार गुजरात प्रान्त की ओर हो रहा था। मेवाड़ की अरावली पहाड़ियों का मार्ग दुर्गम होने के साथ ही आदिवासी बाहुल्य है। श्रमण जीवन की समुचित आराधना हो सके उस स्थिति से कठोर तो है ही, फिर उन दिनों आचार्य श्री का स्वास्थ्य पूर्ण अनुकूल नहीं होने से 'डोली' साधन के प्रयोग का आग्रह शिष्य मण्डली का रहा। साथ संयोगवश कुछ समय के लिये विहार में साथ रहने का सौभाग्य-सान्निध्य मुझे प्राप्त हुआ।

मैंने देखा आचार्य श्री जब डोली में विराजते हुए कंटीले और पथरीले मार्ग पर संतों के कंधों नहीं चाहते हुए भी विहार कर रहे थे तो मुख-मुद्रा

अत्यन्त म्लान थी। लगता था संतों को डोली उठाकर चलते हुए देखकर उनके हृदय में तीव्र वेदना हो रही है। वे सबके कष्टों को समझ रहे थे अनुभव कर रहे थे—पराई पीर जान रहे थे—पर स्वास्थ्य की प्रतिकूलता एवं सन्तों का आग्रह जो था।

इन्हीं दिनों मैं आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान द्वारा शीघ्र प्रकाश्य समता दर्शन एवं व्यवहार का अंग्रेजी अनुवाद देख रहा था। मेरे मन में यह विचार उठा कि प्रत्येक दर्शन किसी न किसी सीमा तक आबद्ध है। परन्तु 'समता दर्शन' की किसी सीमा का कोई निर्धारण नहीं है। यह तो सम्पूर्ण मानव जीवन के कल्याण हेतु उसे उन्नत नैतिक एवं सामाजिक बनाने की ओर संकेत करता है। समता दर्शन-विश्व दर्शन है। इसके अध्ययन के पश्चात् किसी अन्य दर्शन के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहती।

३०६/४, अशोक नगर, उदयपुर (राज.)

□

चमत्कारपूर्ण व्यक्तित्व

❀ श्री शांतिलाल रांका

अजमेर चातुर्मास सम्पूर्ण कर आप ग्रामानुग्राम विहार करते हुए होली चातुर्मासार्थ हेतु सोजत की तरफ पधार रहे थे। उस समय माघ सुदी में जयनगर भी आपका दो रोज के लिये विराजना हुआ। उस समय आपके पधारने पर पूरे ग्राम पर केसर की वर्षा हुई जिसको बच्चे, बूढ़ों, नवयुवकों सभी ने बड़े ही हर्ष के साथ प्रातः ही अपने-२ घरों की छतों पर जाकर साक्षात् देखा। सभी आपके प्रति श्रद्धान्वित हो गये।

उसी सन्दर्भ में दो रोज में एक रोज रविवार का था। बाहर व ग्राम के दर्शनार्थियों की उपस्थिति विशेष थी। बाहर श्रीसंघों में ब्यावर, विजयनगर, गुलाबपुरा, भीम, आसीन्द, बदनोर, अन्टाली, खेजड़ी, बाखी, शम्भूगढ़ व कई ग्रामों से पधारे हुए करीब तीन हजार की जनमेदिनी थी। श्रीसंघ को चिन्ता थी कि रसोई (भोजन) केवल पन्द्रह सौ आदमियों की है, कैसे क्या होगा? परन्तु सभी तीन हजार आदमी भोजन से निवृत्त हो गये। शेष और बच गया। यह सब न जाने कैसे हुआ? उस घटना को याद कर अब भी आश्चर्य होता है। आप जैसे महापुरुष के चमत्कारपूर्ण व्यक्तित्व को शत-शत वन्दन।

मंत्री, श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ
मु. जयनगर, पो. शम्भूगढ़ (जि. भीलवाड़ा)

शास्त्रों के उद्‌भट विद्वान्

❀ श्री धनराज बेताला

आचार्य पूज्य श्री नानालाल जी म. सा. के जैन भागवती दीक्षा के अर्धशताब्दी वर्ष के दृश्य देखने वाले हम सब अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं। आचार्य श्री जी ने अपनी साधना के इन ५० वर्षों में कितनी क्या उपलब्धि की है, इस निरन्तर साधना से वे कितने आगे बढ़ गये हैं इसका आकलन विशेष तो उनके सान्निध्य में साधनारत साधक ही कर सकते है हम श्रावकों के द्वारा तो संभव नहीं है।

आचार्य श्री जी का संयमी जीवन, साधना के क्षेत्र में जहां एक विशिष्ट स्थिति तक पहुंचा हुआ प्रतीत होता है वहां ज्ञान के क्षेत्र में वे जितनी ऊंचाइयों तक पहुंचे हैं उसकी झलक तो कई अवसरों पर विद्वानों के उल्लेख से प्राप्त होती है। आचार्य श्री जी द्वारा व्याख्यानों में प्रतिपादित समता दर्शन व आगमों के निचोड़ रूप जो व्याख्याएं प्राप्त हुई है उसका जिन्होंने अध्ययन किया है वे इतने प्रभावित हो जाते हैं कि हृदय आदर से ओत-प्रोत हो जाता है।

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ ने आचार्य श्री जी द्वारा उद्‌घाटित आगमों के विचारों के कुछ अंशों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया है लेकिन संघ भी अपने सीमित साधनों के कारण आचार्य-प्रवर से जो प्रज्ञा प्राप्त कर सकता है वह नहीं कर पा रहा है फिर भी जो प्रकाशन संघ ने समाज के सन्मुख किया है उसका इतना सुन्दर प्रभाव अंकित हुआ है कि वह अपने आप में बेमिशाल है।

इसी अर्धशताब्दी वर्ष के चातुर्मास काल के प्रारम्भ में कानोड़ में श्री जैन विद्वद् परिषद द्वारा समता संगोष्ठी का आयोजन किया गया था जिसमें भारत भर के विद्वान सम्मलित हुए। उदयपुर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्री डॉ. प्रेमसुमन जैन ने बतलाया कि मैंने एक शोध विद्यार्थी को जैन सिद्धान्त के एक विषय पर शोध निबन्ध लिखवाया। उक्त विद्यार्थी ने विभिन्न विद्वानों के ग्रन्थों के आधार पर लेख तैयार किया व उक्त लेख के सन्दर्भ ग्रन्थों का उल्लेख किया। श्री जैन ने बताया कि उन सब सन्दर्भों में हर सन्दर्भ स्थान पर आचार्य पूज्य श्री नाना-लालजी म. सा. द्वारा व्याख्यायित पुस्तक "समता दर्शन और व्यवहार" का उल्लेख था। तात्पर्य यह कि उक्त एक पुस्तक से उसने सारे सन्दर्भ प्राप्त किये।

जैन दर्शन के जो भी विद्वान् आचार्य पूज्य श्री के सम्पर्क में आया वह उनसे अत्यन्त प्रभावित हुआ। ध्यान के क्षेत्र में आचार्य श्री जी की समीक्षण ध्यान विधि जब साधकों के सामने आई तो उसका एक अनूठा प्रभाव पड़ा।

वर्तमान युग में समीक्षण ध्यान विधि के सामने आने से पूर्व कई ध्यान विधियां प्रचलित हो गई थीं अतः सबका ध्यान उन विधियों से तुलनात्मक दृष्टि से देखना अस्वाभाविक नहीं लगता । अन्यान्य ध्यान पद्धतियों के प्रायोजकों की आलोचना भी सामने आई प्रेक्षाध्यान पत्रिका में आलोचना प्रकाशित हुई । तो आचार्य-प्रवर के सन्मुख समीक्षण ध्यान के विषय में विवेचन हेतु निवेदन किया गया । जो समाधान प्राप्त हुआ वह विद्वदजनों के लिए मार्ग दर्शक रूप था । वह श्रमणोपासक में प्रकाशित किया गया । श्रमणोपासक में प्रकाशन से पूर्व डॉ. श्री नरेन्द्र भानावत से मैंने समीक्षण ध्यान के सम्बन्ध में प्राप्त समाधान के अवलोकन का निवेदन किया तो डॉक्टर श्री भानावत ने फरमाया कि उत्तर प्रत्युत्तर में नहीं पड़ना चाहिए किन्तु मैंने पुनः निवेदन किया तो डॉक्टर सा. ने आद्योपान्त अवलोकन किया व हर्ष मिश्रित विस्मय पूर्वक कहा कि समीक्षण ध्यान के इतने शास्त्रीय उदाहरण तो विशिष्ट ज्ञाता ही दे सकते हैं ।

समीक्षण ध्यान की चर्चा के साथ ही आचार्य श्री जी द्वारा व्याख्यायित एवं क्रोध समीक्षण, मान के रूप में प्रकाशित पुस्तकें पाठक वृन्द के हाथों में है । क्रोध समीक्षण की पांडुलिपि पं. शोभाचन्द्र जी भारिल्ल को अवलोकनार्थ प्रेषित की गई जिसको सरसरी तौर पर देखकर पंडित सा. ने बिना किसी टिप्पणी के लौटा दी । इस पर पांडुलिपि उनको भेजकर पुनः निवेदन किया कि आप इस पांडुलिपि को देखकर यह बताएं कि इस में कहीं शास्त्रीय विचारणा के विरुद्ध कोई सामग्री तो नहीं है । पंडित सा. ने पांडुलिपि का सावधानी पूर्वक अवलोकन किया और पुस्तक के बारे में बताया कि क्रोध समीक्षण के संबंध में इतने शास्त्रीय प्रसंग भी हो सकते हैं यह तो शास्त्रीय ज्ञान में विशिष्ट पैठ रखने वाले अनुभवी प्रज्ञाशील आचार्य-प्रवर जैसे ज्ञाता द्वारा ही संभव है ।

उपर्युक्त उदाहरणों को प्रस्तुत करने का तात्पर्य यह है कि आचार्य भगवन् से जो विशाल ज्ञान का नवनीत हमें उपलब्ध कर लेना चाहिए वह नहीं कर पाये हैं । इसके लिए आचार्य श्री के इस दीक्षा अर्ध-शताब्दी प्रसंग के अवसर पर हम संकल्प पूर्वक संलग्न होकर उन अनुपलब्ध अप्रकाशित ज्ञान बिन्दुओं को प्रकट कर जनमानस के सन्मुख यदि प्रस्तुत कर सकें तो हमारे प्रयत्नों की सार्थकता होगी । इसी शुभाशंसा के साथ ।

मंत्री, श्री सु. सांड शिक्षा सोसायटी, नोखा
पूर्व मंत्री, श्री अ. सा. साधुमार्गी जैन संघ

मेरी सफलता का राज

॥ श्री सोहनलाल सिपानी

साधारणतया धर्म संस्कार मुझे मेरे माता-पिता से मिले हैं। मेरे पिताजी आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. और आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. के अनन्य उपासक थे। इससे उनके प्रति मेरी श्रद्धा-भक्ति और वढ़ गई। उपासना और भाव-भक्ति स्थायी पूंजी के रूप में मुझे और मेरे परिवार को प्राप्त हुई है। मैंने इस पूंजी की बड़े धैर्य और विवेक के साथ रक्षा करते हुए किसी भी मंगल अवसर को हाथ से नहीं जाने दिया है।

उसी पूंजी और आचार्यों की भाव-भक्ति से ही मेरे जीवन का निर्माण हुआ है, धर्म के प्रति दृढ़ आस्था वनी है, मानस में अटूट श्रद्धा जमी है। धर्म के प्रताप से ही आज मैं सुखी हूं। बड़े परिवार का संपादन करते हुए भी मुझे कोई असंतोष नहीं है।

इन आचार्यों की छत्रछाया और सान्निध्य से ही आज सांसारिक कार्य करते हुए और परिवार का उत्तरदायित्व निभाते हुए मैं अपने कर्त्तव्यों से विमुख नहीं हुआ हूं। कठिन परिस्थितियों में भी धर्म सम्बन्धी न्याय नीति के विचार नहीं त्यागे हैं।

इसी सफलता से मेरा आत्म-बल वढ़ता गया और मैं आचार्य श्री नाना-लालजी म. सा. का अनन्य भक्त बन गया और सम्यक्त्व मेरी जीवन-धारा में उतर गया। इस सारी सफलता के मूल में कोई एक अदृश्य शक्ति मेरे मानस में चेतना जगाती रही है। जो भी संकट आया, टलता गया, बाधाएं आयीं मिटती गईं और मेरा मार्ग प्रशस्त होता गया। इन सारी प्रच्छन्न-प्रक्रियाओं में आचार्य श्री की सद्भावना ही मुख्य है।

आचार्य श्री का महान् व्यक्तित्व, उनका तेजस्वी संयमित जीवन, उनकी प्रेमपूर्ण आत्मीयता ही मेरी सफलता का राज है। मैंने घण्टों आचार्य श्री के निकट भाव-भक्ति में व्यतीत किये हैं।

उनकी दीक्षा के अर्द्ध शताब्दी वर्ष पर मेरी मंगल-कामना है कि वे स्वस्थ और दीर्घायु बनकर चतुर्विध संघ की सेवा करते हुए वीर शासन के गौरव को उज्ज्वल बनावें और सन्त-सतियों में अदम्य उत्साह और साहस भरें, ताकि साधु-मार्गी संघ का यशस्वी इतिहास बन सके।

इन्हीं मंगल-कामनाओं के साथ।

—नं. ३, बनरगट्टा रोड़, बैंगलोर

तीन लोकोपकारी प्रसंग

❀ श्री लूणकरण हीरावत

(१) मौसम ही बदल गया

परम श्रद्धेय आचार्य श्री के जीवन के महत्त्वपूर्ण संस्मरण:—

देशनोक चातुर्मास की घटना है। आचार्य प्रवर के चरणों में नगर पालिका अध्यक्ष श्री हरिरामजी मूंदड़ा ने उपस्थित होकर अर्ज किया कि माननीय जिलाधीश महोदय आपका दर्शन व प्रवचन सुनने को उत्सुक हैं। उस समय संघ अध्यक्ष श्री दीपचन्दजी भूरा व मैं लूणकरण हीरावत (मंत्री) उपस्थित थे। मूंदड़ा जी ने कहा कि गर्म अधिक है, सो पंखे लगाए बिना जिलाधीश महोदय नहीं वैठ सकेंगे। हमने कहा कि ऐसा यहां नहीं हो सकेगा। कुछ वार्तालाप के पश्चात् आचार्य भगवन् ने सहज भाव से पूछ लिया कि जिलाधीश महोदय का कब तक आने का प्रोग्राम है? उत्तर में मूंदड़ाजी ने कहा कि करीव दस-वारह दिन वाद का प्रोग्राम है। आचार्यश्री जी ने सहज भाव से फरमाया कि देखें उस समय क्या कुदरत बनती है? आपको शायद पंखा लगाने की सोचने की आवश्यकता भी न पड़े। पंखे तो यहां लगने का प्रश्न ही नहीं है। यह हमारी मर्यादा के विपरीत है। उस समय मुझे व अध्यक्ष महोदय को दृढ़ विश्वास हो गया कि जिलाधीश महोदय के आने से पूर्व वर्षा अच्छी होकर मौसम जरूर वदल जावेगा। आचार्य भगवन् के वचन कभी खाली नहीं हो सकते। ठीक वैसा ही हुआ। जिलाधीश महोदय के आने के एक दिन पूर्व ऐसी वरसात हुई कि मौसम ही बदल गया।

(२) गरमी बिल्कुल शान्त रही

ऐसी ही एक घटना सरदारशहर चातुर्मास के पूर्व और घटित हो गई। आचार्यश्री थली प्रान्त में राजलदेसर विराज रहे थे। महावीर जयंती के प्रसंग पर आचार्य प्रवर ने चातुर्मास सरदाशहर व कुछ संभावित दीक्षाएं गोगोलाव की स्वीकृति फरमायी। इस घोषणा से श्रावक लोग कुछ चिन्तित हो गए। चिन्तित होना स्वाभाविक था, क्यों दीक्षा का प्रसंग जेठ मास में था। थली प्रान्त में भयंकर गर्मी पड़ती है। राजलदेसर से गोगोलाव पधारना व पुनः चातुर्मासार्थ सरदारशहर पहुंचना भयंकर परिषह दृष्टिगोचर हो रहा था। इस रास्ते में संतों के कल्पनीय पानी भी पूरा मिलना कठिन दिखाई दे रहा था। हम लोग चिन्तित अवस्था में बैठे हुए थे कि आचार्य भगवन् वाहर से पधार गए। श्रावकों को उदास देखकर सहज भाव से पूछ लिया—क्या वात है? हम लोगों ने अर्ज किया,

भंते ! आपकी घोषणा से हम बड़े भयभीत हो रहे हैं। कहां सरदारशहर व कहां गोगोलाव ? भयंकर गर्मी का मौसम रहेगा। पूरा पानी भी आपके कल्पनीय मिलना कठिन है। उस समय आचार्य भगवन् ने फरमाया कि चिंता जैसी कोई बात नहीं है। हम लोग परिषहों से घबराने वाले नहीं है। उस समय देखें क्या कुदरत बनती है। आचार्य भगवन से पुनवानी से आपके मुखारविन्द की निकले शब्दों से ऐसा हुआ कि गोगोलाव दीक्षा प्रसंग पर जोरदार बरसात होकर ऐसा दिखने लगा मानो सावन-भादो आ गया है। इतना ही नहीं बल्कि गोगोलाव से लेकर सरदारशहर तक समय-समय पर बरसात होकर मौसम ऐसा ठंडा रहा कि गर्मी बिल्कुल शांत रही।

(३) चरण-रज का प्रभाव

गंगाशहर-भीनासर प्रवासकाल की घटना है। श्री गंगानगर (राज.) में एक अजैन भाई के मस्तिष्क में काफी अर्से से भयंकर दर्द हो रहा था। उसने अनेक जगह जाकर बड़े-बड़े डाक्टरों व वैद्यों से इलाज करवाया लेकिन कोई लाभ प्रतीत नहीं हुआ। वह बिल्कुल निराश हो गया। वह इस बीमारी से अति चिन्तित भी हुआ। उस समय देशनोक निवासी श्री तोलारामजी आंचलिया ने उस भाई को कहा कि आचार्य श्री नानालालजी महाराज साहब अभी भीनासर विराज रहे हैं। वे बड़े प्रतापी व उच्च कोटि के आचार्य हैं। हालांकि मैं तेरापंथ को मानने वाला हूं, लेकिन मेरी आचार्यश्री जी के प्रति पूर्ण श्रद्धा व आस्था है। तुम गंगाशहर-भीनासर जाकर आचार्य श्री जी म. सा. जब बाहर जंगल के लिए पधारें तो तुम पीछे-पीछे जाकर उनके चरणों की रज लेकर अपने मस्तिष्क पर रगड़ लेना। ऐसा प्रयोग थोड़े दिन करने पर ही तुम्हें आरोग्य लाभ प्राप्त हो जाएगा, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। वह अजैन भाई बीमारी से बहुत दुखित था। श्री तोलारामजी के कहने पर तुरंत गंगाशहर-भीनासर आकर आचार्य भगवन के चरणों की रज लेकर श्रद्धा से लगाने लगा। उस अजैन भाई को ऐसा चमत्कार हुआ कि अति शीघ्र बिल्कुल स्वस्थ हो गया। इस घटना का वृत्तांत मैंने एक अति विश्वसनीय व्यक्ति से दिल्ली में सुना था। जब कुछ समय बाद मेरा बीकानेर जाने का संयोग बना तो श्री तोलारामजी आंचलिया मुझे हॉस्पिटल में अनायास ही मिल गए। मैंने उपर्युक्त घटना की उनसे जानकारी लेनी चाही तो श्री आंचलियाजी ने मुझे कहा कि आपने जो सुना, बिल्कुल सत्य घटना है। वैसे आचार्य भगवन के चरण-रज में पूर्ण श्रद्धा रखने वाले कई व्यक्तियों को लाभ पहुंचा सुन रहे हैं, लेकिन यह घटना मेरी जानकारी में बिल्कुल सत्य है।

—देशनोक

□

मेरे अटूट श्रद्धा केन्द्र : आचार्य श्री नानेश

❀ श्री चम्पालालजी डागा

सहमंत्री—श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ

समता विभूति, परम पूज्य, प्रातः स्मरणीय, जिन-शासन प्रद्योतक, आचार्य प्रवर श्री नानालालजी म. सा. के दीक्षा अंगीकार किये पचास वर्ष सम्पन्न हो रहे हैं। जिसको प्रतीक वर्ष मानकर हम श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ के सदस्यगण दीक्षा अर्द्ध शताब्दी वर्ष के रूप में मना रहे हैं। आचार्य प्रवर एक ऐसे महान संत, एक ऐसे विशिष्ट योगी हैं जिनके साधनामय जीवन में जो इनके निकट आया वह अभिभूत हुए बिना नहीं रह सका है। आचार्य श्री के जीवन-साधना के विभिन्न आयामों से यदि हम उनके जीवन प्रसंगों को उद्घाटित करने लगें तो प्रचुर सामग्री हो जाती है।

हम धन्य हैं कि चरम आधुनिकता के इस युग में श्रमण संस्कृति के अडिग रक्षक के रूप में आचार्य श्री जी की जीवन साधना युगों-युगों तक साधकों को प्रेरित करती रहेगी। आज चारों ओर से वैज्ञानिकता को आधार मान कर कई प्रवृत्तियों में युगान्तरकारी परिवर्त्तन हेतु वातावरण बनाकर प्रभावशाली ढ़ंग से प्रस्तुत किया जाता है लेकिन संयम मार्ग में सिद्धान्तों की सुरक्षा के साथ यदि कोई परिवर्त्तन की बात सामने आती है तो उस पर आचार्य श्री जी द्वारा मार्ग दर्शन व मान्यता प्राप्त हो जाती है लेकिन सिद्धान्तों के विपरीत परिवर्त्तन की बात पर आचार्य श्री जी कभी समझौता स्वीकार नहीं करते हैं। ऐसे विशिष्ट योगी के समक्ष अपनी बात प्रस्तुत करने वाला व्यक्ति स्वयं ही नतमस्तक हो जाता है।

आचार्य प्रवर के दीक्षा का यह अर्द्ध शताब्दी वर्ष हमें प्राप्त हुआ है। आचार्य प्रवर के सान्निध्य स्मरण मात्र से अनेक संस्मरण प्रस्फुटित होते हैं जिनको लिपिबद्ध किया जाय तो न मालूम कितने पृष्ठ चाहिए।

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ के क्षेत्र विस्तार, आचार्य प्रवर के विचरण, आचार्य प्रवर से प्रेरित होकर दीक्षित होने वाले साधक-साधिकाओं, आचार्य श्री जी द्वारा मालव प्रान्त में प्रदत्त उद्‌बोधन मात्र से सप्त कुव्यसन त्याग कर बने धर्मपाल बन्धुओं के विशाल क्षेत्र, समीक्षण ध्यान विधि के प्रयोग एवं उन पर व्याख्यायित अनुभवों को पिरोकर पुस्तकाकार प्रस्तुति इत्यादि अनेकानेक कार्यों को सम्पन्न करने में मेरा भी जो योगदान रहा है। इसमें कई बार कई स्थलों को यथोचित विधि से न समझ पाने के कारण मेरे एवं संघ कार्यालय द्वारा त्रुटियां होती रही हैं। लेकिन उन स्थलों की समीक्षा के समय आचार्य

प्रवर जिस समता भाव से मार्ग-दर्शन प्रदान करते हैं, उससे हमें अपनी काय विधि का बौनापन नजर अवश्य आता है लेकिन निराशा के स्थान पर उत्साह का ही संचार होता है। आचार्य प्रवर की वाणी से जो विलक्षणता प्रस्फुटित होती है वह तो अनुभव करने वाला व्यक्ति ही समझ सकता है।

मैंने आचार्य प्रवर के सर्व प्रथम दर्शन राजनान्दगांव में किये। प्रथम दर्शन से मुझे अपार आत्म संतोष हुआ एवं मेरी श्रद्धा प्रगाढ़ हुई, जिससे मैं प्रतिवर्ष दर्शन हेतु निरन्तर लालायित रहता। संघ की गतिविधियों के नजदीक आने पर कई बार समस्याओं से घिर जाने से दूर हटने का मन में संकल्प आता परन्तु ज्यों ही आचार्य प्रवर के दर्शन का सौभाग्य मिलता, समस्या का तुरन्त समाधान हो जाता। उसके पश्चात् तो अनेक बार व्यक्तिगत, सामाजिक आदि समस्याओं का समाधान तो आचार्य प्रवर के नाम स्मरण मात्र से ही होने लगा। मुझे मेरे कार्य में कभी कोई बाधा ज्यादा समय तक रोके नहीं रही।

मैं जो भी यत्किंचित कार्य कर रहा हूं वह परम पूज्य आचार्य प्रवर की महती कृपा एवं उनके अतिशय का परिणाम है व मेरी अटूट श्रद्धा का फल है। चूंकि मेरा सारा परिवार एकनिष्ठ श्रद्धा रखने वाला परिवार है, जिसका मेरे पर भी प्रभाव पड़ा है।

साधुमार्गी जैन संघ की विभिन्न गतिविधियों-कार्य का संचालन करने हेतु आचार्य प्रवर के चरण कमलों में निवेदन करने, समस्या प्रस्तुत करने व मार्ग-दर्शन प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे हर समय प्राप्त होता रहता है। यह हर सम्पर्क मेरे लिए अविस्मरणीय बन गया है।

ऐसे युग निर्माता, जीवन निर्माता, कथनी व करनी के धनी, समता धारी, दीर्घ दृष्टा, समीक्षण ध्यान योगी मेरी श्रद्धा के केन्द्र, (जिनकी कृपा मुझ पर हर समय बनी रहती है) परम श्रद्धेय, परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री नाना-लालजी म. सा. दीर्घायु हो एवं सदा स्वस्थ्य रहें यही शुभ कामना है, मंगल भावना है,

—नई लाईन, गंगाशहर (राज.)

△

जीवन-झलक

❀ छन्दराज 'पारदर्शी'

(मनहरण कवित्त)

(१)

संतों ने संसार सारा, सत्य से सजा-संवारा,
ज्ञान का ही दान, नाना विद्वेष मिटाये हैं ।
चित्तौड़ जिले की शान, 'दांता' गांव खास जान,
यहीं लिया जन्म गुरु 'नानेश' कहाये हैं ।
पिता मोड़ीलाल प्यारे, माताजी शृंगारबाई,
पोखरना गोत्र धार, 'नाना' गुरु आये हैं ।
साहस-शक्ति के धनी, 'नाना' गुरु नाना गुणी,
'पारदर्शी सही राह, जग को बताये हैं ।

(२)

आठ वर्ष की आयु में, पिता साथ छोड़ चले,
व्यापार सम्हाला पर, मन नहीं भाये हैं ।
गुरु जवाहरलाल, मिले भोपालसागर,
दर्शन व्याख्यान सुन, वैराग्य सुहाये हैं ।
पुण्य कर्म उदय से, गये जब आप कोटा,
युवाचार्य गणेशीलाल, ज्ञान समझाये हैं ।
उन्नीसौ छियाणु साल, पौष शुक्ला अष्टमी को,
"पारदर्शी" कपासन, दीक्षा गुरु पाये हैं ।

(३)

ज्ञान-ध्यान तप किया, तन को तपाय लिया,
समता में सार जानो, गुरु समझाया है ।
दो हजार उन्नीस में, आचार्य पदवी पाये,
जैन शासन की शान, मान को बढ़ाया है ।
अछूतों को अपनाया, सही पंथ बतलाया,
'धर्मपाल' नाम दिया व्यसन छुड़ाया है ।
गुरुदेव उपकारी, समता हृदय धारी,
'पारदर्शी' सच्चा ज्ञान, हमें समझाया है ।

प्रवर जिस समता भाव से मार्ग-दर्शन प्रदान करते हैं, उससे हमें अपनी काय विधि का बौनापन नजर अवश्य आता है लेकिन निराशा के स्थान पर उत्साह का ही संचार होता है। आचार्य प्रवर की वाणी से जो विलक्षणता प्रस्फुटित होती है वह तो अनुभव करने वाला व्यक्ति ही समझ सकता है।

मैंने आचार्य प्रवर के सर्व प्रथम दर्शन राजनान्दगांव में किये। प्रथम दर्शन से मुझे अपार आत्म संतोष हुआ एवं मेरी श्रद्धा प्रगाढ़ हुई, जिससे मैं प्रतिवर्ष दर्शन हेतु निरन्तर लालायित रहता। संघ की गतिविधियों के नजदीक आने पर कई बार समस्याओं से घिर जाने से दूर हटने का मन में संकल्प आता परन्तु ज्यों ही आचार्य प्रवर के दर्शन का सौभाग्य मिलता, समस्या का तुरन्त समाधान हो जाता। उसके पश्चात् तो अनेक बार व्यक्तिगत, सामाजिक आदि समस्याओं का समाधान तो आचार्य प्रवर के नाम स्मरण मात्र से ही होने लगा। मुझे मेरे कार्य में कभी कोई बाधा ज्यादा समय तक रोके नहीं रही।

मैं जो भी यत्किंचित कार्य कर रहा हूं वह परम पूज्य आचार्य प्रवर की महती कृपा एवं उनके अतिशय का परिणाम है व मेरी अटूट श्रद्धा का फल है। चूंकि मेरा सारा परिवार एकनिष्ठ श्रद्धा रखने वाला परिवार है, जिसका मेरे पर भी प्रभाव पड़ा है।

साधुमार्गी जैन संघ की विभिन्न गतिविधियों-कार्य का संचालन करने हेतु आचार्य प्रवर के चरण कमलों में निवेदन करने, समस्या प्रस्तुत करने व मार्ग-दर्शन प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे हर समय प्राप्त होता रहता है। यह हर सम्पर्क मेरे लिए अविस्मरणीय बन गया है।

ऐसे युग निर्माता, जीवन निर्माता, कथनी व करनी के धनी, समता धारी, दीर्घ दृष्टा, समीक्षण ध्यान योगी मेरी श्रद्धा के केन्द्र, (जिनकी कृपा मुझ पर हर समय बनी रहती है) परम श्रद्धेय, परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री नाना-लालजी म. सा. दीर्घायु हो एवं सदा स्वस्थ्य रहें यही शुभ कामना है, मंगल भावना है,

—नई लाईन, गंगाशहर (राज.)

△

जीवन-झलक

❀ छन्दराज 'पारदर्शी'

(मनहरण कवित्त)

(१)

संतों ने संसार सारा, सत्य से सजा-संवारा,
ज्ञान का ही दान, नाना विद्वेष मिटाये हैं ।
चित्तौड़ जिले की शान, 'दांता' गांव खास जान,
यहीं लिया जन्म गुरु 'नानेश' कहाये हैं ।
पिता मोड़ीलाल प्यारे, माताजी शृंगारबाई,
पोखरना गोत्र धार, 'नाना' गुरु आये हैं ।
साहस-शक्ति के धनी, 'नाना' गुरु नाना गुणी,
'पारदर्शी सही राह, जग को बताये हैं ।

(२)

आठ वर्ष की आयु में, पिता साथ छोड़ चले,
व्यापार सम्हाला पर, मन नहीं भाये हैं ।
गुरु जवाहरलाल, मिले भोपालसागर,
दर्शन व्याख्यान सुन, वैराग्य सुहाये हैं ।
पुण्य कर्म उदय से, गये जब आप कोटा,
युवाचार्य गणेशीलाल, ज्ञान समझाये हैं ।
उन्नीसौ छियाणु साल, पौष शुक्ला अष्टमी को,
"पारदर्शी" कपासन, दीक्षा गुरु पाये हैं ।

(३)

ज्ञान-ध्यान तप किया, तन को तपाय लिया,
समता में सार जानो, गुरु समझाया है ।
दो हजार उन्नीस में, आचार्य पदवी पाये,
जैन शासन की शान, मान को बढ़ाया है ।
अछूतों को अपनाया, सही पंथ बतलाया,
'धर्मपाल' नाम दिया व्यसन छुड़ाया है ।
गुरुदेव उपकारी, समता हृदय धारी,
'पारदर्शी' सच्चा ज्ञान, हमें समझाया है ।

राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र जैसे प्रान्त,
मध्यप्रदेश में दर्श, पाये नर-नारी हैं।

गांव-गांव घर-घर, पैदल ही घूमकर,
अज्ञान-तिमिर हटा, बने उपकारी हैं।

'नाना' के हैं नाना रूप, समता के मूर्तरूप,
राग-द्वेष जीत 'नाना,' नाना गुणधारी हैं।

'पारदर्शी' का वन्दन, मिटे जग का क्रंदन,
जुग-जुग जीयें गुरु, प्रार्थना हमारी है।

—२६१, तांबावती मार्ग, उदयपुर-३१३००१

करुणा के असीम सागर

❀ श्री हर्षद एस. भायाणी

आचार्य श्री हमारे यहां पधारे। एक दिन पूरा विराजे और दूसरे दिन विहार किया। गुरुश्री जिस कमरे में रहे वहां गुरुश्री के जाने के बाद हम दोनों भाई उस कमरे में गये···। हम दोनों भाईयों के रोम-रोम खड़े हो गये, हमारी समझ में नहीं आया, यह क्या हुआ? ऐसे रोम-रोम कैसे खड़े हो गये। और वहां हमें परम शान्ति का अनुभव हुआ। हमारा बड़ा भाई आज हमारे बीच नहीं है। पूज्यश्री गुरुदेव के चातुर्मास के समय उनकी बीमारी कुछ ज्यादा थी फिर भी पूज्यश्री के सान्निध्य से, उनके मांगलिक से हमारे बड़े भाई ने जो साता पाई, जो शान्ति मिली उसका वर्णन लिखने के लिये हम असमर्थ है। उनकी चरणरज हमारे लिये अमृततुल्य सिद्ध हुई।

कानोड़ के श्रावक-श्राविकाओं को पूज्य श्री का सान्निध्य और चातुर्मास प्राप्त हुआ। आचार्य श्री के श्रीमुख से महावीर वाणी सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। ५० वीं दीक्षा जयंती मनाना देवी संपत्ति को अनुमोदन देकर के अपनी ओर आकर्षित करना है।

कर्मयोगी पू. आचार्यश्री करुणा के असीम सागर हैं। सत्य के निर्भय प्रचारक हैं। अति सरल-अहिंसा के अमर पुजारी-सत्य के तेजपुंज है। पूज्यश्री के सत्कार्य की पूंजी हमेशा बढ़ती रहे। अगरबत्ती की तरह आपका जीवन अधिक-अधिक सुवासित और सूर्य-चंद्र की भांति अधिक प्रकाशमान बनता रहे। यही इस मंगल प्रसंग की मंगल मनिषा है।

—३३१, आर. आर. राय मार्ग, बम्बई-४००००४

मैंने स्वर्ण को तपते, निखरते देखा है, अब दमकते देख रहा हूँ !

❀ श्री शान्तिचन्द्र मेहता

विचार और आचार में महानता एवं अनुभाव और व्यवहार में लघुता यह है सार स्वरूप दमकते हुए स्वर्ण के समान उस व्यक्तित्व का, जिसके समर्थ धनी हैं आचार्य श्री नानेश। मैं चालीस वर्ष से भी अधिक समय से आचार्य श्री के निकटतम वैचारिक सम्पर्क में हूं तथा न केवल अब इस दमकते हुए स्वर्ण को देख रहा हूं अपितु इस स्वर्ण को मैंने तपते और निखरते हुए भी देखा है।

जब कोई सफल व्यक्तित्व अपने विकास के उच्चत्तम शिखर पर खड़ा होता है तब उसे सभी देखते हैं, सराहते हैं एवं पूजते हैं, किन्तु लोगों की यह देखने की कम चेष्टा रहती है कि उस व्यक्तित्व ने शिखर पर पहुंच जाने के पहले तलहटी से लेकर ऊपर तक कितने पत्थरों से टक्कर ली है, कितने कांटों के घाव सहे हैं और कितनी गहरी जीवन–साधना सम्पादित की है। चित्तौड़गढ़ (राज.) के दांता ग्राम की चट्टानों से ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया वि. सं. १९७७ को उद्भूत इस स्वर्णिम व्यक्तित्व को कठिन परीक्षाओं में से होकर गुजरना पड़ा है। और वहीं से अभिलाषा जगी कि स्वर्ण को मिट्टी से अलग हो जाना चाहिये। पौष शुक्ला अष्टमी वि. सं. १९९६ को उन्होंने तत्कालीन युवाचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. के समीप भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली और यहीं से स्वर्ण ने तपना शुरू किया।

स्वर्ण ने तपने के लिये प्रवेश किया ज्ञानार्जन और चारित्राराधना की विशुद्ध अग्नि में। प्रारम्भ से आप कुशाग्र बुद्धि एवं एकाग्रचित्री थे। अल्प समय में ही डेढ़ सौ, दो सौ स्तोत्रों, दशवैकालिक-उत्तराध्ययन से लेकर सभी सूत्रों, नव्य न्याय, षड्दर्शन, गीता, वेद, पुराण आदि आध्यात्मिक साहित्य तथा संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं पर आपने अधिकार कर लिया। यही नहीं, आधुनिक दर्शन, मनोविज्ञान, राजनीतिक विचार-धाराओं आदि से सम्बन्धित साहित्य का भी आपने गहन अध्ययन किया। ज्ञान के साथ क्रिया की भी उतनी ही कठिन साधना वे करते रहे। जवाहर की ज्योति और गणेश की गरिमा लेकर फलौदी (जोधपुर) से लेकर आज तक देश के अधिकतम भागों को अपने पचास चातुर्मासों की शृंखला में अपने पादस्पर्श एवं वाणी से आप पावन बना चुके हैं।

यों स्वर्ण में निरन्तर निखार आता गया और उज्ज्वलतम निखार आया

सेवा की अनुपम साधना एवं विनम्रता की अनूठी भावना से। अपने गुरु आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. की जो आपने वर्षों तक भाव-प्रवण सेवा की, वह सेवा के क्षेत्र में एक आदर्श है। छोटे-बड़े, सभी सन्तों की सेवा के प्रति आप सदा उत्सुक एवं सचेष्ट रहे हैं। अपने को सदा 'नाना' कहने और मानने वाला यह निखरा हुआ स्वर्ण आज महानता की दीप्ति से प्रदीप्त है। अष्टम पाट की भविष्य-वाणी को सत्य सिद्ध करता हुआ यह स्वर्ण आज दप् दप् दमक रहा है आत्मिक एवं आध्यात्मिक तेजस्विता से।

विचारों का सुदृढ़ धरातल आपके पांवों के नीचे है—चाहे वह आगमों का विश्लेषण हो या समता-दर्शन का प्ररूपण, आधुनिक वैज्ञानिक विषयों की समीक्षा हो या सामाजिक समानता की चर्चा। आपकी प्रवचन धारा, प्रश्नोत्तरी एवं ज्ञान वार्ता सदा ठोस चिन्तन पर आधारित होती है। कहने को माइक्रोफोन का साधु द्वारा प्रयोग एक छोटी-सी बात लगती है किन्तु इसका प्रयोग न करने के सम्बन्ध में आपका तर्क अकाट्य है कि मूल अहिंसा व्रत में स्पष्ट दोष (माईक से अग्नि-वायु के जीवों की हिंसा होना विज्ञान सिद्ध है) लगाकर साधु अपने साधुत्व को स्थिर और शुद्ध नहीं रख सकता है। साधुत्व खोकर कोई साधु कितना लोकोपकार कर लेगा ?

स्वर्ण की दमक प्रखर होती ही गई माघ कृष्णा द्वितीया वि. सं. २०१९ से, जब आप आचार्य पद से प्रतिष्ठित किये गये। 'जय गुरु नाना' लाखों युवक युवतियों, वृद्धों बालकों, धनिकों व निर्धनों का कंठ स्वर बन गया। आपके प्रति लोगों की भक्ति का आवेग देखते ही बनता है। अपनी जयकार के गगनभेदी नारों के बीच में भी आपकी विनम्र मुखाकृति नई क्रांति, नई शान्ति की सम-न्वित प्रेरणा बन जाती है।

आज यह स्वर्ण दमक रहा है अपने सम्पूर्ण निखार के साथ। वह नई चेतना दे रहा है, नया दर्शन दे रहा है, नई कान्ति फूंक रहा है। परन्तु प्रश्न है कि उनकी भक्ति क्या उनके तेज-दर्शन तक ही सीमित है या उसे दृढ़ता के साथ कर्म क्षेत्र में भी उतरना चाहिये ? कर्म क्षेत्र में वह नहीं उतरी है, ऐसा मैं नहीं कहता किन्तु समता मय एक नया और व्यापक परिवर्तन लाने के लिये इस भक्ति को अतिशय कर्मठ बनना होगा। स्वर्ण को कुन्दन के स्वरूप में संस्थापित करने के लिये ऐसी कर्मठता अनिवार्य है।

आचार्य श्री दीर्घायु हों, उनकी तेजस्वी क्रान्तिकारिता अमर बने।

धैर्य, क्षमा, शान्ति और दृढ़निष्ठा की सजीव मूर्ति

❀ श्री जोधराज सुराणा

विरल विभूतियों के विषय में लिखना अनधिकार चेष्टा ही नहीं, गूंगे के गुड़ के स्वाद की भांति माना जायगा, फिर भी भक्तिवश श्रद्धानत होकर कुछ लिखने के लिए आशान्वित हूं ।

आचार्य श्री की दीर्घ संयम-साधना के ५० वर्षों में जैसे सोना अग्नि में तप कर अपने वास्तविक गुणों से निखर उठता है, उसी तरह आचार्य श्री अपनी संयम-साधना के अनेक झंझावातों को पार कर धैर्य, क्षमा, शान्ति और दृढ़निष्ठा की सजीव मूर्ति के रूप में विराजमान हैं । उनकी संयम-साधना तीव्रगति से आगे बढ़ती जा रही है और 'चरैवेति—चरैवेति' के शब्दों को सफल करती हुई अपने प्रकाण्ड पांडित्य से आह्वान कर रही है ।

आपका आगम की तरह खुला हुआ पावन जीवन, गंगा के निर्मल स्रोत की तरह, प्रवाहित होता हुआ ज्ञान, दर्शन और चारित्र के शीतल जल से चतुर्विध संघ का सिंचन कर रहा है ।

आप ध्यान, स्वाध्याय, व्याख्यान, प्रश्नोत्तर और अपने शिष्य–समुदाय के साथ धार्मिक चर्चाएं, धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन और आगमों के तत्त्वों को गूढ़ रहस्य समझाना और बड़े स्नेह और आत्मीयता के साथ वर्तमान गतिविधियों की समालोचना करते हुए, साधु-समाचारी का दृढ़ता के साथ पालन करने का बोध देते हैं, वीर-संदेश को हर क्षण स्मरण कराते हुए आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं । यही कारण है कि आज साधु-साध्वी समुदाय की आचार्य श्री नानेश के प्रति अनुशासनात्मक पूरी निष्ठा है, जो जीवन उत्थान के लिए आवश्यक है ।

पद–प्रतिष्ठा की आपको चाह नहीं । आप साधु समाचारी का जीवन–व्यवहार में पालन करते और कराते हुए निरन्तर गतिशील है साध्य की ओर ।

मुझे स्मरण है, सन् १९३० को जब मैं बीकानेर में पढ़ता था, तब से आचार्य श्री के निकट रहने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है, आपके प्रति मेरी श्रद्धा दिनोंदिन बढ़ती ही रही है ।

मेरी हार्दिक कामना है कि आपके अन्त:करण और रोम-रोम में समाई हुई समता, शान्ति और करुणा का घर-घर में प्रचार हो । आपकी कर्त्तव्य निष्ठा और साहस का सम्मान करते हुए हम आगे बढ़ें । इसी मंगलमयी श्रद्धा और भक्ति के साथ शत-शत वन्दन, कोटि-कोटि अभिनन्दन ।

—श्री जैन शिक्षा समिति,
नं. २०, प्रीमरोज रोड, बैंगलोर—२५

भीड़ में भी अकेले

❀ डॉ. महेन्द्र भानावत

वे भीड़ में भी अकेले रहते। न वे उसे जोड़ पाते न भीड़ ही वहां थम पाती। वे अकेले के अकेले होते। अपने गुरु के पास। गुरु जो आचार्य था। बहुत बड़े संघ का। संघ स्थानकवासी जैनों का। भीड़ बारहों मास। उफनती नदी की तरह। चातुर्मास में तो जैसे समुद्र उमड़ता।

भीड़ धर्म की। अध्यात्म की। त्याग की। विराग वैराग्य की। समता की। व्रतधारियों की। संयमशीलों की। साधकों की। भाइयों की। बाइयों की। जैनों की। अजैनों की।

यह भीड़ रूकती नहीं थी मगर झुकती तो थी। धर्म संदेश नहीं सुनती थी मगर जीवन मंगल की मुस्कान तो लेती थी। एक ऐसी मुस्कान जो बच्चा सोते में दे जाता है। जो उसकी समझ की नहीं होती। होने के लिए होती है। यह मुस्कान सबको प्यार देती है। सबका स्नेह लेती है। बच्चा किसी का हो। कोई हो।

यह सब देखा मैंने बीकानेर में। एक बत्तीसी पूर्व। जब कॉलेज का छात्र था।

और आज देख रहा हूं वे भीड़ से घिरे हैं। थमती हुई भीड़ नमती हुई नदी की तरह। तब वे साधु थे। अब आचार्य हैं। तब वे नानालाल थे। अब नानेश हैं।

उदयपुर के दांता गांव में पोखरना परिवार से जुड़े आचार्य नानेश १९ वर्ष की उम्र में दीक्षित हुए। २६ वर्ष पूर्व उदयपुर में ही आचार्य पद पाया। साधु जीवन में सर्वाधिक सान्निध्य अपने गुरु आचार्य गणेशीलालजी का ही लिया।

मालवा में शोषित एवं दलित बलाई जाति के लोगों को धम संदेश देकर धर्मपाल बनाया जिनकी संख्या आज अस्सी हजार के करीब है।

अपने दीक्षा जीवन के ५० वर्ष में हजारों मीलों की पदयात्रा कर प्रांत-प्रांत घूमने और जन-जन में सुधर्म का जागरण किया।

जन-जीवन में व्याप्त विषमता की विविध ग्रन्थियों को दूर कर उन्हें शुद्धाचार और स्वच्छ वायुमण्डल प्रदान करने के लिए समता दर्शन सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

मानसिक विकारों के शमन और परिशोधन के लिए समीक्षण ध्यान पद्धति का सूत्रपात किया।

बाल-विवाह दहेज मृत्यु भोज जैसी सामाजिक कुरीतियों को त्यागने की प्रेरणा दी। समाज में अण्डा, मांस और नशीले पदार्थों के सेवन की बढ़ रही प्रवृत्ति को घातक बताते हुए संकल्पपूर्वक इनका त्याग करने और जीवन शुद्धि को बढ़ावा दिया।

समाज में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भाईचारा बढ़े। समता भाव जागे। तनावों व टकरावों से मुक्ति मिले। विश्वशांति का मार्ग प्रशस्त हो। चारित्रिक एवं नैतिक मूल्यों का विकास हो, इसके लिए आचार्य नानेश ने जहां अपने साधु-साध्वियों के सिंघाड़े तैयार किये हैं वहां श्रावक-श्राविकाओं के कई संगठन इस कार्य में लगे हुए।

आगामी ४ जनवरी को आचाय श्री नानेश ने अपने दीक्षा जीवन की अर्द्धशताब्दी को पूरी की है। वे इस आधी शताब्दी को पूरी शताब्दी दें और जन-जन को अपने समता रस से समरसता प्रदान करते रहें, यह मंगल-कामना हमारी सबकी है।

—निदेशक, भारतीय लोकल मण्डल, उदयपुर

□

विनम्रता और सेवाभाव

❀ श्री शंकर जैन

[१]

व्यावर चातुर्मास हेतु गुरुदेव भीम से विहार यात्रा पर थे। प्रवास में एक युवा संत बीमार थे, फिर भी पैदल प्रवास कर रहे थे, व्यावर जो पहुंचना था। रात्रि में संत थकान से शिथिल होकर लेट रहे थे। थकान के कारण कराहने की धीमी-धीमी आवाज आ रही थी। कुछ ही दूरी पर गुरुदेव सो रहे थे, वे जग गये तो उठकर संत के निकट गये व उनके पैर दवाने लगे। संत बोले—गुरुदेव आप ! कष्ट मत कीजिये। गुरुदेव बोले—मैं नाना हूं बोलो मत, अन्य संत जग जायेंगे और संत के पैर दवाने का क्रम जारी रखा।

[२]

घटना उन दिनों की ही है जव जवाजा के आसपास एक संत वीमार हो गये और उन्हें दस्त लगने लगे। गुरुदेव खुद मल साफ करते, मल वाहर डाल कर आते। रोगी संत की विनम्रतापूर्वक उन्होंने सेवा की। वे आचार्य थे किन्तु अनुशासन के कठोर आचार्य को इस प्रकार की सेवा करते देख सव कोई अचम्भित थे। संतों में सनसनी थी—आचरण में नियमों के प्रति कठोर दिखने वाले गुरुदेव कितने विनम्र हैं।

—एडवोकेट, भीम (उदयपुर) राज.

संयम जिनका जीवन है

❀ डॉ. प्रेमसुमन जैन

जिस युग में प्रचार–प्रसार के, आत्म-प्रदर्शन के, सम्मान-प्रतिष्ठा के आयोजन-समारोहों के इतने द्वार खले हों कि व्यक्ति भ्रमित हो जाय अपनी प्रसिद्धि और पदपूजा के लिए, उस युग में अपने मूल धर्म और समाचारी ग्रहण के समय ली गयी प्रतिज्ञाओं के निर्वाह में सहजता से लगे रहना किसी सच्चे, निस्पृही साधु के ही वश की बात है। ऐसे साधु ही साधुमार्ग/मुनिमार्ग के सच्चे पथिक कहे जाते हैं। उनका जीवन और संयम एक दूसरे के पर्यायवाची होते हैं। ऐसे संयमी साधकों में अग्रणी हैं—समता–दर्शन प्रणेता आचार्य श्री नानालाल जी महाराज। जन–जन के मन में प्रतिष्ठित आचार्य श्री नानेश।

आचार्य नानेश ने संयम को वह प्रतिष्ठा प्रदान की है, जिससे जैन धर्म-श्रमण धर्म का प्राचीन/असली स्वरूप उजागर होता है। महावीर की वाणी में धर्म अहिंसा, संयम और तप रूप है। इस त्रिगुणी धर्म की जो परम्परा इस देश में चली, उसमें तप को प्रमुखता मिली। तप के कठोर से कठोर रूप साधु-समाज में अपनाये जाते रहे। अहिंसा भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती चली गयी। खान-पान में विभिन्न रूपों में वह प्रविष्ठ हो गयी, किन्तु संयम की पकड़ दिनों–दिन जैन समाज के घटकों से शिथिल होती गयी। उसी का परिणाम है कि साधुवर्ग और श्रावक समुदाय उन अनेक क्षेत्रों में प्रवेश कर गया, जहां जाने की अनुमति मूल श्रमण धर्म नहीं देता। परिग्रह की वृद्धि, व्यवसाय में हिंसा, संस्कारों में शिथिलता, प्रदर्शन हेतु भागदौड़, साहित्य–लेखन में प्रवंचना आदि सब असंयमित जीवन के ही परिणाम हैं। समाज के कुछ इने–गिने जिन साधु–सन्तों ने असंयम की प्रवृत्तियों को रोकने का प्रयत्न किया है, उनमें आचार्य नानेश के संयमी प्रयत्न विशेष ध्यान देने योग्य हैं, मननीय हैं।

आज से बाईस वर्ष पूर्व जब आचार्य श्री नानेश के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे मिला तब उनके स्वयं के जीवन में और उनके संघ में संयम की जो मशाल प्रज्वलित थी, वह आज और अधिक देदीप्यमान हुई है। उसने कई आयाम ग्रहण किये हैं। आचार्य श्री ने संयम को समता के साथ जोड़ा है। उनके चिन्तन का निष्कर्ष है कि यदि साधु ने, श्रावक ने जीवन में संयम का पालन किया है, व्रत–नियम धारण किये हैं, सामायिक की है तो उसके जीवन से समता के फूल झरने चाहिए। संयम के वृक्ष का समता फल है। और जब समता फल लगता है तो वह व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व को बिना शान्ति

प्रदान किये नहीं रह सकता । इसीलिए आचार्य ने समता–दर्शन को स्पष्ट आकार प्रदान किया है । वे कहते हैं कि संयम का पालन बिना सिद्धान्त–दर्शन के नहीं हो सकता । अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी दृष्टि यथार्थदृष्टि बनानी होगी, जिससे वह हेय–उपादेय, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य को पहिचान सके । सिद्धान्त–दर्शन से हम जीवन को समझ सकेंगे । जीव-मूल्य की पहिचान से ही व्यक्ति उसके जीवन को मूल्यवान समझ सकेगा । 'जियो और जीने दो' की सार्थकता जीवन–दर्शन को आत्मसात् करने से ही आयेगी । समस्त जीवों के प्रति समता के भाव को प्रतिष्ठित करने से ही हम अपनी आत्मा के विभिन्न आयमों को समझ सकेंगे । आत्मा के गुणों का विकास तभी सम्भव होगा । यही हमारा आत्म–दर्शन होगा । आत्म-साक्षात्कार की निरन्तर साधना हमें समता के उस विकास पर ले जायेगी जहां आत्मा परमात्मा का स्वरूप ग्रहण करता है । आत्मा के श्रेष्ठतम ज्ञान के द्वार समता की साधना से ही खुलते हैं । यही परमात्म–दर्शन है । इस तरह आचार्य नानेश ने संयम से समता का न केवल उद्घोष किया है, अपितु समता को व्यवहार में लाने के लिए अनेक मार्ग भी प्रशस्त किये हैं ।

समता-व्यवहार का एक आयाम है—धर्मपाल प्रवृत्ति । इस अभियान के द्वारा न केवल हजारों अनपढ़, ग्रामीण और साधनहीन लोगों के जीवन में संयम के बीज बोये गये हैं, अपितु उनको समाज में प्रतिष्ठा देकर समता का प्रथम पाठ भी उन्हें पढ़ाया गया है । समाज–सेवा का संयम के साथ यह गठबन्धन है । व्यसन–मुक्ति से जन–जीवन को ऊंचा उठाने का यह नैतिक प्रयास है । समता–व्यवहार का दूसरा आयाम है—समीक्षण ध्यान । संयम की साधना केवल लौकिक उपलब्धियों में ही न रम जाय, प्रदर्शन की वस्तु न बन जाय, इसलिए आचार्य नानेश ने संयमी व्यक्ति को, समताधारी को समीक्षण–ध्यान में उतरना अनिवार्य किया है । समीक्षण ध्यान का अर्थ है–राग-द्वेष के बन्धनों से निरन्तर मुक्त होने का प्रयत्न करना । साधुजीवन का प्रमुख प्रतिपाद्य यही है । अतः वह संयम की यात्रा से समीक्षण के पड़ाव तक पहुंचे, यही साधना का लक्ष्य है चाहे वह साधु हो या श्रावक । संयम के इन आयामों का पालन करने में, उपचार करने में, व्याख्या करने में दीक्षा–जीवन के इन पचास वर्षों में आचार्य नानेश ने असंयम के साथ कोई समझौता नहीं किया, यही मात्र उनकी कठोरता है, कट्टरता है, अन्यथा उनके जैसे निरभिमानी, सौम्य सरल, समताधारी व सन्त व आचार्य आज हैं कितने ? जो हैं, सादर प्राणम्य है । संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि संयम जिनका सत्य है, संयम जिनका जीवन है, उन नानेश के चरणों में शत-शत प्रणाम ।

—अध्यक्ष, जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग,
सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

□—□
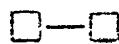
मंगलकारी नानागुरु जी

❀ श्री भीखमचन्द भंसाली

आचार्य श्री नानेश के दीक्षा अर्द्ध शताब्दी महोत्सव के अवसर पर हम सबकी खुशी का कोई ओर-छोर नजर नहीं आता। आज के पवित्र दिन मुझे एक घटना याद आ रही है जो बार-बार श्रद्धा के अतिशय क्षेत्र में एक चमत्कार की भांति अपनी चमक बिखेरती है।

उन दिनों भारत वर्ष के सन्त-समाज की विरल–विभूति आचार्य श्री नानेश का विचरण सवाई माधोपुर क्षेत्र में हो रहा था। गुरुदेव का स्वास्थ्य ठीक न होने के समाचार पाकर मैं अपनी धर्मपत्नी सहित कलकत्ते से रवाना होकर सवाई माधोपुर की ओर चल पड़ा। हम दोनों चौथ का बरवाड़ा पहुंचे। गुरुदेव वहां से करीब ५-६ किलोमीटर दूर एक गांव में विराज रहे थे, जहां पहुंचने के लिए बैलगाड़ी के अलावा और कोई उपाय नहीं था।

हम दोनों तथा पंडित श्री लालचन्दजी मुणोत बैलगाड़ी में बैठकर आचार्य श्रीजी के दर्शनार्थ रवाना हो गए। मार्ग में एक नदी पड़ती थी, जिसे पार किए बिना गांव में जा सकना सम्भव नहीं था। गाड़ीवान ने कहा कि आप लोग यहीं उतर कर रेल की पटरी के सहारे पैदल चल कर नदी के उस पार आइये, मैं गाड़ी सहित नदी पार करके आता हूं। हम लोगों ने पैदल चल कर रेल की पटरी से नदी पार कर गांव में प्रवेश किया और गुरुदेव के दर्शन वंदन का लाभ भी लिया किन्तु गाड़ीवान को नदी पार करने में करीब २ घण्टे का समय लग गया।

दिर भर करीब ३ बजे दोपहर तक आचार्य-प्रवर की सेवा में रहने के बाद हम वापस चौथ का बरवाड़ा जाने को तैयार हुए। इधर हम लोगों ने प्रस्थान किया और उधर आकाश में घनघोर घटाएं छा गई। आशा थी कि वर्षा एक-डेढ़ घण्टे ठहर कर आवेगी किन्तु कुदरत ने कुछ दूसरा ही खेल दिखाया। जैसे ही हम रवाना हुए कि करीव १० मिनट वाद ही जोर से बारिश आने लगी। वरसते मेह में नदी को पार करने की समस्या से घोर चिन्ता होने लगी।

गाड़ीवान ने नदी के किनारे हमें उतारा और हम फिर रेल की पटरी के सहारे वरसात में भीगते हुए नदी को पार करने लगे। हमने करीव आधा घंटे में रेल पटरी के सहारे चलते हुए नदी पार की। यद्यपि हम मार्ग में वैलगाड़ी के नदी पार आने में कम-से-कम एक-डेढ़ घण्टा लगेगा, ऐसा सोचते हुए चिन्तित हो रहे थे, किन्तु जव नदी पार पहुंचे तो वैलगाड़ी आगे हमें ले जाने को तैयार खड़ी थी। हम तीनों उस गाड़ी में वैठकर चौथ का वरवाड़ा पहुंच गए। मार्ग

में इतना पानी बरसा और हम इतने भीगे कि पंडित श्री मुणोत जी के बीमार पड़ने का तो पक्का विश्वास हो गया। किन्तु किसी को कोई तकलीफ नहीं हुई।

यह एक प्रकार से गुरुदेव के अतिशय का ही प्रभाव था। यह एक आश्चर्य-जनक घटना थी। बैलगाड़ी का बरसते मेह और बढ़ते जल प्रवाह में सहज ही पार उतरना और उस स्थिति में किसी का भी बीमार न होना, सच्ची श्रद्धा के संदर्भ में गुरुदेव की महान कृपा का ही सुफल है, ऐसी मेरी दृढ़ आस्था है।

हमने बाद में ईसरदा गांव से वनस्थली तक सेवा का लाभ लिया और सदैव सभी प्रकार से कष्ट मुक्त रहे। भगवान से मेरी व मेरी धर्मपत्नी की प्रार्थना है—

जुग-जुग जीये, नाना गुरुवर
धर्म ध्वजा फहराओ
पावनकारी, मंगलकारी
म्हारा नाना गुरुवर हो

—७५ नेताजी सुभाष मार्ग, कलकत्ता

नानेश-वाणी

संकलन—श्री धर्मेश मुनिजी

- व्रतों और नियमों के कठोर पालन से साधु इधर-उधर डिगे नहीं, इस दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील रहने वाला ही वास्तविक अर्थों में साधु को समाधि पहुंचाता है।

- श्रावक-श्राविकाओं को तथा संघ को पूरी सावधानी रखनी चाहिये कि साधु के साथ वैसा ही व्यवहार हो, जिससे उसके साधु-जीवन की तया सुरक्षा हो। इसका संघ पर विशेष उत्तरदायित्व होता है।

- समाज में गुणवान और विद्वान् का पूरा सम्मान हो धनवान से भी अधिक तथा उनकी सदाशयी शक्ति का संघ की उन्नति में यथेष्ट रूप से उपयोग किया जाय।

- सेवक की सेव्य के प्रति सेवा इस उद्देश्य से होती है कि सेवक भी सेव्य के तुल्य बन जाय और सेव्य की सी सर्वशक्ति, सर्वज्ञता एवं सर्वदर्शिता सेवक की आत्मा में भी व्याप्त हो जाय।

आचार्य श्री का संयम-साधना

❀ श्री प्रतापचन्द भूरा

जब तक मनुष्य को मनपर्यव ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक वह किसी दूसरे प्राणी के अंतःकरण को देख नहीं सकता और उसके गुणों का स्पष्ट दर्शन नहीं कर सकता किन्तु फिर भी यदि वह चाहे और प्रयास करे तो अपने आराध्य गुरुदेव के कुछ गुणों की झांकी अपने मार्गदर्शन के लिए पा ही लेता है। मोटे रूप में आचार्य श्री नानेश की संयम साधना के दो पक्ष दिखाई देते हैं। पहला पक्ष-भाव संयम और दूसरा है—द्रव्य संयम। उनके भाव संयम और द्रव्य संयम को निम्नलिखित चित्रों से समझा जा सकता है और अपने स्मृति पटल पर हमेशा के लिए अंकित किया जा सकता है।

भाव संयम—

◦ प्रतिक्रमण (प्रायश्चित) ◦ लक्ष्य की स्थिरता ◦ लक्ष्य प्राप्ति की साधना

द्रव्य संयम—

◦ सुखानुभूति से मुक्ति ◦ दुःखानुभूति से मुक्ति ◦ भौतिक इच्छा से मुक्ति
◦ पूर्ण अप्रमत् दशा।

प्रतिक्रमण (प्रायश्चित) : यदि मनुष्य अपने कर्मों से मुक्त होना चाहता है तो उसे अपने पूर्वकृत दोषों का स्मरण करके उसके लिए पश्चाताप करना और प्रायश्चित् लेना आवश्यक है जिससे अशुभ कर्म कर सकें या कुछ हल्के हो सकें। ऐसा करते समय उसे अपना ही दोष देखना चाहिए और दूसरों का दोष देखने से पूर्ण रूप से बचना चाहिए। यह साधारण प्रतिक्रमण से बिल्कुल भिन्न है और आत्मा से पाप-मल को दूर करने में मनुष्य की सहायता करता है।

लक्ष्य की स्थिरता—श्री नानेशाचार्य ने समीक्षण ध्यान की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि मनुष्य जीवन का अन्तिम और एकमात्र लक्ष्य सिद्ध पद की प्राप्ति ही है। मानव जीवन ही एक ऐसा अवसर है जबकि इस पद की प्राप्ति की साधना की जा सकती है अतः "सिद्ध बनूंगा" इस संकल्प को बार-बार दोहराकर स्थिर करना चाहिए।

लक्ष्य प्राप्ति की साधना—श्री नानेशाचार्य ने अनुकूल और प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों में स्वयं ही समता धारण की है और हमारे सामने यह आदर्श उपस्थित किया है कि हम भी अपने जीवन को समतामय बनावें। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम अपने अवगुणों की सूची बनावें। ये अवगुण अन्दर क्यों टिके हुए हैं, इस बात को समझें। इन अवगुणों पर किन सूत्रों से

विजय प्राप्त की जा सकती है, इन विचारों का (१) बारम्बार स्वाध्याय करें (२) उन पर चिंतन करें (३) भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं में समता भाव रखने की कल्पना द्वारा अभ्यास करें, जिससे हमारा जीवन समतामय बनने की ओर आगे बढ़ सके।

सुखानुभूति से मुक्ति—श्री नानेशाचार्य अपने दैनिक जीवन में, भौतिक सुखों में रस नहीं लेते। वे कठोर संयमी जीवन बिताते हैं और सुखों की इच्छा नहीं करते।

दुःखानुभूति से मुक्ति—श्री नानेशाचार्य के आंख के ऑप्रेशन के समय उनमें असाधारण समता देखी गई। विरले ही मनुष्य ऐसे मिलेंगे जो इतना कष्ट होते हुए भी समता रख सकें। वास्तव में उन्होंने दुःख को अपना कर्म काटने वाला मित्र समझा।

भौतिक इच्छा से मुक्ति—जो मनुष्य भौतिक सुखों और दुखों से मुक्ति पा लेता है वह भौतिक इच्छाओं का शिकार हो ही नहीं सकता। आचार्य श्री जी का कहना है कि 'अशुभ च्छाओं का निरोध और जीवन निर्माण में सहायक इच्छाओं का शोधन करना लाभदायक रहता है।'

पूर्ण अप्रमत्त दशा—यह देखा गया है कि नानेशाचार्य पांच महाव्रतों के पालन में, अपने दैनिक जीवन में और अपने सामाजिक जीवन में हमेशा पूर्ण अप्रमत्त दशा और समता भाव में रहते हैं।

उनके जीवन से हमें यह शिक्षा मिलती है कि हमें दुर्भावना, क्रोध, अहम् भावना, कर्म-फल-चेतना, मोह आदि से मुक्त रहकर सिद्ध पद प्राप्ति के मार्ग में बढ़ते रहना चाहिए।

—नई लेन, गंगाशहर

□

नानेश वाणी

❀ संकलन—श्री धर्मेशमुनिजी

० सेवा करने वाले व्यक्ति को यह सोचना चाहिये कि मैं सेवा अन्य की नहीं कर रहा हूं, अपितु अपने आपकी ही कर रहा हूं। अन्य की सेवा के निमित्त से स्वयं की ही आत्मा का परिमार्जन कर रहा हूं।

० संकल्प मजबूत हो और विश्वास अटल बन जाय, तब सेवा की सच्ची साधना संभव बनती है। वह चाहे किसी भी वेश में हो—एक सच्चा सेवक कहलाता है।

महान् तेजस्वी आध्यात्मिक संत

❀ सेवाभावी श्री मानवमुनि

भगवान महावीर के २५०० सौ वर्ष बाद भी महावीर का चातुर्विध तीर्थ श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी हैं। यही जैन धर्म भी कहता है। युग पुरुष आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. ने स्वराज्य के पूर्व देश को निर्भयता के साथ खादी-ग्रामोद्योग एवं आत्म साधना का संदेश दिया जिसके कारण राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, श्री ठक्कर बापा आदि अनेक राष्ट्र नेता प्रभावित हुए। जैन धर्म का गौरव बढ़ाया। उन्हीं सिद्धांतों को स्वराज्य को गतिशील बनाने में वर्तमान अहिंसक क्रांति के मसीहा, बालब्रह्मचारी, समतादर्शनधारी, समीक्षण ध्यान योगी, धर्मपाल प्रतिबोधक आचार्य श्री नानालालजी म. सा. विज्ञान युग के महान् तेजस्वी आध्यात्मिक संत हैं जो निर्भय-निर्बैर हैं। आपने स्थानकवासी जैन समाज का एवं अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ का गौरव बढ़ाया है।

समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदय के विचारों का गहराई से चिन्तन करके आपने कहा-हिंसा का मूल कारण परिग्रह है, असमानता है। आपने समता का नया दर्शन दिया। स्वयं के समतामय जीवन से परिवार का नया ढांचा ढलेगा। इस परिवर्तन के साथ समाज राष्ट्र एवं विश्व में भी आध्यात्मिक अनुशासन का प्रसार हो सकेगा। संयम साधना द्वारा ही जीवन-विकास आत्मोन्नति एवं परमात्म स्थिति तक सहजता से पहुंचा जा सकता है।

पूज्य आचार्य श्री से मेरा विशेष सम्पर्क धर्मपाल प्रवृत्ति से प्रारंभ हुआ। मैंने देखा कि गांधीजी ने अछूतोद्धार का जयघोष किया पर समाज उसे अपना नहीं सका पर आचार्य श्री नानेश ने २५ वर्ष पूर्व धर्मोपदेश देकर बलाई जाति का हृदय-परिवर्तन कर उसे व्यसनमुक्त करवा कर नये समाज का अभ्युदय किया। धर्मपाल प्रवृत्ति के रूप में इसका प्रभाव अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ पर हुआ। इन्दौर अधिवेशन में संघ ने इसे अपनी प्रवृत्ति मान ली। हजारों परिवारों को अहिंसक बनाया। स्व. राज्यपाल पाटस्करजी ने तो चर्चा के दौरान कह दिया था कि गांधी का अधूरा कार्य आपने पूर्ण किया, स्वप्न साकार किया। यह इस युग का महान क्रांतिकारी कार्य हुआ जिससे मैं अधिक प्रभावित हुआ।

आचार्य श्री के प्रभाव का एक प्रसंग स्मरण आ रहा है। गुजरात से रतलाम की ओर आपका विहार हुआ। मध्यप्रदेश का झाबुआ आदिवासी क्षेत्र पूर्ण पहाड़ी इलाका। वहां प्रत्यक्ष देखा कि आदिवासी परिवार वालों में आपको देखकर अपनी भाषा में कहते **'यो धोला कपड़ा वाले भगवान आवी गयो।'** आप कुछ समय रूक जाते व उनको समझाते 'मनुष्य जन्म मिल्यो है तो पाप नहीं

रणो, किणी जानवर को नहीं मारणो । तुम सब राम का भगत हो । मनख
मारो पवित्र अच्छो बणाग्रो ।' इतनी बात सुनते ही उनके मन का अज्ञान रूपी
ंधकार दूर हो जाता व धर्म रूपी ज्ञान का प्रकाश उनके हृदय में प्रवेश पा जाता ।
यम-साधना आध्यात्म का ऐसा प्रभाव देखा । आदिवासी लोगों ने कहा—'पहिलां
णा साधुड़ा आया पण तमारा जैसा हमणो पहिली बार देखा ।' थोड़ी देर तक
साथ भी चले । आदिवासी महिलाओं ने भीलड़ी भाषा में राम का गीत
गाया । अनेक परिवारों ने शराब, मांस का त्याग किया । ऐसे अनेक प्रसंग हैं ।
हने लगूं तो समय भी लगेगा व लम्बा भी होगा । इतना अवश्य है कि आपके
संग के सहवास से मुझे संयम साधना में शक्ति मिली, भोजन में भी २० द्रव्य
ी मर्यादा थी, जीवित संथारा भी पच्चक्खाण किया ।

मैंने देखा है कि आपने समय को साधा है । एक क्षण भी आपके जीवन
प्रमाद नहीं है । भगवान महावीर ने गौतम स्वामी से कहा था—'समयं गोयम
ा पमायए ।' हे गौतम ! एक क्षण भी प्रमाद मत कर । वही दर्शन आचार्य
ी जी के जीवन का है । ऐसे महापुरुष के चरणों में कोटि-कोटि वंदन ।

□

नानेश वाणी

❀ **संकलन–श्री धर्मेशमुनिजी**

० क्या आप अपनी मृत्यु को जल्दी से जल्दी बुलाना चाहते हैं ? यदि नहीं, तो छोटे और बड़े सभी प्रकार के दुर्व्यसनों को तुरन्त त्यागने की तैयारी कर लीजिये ।

० सच्चा योग यही है कि कोई अपने मन, वचन एवं काया की योग-वृत्तियों को संवृत बनाकर उन्हें 'कु' से 'सु' की दिशा में मोड़ दे । जो योग का सच्चा अर्थ नहीं समझते हैं, वे विचारहीन शारीरिक क्रियाओं में योग को ढूढ़ते हैं ।

कर्कश, कठोर, मर्मकारी, असत्य आदि भाषा के दूषणों का त्याग हो तथा मन में सरलता का निवास हो तभी मौन व्रत का ग्रहण करना सार्थक एवं सफल कहलाता है ।

० हे साधक, तू यदि सहज योग की साधना के साथ जीवन की कृति उत्कृष्ट बनाने का इच्छुक है तो ईर्या समिति की सम्यक् साधना के साथ चल ।

वर्षावास का आनन्द ले लिया

❀ श्री फकीरचन्द मेहता

आज से २० वर्ष पूर्व आचार्य श्री नानालाल जी महाराज अमरावती (महाराष्ट्र) का वर्षावास करके खानदेश की ओर पधार रहे थे। उनकी सेवा में मैं अकोला पहुंचा। उनसे विनम्र निवेदन किया कि कृपया भुसावल पधारें।

महाराज जी ने फरमाया कि मैं उस तरफ आ रहा हूं। आपकी विनंती मेरी झोली में है। फिर फतेहपुर होते हुए जामनेर पधारे तब वहां के श्री राजमलजी सा. ललवानी का फोन आया कि आचार्य श्री संत मण्डली सहित जामनेर पधारे हैं, आप आ जावें।

इस तरह भुसावल के कुछ श्रावकों को लेकर मैं जामनेर पहुंचा। होली चातुर्मास पर भुसावल पधारने बाबत विनती की। जवाब में उन्होंने स्वीकृति फरमाई। यह वार्ता भुसावल के कुछ विशिष्ट श्रावकों के हृदय में अच्छी नहीं लगी क्योंकि वे श्रमण संघ में नहीं हैं। यह क्षेत्र श्रमण संघ का मानने वाला है इस वास्ते भुसावल के कुछ लोग आचार्य जी की सेवा में जामनेर पहुंचे। उन्होंने कहने लगे कि आप भुसावल नहीं पधारना। यह श्रमण संघ का क्षेत्र है। आचार्य श्री ने फरमाया कि मैंने मेहताजी की विनंती स्वीकार करली है। मैं भुसावल आऊंगा और होली चातुर्मास का प्रतिक्रमण करूंगा। यह बात सुनकर गए हुए श्रावकों के मन में खलबली मच गई।

आचार्य श्री ने अपने निर्णयानुसार भुसावल की ओर विहार किया मेरे विद्यालय के २५००/३००० बच्चों को लेकर मैं आचार्य श्री की अगवानी में भुसावल शहर के बाहर पहुंचा। उस दिन मुस्लिम लोगों का त्यौहार भी था। उसी रोड से वे लोग भी हजारों की तादाद में निकलते रहे थे। इस तरह आचार्य श्री का भव्य स्वागत भुसावल में दिखाई दिया। वहां से शहर में होते हुए आचार्य श्री संत मण्डली सहित हिन्दी विद्यालय के प्रांगण में पधारे। उनका ८ दिवसीय कार्यक्रम तय किया जिसमें वहां के नगर निगम हाल व अन्य विद्यालयों में प्रवचन रखे गये। हजारों की तादाद में जनमेदिनी उनके व्याख्यान में आती रही। यह सब चर्चा भुसावल के श्रावकों के नजर में आई और उनका भी आना शुरू हो गया।

आचार्य श्री फरमाने लगे कि 'मेहता! तुमने तो वर्षावास का आनन्द ले लिया।' महाराज श्री विराजे तब तक उनके धर्मानुरागी श्रावक-श्राविकाएं बाहर गांव से सैकड़ों की तादाद में आते रहे। मुझे भी इन सबकी सेवाओं का लाभ मिला। तब से अभी तक आचार्य श्री के नजर में भुसावल का वह होली चातुर्मास अमिट छाप लिया हुआ है।

—पारस, ६ भंडारी मार्ग, न्यू पलासिया, इन्दौर-१

प्रभावशाली व्यक्तित्व

❀ श्री रतनलाल सी. बाफना

परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. ने महती कृपा कर सं. २०४६ का चातुर्मास यहां किया ! चातुर्मास के प्रवेश पर आचार्य श्री का सर्वप्रथम प्रभाव हम पर यह पड़ा कि प्रवेश पर किसी मुहूर्त का विचार न करते हुए नवकार मंत्र के उच्चारण के साथ प्रवेश किया। प्रवेश के मुहूर्त की जब हमने चर्चा की तो आचार्य श्री ने स्पष्ट कहा कि मैं मुहूर्त में विश्वास नहीं करता।

चातुर्मास प्रवेश पर आचार्य श्री ने जो उद्‌गार फरमाए, मेरे मन-मस्तिष्क में तरोताजा हैं—"यह जल का गांव है। जहां जल है वहां क्या कमी रहती है ? जहां प्राणीमात्र के लिए जरूरी है वहां समृद्धि का कारणभूत होता है," सच मानिए जब से इन आचार्यों की कृपा-दृष्टि जलगांव पर हुई, जलगांव की समृद्धि में उतरोत्तर वृद्धि हुई। यह सब गुरु कृपा का ही चमत्कार समझता हूं।

पहले ऐसा सुनने में आया था कि आचार्य श्री व उनके संत 'गुरु आम्नाय' का चक्कर बहुत चलाते हैं, पर चार मास में किसी संत के मुंह से गुरु आम्नाय का चक्कर सामने नहीं आया। पूरा चातुर्मास धर्मध्यान के साथ सानन्द बीता। श्रावक व्यवस्था में आचार्य श्री ने किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं किया। जब कभी व्यवस्था के बारे में पूछा जाता, यही जवाब मिलता—आपकी व्यवस्था आप जानो।

हमें डर था कि आचार्य श्री लाउडस्पीकर वापरने की मान्यता वाले नहीं होने से व्याख्यान का मजा नहीं आयेगा पर आचार्य श्री की ओजस्वी वाणी से संवत्सरी महापर्व के दिन भी इस कमी का अहसास नहीं हुआ। पूरे चातुर्मास में आपको समता विभूति के रूप में देखा। समय की पाबन्दी, क्रिया में निष्ठा व प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले आचार्य श्री वस्तुतः दर्शनमूर्ति हैं।

भौतिकवाद के इस युग में जहां तक मुझे ख्याल है आचार्य श्री के आचार्य काल में सबसे ज्यादा संत-सतियों की वृद्धि हो रही है। सामूहिक दीक्षाएं इसका प्रमाण है।

आचार्य श्री दीर्घायु प्राप्त करें व अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से समाज का मार्गदर्शन करते रहें, ऐसी नम्र कामना के साथ वन्दन करता हूं।

—"नयनतारा' सुभाष चौक, जलगांव ४२५००१

अन्तरावलोकन का राजपथ : समीक्षण ध्यान

❀ श्री मगनलाल मेहता

परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानेश की मानव समाज को आज जो सबसे बड़ी देन है वह है 'समीक्षण' और 'समता' की विचारधारा। समता प्रतिफल है और समीक्षण वह राजपथ है जिसके द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है। आचार्य श्री का अद्भुत व्यक्तित्व, उनकी अनुपम शांत मुखमुद्रा और एक क्रांतिमय आभामंडल इस बात का प्रतीक है कि उन्होंने इन सिद्धान्तों को केवल उपदेशित ही नहीं किया है वरन् जीवन में आत्मसात् भी किया है। हम जब भी उनके सामने होते हैं ऐसा प्रतीत होता है जैसे एक शान्त अमृतमय सुधारस हमारे में प्रविष्ट हो रहा है और हमें भी पवित्र कर रहा है। उनके सामने से हटने की इच्छा ही नहीं होती। यही कारण है कि आज वे हजारों लाखों लोगों के श्रद्धा के केन्द्र बने हुए हैं और लोग केवल उनकी एक पावन झलक के लिये तरसते हैं। उनका सान्निध्य प्राप्त कर उपदेशों के हृदयंगम करने वाले तो निश्चय ही सौभाग्यशाली हैं।

समीक्षण का सीधा-सा अर्थ है स्वयं का आत्म निरीक्षण, अन्तरावलोकन और उसके द्वारा समता भाव की प्राप्ति। आज हमारे देखने का दृष्टिकोण ही भिन्न बना हुआ है। हम लोग सदैव बाहर दूसरे की ओर देखते हैं लेकिन स्वयं को कभी नहीं देखते। दूसरे के पास क्या है और क्या कह रहा है इसे भी मैं अपने दृष्टिकोण से देखता हूं। लेकिन मैं स्वयं क्या हूं और क्या करता हूं इसे देखने का मैंने कभी प्रयास नहीं किया। जिस व्यक्ति को मैं अपना समझ रहा हूं, वह मुझे प्रिय है लेकिन वही व्यक्ति यदि किसी दूसरे का हो जाता है तो मुझे अप्रिय हो जाता है। जो सम्पत्ति मेरी है वह मुझ प्रिय है लेकिन वही सम्पत्ति यदि दूसरे के पास होती है तो मुझे द्वेष हो जाता है। इस तरह जीवन की प्रत्येक घटनाओं के और व्यवहारों के देखने के मेरे दृष्टिकोण भिन्न-२ होते हैं। इन्हीं कारणों से हमारे भीतर कषायों की उत्पत्ति होती है और हम राग और द्वेष की भयंकर अग्नि में अपने आपको जलाते हुए दु:ख, क्लेश और संतापों को आमंत्रित करते रहते हैं।

समीक्षण विचारधारा सबसे पहले हमारे दृष्टिकोण को बदलने पर जोर देती है। हम बाहर की ओर देखना बन्द करें और स्वयम् की ओर देखने का प्रयास करें। मैं कौन हूं ? क्या हूं ? मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है ? मैं क्या कर रहा हूं ? और क्या मुझे करना चाहिये ? यद्यपि भीतर की ओर दृष्टि

मोड़ना कोई सरल कार्य नहीं है क्योंकि हमारा मन एक बेलगाम घोड़े की तरह प्रतिक्षण बाहर की ओर भागने का अभ्यस्त है। अतः साधना के मार्ग पर अग्रसर हुए व्यक्ति के लिये सबसे पहले इस मन को एकाग्र करना अत्यन्त आवश्यक है। मुझे वह क्षण आज भी अच्छी तरह याद है जब रतलाम चातुर्मास के पूर्व आचार्य भगवन ने मेरे तथा हमारे कुछ साथियों पर अत्यन्त अनुकृपा कर साधना का वह मार्ग हमें बताया और उस पर चलने के लिये हमें प्रेरित किया। मन की एकाग्रता के लिये द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि के साथ श्वास और प्राणायाम के प्रयोग बहुत ही लाभकारी होते हैं। स्वतः श्वास पर मन को केन्द्रित करना, पूरक, रेचक और कुंभक की क्रिया, अरहम् अथवा किसी भी शुद्ध स्वरूप या ध्वनि पर मन को केन्द्रित करना, भ्रामरिक गुंजार, शरीर में स्थित विभिन्न शक्ति केन्द्रों पर मन ही एकाग्र करना आदि अनेक ऐसे प्रयोग हैं जो मन को एकाग्र करने में सहायक होते हैं। यद्यपि इसके लिये भी सतत प्रयास और प्रतिदिन के अभ्यास की आवश्यकता होती है।

मन की एकाग्रता साधने के बाद हमें हमारे बाहरी नेत्रों को बन्द कर भीतर की ओर देखना होता है। हमारे भीतर कितना गहन अन्धकार और कषायों की गन्दगी भरी पड़ी है, यह हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगेगा। मैं चाहता हूं कि प्रत्येक व्यक्ति मेरी आज्ञा का पालन करे, मेरी इच्छा के अनुसार चले और मेरी स्वार्थ पूर्ति में किसी प्रहार की बाधा न बने। इन्हीं असंभव अपेक्षाओं और आशाओं के कारण मैं स्वयं का कितना बड़ा अहित कर लेता हूं। मानसिक तनाव, बुद्धिविनाश, हेमरेज, हार्ट अटेक आदि अनेक बीमारियों को मैं अनायास ही आमंत्रित कर लेता हूं। अहंकार का भूत दूसरों को तुच्छ समझने के लिये मुझे सदैव प्रेरित करता रहता है। जरासा सुख, जरासी सम्पत्ति, जरासा अधिकार, थोड़ा-सा ज्ञान, थोड़ा-सा तप मुझे आसमान पर बिठा देता है। अपने इसी अहंकार के नशे में मैं बड़े-छोटे, मान-सन्मान के सब रिश्ते भूल जाता हूं। स्वार्थ पूर्ति और लोभ की भावनाओं के वशीभूत होकर मैं कितने छल, कपट, झूठ, चोरी, हिंसा, व्यभिचार और यहां तक की हत्या जैसे भयंकर दुष्कृत्य भी करने को तत्पर हो जाता हूं। स्वार्थ की पूर्ति के अवसर पर मुझे भाई-बहन, पिता-पुत्र, प्रिय गुरुजन, बड़े-छोटे किसी का कोई भान नहीं रहता है। मैं अन्धा हो जाता हूं। "मैं" और "मेरा" शब्द मेरे राग की उत्पत्ति के कारण हैं और "तू" और "तेरा" मेरे भीतर द्वेष की वृत्ति को जागृत करते हैं।

समीक्षण साधना अन्तरावलोकन का राजपथ हमें बताता है कि इस भौतिक संसार में कुछ भी मेरा नहीं है। परिवार और भौतिक वस्तु में तो ठीक यह शरीर भी मेरा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति खाली हाथ आता है और खाली हाथ ही चला जाता है। केवल अपने सुकृत्य और ज्ञान दृष्टि ही प्रत्येक आत्मा के

सहायक तत्व हैं। जैसे–तैसे व्यक्ति अन्तरावलोकन, आत्म निरीक्षण और वस्तु के चिन्तन की ओर अग्रसर होता है उसे स्वयं के कषाय और राग-द्वेष की वृत्तियां स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगती है। एक बार जब हम हमारी बुराई और अज्ञान को समझ लेते हैं, उसे दूर करने की स्वतः प्रेरणा जागृत हो जाती है। सतत प्रयास से हम निश्चित रूप से अपने मन को निर्मल करते हुए आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं; कषायों से मुक्त राग-द्वेष हीन दशा ही आत्मा की मुक्त अवस्था है। यही मोक्ष है जिसके हम अभिलाषी है।

पूज्य गुरुदेव के आत्म बोध के इस सन्मार्ग का ज्ञान कराने और उस पर अग्रसर होने की प्रेरणा देने के लिये पुनः शत्–शत् वन्दन, अभिनन्दन और उपकार के लिए नतमस्तक।

—चांदनी चौक, रतलाम

□

नानेश वाणी

❀ **संकलन–श्री धर्मेशमुनिजी**

○ प्रतिकार करने का सामर्थ्य है, किन्तु सात्विक भावना के साथ वह प्रतिकार के बारे में सोचता भी नहीं तथा हृदय से सदा के लिये उसको क्षमा कर देता है—यही वास्तविक एवं सात्विक क्षमा होती है।

○ क्रोध से बच गये तो समझिये कि जीवन के पतन से बच गये।

○ भेद–भाव के विचार मनुष्य के आचरण में बराबर हिंसा को स्थान देते रहते हैं। भेद समानता की विरोध स्थिति होती है। भेद का अर्थ है कि या तो अपने को बड़ा समझे या अपने को हीन मान्यता के साथ छोटा समझें। बड़ा समझने पर मदोन्मत हिंसा आती है और हीन समझने पर प्रतिक्रियात्मक हिंसा का जन्म होता है। अभिप्राय यह है कि जहां भेद–भाव आता है, वहां किसी न किसी रूप में हिंसा भी आती ही है।

○ बुद्धि, धन, बल या विद्या–किसी की भी शक्ति स्वयं के दास हो तो उसका कर्त्तव्य माना जाना चाहिये कि वह अपनी शक्ति का दूसरों के हित के लिये सदुपयोग करें।

अनेक गुणों के धारक : आचार्य नानेश

❀ पं. लालचन्द मुणोत

जह दीवो दीवसयं पइप्पए जसो दीवो
दीव समा आयरिया दिव्वंति परं च दिवंति

जिस प्रकार दीपक स्वयं प्रकाशित होकर अन्य सैकड़ों दीपकों को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार आचार्य ज्ञान-दर्शन-चारित्र द्वारा स्वयं प्रकाशित होकर अन्य को प्रकाशित करते हैं।

इसी शास्त्रीय कथन को परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर पूज्य श्री नानालालजी म. सा. के सत्सान्निध्य में रहकर वर्षों तक संघीय कार्य करते हुए मैंने उनके जीवन में अनेक रूपों में देखा तथा अनुभव किया। आचार्य श्री नानेश समता की अद्वितीय साक्षात् प्रतिमूर्ति, अदम्य साहसी, उत्साही, आत्मबली, कष्ट सहिष्णु, निराभिमानी, गुप्त तपस्वी, प्रवचन प्रभावक समभावी, समीक्षण-ध्यान योगी, दीर्घ द्रष्टा, यशस्वी, तेजस्वी, छुआछूत की कृतिमता के विरोधी, दलितोद्धारक, धर्मपाल प्रतिबोधक, शासन के सफल संचालक, अनुशास्ता, संगठन के हिमायती, चमत्कारिक वचनसिद्धि जिनशासन प्रद्योतक कर्मठ सेवाभावी चारित्रनिष्ठ अद्वितीय ज्योतिर्धर महापुरुष हैं। वे स्वयं इन गुणों से प्रकाशित हैं तथा जन-जीवन को प्रकाशित किया है और कर रहे हैं।

आचार्य श्री नानेश के जीवन में ये उपयुक्त गुण कितने सार्थक हैं। इनसे संबन्धित घटनाएं यथावत तो मेरे स्मृति पटल पर नहीं है पर कई घटनाएं मेरी स्मृति में हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. आचार्य श्री नानेश के जीवन में क्रोध जनित कोई भी समस्या उत्पन्न हुई तो आपने उसे धैर्यपूर्वक सहनशीलता एवं समता भाव से सहन किया। प्रकट रूप में उत्तेजित होना तो दूर मुख मंडल पर भी क्रोध की किंचिदपि रेखाएं तक परिलक्षित न हुई और न होती है।

२. आचार्य श्री नानेश अदम्य उत्साही एवं कष्ट सहिष्णुता के परम उपासक हैं। आचार्य पद प्राप्त होने के पश्चात् जब आप रतलाम का प्रथम ऐतिहासिक चातुर्मास पूर्ण करके मालव प्रान्त के छोटे-२ अंचलों में विचरण कर रहे थे तब उनको ज्ञात हुआ कि इधर छोटे-२ गांवों में खेती करने वाले बलाई जाति के हजारों हिन्दू परिवार रहते हैं, उनको ईसाई बनाने के लिए ईसाइयों की मिशनरी प्रचार कर रही है तो आचार्य श्री का करुणामय हृदय द्रवित हो उठा और ग्रीष्मकाल की प्रचण्ड गर्मी में गांवों की ओर विहार कर भूख-प्यास व सर्दी-गर्मी आदि के परिषहों को सहन करते हुए उन गांवों में अहिंसा का मार्मिक उपदेश दिया एवं हजारों लोगों को मद्य-मांसादि कुव्यसनों का त्याग कराकर जीवन में सदाचार की ओर प्रवृत किया तथा अछूत कही जाने वाली बलाई जाति को धर्मपाल नाम से घोषित किया।

आचार्य श्री नानेश अपने मुनि जीवन में हमेशा एकान्त में ज्ञान-ध्यान,

चिन्तन-मनन आदि में तल्लीन रहते । क्योंकि आप गृहस्थों से विशेष परिचय को मुनि जीवन के लिए हानिकारक समझते हैं । आचार्य पद प्राप्त होने के बाद शासन को चलाने के लिए श्रावकों से सात्विक परिचय रखना आवश्यक हो जाता है सो रखते हैं । फिर भी उसमें विशेष रुचि हो, ऐसा नहीं लगता ।

आचार्य श्री नानेश आभ्यन्तर एवं गुप्त तप के महान तपस्वी हैं । तप के बारह भेदों में से बाह्य तपों में शारीरिक क्रिया की मुख्यता रहने से वे प्रायः दूसरों को दृष्टिगोचर होते हैं और आभ्यन्तर तप में मानसिक वृत्तियों की मुख्यता रहने से वे प्रायः दूसरों को दृष्टिगोचर नहीं होते । बाह्य तपों में भी जितना अनशन तप दृष्टिगोचर होता है, उतने अन्य पांच तप नहीं ।

आचार्य श्री नानेश को बेला, तेला, पंचोला, अठाई आदि बाह्य अनशन तप करते प्रायः बहुत कम देखा गया । आप बाह्य तप नहीं करते हो ऐसा नहीं बल्कि आपकी बाह्य तपस्या भी ऐसी होती है जो प्रायः हर व्यक्ति को मालूम नहीं होती । मैंने देखा है तथा संतों से भी सुना है कि आपकी अधिकतर ऐसी तपस्या होती है कि अमुक आहार अमुक मात्रा में ही ग्रहण करना, अधिक नहीं। अमुक समय तक गोचरी आ जावे तो ग्रहण करना अन्यथा नहीं । निर्धारित समय में लाये गये आहार में से अमुक चीज हो तो नहीं लेना स्वादिष्ट, रसयुक्त व चट-पटे पदार्थ हो तो नहीं लेना या लेना तो अमुक ही लेना या अमुक मात्रा से अधिक न लेना ।

आचार्य श्री नानेश व्यक्ति की अपेक्षा गुणों को विशेष महत्त्व देते हैं । व्यक्ति की श्रेष्ठता गुणों पर आधारित है अतः छुआछूत की कृत्रिमता पर करारा प्रहार करते हैं और फरमाते हैं कि—

गुणी पूजा स्थानं न च लिंगं न च वय

आचार्य श्री नानेश चारित्र निष्ठ, शुद्ध संयम पालक कुशल महान् अनु-शासक हैं । आप स्वयं शास्त्रीय नियमोपनियमों का पालन करने में हर समय तत्पर रहते हैं और अपने शिष्य परिवार के लिए भी संयमी मर्यादाओं का पालन कराने में हर समय जागरूक रहते हैं । आप नवनीत के समान अतिकोमल पर संयमीय मर्यादाओं के पालन कराने में अनुशासन की दृष्टि से महान् कठोर अनु-शासक है ।

आचार्य श्री नानेश चारित्र के साथ-२ ज्ञान की तरफ भी विशेष लक्ष्य रखते हैं जिससे संयमी मर्यादाओं का पालन करते हुए आपके सत्सान्निध्य में कई साधु-साध्वी उच्च कोटि के विद्वान तैयार हुए हैं और हो रहे हैं ।

आचार्य श्री नानेश दीर्घ दृष्टा महापुरुष हैं । परम श्रद्धेय आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. के जावरा चातुर्मास में शारीरिक अस्वस्थता ने उग्र रूप धारण कर लिया । ऐसी स्थिति में जिस क्षेत्र में उपचार के सब साधन उपलब्ध हो, वहां ले जाना अत्यावश्यक था । अतः संत महात्मा अपनी भुजाओं पर उठा

कर रतलाम ले आये । पर आचार्य श्री नानेश को रतलाम उपयुक्त नहीं लग रहा था । कारण वहां उपचार के पर्याप्त साधन उपलब्ध होना कठिन था । फिर वहां से मंदसौर नीमच ले आये । सभी संघ अपने यहां उपचार कराने हेतु आग्रह भरी विनंती कर रहे थे । पर आचार्य श्री नानेश को उदयपुर के सिवाय अन्य कोई क्षेत्र उपयुक्त नहीं लग रहा था । आखिर डाक्टरों की राय भी उदयपुर की होने से उदयपुर ले आये । ज्योतिषियों का कहना हुआ कि अब उम्र अधिक नहीं है पर आचार्य श्री नानेश की अन्तरात्मा साक्षी नहीं दे रही थी । आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. का उदयपुर में किड़नी का आपरेशन हुआ । तत्पश्चात् धीरे-२ स्वास्थ्य में सुधार आया और फिर अधिक अस्वस्थ हो गये तब अनेकों की राय हुई कि अब पूर्ण संथारा करा दिया जाय पर आचार्य श्री नानेश ने नाड़ी देख कर कहा अभी पूर्ण संथारा कराने जैसी स्थिति नहीं है । अतः तीन दिन तक अचेतनावस्था में सागारी संथारा चलता रहा । तीन दिन बाद चेतना आई और करीब तीन वर्ष तक जीवित रहे । यह सब आचार्य श्री नानेश की दीर्घदृष्टि का प्रतीक है ।

आचार्य श्री नानेश कर्मठ सेवाभावी हैं । स्व. आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. की रुग्णावस्था में यह देखा गया कि आपने अहर्निश अनत्यभाव से जो सेवा की उसका शब्दों द्वारा वर्णन किया जाना अशक्य है । इतना ही नहीं, छोटे से छोटे साधु के अस्वस्थ हो जाने पर भी रात-दिन अपनी सारी शक्ति सेवा में अर्पण कर देते हैं ।

आचार्य श्री नानेश महान् आत्मबली, साहसी एवं उत्साही महापुरुष हैं । उदयपुर में स्व. आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. का स्वर्गवास हो जाने के बाद अब आपका साधु मर्यादा के अनुसार विहार होना आवश्यक होने से हाथीपोल से विहार होने की हलचल मची । तो स्थानीय संघ के तथा अन्य सदस्यों ने प्रार्थना की कि हाथी पोल होकर जाने में आज उस तरफ दिशा शूल है । अन्य दरवाजे से विहार होना उपयुक्त है । आपने फरमाया सीधे मार्ग को छोड़कर चक्कर खाकर अन्य दरवाजे से विहार करना उपयुक्त नहीं है। मुहूर्त के चक्कर में न पड़ें। जिस समय जिस कार्य को करने में जिसका अतिउत्साह हो वही समय उसके लिए अत्युत्तम मुहूर्त है आदि कहकर हाथीपोल के दरवाजे से विहार कर दिया ।

आचार्य श्री नानेश जो कुछ कहते वह सोच-समझ कर फरमाते । उस पर कोई बाधा उपस्थित हो जाती तो कष्टों की तनिक भी परवाह न करते हुए अपने वचन का पूरा ध्यान रखते हैं । अतः आपकी कथनी-करनी में एकरूपता है ।

आचार्य श्री नानेश उच्च कोटि के महान् प्रभावक महापुरुष हैं । आपके प्रवचन प्रभाव से अनेक जगह अनेक परिवार झगड़े समाप्त कर परस्पर आत्मीयता के साथ आनंद ले रहे हैं ।

आचार्य श्री नानेश महान चमत्कारिक महापुरुष हैं । नोखा मंडी में एक

प्रज्ञा चक्षु वृद्धा वहिन की विनंती पर आपश्री उसको दर्शन देने के लिए उसके घर गये और मांगलिक सुनाकर वापस लौटे कि उसके वाद उस वृद्धा की आंखों में रोशनी आ गई ।

आचार्य श्री नानेश अलौकिक महापुरुष हैं । आपके प्रति जो व्यक्ति शुद्ध सात्विक श्रद्धा भक्ति रखता हुआ सच्चाई के साथ यथाशक्ति न्याय नीतिपूर्वक चलता है और धर्म पर भी श्रद्धा रखता है वह उपस्थित आपत्ति से जल्दी या देरी में अवश्य छुटकारा पाता है और अपनी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति से वंचित नहीं रहता है ।

आचार्य श्री नानेश अध्यात्म प्रधान भारतीय संस्कृति के ज्योतिर्मय दीपक ही नहीं बल्कि सूर्य हैं । विषमता के युग में समता का पाठ पढ़ाने वाले महान समताधारी है । शिथिलाचार के विरुद्ध कड़ा प्रहार करने वाले क्रांतिकारी महापुरुष है । पूजा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान के विरोधी हैं और शुद्ध सात्विक संगठन के पूरे हिमायती हैं ।

आचार्य श्री नानेश समीक्षण ध्यान के महान योगी पुरुष है । आप प्रति-दिन नियमित रूप से प्रात: ३ वजे से पूर्व अपनी शय्या त्याग कर ध्यानारूढ़ हो जाते हैं । ध्यानावस्था में आपके मुखमंडल पर अलौकिक तेज प्रस्फुटित हुआ देखा गया है ।

आचार्य श्री नानेश प्रदर्शन एवं आडम्वरी प्रवृत्तियों से सदा विलग रहे हैं पर भक्तजन भक्ति के वश होकर विहार, नगर प्रवेश, तपस्या आदि की सूचनाओं को तथा जन्मोत्सव, दीक्षा महोत्सव, अर्द्ध शताव्दी वर्ष महोत्सव, स्वर्ण जयन्ती महोत्सव आदि को धर्म प्रचार-प्रसार व प्रभावना में सहायक समझकर आयोजन करते हैं । पर इसमें केवल यही बात नहीं है । दूसरी तरफ भी देखना चाहिए । यदि इन वाह्याडंर में संत जन भी लिप्त हो जाते हैं तो संयम-साधना में धीरे-२ शिथिलता आकर संयम विघातक वड़ी-वड़ी त्रुटियों का पनपना भी सहज स्वा-भाविक है यही कारण है कि आचार्य श्री नानेश समय-२ पर आडंवरी प्रवृत्तियों का निषेध करते रहते हैं ।

अन्त में मेरा यह निवेदन है कि परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानेश के इस दीक्षा अर्द्ध शताव्दी वर्ष के प्रसंग से आचार्य श्री के उपरोक्त गुणों से प्रेरणा लेकर निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की सुरक्षा हो । कोई भी श्रावक साधु मर्यादा से विपरीत किसी भी छोटे-से-छोटे कार्य में भी न तो साधु समाज को प्रेरित करे और न ऐसे कार्य में साधु समाज का सहयोगी वने ।

दूसरी वात दीक्षा अर्द्ध शताव्दी वर्ष के उपलक्ष में ५० हजार श्रावक-जन-आजन्म के लिए सप्तकुव्यसन के तथा मांगणी करके दहेज लेने के त्यागी हो साथ ही ५० हजार आयम्विल तप भी करें ।

—विचरली मोहल्ला, व्यावर (राज.)

सागरवर गंभीरा आचार्य श्री

❀ श्री रखबचन्द कटारिया
अध्यक्ष श्री साधुमार्गी जैन संघ

चरित्र चूड़ामणि, समता दर्शन प्रणेता अध्यात्म योगी, जिनशासन प्रद्योतक, समता विभूति आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. में इतने गुण विद्यमान हैं कि उनका वर्णन किया जाय तो एक बड़ा भारी ग्रन्थ तैयार हो सकता है फिर भी मैं संक्षिप्त में लिख रहा हूं।

एक समय उदयपुर की बात है जब आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. उदयपुर विराज रहे थे। उस समय आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. का स्वास्थ्य व्यवस्थित रूप से नहीं चल रहा था। आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. भी सेवा में लगे रहते थे। उस समय हम चार पांच जने दर्शनार्थ उदयपुर गये थे और आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. से बातचीत चल रही थी कि युवाचार्य श्री नानालाल जी म. सा. को ही बनाया जावे। तब श्री सूरजमल जी पिरोदिया ने कहा कि आप किनको युवाचार्य बना रहे हैं ? ये किसी से भी बोलते नहीं है। हम तो जब तक आप रहेंगे तब तक स्थानक आवेंगे उसके बाद स्थानक में नहीं आवेंगे। तब आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. ने फरमाया कि तुम अभी तक नहीं जान सके, मैंने इनकी सारी परीक्षा करके देख ली है। ये सब बातें बाद में नजर आयेंगी ये संयम पालन में एकदम चुस्त हैं। सेवा का गुण भी इनमें गजब का भरा हुआ है। यह आप देख ही रहे हैं। सरलता, नम्रता आदि अनेक गुणों से ये सम्पन्न हैं। जिनशासन को ऐसा दीपायेगा कि लोग देखते रह जायेंगे। वास्तव में ये सभी बातें आज प्रत्यक्ष में दिखाई दे रही हैं। चारों दिशाओं में आचार्य श्री नानालालजी म. सा. की जय-जयकार हो रही है।

दिल्ली, बम्बई, राजस्थान, मध्यप्रदेश, पूना, मद्रास, बेंगलोर आदि क्षेत्रों को संत-सतियों ने फरसा है, उधर धर्म की ध्वजा फहराई है और चारों ओर नानागुरु की जय-जयकार हो रही है। ऐसे आचार्य श्री सागरवर गंभीरा हैं। रतलाम की बात ले लीजिये, जितने लोग रतलाम के दर्शनार्थ जाते हैं प्रायः सभी से बातचीत होती है। कोई किसी की बुराई करता है तो कोई किसी की अच्छाई बताता है फिर भी आचार्य श्री सभी की बातों को पी जाते हैं एक भी बात सामने नहीं आती है।

हम दो व्यक्ति श्रीसंघ की आज्ञानुसार भावनगर गये थे और आचार्य श्री

के सामने दीक्षा रतलाम में हो ऐसी विनती रखी थी तो आचार्य ने हमारी विनती शीघ्र ही मंजूर करली। आचार्य श्री का हृदय कितना विशाल है कि दो व्यक्ति विनती लेकर गये और मंजूरी प्रदान कर दी रतलाम नगर में दीक्षा का भव्य आयोजन हुआ। उसमें २५ दीक्षा का भव्य वरघोड़ा निकाला गया था जो ऐतिहासिक रहा। बिना बुलाए वोहरा समाज का बैंड दीक्षा जुलूस में शामिल हुआ जो बड़े मुल्ला सा. के सिवाय किसी के यहां भी नहीं जाता है। यह एक लब्धि का कार्य हुआ। यह सब आचार्य श्री के अतिशय का ही प्रताप है कि आचार्य श्री विहार कर जहां–जहां पधारते हैं वहां मेला–सा दृश्य दिखाई देने लगता है।

मुझे आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा., आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा., आचार्य श्री नानालाल जी म. सा, तीनों आचार्यों के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ लेकिन जो शासन व्यवस्था दीक्षा-शिक्षा, नियम–मर्यादा आदि आपश्री के शासन में चल रही है वह अद्वितीय है। अनेक साधु–साध्वी को आपश्री ने दीक्षित किया, यह एक चामत्कारिक बात है।

आचार्य श्री नानेश का रत्नपुरी वर्षावास इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। २५ वर्ष पश्चात् यह सम्पन्न हुआ। इस चातुर्मास में अनेक प्रकार की तपस्याएं हुई जिसमें ६३ मासखमण ने सारे रेकार्ड तोड़ दिये और अनेक प्रकार के शीलव्रत, प्रत्याख्यान, अट्ठाई, सामूहिक आयंबिल व्रत, सामायिक साधना आदि अनेक प्रकार के त्याग–प्रत्याख्यान हुए। इस चातुर्मास में आचार्य श्री की प्रेरणा से ५६ विकलांगों को निःशुल्क पैर लगवाकर मानवता की सेवा का महान् कार्य किया गया।

—नौलाईपुरा, रतलाम (म. प्र.)

□

नानेश वाणी

० भोजन की आवश्यकता से भी अनावश्यक (प्रतिक्रमण) की आवश्यकता ऊपर है।

० प्रवचन मूल रूप में आगमों/शास्त्रों के ज्ञान प्रकाश में अपनी आत्म-साधना के धरातल पर निसृत श्रेष्ठ एवं विशिष्ठ वचन होता है।

० कैसा ही पापी, हिंसक या क्रूरतम व्यक्ति क्यों न हो—यदि उसके हृदय में वात्सल्य भावना उडेली जाय तो वह अपना श्रेष्ठ प्रभाव अवश्य ही दिखाती है।

अनन्त अतिशयधारी श्री "नानेश"

❀ श्रीमती लता 'काजल'

परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर के महिमारंजित व्यक्तित्व का वर्णन लेखनी की शक्ति से वाहर है, वह सर्वतोमुखी सुवासित अनुभूति तो केवल अन्तर्ग्राह्य एवं वाणी के क्षेत्र से अछूती ही है, परन्तु मैं अपनी हृदयस्थ भावनाओं को अभिव्यक्ति का स्वर देने के उल्लास में निज की अज्ञानपूर्ण सामर्थ्य विस्मृत करने का दुस्साहस करने चली हूं। कहते हैं न 'जादू तो वह जो सिर चढ़कर बोले' इस उक्ति के अनुसार इस समय मन की विचित्र दशा है—कहने की अकुलाहट है और अज्ञ शक्ति हीनता की हिचक भी ! आचार्य भगवन् का चमत्कारिक व्यक्तित्व ऐसा ही प्रेरक, प्रभावक और विपुल अतिशय-सम्पन्न है। दर्शन करने से भी पूर्व मैं तो अदृश्य श्रद्धा-डोर से वद्ध हो चुकी थी। केवल सुनने भर से गुरुवर 'नानेश' का व्यक्तित्व मेरे रोम-रोम में समाहित हो गया—इतना विलक्षण प्रभाव-युक्त है मेरे आराध्यदेव का व्यक्तित्व इस उथले प्रयास में भले ही मैं उपहास-पात्र बनूं, किन्तु वालक की तोतली भाषा दूसरों की समझ में न आने पर भी उसको अपने भावों के प्रकटीकरण का हर्ष प्रदान करती ही है।

सद्गुणों का प्राधान्य एवं प्रचुरता महामहिम पुरुषों का सामान्य लक्षण होता है। पंचमहाव्रत धारी मुनिराजों में सद्गुणी जनों से अनन्त गुणी उत्कृष्टता होती है। उन उत्कृष्ट संत प्रवरों के आचार्यश्री में उनकी अपेक्षा अनन्त रत्नत्रयादिक निधियां हुआ करती हैं—अनन्तगुणी नेतृत्व कुशलता एवं विशेषता-वाहुल्य होता है, और हीरक-माणिक-समान सर्वगुण सम्पन्न आचार्यों में कोई एक दिव्य, तेजस्वी प्रखर सूर्यमण्डल-सी आभायुक्त विलक्षणता, जव समग्र रूप से एक स्थान पर पुञ्जीभूत होती है—अतिशय-ज्योति जिसके समक्ष वौनी वनकर नमन करती है—उस परम चारित्र चूड़ामणि को हम आचार्य श्री 'नानेश' कहते हैं।

आचार्य प्रवर का जीवन समग्रतः समताभिमुख है। उनके योग और प्रयोग, चिन्तन और ध्यान, साधना और निराली छटापूर्ण वैराग्य, वाणी और कर्म, आचार और व्यवहार, नेतृत्व-कौशल और वात्सल्य स्निग्ध मातृहृदय—ये सारे ही श्रद्धेय आचार्य भगवन् के विराट व्यक्तित्व-सागर की बूंदे-मात्र हैं। उनके अनन्त [illegible]पुंजों की किरणें हैं। आचार्य 'नानेश' का अतिशययुक्त व्यक्तित्व तो उपर्युक्त [illegible] से भिन्न विचित्र गरिमामय तथा अद्भुत-अपूर्व है।

मैंने पूज्यवर के अतिशयों का संकेत करते हुए प्रथम में उल्लेख किया है कि स्वयं साक्ष्य अनुभव से मैंने देखा है—किस प्रकार अप्रत्यक्ष, अदीठ और [illegible] रहकर भी वह चुम्बकीय आकर्षण जनमानस की उर-परिधियों को [illegible]

के सामने दीक्षा रतलाम में हो ऐसी विनती रखी थी तो आचार्य ने हमारी विनती शीघ्र ही मंजूर करली । आचार्य श्री का हृदय कितना विशाल है कि दो व्यक्ति विनती लेकर गये और मंजूरी प्रदान कर दी रतलाम नगर में दीक्षा का भव्य आयोजन हुआ । उसमें २५ दीक्षा का भव्य वरघोड़ा निकाला गया था जो ऐतिहासिक रहा । बिना बुलाए वोहरा समाज का बैंड दीक्षा जुलूस में शामिल हुआ जो बड़े मुल्ला सा. के सिवाय किसी के यहां भी नहीं जाता है । यह एक लब्धि का कार्य हुआ । यह सब आचार्य श्री के अतिशय का ही प्रताप है कि आचार्य श्री विहार कर जहां–जहां पधारते हैं वहां मेला–सा दृश्य दिखाई देने लगता है ।

मुझे आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा., आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा., आचार्य श्री नानालाल जी म. सा, तीनों आचार्यों के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ लेकिन जो शासन व्यवस्था दीक्षा-शिक्षा, नियम–मर्यादा आदि आपश्री के शासन में चल रही है वह अद्वितीय है । अनेक साधु–साध्वी को आपश्री ने दीक्षित किया, यह एक चामत्कारिक बात है ।

आचार्य श्री नानेश का रत्नपुरी वर्षावास इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा । २५ वर्ष पश्चात् यह सम्पन्न हुआ । इस चातुर्मास में अनेक प्रकार की तपस्याएं हुई जिसमें ६३ मासखमण ने सारे रेकार्ड तोड़ दिये और अनेक प्रकार के शीलव्रत, प्रत्याख्यान, अट्ठाई, सामूहिक आयंबिल व्रत, सामायिक साधना आदि अनेक प्रकार के त्याग–प्रत्याख्यान हुए । इस चातुर्मास में आचार्य श्री की प्रेरणा से ५६ विकलांगों को निःशुल्क पैर लगवाकर मानवता की सेवा का महान् कार्य किया गया ।

—नौलाईपुरा, रतलाम (म. प्र)

□

नानेश वाणी

○ भोजन की आवश्यकता से भी अनावश्यक (प्रतिक्रमण) की आवश्यकता ऊपर है ।

○ प्रवचन मूल रूप में आगमों/शास्त्रों के ज्ञान प्रकाश में अपनी आत्म-साधना के धरातल पर निसृत श्रेष्ठ एवं विशिष्ठ वचन होता है ।

○ कैसा ही पापी, हिंसक या क्रूरतम व्यक्ति क्यों न हो–यदि उसके हृदय में वात्सल्य भावना उडेली जाय तो वह अपना श्रेष्ठ प्रभाव अवश्य ही दिखाती है ।

अनन्त अतिशयधारी श्री "नानेश"

❀ श्रीमती लता 'काजल'

परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर के महिमारंजित व्यक्तित्व का वर्णन लेखनी की शक्ति से बाहर है, वह सर्वतोमुखी सुवासित अनुभूति तो केवल अन्तर्ग्राह्य एवं वाणी के क्षेत्र से अछूती ही है, परन्तु मैं अपनी हृदयस्थ भावनाओं को अभिव्यक्ति का स्वर देने के उल्लास में निज की अज्ञानपूर्ण सामर्थ्य विस्मृत करने का दुस्साहस करने चली हूं। कहते हैं न 'जादू तो वह जो सिर चढ़कर बोले' इस उक्ति के अनुसार इस समय मन की विचित्र दशा है—कहने की अकुलाहट है और अज्ञ शक्ति हीनता की हिचक भी ! आचार्य भगवन् का चमत्कारिक व्यक्तित्व ऐसा ही प्रेरक, प्रभावक और विपुल अतिशय-सम्पन्न है। दर्शन करने से भी पूर्व मैं तो अदृश्य श्रद्धा-डोर से बद्ध हो चुकी थी। केवल सुनने भर से गुरुवर 'नानेश' का व्यक्तित्व मेरे रोम-रोम में समाहित हो गया—इतना विलक्षण प्रभाव-युक्त है मेरे आराध्यदेव का व्यक्तित्व इस उथले प्रयास में भले ही मैं उपहास-पात्र बनूं, किन्तु बालक की तोतली भाषा दूसरों की समझ में न आने पर भी उसको अपने भावों के प्रकटीकरण का हर्ष प्रदान करती ही है।

सद्‌गुणों का प्राधान्य एवं प्रचुरता महामहिम पुरुषों का सामान्य लक्षण होता है। पंचमहाव्रत धारी मुनिराजों में सद्‌गुणी जनों से अनन्त गुणी उत्कृष्टता होती है। उन उत्कृष्ट संत प्रवरों के आचार्यश्री में उनकी अपेक्षा अनन्त रत्नत्रयादिक सिद्धियां हुआ करती हैं—अनन्तगुणी नेतृत्व कुशलता एवं विशेषता-बाहुल्य होता है, और हीरक-माणिक-समान सर्वगुण सम्पन्न आचार्यों में कोई एक दिव्य, तेजस्वी प्रखर सूर्यमण्डल-सी आभायुक्त विलक्षणता, जब समग्र रूप से एक स्थान पर पुञ्जीभूत होती है—अतिशय-ज्योति जिसके समक्ष बौनी बनकर नमन करती है—उस परम चारित्र चूड़ामणि को हम आचार्य श्री 'नानेश' कहते हैं।

आचार्य प्रवर का जीवन समग्रतः समताभिमुख है। उनके योग और प्रयोग, चिन्तन और ध्यान, साधना और निराली छटापूर्ण वैराग्य, वाणी और कर्म, आचार और व्यवहार, नेतृत्व-कौशल और वात्सल्य स्निग्ध मातृहृदय—ये सारे ही श्रद्धेय आचार्य भगवन् के विराट व्यक्तित्व-सागर की बूंदे-मात्र हैं। उनके अनन्त प्रतिभापुंजों की किरणें हैं। आचार्य 'नानेश' का अतिशययुक्त व्यक्तित्व तो उपर्युक्त गुणों से भिन्न विचित्र गरिमामय तथा अद्‌भुत-अपूर्व है।

मैंने पूज्यवर के अतिशयों का संकेत करते हुए प्रथम में उल्लेख किया है कि स्वयं साक्ष्य अनुभव से मैंने देखा है—किस प्रकार अप्रत्यक्ष, अबोले और अनभूत रहकर भी वह चुम्बकीय आकर्षण जनमानस की उर-परिधियों को गहरे

तक स्पर्श करता है। न केवल स्पर्श करता है, अपितु तरल तारतम्यता स्थापित करता हुआ सभी को स्पन्दित करने की महती शक्ति रखता है।

पूज्यपाद आचार्य भगवन् के अतिशय-वर्णन का लंगड़ा प्रयास मैंने कुछ इस प्रकार किया है:—

तर्ज:—तेरे हुस्न की क्या तारीफ करूं—

तेरे अतिशयों की महिमा गाऊं, यह सोच के ही रह जाती हूं।
जिह्वा-जीवन यदि चुक जाएं, तो भी महिमा अधूरी पाती हूं॥
सीमित है शक्ति वाणी की,
और गुण हैं अनन्त-असीम प्रभो!
कैसे पूरा हो इष्ट मेरा,
ये कार्य कठिन संभीम, प्रभो।

फिर भी गुण-गरिमा-चिन्तन से, कहने को बहुत ललचाती हूं।
जिह्वा-जीवन यदि चुक जाएं तो भी महिमा अधूरी पाती हूं॥
बुद्धि तो है अल्प अति, अतिशय—
विस्तार बहुत ही गहरा है।
शब्दों और भाषा के ऊपर,
मेरे तुच्छतम ज्ञान का पहरा है।

महसूस ये होता है जैसे, खुद को ही छलती जाती हूं।
जिह्वा-जीवन यदि चुक जाएं तो भी महिमा अधूरी पाती हूं॥
रत्नत्रय का समन्वित तेज प्रखर,
उसको कैसे कह पाऊं भला।
व्यवहार व संचालन-पटुता—
का वर्णन भी कर पाऊंगी क्या!

अंकन अपनी सामर्थ्य का कर, फिर तुच्छता से भर जाती हूं।
जिह्वा-जीवन यदि चुक जाएं, तो भी महिमा अधूरी पाती हूं॥
प्रत्यक्ष रहो या परोक्ष, प्रभु!
बोलो अथवा तुम मौन रहो।
छाते उर-अणु-परमाणुओं में,
हर भाव बनाकर गौण, अहो।
प्रति-पल निस्सीम निकटता से, निज चेतन भरती जाती हूं।
जिह्वा-जीवन यदि चुक जाएं, तो भी महिमा अधूरी पाती हूं॥

परम आराध्य भगवन् के विस्तीर्ण प्रभामण्डल का तेज क्षण-प्रति-क्षण जीवन्त-सजीव बनकर प्रत्येक श्रद्धानिष्ठावान् साधक के आत्मप्रदेशों को गुञ्जित करता हुआ लक्ष्यसिद्धि की अदृश्य किन्तु सशक्त-वात्सल्यभरी प्रेरणा देता है। य

आभास मेरे जैसी अनेकों मुमुक्षु आत्माओं ने बहुशः किया है, जैसे वे ज्योतिपुञ्ज देव हमारा पथ-प्रदर्शन करते हुए प्रत्येक अवस्था में हमारे अस्तित्व में लय रहा करते हैं।

अनेकानेक चमत्कार पूर्ण घटनाएं आचार्यश्री के जीवन में सहजता से घटित हो जाती हैं और जब कोई असाध्य रोग तत्काल दूर हो जाता है, नेत्रों में ज्योति आजाती है, प्रबल विरोधी निन्दक स्वयमेव अभिभूत होकर चरणनत हो जाता है, सामर्थ्यहीन होने पर भी मात्र नामोच्चारण से सफलता चरण चूमने लगती है, विपत्ति-आपदा-परिषह प्रभावशून्य बन जाते हैं और स्मरण करते ही तथा दर्शन करते ही आत्मा समस्त परितापों को उपशमित करके शीतलता का संस्पर्श करती है—तब स्वाभाविक ही आचार्य प्रवर के सूक्ष्मव्यापी विराट व्यक्तित्व की झलक मिल जाती है।

कितनी ही बार देखा गया है कि आचार्य भगवन् बिना कुछ फरमाए मौन विराज रहे हों, तब भी अदृश्य रूप से सबको सब कुछ प्रचुरता से मिलता रहता है। अनेक बार प्रवचन में शास्त्रीय विषय गहनता की परिसीमाएं छूने लगता है और सामान्य बुद्धि-क्षेत्र से परे होता है, तब भी सभी व्यक्ति मंत्रमुग्ध बने गुरुदेव के श्रीमुख-चन्द्र की सुन्दर-भव्य छटा का चकोरवत् पान करते रहते हैं। अनपढ़ और अल्प-शिक्षित वर्ग के श्रोता भी आचार्यश्री के प्रवचन-भावों को उसी प्रकार ग्रहण करते रहते हैं, जैसे अन्य प्रबुद्ध-वर्ग ! भले ही उस वर्ग की ग्रहणता में शब्दशः वही भाव न रहें, लेकिन अनुभूतिजन्य बोधत्व में किसी भी प्रकार न्यूनता नहीं आने पाती।

अतिशयों का अर्थ-परिक्षेत्र न समझते हुए भी उनके अदृश्य किन्तु व्यापक प्रभाव को समग्र जनचेतना अनुभव करे, यही तो महापुरुषों के अतिशयों का विलक्षण जादू होता है। पूज्यवर के व्यक्तित्व से निःसरित ऊर्जा-रश्मियां समस्त वायुमण्डल को तेजोद्दीप्त करती हुई जब हम अपने चारों ओर अन्दर-बाहर फैलती देखते हैं, उनके आलोकमय आनन्द का रसास्वादन प्रतिपल करते हैं, तो अनायास ही श्रद्धाभिभूत होकर कह उठते हैं:—

दिव्य अलौकिक अद्भुत योगी।
'नानेश' की समता क्या होगी !
तेरे चमत्कारों की कहें क्या !!
जय 'नाना'—गुरु 'नाना'—जय 'नाना—गुरु 'नाना' !!

अन्तस् के भावों को सर्वांशतः व्यक्त करके परमकृपालु, आचार्यश्री के अतिशययुक्त व्यक्तित्व का गुणानुवाद करने के लिए तो अनेक जन्मों की—अनन्त-अनन्त बुद्धि व शक्ति की अपेक्षा है—मैंने पूज्यश्री के चमत्कारिक स्वरूप की आह्लादक झांकी सभी को मिले, इस विचार से नगण्य-सा यह प्रयास किया तो साकार बन नहीं पाया और अपनी भावुकतापूर्ण अल्पज्ञता में घिर कर ही रह गई।

अन्त में परमपूज्य श्री चरणों के कृपा प्रसाद की सदा सर्वदा याचना करते हुए मेरी हार्दिक कामना है:—

अल्प ना हो कल्पना, रहने निकटतम भाव की।
दित्व सारा दूं मिटा, सृष्टि हो अविनाभाव की।
गुम हो गहरे गर्त्त में, प्रत्यक्षता का प्रश्न फिर,
स्वर्ण रंजित हों अमर, अक्षर मेरे इतिहास के।
चीर 'काजल'–आवरण, अपने मनोऽहंकार के,
तव वचन से हो विपुल घन छिन्न तुच्छाभास के,
बन सकूं तब तुल्य तव प्रसाद से तव आस के॥

—द्वारा-भैरूलालजी सरूपरिया, भदेसर (चित्तौड़)-३१२६०२

नानेश वाणी

○ प्रवचन-प्रभावना के लिए आप झूठी प्रतिष्ठा पाने के प्रदर्शनकारी आडम्बरों को छोड़िये और गिरे हुए स्वधर्मी व अन्य भाईयों के जीवन को ऊपर उठाने के लिए अपनी वात्सल्य-वर्षा को बरसाइये।

○ आत्म-प्रशंसा क्षुद्रता का दूसरा नाम होता है।

○ आप जब दूसरे के गुणों को देखें तो उसे भरपूर सम्मान दें और उन गुणों को अपने जीवन में भी उतारने का प्रयास करें। गुणपूजा से गुणग्राहकता की वृत्ति पनपती है।

○ दूसरों के दोष देखने की बजाय दूसरों के केवल गुण देखें और अपने केवल दोष देखें—तब देखिये कि आत्म-विकास की गति किस रूप में त्वरित बन जाती है।

○ जिन धर्म की तात्विक दृष्टि सिद्धान्तों के जगत् में अलौकिक मानी गई है। स्याद्वाद रूपी गर्जना से मन घड़न्त सिद्धान्तों के हरिण झाड़ियों में घुसकर अपने को छिपा लेते हैं।

○ अपनी निष्ठा और कर्मठता में किसी भी आयु में यदि तरुणाई समा जाय तो नया और नई खोज उसके लिये स्फूर्ति का विषय बन जाती है।

○ दहेज सट्टे से भी बढ़कर है।

भविष्य के अध्येता

❀ डॉ. सुभाष कोठारी

मेरा परिवार बचपन से ही साधुमार्गी जैन संघ के अनन्य भक्तों में रहा है और इसी का प्रभाव मेरे पर भी प्रारम्भ से ही पड़ना शुरू हो गया था। प्रतिवर्ष आचार्य श्री के दर्शनार्थ जाना एक नियमित क्रम सा हो गया परन्तु तब तक मैं आचार्य श्री द्वारा पारिवारिक स्तर से जाना जाता था।

१६-१७ वर्ष तक की आयु में मेरा विचार व्यापार अथवा सी. ए. करने का था इसी कारण मैंने स्नातक तक कॉमर्स विषय पढ़ा। इन्हीं दिनों उदयपुर विश्वविद्यालय में जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग की स्थापना भी श्री अ. भा. सा. जैन संघ के सहयोग से हुई तब महज कुतुहल से मैंने भी जैन विद्या में डिप्लोमा में प्रवेश ले लिया। डिप्लोमा कोर्स में सर्वाधिक अंक आने के बाद जब आचार्य श्री से मिलना हुआ तो उन्होंने जैन विद्या एवं प्राकृत के क्षेत्र में ही निरन्तर कार्य करते रहने की प्रेरणा दी और न जाने किस भावना के वशीभूत होकर मैं इसी क्षेत्र की ओर मुड़ गया और इसी पथ पर अग्रसर होता गया। आज मैं सोचता हूं तो लगता है कि मैंने उस समय आचार्य श्री की प्रेरणा से जो रास्ता अपनाया वह कितना नैतिक एवं पवित्र है। वरना अन्य कोई व्यवसाय, व्यापार या सर्विस करने पर मेरा पेशा उज्ज्वल रह पाता या नहीं। अतः मेरी सफलता का सारा श्रेय आचार्य श्री के चरणों में ही न्योछावर है।

बाद में १९८३ से आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान से जुड़ने के बाद मेरा आचार्य श्री से व्यक्तिगत सम्पर्क बढ़ता गया कभी संस्थान के कार्य के बहाने कभी लेखों के माध्यम से, कभी समता युवा संघ की गतिविधि के बारे में एवं कभी साधु-साध्वियों को अध्ययन-अध्यापन के माध्यम से। मैं निरन्तर आपश्री के सम्पर्क में आता रहा और हर सम्पर्क मेरे लिए अविस्मरणीय बनता गया।

ऐसे जीवन निर्माणकारी, समताधारी दीर्घदृष्टा एवं भविष्य के अध्येता आचार्य श्री नानेश दीर्घायु हों एवं सदा स्वस्थ रहें, यही प्रार्थना है।

—आगम योजना अधिकारी, आगम अहिंसा, समता एवं
प्राकृत संस्था पदिमनी मार्ग, उदयपुर (राज.) ३१३००१

■ □ ■

समता का उद्‌गम स्थल

❀ श्री विनोद कोठारी

आचारांग सूत्र का "समियाए धम्मे" पद जब-जब स्मृति पटल पर उभरता है उस-उस समय श्रद्धास्पृद्ध, पुण्याणुबन्धी पुण्य के धनी आचार्य श्री के जीवन से सम्बन्धित घटना प्रसंग सहसा मन में तरंगित हो उठते हैं। समतामय जीवन के प्रेरणास्पद प्रसंग आपके बाल्यकाल युवावस्था एवं संयमी जीवन के साथ-२ गतिमान होते रहे।

शांत क्रांति के अग्रदूत गणेशाचार्य जब संघ अध्यक्ष श्रीमान् कुन्दनसिंह जी खीवेंसरा के बंगले पर विराज रहे थे और स्वास्थ्य सामान्य रूप से चल रहा था सभी दर्शनार्थी शांतचित से आते और संतों के दर्शन कर पुनः गन्तव्य स्थल पर चले जाते, यही क्रम था। एक दिन कमरे के बाहर बरामदें में वर्त्तमान आचार्य–प्रवर अपनी पूज्यनीया मातुश्रु से वार्त्ता कर रहे थे कि एक सज्जन ने बगैर हिचकिचाहट के आपसे निवेदन किया कि आप वार्त्तालाप न करें, आचार्य श्री जी को शांति की आवश्यकता है। आचार्य श्री ने मृदु हास्य स्मित चेहरे से स्नेहा सिक्त से शब्दों उस बात को स्वीकार किया उस समय का व्यवहार जो प्रारम्भ से ही आपकी आत्मा में अनुस्यात था, वह था **'समता'**।

ऐसा ही प्रसंग पौषधशाला भवन का है जब गणेशाचार्य का स्वास्थ्य निरन्तर गिरता जा रहा था कुछेक स्वधर्मी बन्धु रात्रि में वहीं पर सोते थे। प्रातः प्रतिक्रमण के पूर्व आचार्य–प्रवर के दर्शन करने पहुंचे वहां पर वर्तमान आचार्य–प्रवर सेवामें संलग्न थे उस समय उन सज्जन के एव आचार्य–प्रवर के सिर टकराये। अविवेक के लिए आचार्य–प्रवर से श्रावकों को पहले क्षमायाचना करनी चाहिए थी उसके पूर्व ही आचार्य–प्रवर ने क्षमायाचना कर ली।

ये प्रसंग है समता दर्शन के उद्‌गम् के। छोटे–२ प्रसंगों पर सम्यक् प्रकारेण समताभाव बनाये रखना। ऐसे महान् हैं हमारे आचार्य–प्रवर।

—१६ बापना स्ट्रीट, उदयपुर–३१३००१

सच्चे सुख का आधार : समता

❀ श्रीमती शान्ता देवी मेहता

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है । दुःख कोई भी नहीं चाहता । यदि हम गहराई से अध्ययन करें तो हमारे जीवन का प्रत्येक व्यवहार केवल इस एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये ही हो रहा है । परन्तु इतनी दौड़-धूप, भागम भाग, हाय तौबा करने पर भी क्या हमें सुख की प्राप्ति हो रही है, तो इसका एकमात्र उत्तर होगा नहीं । इसका कारण क्या है ? इस पर हमने कभी गहराई से चिन्तन नहीं किया । हम सुख प्राप्ति का उपाय वहां कर रहे हैं, जहां उसका अंश मात्र भी नहीं है ।

मनुष्य परिवार में सुख की खोज करता है और उसके लिये परिवार बढ़ाता चला जाता है । पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री, पौत्र-पौत्री, मित्र, सगे-सम्बन्धी जितना-२ वह परिवार बढाता जाता है, और जिससे वह सुख की अपेक्षा करता है उसी से उसे और अधिक दुख की प्राप्ति होती है । फिर भी वह नहीं समझता है और परिवार, मनुष्य, धन—वैभव, में सुख की खोज के लिये भटकता है, कल्पनातीत दौड़ लगाता है । निन्यानवें का फेरा । हजारपति, लखपति, करोड़पति, अरबपति, झोंपड़ी, मकान, बंगला, महल एक नहीं अनेक । साईकल, स्कूटर, गाड़ी, हवाई जहाज । नगर पालिका का सदस्य, विधायक, सांसद, मंत्री, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति । नहीं और आगे । कहीं सन्तोष नहीं—जीवन के किसी भी क्षत्र में देखिये, मनुष्य की दौड़ जारी है बेतहासा । और इस भौतिक सुख प्राप्ति के उपाय में मनुष्य इतना अन्धा हो जाता है कि उसे पिता, पुत्र, भाई, गुरुजन मित्र आदि कुछ भी दिखाई नहीं देता है, यहां तक कि वह इस स्वार्थ पूर्ति के लिये हत्यायें भी कर देता है । इतना करने पर भी क्या हमें सुख की प्राप्ति हो रही है ? नहीं । जिस क्षेत्र में जितनी अधिक दौड़ हम लगाते हैं उतना ही दुख हमारे पल्ले पड़ता है ।

सुख प्राप्ति का एक मात्र उपाय है समता, सन्तोष । जहां जो है, जैसे है उसमें सन्तोष । आचार्य श्री नानेश ने धर्म की व्याख्या करते हुए हमारे लिये सुख प्राप्ति के केवल दो उपाय बताये हैं । और वे हैं "समता" और "समीक्षण" । ये ही दो मार्ग हैं, जिन पर चल कर हम सच्चे सुख की प्राप्ति कर सकते हैं ।

हमारी व्यवहारिक भाषा में प्रतिदिन हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं । समता धारण करो, सन्तोष रखो, परन्तु व्यवहार में प्रयोग का जब भी

अवसर आता है हम स्वार्थी और असन्तोषी बन जाते हैं और दुख को आमंत्रित करते हैं ।

सच्चे सुख की प्राप्ति के लिये यह समता शब्द क्या है इसे भी थोड़ी गहराई से समझ लेना हमारे लिये आवश्यक है । समता का एक अर्थ है संतोष। हम जहां हैं जैसे हैं, जो भी हमें प्राप्त हो रहा है, उसमें सन्तोष । प्रत्येक मनुष्य को जीवन में जो भी प्राप्त है, वह उसी के द्वारा उपार्जित कर्मों का फल है, अत: मैंने जो कर्म किये हैं उसी के अनुसार मुझे फल की प्राप्ति होगी, इसलिये मेरे लिये न तो स्वयं के प्रति असन्तोष का कारण है और न दूसरे की ओर देखकर दुख के कारण पैदा करना है ।

समता का दूसरा अर्थ है समभाव की प्राप्ति । आत्मिक दृष्टि से संसार का प्रत्येक प्राणी समान हैं । अतः जैसा मुझे अपना जीवन प्यारा है वैसा ही प्रत्येक प्राणी को अपना जीवन प्यारा है । संसार की जो-जो वस्तु और जैसा-२ व्यवहार मुझे प्रिय है वैसा ही व्यवहार मैं प्रत्येक प्राणी के प्रति करूं । मेरे और तेरे का भेद ही जीवन में विषमता पैदा करता है, और प्रत्येक प्राणी को संसार में भटकाता रहता है ।

आचार्य नानेश की इस धर्म व्याख्या के सन्दर्भ में जब हम उनका स्वयं का जीवन देखते हैं तो हमें एक अद्भुत आलोक, एक दिव्य दृष्टि एक शान्त निर्झर प्रवाह के दर्शन होते हैं जो प्रत्येक दर्शनार्थी में एक अलौकिक शान्ति का संचार कर देता है । समता की प्रतिमूर्ति–साधना का प्रतिफल । मैंने अनेक अवसर ऐसे देखें हैं, जब थोड़ा-सा भी क्रोध उत्पन्न हो जाना एक साधक के लिए भी स्वाभाविक है परन्तु आचार्य श्री के चेहरे पर वही शान्ति, वही मुस्कान, वही करूणा का स्रोत और वही प्रेम पूर्ण प्रत्युत्तर । आचार्य श्री का शान्त समतामय आभामंडल हमारे मन में एक असीम सुख और शान्ति का प्रवाह उत्पन्न करता है यही इच्छा होती है कि हम सामने ही बैठे रहें और उस शान्त सुधारस का पान करते रहें । ईश्वर हमें सद्बुद्धि दें कि हम भी उसी समता साधना के मार्ग पर चलकर सच्चे सुख और आनन्द की अनुभूति करें । जिसका अन्तिम छोर है मुक्ति-सिद्धावस्था ।

आचार्य श्री नानेश के ५० वें दीक्षा जयन्ती वर्ष पर उनकी इस अनुपम व्याख्या और भूले भटके राही के लिये राजपथ के निर्माण के प्रति शत–शत वन्दन, अभिनन्दन ।

—चांदनी चौक, रतलाम (म. प्र.)

गीतिका

शान्तिदाता शरणभूत हो तुम !

❀ श्री कमलचन्द लूणिया

समता–सौरभ से सुरभित हो मानस,
भावना हम हृदय में सजायें ।
लक्ष्य से पूर्ण जीवन हो सारा,
सद्‌गुणों के ही स्वर गुन गुनायें ।।टेर।।

आन्तरिक स्रोत बहता अपूरब,
भक्तगण आके कलिमल हैं धोते ।
नित चरण–रज लगा के तुम्हारी,
बीज–भक्ति का अनुपम हैं बोते ।
होती आशालता मुग्धकारी,
हम अमर कल्प पादप हैं पायें ।।

तेरे भक्ति पुरस्सर गुणों को,
हम भला किस तरह से संजोयें ?
देख आभा अलौकिक तुम्हारी,
मन की पीड़ा नहीं नभ को धोवें ।
शान्तिदाता शरण भूत हो तुम,
सौख्य–साम्राज्य मानस में छाये ।।२।।

कैसे हम हो समीक्षण के ध्याता,
जागरण का वने भी उपक्रम ।
जिसकी संयोजना से मिटा दे,
भौतिक वेदना का रहा तम ।
ऐसी शक्ति "कमल" लब्ध होवे,
जन्म–भीति से छुटकारा पायें ।।३।।

—बीकानेर

युग पुरुष आचार्य श्री नानेश

❀ मिट्ठालाल मुरड़िया, 'साहित्यरत्न'

वीर प्रसविनी मेवाड़ भूमि को कौन नहीं जानता ? जिसके कण-कण में साहस, शौर्य और रक्त बिखरा हुआ है, जहां कर्मवती, जवाहर बाई और पन्ना धाय ने अपना बलिदान दिया था, जहां बप्पा रावल, राणा सांगा, राणा लाखा और प्रताप ने देश-प्रेम और देश-भक्ति की बलिदान ज्वाला प्रज्ज्वलित की थी। उसी देश के दांता गांव में जन्म देने वाले पिताश्री मोड़ीलालजी और माताश्री शृंगार बाई को क्या मालूम था कि एक दिन उनका पुत्र लाखों का वन्दनीय बन कर समाज राष्ट्र और धर्म को गौरवान्वित करेगा।

श्रमण संस्कृति के अमर गायक, जैन संस्कृति के यशस्वी सन्त, युग को मोड़ देने वाले प्रतापी आचार्य और इतिहास बनाने वाले कीर्ति पुरुष आचार्य श्री नानालालजी म. सा. की दीक्षा के अर्द्धशताब्दी वर्ष के मंगल प्रसंग पर हम उन्हें उनकी दीर्घ साधना, अनुशासन, दृढ़ता, अदम्य आत्मबल, साहस, सत्यनिष्ठा और समता मूलक जीवन दृष्टि हेतु शत-शत वन्दन करते हैं।

इस युग पुरुष ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य के बल पर चतुर्विध संघ को निर्भीकता का, सिद्धान्तों का, मर्यादाओं का और संकल्पों के साथ लोक जीवन को नया पाठ पढ़ाया।

ये संकटों में अटल रहे, मुसीबतों में दृढ़ रहे—इससे इतिहास बनता गया, कथाएं निर्मित होती गई और साहित्य सर्जन आगे बढ़ता रहा—ऐसे आगमज्ञ, तत्वदर्शी आचार्य ने कभी हिम्मत नहीं हारी, संकटों से जूझते हुए निरन्तर प्रगति पथ पर आगे बढ़ते गये और जन-जीवन को अपने ज्ञान का निर्भीक चिन्तन दिया।

ये इस युग के उन महापुरुषों में से हैं जिनके पीछे लाखों व्यक्ति चलते हैं। साधु मर्यादाओं में अपनी आन, बान और शान के साथ सात आचार्यों की कीर्ति कथा को और गौरवान्वित कर रहे हैं। ये इतिहास के यशस्वी पुरुष हैं, जिनके रोम-रोम में प्रेम, सद्भावना और एकता का भाव भरा हुआ है, जिनके दिल में दया और करुणा का स्रोत बह रहा है।

हिंसक को अहिंसक बनाने वाले, क्रूर से क्रूर को सन्मार्ग देने वाले, उनका जीवन बदलने वाले और जीवन जीने की कला सिखाने वाले युग पुरुष तुम्हें शत-शत वन्दन, शत-शत अभिनन्दन।

ऐसे युग पुरुष, अध्यात्म पुरुष, इतिहास पुरुष, कर्मण्य पुरुष, आचार्य, महात्मा और महामना को उनकी दीक्षा अर्द्धशताब्दी पर वन्दन-अभिनन्दन।

—२०, प्रीमरोज रोड़ बेंगलोर-२५

प्रभावक व्यक्तित्व

❀ श्री गणेशलाल बया

मेरी आयु ८३ वर्ष की होने से स्मरण शक्ति बहुत ही कमजोर हो गई है और ता. २६-११ को बस यात्रा में बस के उलट जाने से मेरे सर में भी बहुत बड़ी चोट आई, लगलग आधा किलो खून निकल गया व २३ टांके आने से बहुत ही कमजोरी आ गई है, इसलिये विशेष स्मरण तो नहीं, पर इतना अवश्य याद है कि मैंने आचार्य श्री श्रीलालजी म. सा., आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा., आचार्य श्री गणेशलालजी म. सा. के दर्शन किये, व्याख्यान सुने व सेवा का लाभ लिया। आवागमन का इतना साधन नहीं होते हुए भी काफी महानुभाव बाहर से सेवा में आते थे, स्थानीय तो आते ही थे। गुजरात आदि में विचरण पर देश के नेता महात्मा गांधी व पं. जवाहरलाल नेहरु आदि भी सेवा में उपस्थित हुए। उन पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा। उस समय आचार्यों ने एलान किया कि आठवां पाट अच्छा चमकेगा। उसी अनुसार आचार्य श्री नानालालजी म. सा. का प्रभाव भी सारे देश में बढ़ रहा है व दीक्षाएं भी ऐतिहासिक हुई हैं व हो रही हैं।

—E-२६, भूपालपुरा, उदयपुर-३१३००१

नानेश-वाणी

❀ यदि विनय नहीं ाया—मूल ही नहीं लगा तो धर्म का वृक्ष पल्लवित, पुष्पित एवं फलित कैसे बनेगा ?

❀ जैसे गृहस्थावस्था में सम्मान प्राप्त करने के लिए व्यक्ति सोने के कड़े प्राप्त करने की कोशिश करता है, वैसे ही मोक्ष के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी सोने के कड़ों की तरह पुण्य के योग की जरूरत पड़ती है।

ध्यान-साधना का वैशिष्ट्य

❀ श्री शान्तिलाल धींग

आचार्य नानेश ध्यान साधना के धनी हैं। जब आप साधना में बैठते हैं, दिव्य ज्योति प्रकाशित रहती है। आपकी ध्यान-साधना अनूठी है। ध्यान-साधना से उठते ही जिस पर प्रथम बार आपकी नजर पड़ जाती है, वह निहाल हो जाता है। कानोड़ चातुर्मास में घटित कुछ प्रसंग इस प्रकार हैं—

१. श्री मोतीलालजी धींग एक दिन ३ बजे ही रात्रि को उठकर सामायिक में बैठ गये। तीन सामायिक एक साथ ले ली। आचार्य भगवन् का पूर्ण श्रद्धा से ध्यान करते गये और आंखों की ज्योति की कामना करने लगे। सामायिक तीनों ही करके उठे तो आंखों में ज्योति बढ़ी। आंखों की ज्योति बढ़ते ही वे सीधे आचार्य भगवन् के दर्शनार्थ गेट के बाहर बैठ गये। बाहर जो सन्त थे, उन्हें उक्त घटना बता दी। आशीर्वाद स्वरूप हाथ का इशारा किया। आशीर्वाद पाते ही आंखों की ज्योति में वृद्धि हो गई। श्री धींग हर्षोल्लास के साथ घर आये और अपने परिजनों को उक्त प्रसंग से अवगत कराया।

२. श्री देवीलालजी भाणावत जिनको वर्षों से चश्मा लगता था और वह भी हाई पावर का। श्री भाणावत के ५ की तपस्या थी। प्रातःकाल उठ आचार्य भगवन् के दरवाजे के बाहर दर्शनार्थ बैठ गये। दर्शन करते ही बिना चश्मे के उनकी आंखों से अच्छा दिखने लग गया। चश्मे का उपयोग हट गया।

३. श्री हेमा रावत पीपलवास का रहने वाला है। वह कई वर्षों से पेट दर्द से पीड़ित था। कई बार देवी-देवता के जा चुका था, अस्पताल की दवाइयां भी ले चुका था मगर फर्क नहीं पड़ा। थोड़ी-२ देर में पेट दर्द शुरू हो जाता था। एक दिन वह कानोड़ में था। सायंकालीन मांगलिक के लिए लोग दौड़-२ कर जा रहे थे। उसने एक सुनार महिला से पूछा—ये सभी लोग कहां जा रहे हैं? सुनार महिला ने बताया—यहां बहुत बड़े सन्त आये हुए हैं। उनका मंगल पाठ सुनने जैन-जैनेतर सभी जा रहे हैं।

मंगल पाठ सभी दुःखों से छुटकारा दिलाता है। तो वह भी मन में भावना लेकर आचार्य भगवन् की मांगलिक सुनने आया। मंगल पाठ सुनता जा रहा था और श्रद्धा से कहता जा रहा था—मेरा पेट ठीक हो जाय। उस समय क्या चमत्कार हुआ ईश्वर ही जाने—वह हेमा रावत यह कहता बाहर निकला कि मेरा पेट दर्द ठीक हो गया है। उसकी आचार्य भगवन् पर इतनी श्रद्धा हो गई कि वह सप्ताह में चार मंगलपाठ सुनने ५ कि.मी. से चलकर आता था।

४. श्री नौरतमलजी डेडिया ब्यावर के पेट में एक दिन इतना दर्द हुआ कि अत्यन्त कष्ट हो रहा था। रात्रि जैसे-तैसे निकाली प्रातःकाल उठते ही उनकी पत्नी, आचार्य भगवन् जंगल जाते हैं, वहां रास्ते में खड़ी हो गई। आचार्य भगवन् के पैरों की धूल लाई और पेट पर फिरा दी। ठीक एक घण्टे में आराम पड़ गया। तुरन्त बाद आचार्य भगवन् के दर्शनार्थ डेडिया सा. पहुंचे।

उक्त घटनाओं से आचार्य भगवन् के प्रति श्रद्धा व भक्ति बढ़ना स्वाभाविक है।

—मंत्री, श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ, कानोड़

नानेश वाणी

❀ यह कैसा मानस हो रहा है कि आज कुत्ते और मोटर की सार-सम्हाल करेंगे किन्तु गाय-भैंस को रखने का विचार नहीं होता। शहरों में बाजार के खाने-पीने पर ज्यादा निर्भर करते हैं जबकि ग्रामों में ऐसा कम होता है। बाजार के खाने-पीने में त्रस जीवों तक की घात का कितना प्रसंग रहता है—यह आप श्रावकों के लिए सोचने की बात है।

❀ आप कुछ भी सोचें या करें किन्तु यह तथ्य है कि स्वयं का विवेक सर्वाधिक शुद्ध और प्रभावशाली होता है।

❀ सन्तति-निरोध भी अंग-विच्छेद के जरिये नहीं, बल्कि ब्रह्मचर्य एवं संयम के जरिये होना चाहिये। स्वाभाविक उपाय छोड़कर कृत्रिम उपाय का सहारा लेना विवेक-हीनता ही कहलायेगी। यह अंग-विच्छेद श्रावक के लिये अतिचार है।

❀ आगम उन वीतराग देवों की उस वाणी का संग्रह है, जो उन्होंने अपने ज्ञान एवं चारित्र की परिपक्वता की अवस्था में सर्वज्ञ व सर्वदर्शी के रूप में संसार के कल्याणार्थ उच्चरित की। इसी पवित्र वाणी में विश्व निर्माण का अमोघ उपाय छिपा हुआ है।

"समता-विभूति"

❀ गोकुलचन्द सूरा

समता विभूति नाना पूज्यवर, सबकी आंखों का तारा ।
घोर विषमता के इस युग में, जनमानस का सबल सहारा ।टेर।

दांता की माटी में जन्मा, पोखरणा कुल शान महा ।
मोडीजी के राज दुलारे, उज्ज्वल सूर्य समान जहां ।
ऐसी अमूल्य निधि को पाकर, धन्य हुई माता शृंगारा ।।१।।

समतामय बना निज जीवन, फिर समता संदेश दिया ।
विषम भाव की कलुष कालिमा, परित्यागत उपदेश दिया ।
समता दर्शन का प्रणेता, अखिल विश्व का दिव्य सितारा ।।२।।

भारत के कोने-कोने में घूम-घूम सद् ज्ञान दिया ।
व्यसनमुक्त बन लाखों जन ने, समता रस का पान किया ।
धर्मपाल प्रतिबोधक कितने भव्य जीवों का जन्म सुधारा ।।३।।

समीक्षण ध्यानी योगीश्वर ध्यान का मर्म बताते हैं ।
जैन जगत की विरल विभूति, समता सबक सिखाते हैं ।
पति पावन विश्व वंदनीय. आप जगत के तारणहारा ।।४।।

जिनशासन की अभिवृद्धि हो, यही भावना भाते हैं ।
दीक्षा जयंती मना हम, फूले नहीं समाते हैं ।
तुम जीयो हजारों साल, साल के दिवस हो पचास हजार ।।५।।

—हैण्डलूम कारपोरेशन, गोहाटी
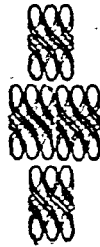
समत्व भावों का प्रत्यक्ष अनुभव

❀ श्रीमती कांता वोरा

भारतीय संस्कृति का मूलाधार उसकी धार्मिक चेतना है। भारत वसुन्धरा को ऋषि मुनियों की अमूल्य निधि प्राप्त है। ऋषि मुनियों ने अपनी तपो साधना से इसे अलोकित किया है। उसी परम्परा के हुक्म संघ के अनुशास्ता अष्टम पट्टधर मुमुक्षों के प्राणाधार आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. अपना प्रमुख स्थान रखते है।

आप यथा नाम तथा गुण के धनी हैं। आपकी अनेक विशेषताओं ने अगणित अज्ञानी (अबोध) जीवों को कल्याण मार्ग पर लगाया है। कठोर तप साधना के साथ विद्वता एवं समता सहिष्णुता के अनुपम समन्वय ने आपके आकर्षक व्यक्तित्व को चुम्बकीय शक्ति के दिव्य-प्रकाश से आलोकित कर दिया, केवल जैन ही नहीं अन्य धर्मावलम्बी भी आपके दर्शन मात्र कर लेता है तो वह आपके प्रति अटूट श्रद्धावान हो जाता है। आप में साम्प्रदायिकता और आग्रह नहीं है। आप सदा समता सिद्धान्त के अनुरूप प्राणीमात्र के साथ समत्वभाव रखते हैं तभी तो अनेक जिज्ञासु एवं विभिन्न धर्मों के अनुयायी भी नतमस्तक होकर आपके सान्निध्य में बैठकर अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त करते हैं एवं परम सन्तुष्ट होते हैं।

आचार्य भगवान के लगभग ११ माह इन्दौर में विराजने पर हमने प्रत्यक्ष देखा कि आपक जीवन में सरलता की सौरभ महक रही है एवं स्वाध्याय और सुध्यान का शीतल समीर बह रहा है। आपका वाह्य व्यक्तित्व जितना नयनाभिराम है उतना ही आभ्यांतर व्यक्तित्व भी। इन्हीं गुणों के कारण सहज हो विषमता समाप्त हो जाती है ऐसे कई उदाहरण हमें प्रत्यक्ष देखने को मिले हैं।

इन्दौर का इन्दु प्रभा कांड समस्त जैन समाज के लिये वड़ा ही कलंकित काण्ड हुआ, उन दिनों में इन्दौर में साधु-साध्वियों के प्रति जनमानस में आशंका के भावों का प्रादुर्भाव हो गया था। ऐसे में इन्दौर में दीक्षा होना वड़ा ही विचारणीय प्रश्न था। आचार्य श्री नानेश के कदम जैसे-जैसे म. प्र. की ओर बढ़ रहे थे, वैसे-वैसे स्वतः ही जनता का मानस वदलने लगा।

मुझे पूना प्रवास में सतीवृन्द का दर्शन करने का सौभाग्य मिला। महासतियांजी म. सा. ने कहा कि आचार्य श्री के सान्निव्य में कई दीक्षायें होती है यदि इस समय में भी दीक्षा प्रसंग हो तो इस माहोल का रंग वदल जावेगा। मैंने कहा—इस समय दीक्षा होना वड़ा कठिन काम लगता है। लेकिन जैसे-जैसे आचार्य श्री इन्दौर के समीप पधारे वातावरण स्वतः ही शांत हो गया, यह सब आपके तप, संयम और साधना का ही प्रतिफल है और इस समय इन्दौर में पांच बहिनों की भागवती दीक्षायें सानन्द सम्पन्न हो गई।

समत्व भाव में रमरण

❀ श्री रतनलाल जैन

आचार्य श्री नानेश एक विशिष्ट आध्यात्मिक योगी हैं, जिनका तप और त्याग देश–विदेश के मानवों को आकर्षित किये बिना नहीं रहता, जिनका आकर्षण अत्यन्त ही अद्भुत एवं चमत्कारी है। भगवान् महावीर की संस्कृति का वे सजगतापूर्वक पालन कर रहे हैं। श्रावकाचार के प्रति वे सजग हैं। निर्ग्रन्थ श्रमरण-संस्कृति के नियमों की वे सूक्ष्मतापूर्वक पालना कर रहे हैं।

जब मार्च, १९८४ में इन्हीं साधना सुमेरू, समता पथ के प्रदाता आचार्य श्री नानेश की नेश्राय में २५ मुमुक्षु आत्माएं भौतिक युग के सुखाभास को छोड़कर आगार धर्म से अरणगार धर्म में प्रवृत्त हो रही थीं, ऐसे समाचार श्रवण किये तो मेरा मन भी उत्सुक हो गया आचार्य श्री नानेश के पावन सान्निध्य पाने को। मन में बड़ी खुशी थी कि आज मुझे विरल विभूति की सेवा का अवसर प्राप्त होने जा रहा है। जब मैं उदयपुर संघ की बस में रतलाम पहुंचा तब के अथाह जनसमूह को देखकर, सोचने लगा कि जैसा सुना था, उससे भी बढ़कर आपका आकर्षण है।

मैंने यह भी प्रत्यक्ष में देखा है कि आचार्य श्री किसी भी परिस्थिति में, किसी भी प्रकार के प्रतिकूल वातावरण में कभी भी समता से दूर नहीं हटते। जब गुरुदेव बम्बई में १९८५ का चातुर्मास सम्पन्न कर पूना की तरफ बढ़ रहे थे, उस समय उधर के व्यक्तियों को मालूम हुआ कि इस महाराष्ट्र प्रान्त में आचार्य श्री जनता को अपनी ओर आकर्षित करने हेतु पधार रहे हैं। यह देख कर कई व्यक्तियों ने आचार्य श्री के सन्मुख आकर महाराष्ट्र में विचरण नहीं करने की बात कही। कई व्यक्ति उत्तेजना में कुछ बोलते तो कई प्रवचन में उटपटांग प्रश्न पूछकर सभा में उत्तेजनापूर्ण वातावरण बनाने का प्रयास करते, लेकिन मैंने आचार्य श्री के चेहरे पर कभी भी प्रतिकूल वातावरण होने पर भी खिन्नता नहीं देखी, बल्कि उस समय में भी मैंने गुरुदेव में अद्भुत समता की विशालता देखी। मुस्कराते हुए हर प्रश्न का उत्तर समता से ओत–प्रोत होकर फरमाते जिससे अगला व्यक्ति पानी की भांति शीतल होकर समता के अनुरूप बन जाता। कितना ही अनुकूल एवं प्रशंसनीय वातावरण हो, आचार्य श्री निर्लिप्त रहकर अपने समताभाव में रमण करते रहते हैं।

जहां भी आपका पदार्पण होता है वहां समता का वातावरण बना रहता है। वम्बई जैसे महानगर में आपके एक नहीं, दो वर्षावास सम्पन्न हुए। इस

अवधि में शायद ही शहर में कभी अशांति हुई हो । यहां तक कि उस अवधि में नगर कभी कर्फ्यू ग्रस्त नहीं हुआ । बल्कि दोनों चातुर्मास तक क्षेत्रीय वातावरण अत्यन्त ही सुन्दर रहा । आचार्य श्री नानेश की समता का यह प्रभाव कहा जा सकता है । लगभग ११ माह के आस-पास का आपका सान्निध्य इन्दौर को भी मिला । उस दरम्यान भी पूरे इन्दौर में समता का वातावरण प्रसारित होता रहा । यद्यपि जब आचार्यश्री का इन्दौरागमन हुआ, उस समय नगर में उत्तेजनात्मक वातावरण था । जैन धर्मानुयायियों पर उस समय एक घटना घटित हो गयी थी जिस कारण जनता में कुछ दूसरा ही वातावरण था, किन्तु आचार्य श्री का आकर्षण कहूं, समता का प्रभाव कहूं कि ऐसे वातावरण में भी आपकी वाणी ने जादू का सा असर दिखाया । आप श्री के पधारते ही नगरवासी शांति का अनुभव करने लगे तथा दीक्षा सम्बन्धित जो समस्या थी, उसका भी आपश्री ने अपनी नेश्राय में पांच मुमुक्षु आत्माओं को भागवती दीक्षा देकर, मार्ग प्रशस्त कर दिया ।

आचार्य श्री जी की समता की मशाल एक मानव-मन में नहीं, अपितु अनेकानेक मानव हृदयों में जल रही है । जब आचार्य भगवन को यह जानकारी मिल जाती है कि अमुक व्यक्तियों के अमुक परिवार में, झगड़ा चल रहा है, तब आप उस परिवार के व्यक्तियों को ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करते हुए समझाते हैं कि वे पूर्व की सारी बातें भूल कर, विवाद को पूज्य श्री के चरणों में समर्पित कर देते हैं और भविष्य में प्रेमपूर्वक रहने को संकल्पित हो जाते हैं ।

ऐसे-२ भी उलझे हुए अनेकानेक प्रसंग देखें हैं जिनका निराकरण बड़ा से बड़ा न्यायाधीश भी नहीं कर सका, वैसे-२ विवादों को आपश्री ने सहज ही में सुलझा कर विषमता में समता का वातावरण व्याप्त कर दिया । और आज वे अपने आराध्य के रूप में आपकी आराधना करते हैं । आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह भी देखने को मिली कि विवाद चाहे किसी भी जाति या व्यक्ति का हो, आप सबको एक ही दृष्टि से देखते हैं । आचार्य-देव समता के पथ प्रदर्शक हैं । समता की राह दिखाने वाले हैं । जो भी एक बार सम्पर्क में आ जाता है, वह आपसे आकर्षित हुए बिना नहीं रहता ।

—उखलाना (टोंक) पो. अलीगढ़, रानपुरा-३०४०२३

वाणी का अद्भुत प्रभाव

❀ श्री रतनलाल जैन

आचार्य श्री नानेश के व्यक्तित्व और वाणी में अद्भुत प्रभाव है। उनके दशन मात्र से राग-द्वेष मिटा कर समतामय जीवन जीने की प्रेरणा मिलती है। कुछ वर्षों पहले आचार्य श्री हमारे क्षेत्र श्यामपुरा (स. मा.) में पधारे। पास ही के इण्डवा गांव में चार पार्टियां चल रही थीं। इनमें परस्पर बोलचाल तक न थी। आचार्य श्री के उपदेश का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनका मन-मुटाव समाप्त हो गया और आज वे आपस में मिल-जुल कर समताभाव से रह रहे हैं। इसी तरह बावई गांव में भी आचार्य श्री ने वहां के सारे मन-मुटाव को अपनी झोली में लेकर सबको समता का उपदेश दिया। आज वहां सभी में शांति का वातावरण है।

—श्यामपुरा (सवाई माधोपुर)

सारा वैर-विरोध शान्त हो गया

❀ श्री मूलचन्द सहलोत

५ जून, १९८९ को निकुम्भ वासियों को आचार्य श्री के सान्निध्य में उनकी जयन्ती मनाने का अवसर प्राप्त हुआ। इस अवसर पर विभिन्न त्याग-प्रत्याख्यानों के साथ १३ व्यक्तियों ने सजोड़े शीलव्रत के नियम स्वीकार किये। आचार्य श्री की अमृतवाणी का ऐसा प्रभाव पड़ा कि सारा वैर-विरोध शांत हो गया। किसी बात को लेकर श्री मूलचन्दजी सहलोत एवं श्री भैरूलालजी सहलोत में कई वर्षों से मन-मुटाव चल रहा था। श्री भंवरलालजी सहलोत व उनके दोनों पुत्रों में आपसी झगड़े का मुकदमा चल रहा था। श्री राजमलजी व वसन्तीलाल जी धींग इन दोनों भाइयों में गहरा मन-मुटाव था। श्री चन्दनमलजी दक किसी बात को लेकर समाज से अलग-थलग थे। आचार्य श्री के ७ दिन यहां विराजने से सब वैर-विरोध शांत होकर स्नेहमय वातावरण बन गया।

—शाखा संयोजक, श्री साधुमार्गी जैन संघ, निकुम्भ (चित्तौड़गढ़)

टूटे दिल जुड़े : बिखरे परिवार मिले

❀ श्री शान्तिलाल मारू

हमारे यहां श्री मांगीलालजी नादेचा एवं उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री मदन-सिंहजी के बीच आपसी विवाद के कारण कोर्ट में केस चल रहा था। पिता-पुत्र में आये दिन लड़ाई-झगड़ा होता रहता था। आचार्य श्री नानेश का २९ अप्रैल, ८९ को हमारे गांव सरवानिया में पदार्पण हुआ। यहां आपके प्रेरणादायक आत्मस्पर्शी दो व्याख्यान हुए। इन व्याख्यानों से प्रेरित-प्रभावित होकर उक्त दोनों पिता-पुत्रों ने आचार्य श्री के सम्मुख अपने मुकदमें उठाने की घोषणा की व आपस में गले मिले। सास-बहू, जिनमें काफी समय से बोल-चाल नहीं थी, वे भी परस्पर गले मिलीं। इससे श्रीसंघ व आस-पास के गांवों में आनन्द की लहर दौड़ गई।

जावद से विहार कर आचार्य श्री ६ कि. की. दूर स्थित बागड़ा (राज.) गांव पधारे, तो वहां भी मेल-मिलाप का अनूठा दृश्य देखने को मिला। इस गांव में खेती के बंटवारे को लेकर दो परिवारों में आपसी झगड़ा चल रहा था। एक-२ पार्टी के ५०-५० हजार रुपये तक खर्च हो चुके थे और दोनों पार्टी के लोग एक-दूसरे की शक्ल तक नहीं देखना चाहते थे। आचार्य श्री नानेश को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने दोनों पार्टियों के लोगों को बुलाकर समझाया। आचार्य श्री के उपदेश का ऐसा प्रभाव पड़ा कि दोनों पार्टियों ने मुकदमे खारिज करवाने की घोषणा कर दी, इससे पूरे गांव में खुशी का वातावरण छा गया और घर-२ मिठाई बांटी गई।

यह है आचार्य श्री की वाणी का अद्भुत प्रभाव। इस प्रकार आचार्य श्री के धर्मोपदेश से न जाने कितने बिखरे परिवार मिले हैं और टूटे दिल जुड़े हैं।

—मंत्री, श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ, सरवानिया (म.प्र.)

स्वर्ण जयंती का स्वर्ण अवसर

❀ श्रीमती रत्ना ओस्तवाल

अध्यात्म की साधना का एक ही काम है कि वह साधक को भीतर के जगत से परिचित करा देती है। अध्यात्म की साधना जैसे-जैसे आगे बढ़ती है वैसे-वैसे अनेकांत का जीवन दर्शन, जो बीज रूप से उपलब्ध हुआ है, विराट वृक्ष बनकर हमारे सामने लहराता है, तब जीवन सौरभ चारों दिशाओं में महकने लग जाती है। यह स्वर्ण अवसर अर्द्ध शताब्दि बन आज हमारी अध्यात्म साधना में उगते सूर्य की भांति चमक रहा है। समता की समस्त धारा को नवीन दिशाबोध देकर जीवन में समाहित करने की प्रेरणा दे रहा है।

आज जनमानस को अनन्त उपकारी महायोगी आचार्यश्री नानेश ने अपने ५० वर्ष की अध्यात्म साधना का निचोड़ "समता संदेश" देकर समता की उच्चतर श्रेणियों पर आरूढ़ होने का परम पद की ओर अग्रसर होने का सुलभ मार्ग बताया है।

साधना का मार्ग वहुत कठिन मार्ग है। यह निश्चित है कि निराश व्यक्ति इसमें आ नहीं सकता और प्रमादी व्यक्ति इसमें सफल नहीं हो सकता इसमें परिश्रम, प्रयत्न और पराक्रम करना पड़ता है। यह भ्रांत धारणा है कि ध्यान करके, आंखें बंद कर बैठ जाना निठल्लापन है। ध्यान साधना व अध्यात्म साधना में जितना पराक्रम चाहिए उतना पराक्रम खेती में लगाने की जरूरत नहीं होती। साधना का मार्ग मीठी बातों का मार्ग नहीं है। वह अर्थहीन बातों का रास्ता नहीं है। साधना की बातें कड़वी होती है, पर वे हैं सार्थक इसीलिये लोगों को वह मार्ग निराशा का मार्ग लगता है।

आचार्य प्रवर ने साधना के मार्ग को अपने संयमी जीवन के पराक्रम से संजोया। साधना का मार्ग है जीवन की शांति का, मन की शांति का। जीवन और चित की शांति धन-वैभव से प्राप्त नहीं होती। आचार्य श्री ने यह सब जाना एवं बाल्य-अवस्था में ही जीवन को पराक्रमी बना दिया, अन्ततः संपूर्ण संयमी जीवन में समता के धरातल पर आचार्य श्री नानेश ने एकाग्रता समीक्षण ध्यान का परिचय जन मानस को दिया। जिससे आज के आधुनिक मानव को अपनी आवश्यकता सीमित करने तथा यथार्थ जीवन जीने की राह दिखाई।

प्रगति का प्रथम चरण है संकल्प और दूसरा चरण है प्रयत्न, मनुष्य की आवश्यकताएं और इच्छाएं असंख्य और अनेक प्रकार की होती है। यदि मनुष्य एक आवश्यकता को पूर्ण करता है तो दूसरी आवश्यकता सामने खड़ी हो जाती है, जीवन पर्यन्त अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। असीमित

आवश्यकताओं के कारण ही नये-नये आविष्कार होते रहे हैं। फलस्वरूप समाज की प्रगति होती है। जब यह प्रगति धर्मोत्थान में होती है तब संकल्प व प्रयत्न रूपी साधन एकजुट हो जाते हैं। इस एकजुटता के परिणाम से धर्म प्राण या धर्म प्रतिपाल का उदय होता है। धीर-वीर-गंभीर आचार्य श्री नानेश भी उसी परिणाम के उदीयमान नक्षत्र हैं।"

मनीषी उन्हें कहा जाता है जो दीपक की तरह जलते हैं और अन्धकार को मिटाकर माहौल को प्रकाशवान बनाते हैं। यह एक प्रकाशस्तम्भ की भांति मूक सेवा है जो भटकते जलयानों को दिशा दिखाने व चट्टानों से टकराने से बचाते हैं। सामाजिक जीवन में हर व्यक्ति के समक्ष ऐसे ही अनेकानेक अवरोध आते रहते हैं उनसे जूझने के लिए पर्याप्त मनोबल चाहिए आत्मबल चाहिये। वह प्रचूर मात्रा में सबके पास हैं। पर जो भी उसे जगा लेता है वह मनीषी की भूमिका निभाते हुए अपनी नाव को स्वयं खेता है तथा अनेकों को पार करा देता है। इसीलिये तो कहते हैं उन्हें "तिनाणम् तारयाणं"। "बुध्धाणम् बोहियाणं।"

प्रगति के इस संकल्प-पूर्ण, प्रयत्नशील, पराक्रमी जीवन में आचार्य श्री नानेश ने समता को **जीवन की दृष्टि** कहा। जैसी दृष्टि होगी वैसा ही आचरण होगा। जैसा मनुष्य देखता है वैसी ही उसकी प्रतिक्रिया होती है। यही आचार्य श्री का मूल संदेश है।

विचारशीलता ही मनुष्य की एक मात्र निधि है, इसी आधार पर उसने उच्च स्थान प्राप्त किया है, इस शक्ति का यदि दुरुपयोग होने लगे तो जितना उत्थान हुआ है, उतना पतन भी संभव है। बुद्धि दुधारी तलवार है वह सामने वाले को भी मार सकती है, और अपने आपको काटने को भी प्रवृत्त हो सकती है। आज यही तो हो रहा है। जहां भेद है वहां विकार है, पतन है, आचार्य प्रवर ने इस भेद को समता संदेश से सुलझाया है। ऐसे आचार्यश्री नानेश की छत्रछाया में जीवन-यापन कर अपने आपको भाग्यशाली कहने में संकोच नहीं करते।

इतनी लंबी साधना का निरंतर संयमित जीवन जीने वाले, अनुशासन प्रिय संघ एवं समाज को नैतिक दिशा-बोध का मार्ग बताकर शुभ कर्म की ओर प्रेरित करने वाले ऐसे महान् प्रणेता की स्वर्ण जयंती, स्वर्ण अवसर बन आज हमारे बीच दर्पण की भांति विद्यमान है, हम सब तप-साधना, संयम-साधना व मन-वचन-काया से समतामय बन स्वर्ण अवसर का लाभ लें, ताकि हम स्वर्ण बन सकें।

—कामठी लाईन, दिल्ली दरवाजा के पास, राजनांदगांव (म.प्र.)

☐

दिलों को जोड़ने आया हूं, तोड़ने नहीं

❀ ओम प्रकाश बरलोटा

जैनाचार्य श्री नानालालजी म. सा. ने सन् १९६५ में रायपुर के सुराना भवन में शानदार चातुर्मास सम्पन्न किया। आपके प्रेरक प्रवचन, अध्यात्म, दर्शन एवं जैन धर्म के विचारों के संबंध में होते थे। प्रवचन में जैन समाज के स्त्री-पुरुष तो भारी संख्या में सम्मिलित होते ही थे किन्तु अन्य धर्मों के मानने वाले लोग भी उपस्थित रहते थे। २५ वर्ष पूर्व उस समय की एक घटना का जिक्र मुझे आज भी याद है। ईद मिलादुनवी के जुलूस में सम्मिलित कुछ लोगों द्वारा सदरबाजार जैन मंदिर के सामने सड़क के आरपार लगा बैनर फाड़ दिया गया। बैनर में जैनाचार्य श्री नानालालजी म. सा. के प्रवचन संबंधी सूचना अंकित थी। उस बैनर को फाड़ते ही समाज के कर्मठ श्रावक श्री भीखमचन्दजी बैद एवं जैन समाज के लोगों में क्षोभ व्याप्त हो गया। जैसे-तैसे बड़ी मुश्किल से जुलूस तो आगे बढ़ गया किन्तु वातावरण थोड़ी ही देर में गंभीर बन गया। रातों-रात यह खबर फैल गयी कि कल मौलाना हामिद अली स्वयं जैनाचार्य नानालालजी म. सा. के पास प्रवचन के समय जावेंगे और क्षमायाचना करेंगे। दूसरे ही दिन चातुर्मास स्थल पर जैनाचार्य एवं जैन समाज के पुरुष एवं महिलायें भारी संख्या में प्रवचन सुनने उपस्थित हुये। सब लोगों की उपस्थिति में आचार्य श्री को संबोधित कर मौलाना हामिदअली ने कहा कि कल बैनर फाड़ने की घटना से आचार्य जी के नाम की तौहीन हुई है एवं जैन समाज के लोगों को क्षोभ हुआ है जिसका मुझे हार्दिक दुःख है। उक्त घटना के प्रति मुस्लिम जमात की ओर से खेद व्यक्त करते हुए उन्होंने जैन समाज से माफी मांगी एवं आशा व्यक्त की कि अब जैन बंधु सद्भावना बनाये रखेंगे। क्षमा याचना करते हुये एक नया बैनर भी भेंट किया।

कांग्रेसी सांसद महन्त लक्ष्मी नारायणदासजी ने कहा कि रायपुर की यह गौरवमयी परम्परा रही है कि विषम परिस्थिति उत्पन्न होने के पश्चात् भी यहां के हिन्दू एवं मुसलमान भाई सद्भावना बनाये रखे। नगर में सदैव सांप्रदायिक सद्भाव कायम रहा है एवं भविष्य में भी यह परम्परा कायम रहेगी।

मौलाना हामिद अली साहब के खेद प्रकाश के उत्तर में जैनाचार्य श्री नानालालजी म. सा. ने कहा कि बैनर फाड़े जाने की उस घटना को मैं अपना अपमान नहीं समझता और बैनर फाड़ने से मेरे नाम की तौहीन होने का प्रश्न नहीं उठता। मैं आपके नगर में आया हूं तथा आप लोग मुझे जैसा रखना चाहेंगे उसी प्रकार से मैं रहूंगा। जैनाचार्य श्री ने कहा मैं लोगों के दिलों को

जोड़ने आया हूं, तोड़ने नहीं । जैन समाज के लोगों से भी मैं कहता हूं कि मेरे सम्मान या तिरस्कार पर ध्यान न दें सद्भाव एवं शांति के प्रयासों में मुझे सहयोग दें। हम सब भाई-भाई हैं, इसे मानकर आप चले आचार्य श्री ने कहा कि रायपुर साम्प्रदायिक सद्भाव का एक आदर्श नगर बने तथा देश के सभी सम्प्रदायों को साम्प्रदायिक एकता कायम रखनी चाहिये। आचार्य श्री ने आशा व्यक्त की कि रायपुर की यह परम्परा सम्पूर्ण छत्तीसगढ़ एवं एक दिन भारत में फैलेगी । आपने उपस्थित लोगों से साम्प्रदायिक सद्भाव बनाये रखने की अपील की ।

जैन समाज की ओर से श्री महावीरचन्दजी धाड़ीवाल ने कहा कि हम आचार्य श्री का आदेश शिरोधार्य करते हैं एवं यह विश्वास दिलाते हैं कि मुस्लिम भाइयों के प्रति हमारे हृदय में कोई दुर्भावना नहीं है । आपने जैन समाज के बंधुओं को सद्भाव बनाये रखने की अपील की और मौलानाजी से भी अपेक्षा की कि वे यह प्रयास करेंगे कि भविष्य में ऐसी घटनायें न हों ।

इस प्रकार सौहार्द एवं शांति पूर्ण वातावरण में जो अप्रिय घटना घटी थी उसका सुखद पटाक्षेप हो गया और चातुर्मास तप और त्याग के माध्यम से सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ । इस चातुर्मास की सबसे बड़ी उपलब्धि समाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता श्री सम्पतराजजी धाड़ीवाल एवं श्रीमती रम्भादेवी धाड़ीवाल की रही जिन्होंने स्वयं जैन धर्म की दीक्षा अंगीकार करली । इनके साथ ही साथ राजनांन्दगांव में और भी भाई-बहनों ने दीक्षा लेकर आचार्य श्री के छत्तीसगढ़ आगमन को सफल बना दिया ।

आचार्य श्री के संयम साधना के ५० वें दीक्षा वर्ष पर यही कामना करते हैं कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र के माध्यम से जनताजनार्दन उत्तरोत्तर प्रगति करें । साथ ही आचार्य श्री के दीर्घायु की भी कामना करते हैं ।

—पेटी लाइन, गोल बाजार, रायपुर (म. प्र)

□

नानेश वाणी

० साधुओं का आचार अपने लिये स्वयं साधुओं ने नहीं बनाया है बल्कि तीर्थंकर देव ने बनाया है । उसका पालन ईमानदारी से यदि साधु नहीं करता है तो वह उस धर्मशासन के प्रतिवफादार नहीं कहलायेगा । शासन को धोखा देना है, वह सारे संसार को धोखा देना है और स्वयं को भी धोखा देना है तो ऐसा द्रोही और दंभी समता की स्थिति में कैसे जा सकता है ?

हे सर्वज्ञ सत् पुरुष

❀ फूलचन्द बोरदिया, 'आनन्द'

हे सर्वज्ञ सत् पुरुष, तव गुण गौरव पुनीत ।
मम अपराध करें क्षमा, मैं पामर अति अविनीत ॥१॥

पाप पंक अनुरक्त मैं, बांध्या कर्म अनन्त ।
शुचिभाव हिये विलोकी, अवलोकी करुणानिकन्त ॥२॥

मन मयूर अति चंचल, अन्तर्द्वन्द्व अनेक ।
अचल अमरत्व पद चहूं, जागे हृदय विवेक ॥३॥

विकल विरत चिन्तन सदा, हे कृपा सिन्धु भगवंत ।
सदा लवलीन तव चरण, दो आशीष करुणाकन्त ॥४॥

तव चरणरज महिमा अति, क्या जानूं मैं मति हीन ।
ज्ञान बिना अधीर हुआ, अति कातर अति दीन ॥५॥

भक्ति भाव उमगे सदा, अविरल आठों धाम ।
अवलम्बन त्रिलोकी आप, सुन्दर सुखद ललाम ॥६॥
शरणागत मैं चरणरज, हे दिव्य ज्योति महान् ।
गुरुवर प्रकाश पुंज हो, आनन्द कन्द सुख धाम ॥७॥

३६१, आनन्द स्थल, भोपालपुरा

卐

समतामय हो सारा देश

❀ देवेन्द्रसिंह अमरावत

संत आविया पामणा, उदयापुर मेवाड़ धरा ।
संता रा है भक्त घणा, उपनगर हो गया पावन खरा ।।

मेवाड़ की राजधानी उदयपुर जो भारतवर्ष में झीलों की नगरी नामक उपनाम से सुप्रसिद्ध है । यहां पर उत्तरी भारत से लेकर दक्षिण भारत पूर्व से पश्चिम भारत के लोग भ्रमण एवं अध्ययन हेतु सुदुर के देशों से भी आवागमन होता रहता है, इससे यहां पर आधुनिकता का रोग आना स्वाभाविक ही है । हड़ताल आदि होना भी आम बात सी हो गई है । वर्तमान के परिपेक्ष्य में तो हर स्थान पर अशांत वातावरण ही मिलेगा, पर अचानक आजकल एक शुद्ध शोर वायुमण्डल में गुंज रहा है, मानों मैं कोई सपना देख रहा हूं । क्योंकि इस आधुनिकता में डुबे हुए उदयपुर में ऐसी आवाज की कभी कल्पना ही नहीं थी । और आवाज है "समतामय हो सारा देश ।" जिस दूषित वातावरण में विषमता की तीव्र लहरें उठ रही हो, वहीं पर अचानक 'समता' शब्द का सुनाई देना सपने की तरह ही आभास हुआ अर्थात् यह मधुर आवाज आश्चर्यजनक प्रतीत हुई । और साथ ही यह भी जिज्ञासा पैदा हुई कि इस अशुद्ध, अशांत वातावरण में यह अति पावन, पवित्र लहर किसके अपार पुण्योदय से उठ रही है ।

इस विषयक जरा गहराई में उतरने पर परिलक्षित हुआ कि यह मधुर शब्द शांत लहर एक महान् विभूति, समीक्षण ध्यानयोगी, समता से परिपूर्ण, धर्मवीर, धर्माचार्य श्री नानेश के मंगलमय पदार्पण का सुपरिणाम है, जिनका हर क्षण शांत साधना में व्यतीत होता है, जिनकी हर श्वांस, प्रत्येक धड़कन विश्व शान्ति के लिए है, जिनका हर चिन्तन–मनन विश्व को शांति सूत्र में बांधने के लिए है ।

जिस महान् आत्मा के शांत चित से निकलने वाली ऊर्जा यहां के वायुमण्डल को पवित्र बनाने में पूर्ण रूप से सफल रही है । ऐसे धर्मवीर के सान्निध्य से उदयपुर की जनता हर्ष विभोर हो रही है ।

मेवाड़ की पावन धरा पर दो प्रकार के वीर रहे हैं, एक कर्मवीर और दूसरा धर्मवीर । कर्मवीरों में महाराणा प्रताप, शक्ति सिंह आदि की विशिष्ट भूमिका रही है, साथ धर्मवीरों का भी यह खजाना ही है जिनमें विशिष्ट हैं [illegible]चार्य, नानेशाचार्य आदि । तो इन्हीं धर्मवीरों में से निकली एक पवित्रात्मा [illegible] को शांति एवं समता का संदेश देती हुई वातावरण को शांत एवं [illegible] करती हुई अग्रसर हो रही है ।

नाना रो कह्यो मने सांचो लागो, यो कहणो स्वीकार बण जा थूं कर्मवीर।
अहिंसा रो धारणो मने चोखो लागो, सत्य धर्म धार बण जा थूं धर्मवीर॥

धर्मवीर श्री नानेश : जिस प्रकार कर्मवीर अपनी मातृभूमि की रक्षार्थ, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु मां से आज्ञा एवं आशीर्वाद लेकर मुकुट पहन, कवच धारण कर हाथ में ढाल–तलवार लिए, घोड़े पर सवार होकर सैनिकों के साथ निकला करते थे। ठीक इसी प्रकार धर्मवीर नानेश क्रोध, मान, माया, लोभ आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु माता शृंगारा से आज्ञा व आशीर्वाद लेकर समता रूपी मुकुट पहन, संयम रूपी कवच धारण कर, अहिंसा रूपी ढाल–तलवार लिए, महाव्रत–रूपी अस्त्रों–शस्त्रों से सजकर मधुरता, सरलता, उदारता, सहनशीलता, क्षमाशीलता आदि गुणों की विशाल सेना लेकर नगर–नगर, घर-घर शांति, समता का सन्देश वितरण हेतु विचरण कर रहे हैं।

हिन्द रत्न, मेवाड़ का लाल, दांता का दाता आज से करीब ७० वर्ष पूर्व अरावली की तराइयों में बसे एक छोटे से ग्राम में अवतरित हुआ। जिनका प्रारम्भिक नाम गोवर्धन था, पर संयोगवश घर में सबसे छोटे होने के कारण उस परिवार जनों ने "नाना" उपनाम रख दिया। उसी नाना ने अपनी अल्प आयु में विराट बुद्धि से संसार को देखा, तो मन कांप उठा। संसार पर कषायों का साम्राज्य देखा। ऐसी स्थिति से संसार को बचाने और उसे शांतमय बनाने हेतु उचित राह की खोज में निकल पड़े। उस उचित मार्ग में आने वाले विराट प्रलोभन, कठिनाइयां, परिस्थितियां भी विचलित नहीं कर पायीं एवं वे लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते गये—

विपत्तियों में भी तुम मुस्कराते रहे, गति रोकने वाले भी चकराते रहे।
कंट कंटीले पथ पर भी तुम, सत्य समता का झण्डा लहराते रहे॥

और एक दिन लक्ष्य के अनुरूप शांत क्रान्ति के जन्मदाता, ज्योतिर्धर गणेशाचार्य को गुरु स्वीकार कर शांति के दातार बन घर, नगर, समाज एवं राष्ट्र में समभाव से समता दान करने हेतु संन्यासी बन चल पड़ा।

आचार्य नानेश अपने शरीर की परवाह किये बिना समभाव को महत्व देते हुए अपनी अमृतवाणी की वर्षा करते जा रहे हैं, जिसके परिणाम स्वरूप श्रद्धालुओं की भीड़ उमड़ती हुई नजर आ रही है और प्रत्येक प्राणी अनुपम शांति को प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्नता की अनुभूति कर रहा है।

ऐसे समता विभूति, शांति के दाता, अहिंसा के अवतार नानेशाचार्य को कोटिशः वन्दना। विश्व के कल्याणार्थ वे दीर्घ जीवी हों तथा उनका संयमीय सुखद सान्निध्य सदा–सदा हमें प्राप्त होता रहे, यही मंगलकामना है।

—प्रवचन स्टेनो, भरतड़ी (मावली)

दोहा नानालाल रा

❀ श्री पृथ्वीसिंह चौहान 'प्रेमी'

संत पधारिया पामणा, भींडर की शुभ भौम ।
कांटा सब सांटा हुआ, भाटा हुआ जू मोम ॥ १ ॥

वाणी नाना संत की, जाण गरजती तोप ।
सम्मुख साधक शूरमा, बख्तर धरे न टोप ॥ २ ॥

वाणी नाना संत की, पाणी सूं पतलीह ।
प्यास बुझावण बह रही, घर-घर गली-गलीह ॥ ३ ॥

संतां रा सत्संग में, मेलो मच्चे महान् ।
गेलो नाना संत को, गहे सो चेलो जाण ॥ ४ ॥

कधी वणज कीधो नहीं, रह्यो न कभी दलाल ।
वैश्य वंश अवतंस है, नाना लाल कमाल ॥ ५ ॥

ब्याज बटो तो लालग्यो, सट्टो गयो सिमट्ट ।
हुण्डी नानालाल सूं, हार गई झट-पट् ॥ ६ ॥

वाणिज रा खत-पानड़ा, होग्या जमा-खरच्च ।
नानालाल कधी नहीं, तोल्यो लूण-मरच्च ॥ ७ ॥

पग-२ में नाना भगत के, जगत रखे अनुराग ।
जोधपुरी साफा झुके, झुके कसूमल पाग ॥ ८ ॥

वाण्यां वांचे पानड़ा, कलम लिख्या तत्काल ।
बिना कलम रा खत लिख्या, वांचे नानालाल ॥ ९ ॥

वणज कियो इस विश्व ने, पूरी तौर-पिछाण ।
आना को आया नहीं, नाना के नुकसाण ॥ १० ॥

तोकी कधी न ताकड़ी, मारी कधी न मूठ ।
तोल कह्यो नाना भगत, जगत सफा है झूठ ॥ ११ ॥

—भीण्डर (राज.)

अनुभूति के झरोखे से

❀ श्री सुरेश धींग

[१]

सन् १९२३ में स्व. आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. का बम्बई के उपनगर घाटकोपर में चातुर्मास हुआ था। स्व. आचार्य श्री एक निर्भीक वक्ता थे। उनकी वाणी में एक अनन्य-सा जादू था। उनके प्रवचन अहिंसा और दया से ओत-प्रोत हुआ करते थे। उस समय विश्व को अहिंसा और सत्य का पाठ पढ़ाने वाली इस भारत भूमि पर जीव हिंसा का घोर तांडव मचा हुआ था। जगह-जगह पर कत्लखाने बने हुए थे। आचाय श्री से मूक प्राणियों का वध नहीं देखा गया। दया से परिव्याप्त उनका हृदय पसीज उठा। उन्होंने श्रमण भगवान महावीर की वाणी 'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं' का उद्घोष कर तत्कालीन जन-मानस का इस ओर ध्यान आकर्षित किया। परिणामस्वरूप घाटकोपर में जीव-दया केन्द्र की स्थापना हुई, जो आज भी विद्यमान है। उसी के समीप राष्ट्रीय राजमार्ग पर उनका चातुर्मास-स्थल था।

वर्तमान आचार्य श्री नानेश का पाद-विहार था घाटकोपर से बोरीवली की ओर। न जाने क्यों आचार्य श्री ने ऐसे रास्ते का चयन किया जो उपर्युक्त दोनों स्थलों को पीछे की ओर छोड़ देता है। राजमार्ग पर पहुंचने पर मैं आचार्य श्री को अंगुली से संकेत करते हुए बताने लगा कि उस नीम के वृक्ष के पाल वाले स्थल पर स्व. आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. ने अपना चातुर्मासकाल व्यतीत किया था और आगे जो स्थान है, वह जीवदया मण्डल का परिसर है जहां मृत्यु के मुख से बचने वाले प्राणी निवास करते हैं। मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि आचार्य श्री ने इंगित स्थान की ओर न तो अपनी दृष्टि ही मोड़ी और न इतना कहने के बावजूद भी उनकी मुख-मुद्रा पर कोई अभिव्यक्ति ही परिलक्षित हुई, अपितु वे अपनी उसी गति से ईर्या समिति का पूर्ण रूप से अनुपालन करते हुए गंतव्य दिशा की ओर बढ़ रहे थे।

सामान्य व्यक्ति के मस्तिष्क में कल्पना होना स्वाभाविक है कि आचार्य श्री नानेश जिस धर्म परम्परा का नेतृत्व कर रहे हैं, उस परम्परा के एक तेजस्वी आचार्य के प्रति उनके हृदय में ममत्व निश्चित रूप से होगा। और विशेषकर उन स्थलों के प्रति भी जिन्हें सर्वसाधारण तीर्थ स्थल की संज्ञा देते हैं। वस्तुतः यह मेरी भूल थी, क्योंकि जड़ और चेतन का स्वरूप समझने वाले, सम्यक् चारित्र का अनुपालन करने वाले उन जड़ वस्तुओं के प्रति क्या ममत्व भाव रखेंगे?

[२]

वम्वई में मुझे आचार्य श्री का स्वल्पकालीन सान्निध्य मिला और सान्निध्य फलावह[भी[रहा । तात्विक-ज्ञान से परिशून्य होने के कारण आचार्य श्री से उसके बारे में चर्चा-विचर्चा करना मेरे लिए असम्भव सा था । आज के नवयुवकों के मन-मस्तिष्क में कुछ ऐसे प्रश्न व जिज्ञासाएं होती हैं जिनका समाधान प्रायः नहीं मिलता है । यही कारण है कि उनका धर्म के प्रति लगाव नहीं वत् है । मैं स्वयं भी उसी वर्ग से सम्बन्धित था । मुझे भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रश्नों के तार्किक उत्तर मिले और आत्मिक जिज्ञासाओं का सचोट समाधान भी ।

आचार्य श्री का कहना है कि "जिस व्यक्ति के मस्तिष्क में प्रश्न व जिज्ञासाएं उत्पन्न नहीं होतीं वह या तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी की श्रेणी में आता है या ज्ञान से बिल्कुल शून्य ।" लेकिन मुझे तो ऐसा लगता है कि मैं इस सत्य का बिल्कुल अपवाद हूं । आचार्य श्री की नम्रता, वाक्पटुता, आचार-विचार की एकरूपता और कठोर संयमी जीवन आदि गुणों को देखकर मेरा मस्तष्क श्रद्धा से पूहित हो, झुक जाता है, मानों आचार्य श्री की समीपता ही मेरे प्रश्नों के उत्तर एवं जिज्ञासाओं का समाधान बन चुकी हो ।

आचार्य श्रीजी के कदम पूना की दिशा में गतिमान थे । बीच में कामसेट नाम का एक छोटा-सा गांव था । जब आचार्य श्री आदि सन्त समुदाय का उपाश्रय में प्रवेश हुआ, उसी समय एक कुत्ता भी वहां आया, शायद सन्त-सान्निध्य की परिकल्पना मन में संजोये हुए । प्रार्थना, व्याख्यान एवं ज्ञान-परिचर्चा उसका दैनिक क्रम-सा बन गया था । व्याख्यान-वाणी श्रवण करने की उसमें अत्यन्त उमंग दृष्टिगत हुई । वहां से अगले गंतव्य की ओर प्रस्थान करने पर वह प्राणी भी विहार में सम्मिलित हो गया ।

वम्बई-पूना राष्ट्रीय राजमार्ग अतिव्यस्त राजमार्ग है । वाहनों की गति-तीव्रता के कारण दुर्घटनाएं भी अधिक होती हैं । आयुष्य की प्रवलता ही कहिये कि वह कुत्ता दो वार दुर्घटना से वच गया, लेकिन तीसरी वार तो वह शिकार हो ही गया । रक्त की धारा नदी के प्रवाह की भांति सड़क के उस किनारे पहुंच गयी । ऐसा लगा जैसे कि उसने मृत्यु का आलिंगन कर लिया हो । फिर भी आचार्य श्री ने उसे मांगलिक श्रवण करायी । उसकी अवस्था बेजान-सी थी । लेकिन न जाने क्यों मांगलिक के समय उसकी आंखें स्वतः ही आचार्य श्री की तरफ हो गयी । उसे सेवा-परिचर्चा की आवश्यकता महसूस हो रही थी । अतः मैं स्वयं और चाकण गांव के दर्शनार्थी उसकी परिचर्या में जुट गये । इसी बीच आचार्य श्री दो-तीन कि. मी. आगे वढ़ चुके थे । उसकी स्थिति में सुधार की झलक न देखकर हम भी उसे सड़क के किनारे छोड़ वड़गांव की ओर चल पड़े ।

करीब आधा कि. मी. की दूरी तय करने के बाद हमने देखा कि कुत्ता उठा और उस जख्मी अवस्था में कामसेट की ओर चल पड़ा ।

उस तिर्यंच पंचेन्द्रिय प्राणी का आचार्य श्री व उनके शिष्य-समुदाय के प्रति कितना प्रगाढ़ प्रेम एवं वात्सल्य था कि उस असक्त व जख्मी अवस्था में वह लगातार सन्त-मुनिराजों को खोज में भटकता रहा और अन्त में खोज ही लिया वह स्थान जहां आचार्य श्री विराजमान थे । हम लोगों को नाम-मात्र भी आशा नहीं थी कि वह प्राणी जीवित बच पायेगा और बचने पर आचार्य श्री के पास पहुंच सकेगा । जिस समय वह वहां पहुंचा उसकी हालत अत्यन्त दयनीय व नाजुक थी । वह आते ही उपाश्रय में सन्तों के निकट सो गया । उसे उस स्थान से उठाने के अनेक प्रयत्न किये गये । लेकिन सभी निष्फल रहे । वह उसी अवस्था में अपने जख्म का दुःख सहन करता रहा और साथ ही सन्त-समागम का अभूत-पूर्व आनन्द लेता रहा । उसके लिए किया गया खाने-पीने का प्रबन्ध भी व्यर्थ रहा । अगले दिन तक उसकी अवस्था में कुछ सुधार हुआ और उसी दिन रात्रि को दर्शनार्थ आये कामसेट के नवयुवक उसको उसकी इच्छा के विपरीत गाड़ी में डालकर ले गये ।

इस घटना से यह आभास होता है कि तिर्यंच अवस्था में भी प्राणी के मन में सन्त-सान्निध्य एवं धर्म की प्रबल भावना उत्पन्न होना सम्भव है, जिसके हम साक्षी हैं ।

—२/१९, तैयब बिल्डिंग, एस. जी. रोड़,
जेकब सर्कल, बम्बई–४०००११

नानेश-वाणी

- समता के भावों के साथ असंभव घटनाएं भी संभव हो जाती हैं ।
- पुरुषार्थ आत्मा को पतन की खाई से उठाकर उत्थान के उच्चतम शिखर तक पहुंचने की क्षमता रखता है, बशर्ते कि यह दृढ़तापूर्वक जारी रहे ।
- विश्व के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान आत्मिक शक्तियों द्वारा ही सम्भव बनता है ।

तीन भव्य झांकियां

❀ श्री रावलचन्द सांखला

जैन जगत् के भव्य भास्कर, समता-सरोवर के राजहंस मेरे परम आराध्य आचार्य श्री नानेश के साधना-शिखर पर आरोहित दिव्य जीवन के शुभ सुमिरन से मेरे परिवार में शान्ति का जो झरना प्रवाहित हुआ, उसकी भव्य झांकी यहां प्रस्तुत है—

(१)

नेत्र-ज्योति जगमगा उठी

मेरे पौत्र का जन्म जनवरी १९७३ में हुआ । वह जन्म से ही नेत्रहीन था । हमने बहुत उपचार किया, किन्तु नेत्र ठीक नहीं हुए । हमारे परिवार लोगों ने एक ही केन्द्र बिन्दु बनाया आचार्य भगवन श्री नानेश को कि आप हमारे पौत्र की आंख के औषधिस्वरूप बनकर नेत्र ज्योति प्रदान करें । परि-र के समस्त लोगों का ध्यान आचार्य भगवन के ऊपर टीका हुआ था । एक मत्कार हुआ उसके जन्म के ठीक एक माह पश्चात् हमारे पौत्र की नेत्र ज्योति वापस मिल गई । हम अपने पौत्र को आचार्य भगवन के दर्शन हेतु ले गये । उस समय आचार्य श्री का चातुर्मास देशनोक में था ।

(२)

निराशा में आशा का दीप जल उठा

घटना यूं बनी । जब मेरा यही पौत्र जो नेत्र से पीड़ित था, पांच वर्ष की आयु में अपने पूरे शरीर में छाले (माता) से पीड़ित था । इतनी अधिक तकलीफ हो गई थी तथा एक समय तो ऐसा आया कि हम उसकी सारी उम्मीदें छोड़कर आचार्य भगवन की आराधना में ले गये थे । ऐसा चमत्कार हुआ एक घन्टे के अन्दर कि हमारे उस पौत्र ने मां कहकर आवाज दी तथा क्रमशः छालों में सुधार हुआ । हम लोग राजेश को लेकर आचार्य भगवन के दर्शन हेतु अजमेर गये ।

(३)

स्वस्थता फिर लौट आई

मैं स्वयं ५ वर्ष की अवधि में ३ बार पेरालिसिस तथा २ बार हार्ट अटैक से पीड़ित हुआ, किन्तु आचार्य भगवन की अनन्य कृपा से मेरे शरीर में अभी कोई तकलीफ नहीं है । मेरी उम्र अभी ७० वर्ष की है एवं धर्मध्यान में लीन हूं ।

मेरी धर्मपत्नी आज से ४ वर्ष पूर्व बहुत शारीरिक तकलीफ से पीड़ित थी। शरीर के समस्त अंग अपना कार्य बन्द कर चुके थे किन्तु आचार्य भगवन आशीर्वाद से आज वह पूर्ण स्वस्थ्य है एवं धर्म में लीन है।

उपर्युक्त सभी चमत्कारिक घटनाओं से प्राप्त प्रेरणा से हमने अपने निजी निवास स्थान पर "समता भवन" का निर्माण सं. २०४२ में कराया है, जिसमें सभी स्वधर्मी नित्यदिन धार्मिक प्रार्थना, सामायिक, प्रतिक्रमण, इत्यादि करते हैं।

—कैलाश नगर, राजनांदगांव-४९१४४१ (म. प्र.)

नानेश वाणी

○ यदि सदा के लिए शांति अनुभव करनी है तो त्याग मार्ग पर चलना होगा, त्याग का मार्ग ही शाश्वत-शान्ति का मार्ग है।

○ ईर्ष्या-राक्षसी होती है, इसका जिसके मन पर असर हो जाता है वह जीवन के स्वरूप को बिल्कुल नहीं देख पाता। वह जीवन का अपव्यय करके उसे नष्ट कर डालता है।

○ शब्द अनन्त विचारों के वाहक हैं। विचार शब्दों पर आरूढ़ होकर बाहर आते हैं। शब्द कैसे ही हों, वाहन का महत्त्व नहीं है, महत्त्व सवार का है।

○ व्यक्ति अपने जीवन पर, अपने यौवन पर, अपनी शक्ति और सम्पन्न शीलता पर एवं अपने शरीर पर अभिमान करता है। मैं ऐसा कर रहा हूं मेरे अन्दर ऐसी शक्ति आ गई है। इस प्रकार अहंवृत्ति जब आत्मा पर छा जाती है तो वह आत्मा अपने विकास को अवरुद्ध कर डालती है।

○ एक सम्यक् दृष्टि महारम्भ और महातृष्णा की क्रिया में नरक का आयुष्य भी बांध सकता है।

मार्गदर्शक चिन्तन

❀ श्री रतन पाटोदी

आचार्य श्री १००८ श्री नानालाल जी म. सा. से व्यक्तिगत चर्चा का सौभाग्य तो मुझे मिला नहीं, हां उनके प्रवचन सुनकर मैंने यह अवश्य महसूस किया है कि आज भारतवर्ष धर्म और राजनीति के जिस संकट काल से गुजर रहा है, उस संकट से देश को मुक्ति दिलाने के लिये आचार्य श्री का चिंतन देशवासियों का मार्गदर्शन कर सकता है ।

महापुरुष एक जैसा सोचते हैं । स्व. दार्शनिक डॉ. राममनोहर लोहिया ने कहा था कि धर्म और राजनीति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । लोहिया का कहना था राजनीति अल्पकालीन धर्म है और धर्म दीर्घकालीन राजनीति है । धर्म का काम है हर अच्छे काम को करना और उसकी प्रशंसा करना तथा राजनीति का काम है हर बुराई से लड़ना और उसकी आलोचना करना । यही धरातल आचार्य श्री १००८ नानालाल जी महाराज साहब के चिन्तन का है । जिसे शान्ति मुनि की पुस्तक आचार्य श्री नानेश: विचार दर्शन में पढ़कर मैंने अनुभव किया है । अधिकांश संतों का चिन्तन "तुझे पराई क्या पड़ी अपनी आप निवेड़ ।" के सिद्धान्त पर जहां आधारित रहता है वहां आचार्य श्री ने भारतीय उपनिषदों के सम्पत्ति के मोह से मुक्त होने के सिद्धान्त और समतावादी समाज की स्थापना के लिये अपने प्रवचनों में मार्गदर्शन देकर मानव मात्र को भौतिकवादी संसार के दुःखों से मुक्त करने के लिये, समतावादियों की अहिंसक सेना की उनकी कल्पना यदि साकार हो जावे तो भारत अपने विश्व गुरु के पूर्व स्थान पर पुनः स्थापित हो सकता है । इस अहिंसक समता सेना के प्रयास से भौतिकता के चक्रव्यूह में फंसी मानवता को सम्पत्ति के मोह से छुटकारा मिलना संभव हो सकेगा ।

आचार्य श्री समता का यह सिद्धान्त वर्तमान में तो उपदेश ही है । इस उपदेश को अभी मानव समाज अपने स्वभाव में नहीं उतार पाया है । प्रसन्नता **इस बात की है कि एक संत आज समता का सपना देख रहे हैं और इस सपने को एक ठोस धरातल देने का प्रयास कर रहे हैं ।** यह सपना साकार होना है तो मानव हिलेगा और वर्त्तमान समाज-व्यवस्था में विस्फोट होगा और इस विस्फोट से निकलेगा नया समाज और नये विचार वाला इन्सा नजो आध्यात्मिक समता, भौतिक समता भाईचारे और शांति के गीत गावेगा ।

मानव आज दोराहे पर खड़ा है । एक तो मानव असुरक्षा की भावना से ग्रसित होकर नित ऐसे नये-नये हथियारों का निर्माण कर रहा है । जिनका यदि उपयोग हुआ तो मनुष्य जाति का विनाश होगा या फिर आचार्य श्री का अहिंसक समता सेना वाला रास्ता जिस पर चलकर स्थायी शांति की स्थापना की जा सकती है । दोनों में से एक रास्ता आज मानव को चुनना है— विनाश या शांति ।

—रंगमहल, सर हुकुमचन्द मार्ग, इन्दौर

तू ताज बना, सरताज बना

❀ श्री समरथमल डागरिया, रायपुर

ओ जैनधर्म के महाऋषियों, ओ दशवैकालिक की मर्यादाओं ।
ओ इतिहासों के स्वर्णिम पृष्ठों, ओ आगम की सब गाथाओं ।
तुम्हीं बताओ, जिनशासन में, किसने बाग लगाया है ?
किसने नव यौवन को फिर से, चिन्तन का पाठ पढ़ाया है ?

किसने संयम-सामायिक की, घर-घर में बीन बजाई है ?
किसने समता दर्शन की सुरसरिता, हर दिल में आज बहाई है ?
नन्हीं सी काया है जिसकी पर, हिमगिरि झुक-झुक जाता है,
कई सदियों में ऐसा ऋषिवर, इस भूतल पर आता है ।

तो संकल्प करो ओ जवा जुझारो, हम उसकी पीड़ा पी जावेंगे,
हम इसके आदर्शों को, घर-घर में जाकर पूजवायेंगे ।
तो लाल किले की इस भूमि पर, मैं आवाज लगाता हूं ।
पंच महाव्रतधारी मुनि का, मैं इतिहास सुनाता हूं ।।

तू ताज बना, सिरताज बना, और चमका चांद–सितारों से ।
जिन्दाबाद है नाना गुरुवर, तू गूंजे जय-जयकारों से ।।

सदियों का सौरभ पाया है, ऐसा गुरुवर मिले कहां ?
अब यदि तुम चुक गये तो, बतलाओ फिर ठौर कहां ?
जिसके जप-तप संयम पर, जिनशासन इठलाता है ?
मन-मन्दिर में झांक के देखो, कौन नजर तुम्हें आता है ?
तू आन बना, अभिमान बना, हम झूमें मस्त नजारों से ।।जिन्दा०।।

धर्मपाल के बढ़ते चरण पर, मानवता हर्षाई है ।
शुभ घड़ी जिनशासन में गुरुवर तुझ से आई है ।।
ओ महावीर के लोह लाडलो, युग ने तुम्हें पुकारा है ।
बलिदानों का स्वर्णिम अवसर, आता नहीं दुबारा है ।।
तू शान बना, वरदान बना और झुक गये शीश हजारों से ।।जिन्दा०।।

दीवानों के दिल उछले हैं, फिर तूफान उठाने को,
मस्तानों की मस्ती झूमी, अपना मार्ग बनाने को ।
वदला-वदला यौवन लगता, उसने ली अंगड़ाई है ।
गुरुदेव ! तुम्हारी वाणी ऊपर मचल उठी तरुणाई है ॥
तू साज बना, आवाज बना, कोई बात करें इन जुझारों से ॥जिन्दा०॥

वहिनों ने उलझी सुलझी बातों के रिश्ते तोड़ दिये,
सावन-फागुन महावर मेंहदी से यूं रिश्ते तोड़ दिये ।
सन्नारी ने काम, क्रोध, मद, लोभ को ठोकर मार दी,
घर-घर में अरे दया धर्म की नींव गहरी गाड़ दी ॥
तू राह बना, उत्साह बना, ये धधक उठी अंगारों से ॥

अभिनन्दन है, वन्दन गुरुवर तेरी बात निभायेंगे,
जिनशासन को तेरे अरमानों की भेंट चढ़ायेंगे ।
ढूंढ़ रहा हूं उन शेरों को, जिनका लहु हुआ नहीं पानी,
जो हरगिज सह नहीं पायेगा, अब मौसम की मनमानी ॥
तू प्राण बना, भगवान बना, बस जियो बरस हजारों से ।
जिन्दावाद है नाना गुरुवर, तू गूंजे जय-जयकारों से ॥

△

नानेश वाणी

० व्रत ग्रहण के प्रारम्भ में एक नई निष्ठा जन्म लेती है और अव्यक्त रूप से ही सही—वह निष्ठा सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को नियंत्रित करती है । अतः व्रत ग्रहण के महत्त्व को समझना चाहिये एवं यथाशक्ति यथा सुविधा कुछ न कुछ व्रत अवश्य ग्रहण करते रहना चाहिये ।

० यदि श्रावक अपने व्रतों पर अडिग रहे और उसका प्रभाव चारों ओर फैले तो इस राष्ट्रीय एवं सामाजिक वातावरण को भी परिवर्तित किया जा सकता है ।

० सम्यक्-दृष्टि और सम्यक्-ज्ञान के वाद सम्यक् आचरण का ही प्रमुख महत्त्व होता है यदि दृष्टि और ज्ञान के साथ आचरण न हो तो वह ज्ञान सार्थक नहीं वनता है ।

० अपने भाग्य की निर्माता स्वयं आत्मा है ।

० सरल होता है, वह औरों में भी सरलता की ही कल्पना रखता है ।

दो गजल

❀ श्री कैलाश पाठक 'अनवर'

(१)

तेरे दर्शन के लिए लोग तरसते हैं यहां,
अश्क आंखों से मोहब्बत के बरसते हैं यहां।

तेरा दर राहें खुदा का है बताता सबको,
भूले भटके सभी इंसान संवरते हैं यहां।

दुनियादारी के झमेलो में फंसा इन्सा है,
ना ना-हां हां में कई लोग बदलते हैं यह ।

इन्सा आता है जमीं पर और चला जाता है,
लाल दड़ी में कई बार निकलते हैं यहां।

एक 'अनवर' ही नहीं भाई रूपावत भी है,
दर्द वाले ही तेरे पास पहुंचते हैं यहां।

(२)

दया सागर तुम्हारा नाम है,
क्षमा करना तुम्हारा काम है।

फर्ज बनता है हर एक इन्सान का,
वन्दना करना सुबह और शाम है।

जहां जाऊं वहां अरिहन्त मिलता,
मिली समता तुम्हारा धाम है।

कोई प्यासा अगर पहुंचा वहां तक,
भरा तुमने उसी का जाम है।

मिटाने कष्ट 'अनवर' के गुरु नानेश,
चलते रहे बनवास में ज्यूं राम है।

—बी/२०७, यशोधर्मनगर, मन्दसौर

卐

विशुद्ध जीवन के प्रतीक

❀ श्री जितेन्द्र कुमार बांठिया

महापुरुषों का जीवन जनता के लिये प्रेरणास्पद व मार्ग दर्शक होता है और हमें आदर्श जीवन बनाने की भव्य प्रेरणा देता हैं। इसलिये जन्म जयन्ती, दीक्षा जयन्ती आदि का आयोजन किया जाता है।

पवित्रता, साधुता और विशुद्ध जीवन के प्रतीक महा यशस्वी परम पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री नानेश के संयम साधना के ५० वर्ष के पुनीत प्रसंग से हम अपने जीवन को रूपान्तरित करें। संयम साधनामय आपके निर्लिप्त जीवन एवं त्याग-वैराग्य से ओत-प्रोत आपकी अमृतमय वाणी से पिछड़े वर्गों के लाखों भाई-बहिनों ने दुर्व्यसनों का त्याग कर सदाचारी संस्कारी जीवन स्वीकार किया है।

आधुनिकता एवं भोग-विलास के वातावरण में पोषित सहस्रों पारिवारिकजनों ने सम्यक् आत्मबोध प्राप्त कर व्रती जीवन अपनाया है, और गत २६ वर्षों में २५१ मुमुक्षु भव्य आत्माओं ने सांसारिक विषयाशक्ति से पूर्णतया विरक्त होकर संयम-साधनामय सर्वव्रती साधुत्व अंगीकार किया है।

आपके जीवन में आकाश की निर्मलता, गंगा की पवित्रता, चन्द्रमा की शीतलता व सूर्य की तेजस्विता के साथ दर्शन होते हैं। आप समता की साकार मूर्ति हैं, अज्ञानान्धकार–विनाश तथा आत्म-प्रकाशक ज्ञान-ज्योति हैं और समता साधनामय उत्कृष्ट साधुत्व के अनुपम आदर्श हैं। आपकी वाणी में ओज है और श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध करने की अपूर्व क्षमता है। आपने शिथिलाचार को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। आपने अपने शिष्य को आचार से जरा भी विमुख होते हुए देखा तो उसे अपनी समुदाय से अलग कर दिया। श्रमण वर्ग के लिए एक आदर्श अनुपम उदाहरण है आपका अनुशासन।

१९ वर्ष की युवा-अवस्था में दीक्षित पूज्य गुरुदेव विगत ५० वर्षों से निर्मल साधना में निरतिचार से सतत संलग्न हैं। आपश्री का जीवन आत्म-उत्थान की अलख जगाने के लिए मस्ताने साधक का जीवन है। संयम, समता, तप, जप, ब्रह्मचर्य से निखरता आपका आत्म-तेज, अलौकिक है। जादू सा मंत्रमुग्ध आकर्षण है इस साधक में आपके दर्शन से अपूर्व शांति की अनुभूति होती है। आपकी शान्त, प्रशांत, सौम्य मुद्रा से अमृत झरता है। आपश्री के सम्पर्क में जो भी आता है वह निहाल हो जाता है। स्वयं को भाग्यशाली मानता है।

श्रद्धेय आचार्य-प्रवर के साधनामय जीवन के इस अर्धशताब्दी के स्वर्णिम अवसर पर प्रशस्त संयमी जीवन से समाज दीर्घकाल तक लाभान्वित होता रहे। आचार्य-प्रवर दीर्घायु हों इसी हार्दिक मंगलकामना के साथ शत-सहस्र वन्दन अभिनन्दन....

—लक्ष्मी बाजार, बाड़मेर (राज.) ३४४००१

नाम संकटहारा रे नाना गुरु म्हारा रे

❀ कुमारी कल्पना बरला

दलित-पतित-शोषित मानवों को संस्कारित कर 'धर्मपाल' के रूप में रूपान्तरित करने वाले, विश्व-विषाक्त विषमता के विनिवारणार्थ समतादर्शन का प्रवर्तन करने वाले, तनावग्रस्त मानवों को तनावमुक्ति एवं आत्मशांति अनुभव करने हेतु समीक्षण ध्यान योग को आविष्कृत करने वाले, श्रुति की अनुभूति के साथ प्रवचनों के माध्यम से जन-जन के मन को आनन्दित करने वाली अभिव्यक्ति देने वाले, जिनशासन नमोमणि आचार्य श्री नानेश को शत्-शत् वंदन।

वर्तमान युग में दूसरों को चलाने की प्रक्रिया अधिक चल रही है, स्वयं के चलने की प्रक्रिया प्रायः निष्क्रिय होती जा रही है। कहा गया है—

"आदर्श तो बहुत बड़े-बड़े बतलाते हैं,
ज्ञान भी बहुत बढ़ा-चढ़ा दिखलाते हैं।
किन्तु आदर्श और ज्ञान के मुखौटे में,
आचरण की तो शून्यता ही बतलाते हैं।"

इस प्रकार के आचारण शून्य व्यक्ति कभी विश्व को सही निर्देशन नहीं दे सकते हैं।

सही एवं प्रभावकारी निर्देशन वही दे सकते हैं जो जैसा कहते हैं, वैसा करते हैं बल्कि स्वयं के जीवन को समता की प्रकर्ष साधना में निमज्जित कर इतना अधिक शांत—प्रशांत बना लेते हैं कि सामने वाला व्यक्ति स्वतः ही प्रभावित हो जाये। आज के युग में ऐसे पुरुष विरले ही सुनने एवं देखने को मिलते हैं। उन विरल विभूतियों में एक विभूति है—

जिनशासन प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिबोधक, समता दर्शन प्रणेता, बालब्रह्मचारी, विद्वद्शिरोमणि **"आचार्य श्री नानेश"**। उनकी सतत् साधना से अनुरंजित अनुभूति पुरस्सर अभिव्यक्ति ने लाखों व्यक्तियों के मनों को आंदोलित किया है। उनका नाम ही ऐसा महान है जिसको लेने मात्र से ही सारे संकट दूर हो जाते हैं। मेरे जीवन में भी ऐसे कई संकट आये जो बहुत ही कष्टदायी थे; परंतु पूज्य गुरुदेव का नाम लेने मात्र से ही वे सारे संकट दूर हो गये।

घटना नवम्बर सन् १९७७ की है, जब हम अपने पिताश्री, जो भारतीय स्टेट बैंक में उच्च पदाधिकारी हैं, के साथ कार से स्थानांतरण होने पर भोपाल से कोरबा जा रहे थे कि रास्ते में दुर्ग के समीप कार का निरीक्षण करने पर विदित हुआ कि कार के कैरियर पर बंधी हुई चार अटैचियों में से एक अटैची गायब है, जिसमें हम सभी भाई-बहिनों के स्कूल-कॉलेज के सर्टिफिकेट्स तथा जेवर आदि रखे हुये थे। हमने गुरुदेव का स्मरण किया कि हे गुरुदेव, आप ही इस संकट में हमारी सहायता कर सकते हैं। हम वापिस देवरी (जहां हमने रात्रि-विश्राम किया था) की ओर मुड़ ही रहे थे कि एक ट्रक हमारे पास आकर रुका। उसके ड्राइवर सरदारजी ने हमसे पूछा कि आप लोग इतने परेशान क्यों

है तथा क्या आपकी कोई वस्तु गुम गई है ? हमारे द्वारा यह कहने पर कि देवरी व दुर्ग के बीच में कहीं हमारी एक अटैची गिर गई है। उन सरदारजी ने ट्रक से वह अटैची निकालकर हमें दी। हमने उनका पूर्ण परिचय पूछा एवं भेंट-स्वरूप कुछ देना चाहा तो उन्होंने बस इतना ही कहा कि यह सब तो "वाहे गुरु" की कृपा थी जो आपको आपका सामान वापिस मिल गया। यह सब गुरुदेव का स्मरण करने का ही प्रतिफल था कि हमारी इतनी बहुमूल्य अटैची हमें कुछ ही समय पश्चात् वापिस प्राप्त हो गई थी।

एक और घटना हमारे साथ मई सन् १९८२ में घटी। जब हम कार द्वारा रायपुर से बम्बई होते हुये गुरुदेव के दर्शनार्थ साबरमती (अहमदाबाद) जा रहे थे। बम्बई में हमारी कार की एक अन्य कार के साथ भयंकर दुर्घटना घट गई। उस समय हमने गुरुदेव का ही स्मरण किया कि हे गुरुदेव! अब आप ही हमारे रक्षक हैं। गुरुदेव का स्मरण करने मात्र से ही इस भयंकर दुर्घटना में भी हम पारिवारिक छह सदस्यों में से किसी को भी किसी भी प्रकार की शारीरिक खरोंच तक नहीं आई थी। दुर्घटना को देखकर सभी प्रत्यक्षदर्शी एवं पुलिस अधिकारी भी चकित रह गये कि इतनी भीषण दुर्घटना में भी सभी सकुशल बच गये। यह सब गुरुदेव के स्मरण का ही प्रताप था।

कुछ ही समय के उपरांत बम्बई के उस व्यस्ततम मार्ग पर एक सज्जन हाथ में लौटा लेकर कार के समीप आये और बिना हमसे बातचीत किये कार को, जो कि जड़वत् हो गई थी, ठीक करने लगे जिसमें वे स्वयं लहूलुहान भी हो गये परन्तु उन्होंने अपने बहते खून की परवाह नहीं करते हुये भी कार को एक तरफ कर दिया। हमने उन सज्जन से उनका परिचय जानना चाहा तथा भेंट स्वरूप कुछ देना चाहा तो उन्होंने लेने से मना कर दिया एवं कुछ ही क्षणों में वे हमारी आंखों से ओझल हो गये। यह सब गुरुदेव के स्मरण का ही चमत्कार रहा कि देवतुल्य सज्जन बम्बई के उस भीड़भाड़ भरे स्थान में भी हमारी सहायता के लिये आये। जिस शहर में जहां लोगों को दूसरों की कोई परवाह तक नहीं रहती, उस शहर में भी हमारी सहायता के लिये किसी सज्जन पुरुष का आना गुरुदेव का चमत्कार नहीं तो और क्या हो सकता है ?

ऐसे कई संकट मेरे जीवन में आये और गुरुदेव के स्मरण मात्र से ही दूर हो गये। परिवार जो धर्म के बारे में ज्यादा नहीं जानता था, पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में आने के बाद ही धर्म की ओर उन्मुख हुआ है। यह उनके समतामयी जीवन-साधना का ही प्रभाव है। धन्य है ऐसे महान् तपस्वी, तेजस्वी गुरुदेव को जिन्होंने हमारे परिवार को शांति का मार्ग बतलाया है।

"शांति की खोज में भटक रही थी मैं जहां तहां।
पर देखती हूं नानेश तुझको, तो मिल जाती है शांति वहां॥"

—६ कंचन बिल्डिंग, १०५, इस्ट हाइकोर्ट रोड, रामदासपैट, नागपुर-४४००१०

अप्रमत्त संयमी जीवन

❀ श्री महेन्द्र मिन्नी

संयम की देदीप्यमान मशाल आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म. सा. की विशुद्ध उज्ज्वल परम्परा में आचार्य श्री नानेश ऐसे प्रथम आचार्य हैं जिनके दो पुनीत प्रसंग दीक्षा अर्धशताब्दी एवं आचार्य पद के २५ वर्ष पूर्ण होने जा रहें हैं। यह निश्चित ही मणि-कंचन संयोग है।

समुत्कृष्ट चारित्र के धनी आपश्री की जीवन चर्या से स्पष्ट झलकता है कि आपका एक क्षण एक पल कभी व्यर्थ नहीं जाता। दिन हो या रात, अन्धकार हो या प्रकाश, जीवन-साधना की कोई न कोई क्रिया अनवरत गतिशील बनी ही रहती हैं। चिन्तन-मनन, ध्यान-स्वाध्याय, लेखन-अध्यापन, जप-तप के रूप में आपका समय सार्थक बना रहता है।

आगमवाणी में "समयं गोयम मा पमायए' के रूप में जैसा प्रमादरहित जीवन बिताने का उल्लेख है, आप दृढ़ संकल्प के साथ उसका अनुसरण करते हैं।

आपश्री के जीवन में बड़ी-२ विशेषताएं है। समय का मूल्यांकन आगम का सिद्धान्त है कि "काले-काल समायरे" यानी समय का काम समय पर ही करना। आप पूर्ण दृढ़ता और तत्परता से इसका अनुपालन करते हैं और कराते हैं। आपके जीवन का हर काय समय पर ही होता है। कब कौनसा कार्य करना है, घड़ी की तरह कार्य सहज सम्पादित होते रहते हैं। कैसी भी विकट परिस्थिति क्यों न हो, चर्या दोषरहित होती है।

आपका आत्मबल, मनोबल अत्यन्त उच्च व दृढ़ीभूत है। गम्भीर से घम्भीर परिस्थिति होने पर भी आप विचलित नहीं होते, मुख-मुद्रा पर चिन्ता की स्वल्प रेखा तक दृष्टिगोचर नहीं होती। ब्रह्म तेज से चमकता मुखमण्डल, निर्विकार सुलोचन, शान्त–प्रशान्त प्रखर प्रतिभा सम्पन्न आप जैसे महायोगी को देखकर जन–जन के मानस में अपूर्व आन्तरिक सुखद अनुभूति का संचार हो जाता है।

आपश्री के पवित्र सान्निध्य में विकथा और प्रमाद भरे आचरण को कतई स्थान नहीं है। निरन्तर आध्यात्मिक वातावरण से वायुमण्डल पावन और पुनीत बना रहा है। आपका जीवन परम सादा, अन्तःकरण निर्मल एवं विचार परमोच्च हैं। संयम साधना की आराधना में आप पूर्ण सजग एवं सावधान रहते हैं। अधीनस्थ सन्तवृन्द के लिए आप सर्वस्व हैं।

आपश्री सन्त-सतीवृन्द की हर गतिविधि पर पूर्ण ध्यान रखते हैं। शिथिलाचार को आप कभी प्रोत्साहन नहीं देते। आपश्री की सुदृढ़ धारणा है कि अनुशासन-मर्यादा संघ संरक्षण-संवर्धन के प्रमुख अंग है।

आपश्री का जीवन बड़ा ही सधा हुआ, त्याग-वैराग्यमय एवं अप्रमत्त। आप निरन्तर आत्म-साधना में संलग्न रहते हैं। लम्बे समय तक आराम नहीं करते। रात में ब्रह्ममूर्त में शीघ्र शय्या त्यागकर ध्यान, चिन्तन–मनन-स्वाध्याय में तल्लीन रहते हैं।

अपनी प्रशंसा से दूर, प्रवचन सभा में या अन्य समय में जब कभी आपकी स्तुति की जाती है व प्रशंसात्मक भाषण होते हैं तो आप आंख बन्द कर लेते हैं, ध्यान में मग्न हो जाते हैं ध्यान आपश्री को बहुत प्रिय है। आप चहल-पहल, धूमधाम व दिखावा बिल्कुल पसन्द नहीं करते। आपश्री को एकान्त प्रिय है। आपको आगमों का गहन एवं विशाल अध्ययन है। संस्कृत व प्राकृत के अनुपम महापण्डित होते हुए भी आप नित नया अध्ययन करते रहते हैं। आचार-विचार की एकरूपता जैसा सामंजस्य आपके जीवन में आपश्री की उल्लेखनीय विशेषता है कि प्रवचन–शैली, शास्त्रीय ज्ञान, एक-एक शब्द तोलकर बोलने का अभ्यास तथा स्मरण-शक्ति बहुत गजब की है।

आत्मानुशासन में आचार्य-प्रवर की नेतृत्व शक्ति अद्भुत है। आपकी संयम–साधना के ५० वर्ष पूरे हो रहे हैं। आपके प्रशस्त संयमी जीवन से हम प्रेरणाएं ग्रहण करें। परम पूज्य गुरुदेव दीर्घायु हों। हार्दिक मंगलकामनाओं के साथ शत-शत अभिनन्दन–वन्दन।

—शाखा संयोजक, नई लाईन, गंगाशहर–३३४४०१

□

नानेश वाणी

० अध्ययन, अभ्यास, चिन्तन, पृच्छा और शंका समाधान का क्रम आप नियमित बना सके तो अपने दर्शन को विशुद्ध बना सकने में काफी सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

० तीर्थंकर अपने शरीर में रहते हुए सारी क्रियाएं इरादे से करते हैं—वे अपने आप नहीं हो जाती है। इसी मान्यता में उनकी आत्मा का गौरव समाया हुआ है।

० दर्शन शुद्धि समूचे आत्म-विकास का मूल है।

भरत मिलाप : एक संस्मरण

❀ श्री बी. के. मेहता

परम पूज्य बाल ब्रह्मचारी, समता-विभूति, समीक्षण ध्यानयोगी, धर्मपाल प्रतिबोधक आचार्य श्री नानालालजी म. सा., रतलाम चातुर्मास के पश्चात् ग्रामानुग्राम विहार करते हुए राजस्थान की ओर प्रस्थान कर रहे थे। प्रवास के दौरान, मन्दसौर के निकट ग्राम दलौदा में, अंचल के हजारों श्रद्धालु, पूज्यश्री के दर्शन व प्रवचन का लाभ लेने के लिए एकत्रित हो गये।

समाज द्वारा दलौदा रेल्वे स्टेशन के निकट श्री भण्डारीजी के मकान के पास धर्मसभा का आयोजन किया गया। प्रसंग, दिनांक २ जनवरी ८६, प्रातः पूज्य श्री के व्याख्यान के अवसर का है। पौष बदी दशमी का यह दिन भगवान श्री पार्श्वनाथ का जन्मदिन था। दलौदा का बच्चा-बच्चा अपने आपको कृत-कृत्य महसूस कर रहा था, आचार्य श्री संत-मण्डली सहित पाट पर विराजमान हुए। प्रातःकालीन शांत वातावरण, निर्मल आकाश एवं भानुदय की स्वर्ण रश्मि पाकर ओस रूपी मोतियों से शृंगारित वसुन्धरा मानों स्वयं आचार्य श्री के स्वागत के लिए आतुर प्रतीत हो रही थी।

यह तो सर्व-विदित है कि लब्धप्रतिष्ठ आचार्यश्री ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा का विनियोजन सदैव समाज में नैतिक, चारित्रिक तथा आध्यात्मिक अभ्युत्थान की चेतना के संचार के लिए किया है। जीवन मूल्यों के प्रति आस्था निर्मित करते हुए आपने मानवता को गौरवान्वित किया है। उत्कृष्ट आचार-पालन के परिणामस्वरूप, त्याग-मूर्ति के रूप में पूज्यश्री के अमृत-वचनो का प्रभाव मन्त्र की भांति होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण, इस धर्मसभा में उपस्थित सैकड़ों धर्मप्रेमियों को, देखने, सुनने व अनुभव करने पर, स्वमेव ही मिला।

दलौदा ग्राम निवासी श्री मूलचन्दजी भण्डारी निष्ठावान, विवेकशील, श्रद्धालु श्रावक हैं। इनके अग्रज श्री माणकलालजी एडवोकेट, जावरा के प्रबुद्ध-प्रतिष्ठित नागरिक हैं। पूर्वभव के कर्म-दोष को ही कारण मानें, अन्यथा दोनों भाइयों में विरोध का कभी कोई कारण नहीं रहा है, फिर भी विगत आठ-दस वर्षों से, दोनों में वैमनस्य चरम स्थिति पर पहुंच गया था। एक दूसरे के मध्य व्यवहार तो दूर वार्तालाप भी न था। परिवार, जाति, समाज में मंगल या शोक के कई प्रसंगों पर स्वजनों तथा रिश्तेदारों ने इस खाई को पाटने एवं दो सगे भाइयों में पुनः मेलजोल कराने के अनेक बार प्रयास किए, परन्तु वे सब निष्फल ही रहे। दूरी निरन्तर बढ़ती ही गई थी।

संयोग से आचार्य श्री की इस धर्मसभा में दोनों भाई उपस्थित थे।

पूज्यश्री ने सदैव की भांति धर्म के मर्म की विवेचना करते हुए, पारिवारिक तथा सामाजिक मर्यादाओं का पालन एवं नैतिक उत्थान के लिए राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने की आवश्यकता का मार्मिक रूप में प्रतिपादन किया। मन्त्र-मुग्ध श्रोता गुरुदेव के वचनामृतों का पान करते हुए भाव-विभोर थे। व्याख्यान समाप्त करते हुए गुरुदेव ने श्री मूलचन्दजी भण्डारी को संबोधित किया। वे करवद्ध गुरुदेव के सम्मुख खड़े हो गये। पीछे श्री माणकलालजी वकील वैठे थे, आचार्य श्री ने जैसे ही उनकी ओर दृष्टि की, वे उठकर श्री चरणों के निकट आ गये। चमत्कार कहें, मन्त्र प्रभाव या दिव्य-दृष्टि का आदेश, सारे विगत कटु-प्रसंगों को विस्मृत कर दोनों भाई एक दूसरे के गले लग गए। कोई शिकवा नहीं, कोई शिकायत नहीं, कोई मान-अपमान की चर्चा नहीं, बस अश्रुधाराएं बह निकलीं। उपस्थित जन-समुदाय भी भाव-विह्वल हो गया। यह नहीं, दोनों परिवार की महिलाएं भी इस अवसर पर एक-दूसरे के गले लग गईं। प्रेम-सरिता में सारी कलुष-कटुता वह गई। सभी ने दृश्य-काव्य के रूप में इस अभिनव 'भरत-मिलाप' का प्रसंग देखा, उसके साक्षी बने। आचार्यश्री ने इसी प्रकार सुवासरा, सीतामऊ आदि अनेक गांवों में बिछुड़े हुए अनेक परिवारों को पुनः मिलाकर असामान्य उपकार किया है।

इन्हीं दिनों दलौदा में एक और चमत्कार देखने को मिला। अहमदावाद निवासी श्री कमलचन्दजी सा. बच्छावत (मैसर्स केशरीचन्द कमलचन्द वच्छावत, कलकत्ता), आस-पास के क्षेत्र में समर्पण भाव से आचार्य श्री की सेवा में रहे। अनायास उन्हें दलौदा में "ब्रेन-हेमरेज" हो गया। अति करूण दृश्य था, तत्काल मन्दसौर स्थित धर्मनिष्ठ सुश्रावक श्री मूलचन्दजी पामेचा के सुपुत्र समाजसेवी, कुशल डॉ. सागरमलजी पामेचा के अस्पताल में उन्हें भरती किया। पूज्य श्री के आशीर्वाद का पुण्य-प्रताप ही समझिए कि उनका यह असाध्य रोग भी केवल चार-पांच दिन में ही ठीक हो गया, जवकि भारतवर्ष आज भी इस वीमारी से पीड़ित, मुश्किल से एक प्रतिशत मरीज भी जीवित नहीं रह पाते हैं।

युग-युग से धर्मोपदेश होते रहे हैं, परन्तु सच तो यह है कि फिर भी मनुष्य, मनुष्यत्व को प्राप्त नहीं सका है। उपदेश तभी मन्त्र वनते हैं, जब उपदेशक की वाणी से उत्कृष्ट आचार व संयम की स्वस्फूर्तकारिणी शक्ति विद्यमान हो। आचार्य श्री तो अपने जीवन में हर पल-क्षण उपलब्धियों के वन्दनवार सजाए जा रहे हैं। शत-शत प्रसंगों में यह एक अनुभूति का सुयोग है, जिसका सौभाग्य से मैं प्रत्यक्षदर्शी रहा हूं।

श्री चरणों में श्रद्धायुक्त शत-शत नमन।

—अधीक्षण मन्त्री, मध्यप्रदेश विद्युत् मण्डल, मन्दसौर

अमृत भरी वाणी

❁ श्री बाबूलाल गणधर चोपड़ा

विराट विश्व में संत महापुरुषों का दिव्य भव्य जीवन जनता के लिये अनुकरणीय व मार्ग दर्शक रहा है। जैनागम साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने पर विदित हो जाता है कि संत स्वयं तो लिखते ही हैं, साथ ही अपने ज्योतिमय जीवन से, सद् प्रेरणाओं से अनेक राहगिरों को सम्यक् पथ-दर्शन देकर उनका कल्याण भी करते हैं।

अनंतानंत श्रद्धा के केन्द्र परम पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री नानेश का जीवन इसी तरह ज्योतिमान है। आचार-विचार, त्याग-वैराग्य, ज्ञान-ध्यान का पावन संगम आपके तेजस्वी व्यक्तित्व में स्पष्ट परिलक्षित होता है। आपकी साधना आत्मनिष्ठ साधना है। आपश्री के वचनों में सहिष्णुता, मधुरता, सरलता तथा समता है। आप व्याख्यान-वाचस्पति हैं, प्रवचन-प्रभाकर हैं। आपकी वाणी में सूक्ष्मता, रोचकता एवं प्रभावकता का त्रिवेणी संगम है।

एक आध्यात्मिक प्रवचनकर्त्ता में जिन मौलिक विशेषताओं का समायोजन अपेक्षित होता है, वे सभी विशेषताएं आचार्य देव की नैसर्गिक सम्पदा हैं। आपकी प्रवचन शैली में न मालूम ऐसा क्या जादू भरा आकर्षण है कि हर समय हजारों की भीड़ लगी रहती है। आपकी बौद्धिक प्रतिभा अद्भुत है। विलक्षण शैली तथा विस्मयकारी प्रवचनों से हजारों-हजार लोगों को आत्म-विकास के महापथ पर बढ़ने की प्रेरणा मिलती है। अनुगूंजित है आपके प्रवचनों में अन्तर-चिन्तन का संगीत।

परम पूज्य गुरुदेव एक कुशल प्रवचनकार के रूप में विख्यात हैं। आपकी वाणी मंत्र की तरह अद्भुत चमत्कार पूर्ण है। आपके प्रवचन की विशेषता है कि सभा-चातुर्य श्रोताओं में किस तत्त्व-विवेचना की जिज्ञासा है तथा उनकी आध्यात्मिक बुभुक्षा कौन-सी खुराक चाहती है, उसे आप जन-समूह पर दृष्टिपात करते ही भांप लेते हैं। उपस्थित हजारों श्रोताओं में सबको अपनी मनचाही बात मिल जाती है। आपकी प्रवचन सभा में प्रमुख श्रोता धर्म-श्रद्धालु, तत्व-जिज्ञासु, विद्वान् तथा सामान्यजन होते हैं। सबको अपनी समस्या का समाधान मिल जाता है। जहां भावों की गहराई चाहने वाले विचारों की गहराई में डुबकी लगाते हुये तल का पता नहीं पाते, वहीं सांसारिक ज्वाला की पीड़ा से पीड़ितजन प्रवचन के

एक-२ शब्द को अमृत की तरह पान कर सुखद अनुभूति करते हैं। आचार्य प्रवर की भाषा पतित-पावनी गंगा की तरह स्वच्छ प्रवाह वाली एवं आत्म-शुद्धि कारक है। आपकी वाणी में ओज, माधुर्य, प्रसाद तीनों गुण एक साथ पाये जाते हैं। सत्यानुगामिनी, मधुर वाणी जन-२ को परम सुहानी प्रतीत होती है। उसमें समता दर्शन की झलक, नैतिक, आध्यात्मिक रस तथा अमृतधारा प्रवाहित होती रहती है।। आप आगमिक धरातल पर गंभीरतम सिद्धांत को सरल, सुगम एवं सुबोध शैली में रूपकों एवं लघुकथा के माध्यम से जिज्ञासु मुमुक्षु को हृदयंगम कराते हैं। श्रोतागण आत्म विभोर हो जाते हैं। ज्ञान, तप, संयम, रूप, सौरभ से जनमानस की बगिया सुरभित हो उठती है। महान् ज्ञान-साधना की परम पावन ज्योति आपके हृदय में आलोकित है। आप युग-२ तक भू-मण्डल पर विचरण कर भव्य जीवों को मार्ग-दर्शन एवं पुनीत पथ पर चलने के लिये प्रेरित करते रहें। यही भावना है।

—रेल्वे क्रोसिंग नं. २, बालोतरा–३४४०२२

□

समत्व साधना के मूर्तिमन्त स्वरूप

❀ श्री गुलाव चौपड़ा

जय गुरु नाना का जीवन—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, संयम तप, समता, क्षमा, रूप, आध्यात्मिक जगत की एक असाधारण विभूति, प्रतिक्षण ध्यान का साक्षात् परम दिव्य अलौकिक जगमगाता जीवन है। आप जन-जन में धर्म की निर्मल गंगा का स्रोत वहाकर उनके हृदय-मानस को परम पवित्र, स्वच्छ बना रहे हैं।

ऐसा कौनसा व्यक्ति जैन समाज में है जो आपके नाम—विशुद्ध संयमी जीवन, ज्ञान में विशालता, अनुशासन में कठोरता, वाणी में मधुरता, ब्रह्मचर्य में [illegible], आगम सापेक्ष विशुद्ध निर्ग्रन्थ परम्परा में अचल सुमेरु पर्वत के समान [illegible] में एवं संयम में दृढ़-सागर के समान गंभीर प्रखर प्रतिभा से सम्पन्न जैन एवं जैनेतर तत्वज्ञान के निष्णात सर्वतोमुखी अध्येता, व्याख्याता समता विभूति से परिचित न हो।

आप तप, त्याग तथा सद्ज्ञान की प्रखर ज्योति-किरणों से भारत के विभिन्न प्रान्तों को प्रकाशित एवं जनमानस की सुषुप्त चेतना को जाग्रत कर समता सिद्धान्त का शंखनाद कर रहे हैं। आचार्य श्री का जीवन निसर्गत: समग्रत: समत भिमुख जीवन है। आपके जीवन की प्रत्येक क्रियान्विति, चिन्तन, ध्यानयोग, प्रयोगवाणी और कर्म, आचार और व्यवहार, आहार-विहार, साधना और संकल्प पूर्णत: समतानुप्राणित हैं। आपका साहित्य समत्व का विवेचन है और सान्निध्य समत्वानगुंजित ! अपनी साधना की अतल गहराई से आप समत्व का रस प्रवाहित करते हैं। आपका समग्र जीवन समता-साधना की एक जीवन्त प्रयोगशाला है। आप चेतनानुलक्षी समत्व साधना के मूर्तिमन्त स्वरूप हैं।

आप चरम तीर्थंकर देवाधिदेव प्रभु महावीर के धर्म शासन की भव्य प्रभावना कर रहे हैं। आचार्य प्रवर के सुखद सान्निध्य में शिक्षा दीक्षा चातुर्मास विहार और प्रायश्चित आदि होते हैं। आपकी आज्ञा ही सर्वोपरि है। मुनि वृन्द एवं सती वृन्द तदनुरूप आचरण में संलग्न हैं। आपश्री की प्रेरणा से चतुर्विध संघ निरन्तर प्रगति के पथ पर गतिशील एवं आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर है।

आपका व्यक्तित्व बड़ा ही अद्भुत एवं प्रभावशाली है। जो व्यक्ति एक बार आपके परिचय में या पावन श्री चरणों में आ गया, वह सदा के लिये आपका अनुयायी बन गया। आपश्री अप्रमत्त एवं निर्विकार भावना से सतत संयम की आराधना में संलग्न रहते हैं।

ऐसे महामानव का पथ-प्रदर्शन सुदीर्घकाल तक जन-जन को मिलता रहे। जिनशासन प्रद्योतक साधना-गगन के प्रकाशमान दिव्य नक्षत्र, ऐसे महिमा मंडित आचार्य प्रवर को युग चेतना के शतशत वन्दन।

—सचिव, मारवाड़ जैन समता युवा संघ
जिनजिनयाला (जोधपुर) राजस्थान

नानेश-वाणी

* अवहेलना का भाव है तव तक अहंकार है और जब अहंकार पूरे तौर पर गल जाता है तब आज्ञानुवर्तिता आती है।
* शास्त्रीय आधार लिए वगैर इस पंचमकाल में दूसरा कोई प्रामाणिक एवं सशक्त आधार नहीं है, जिससे उच्चतम विकास का सही मार्ग ढूंढ़ा जा सके।
* भोजन की आवश्यकता से भी आवश्यक (प्रतिक्रमण) की आवश्यकता ऊपर है।

पैर की वेदना छूमन्तर हो गई

❀ श्री भीखमचन्द गोलच्छा

कार्तिक कृष्णा तृतीया संवत् २०४० को मेरे पैर में जबरदस्त दर्द उठा, और इतनी पीड़ा हुई कि खाना-पीना हराम हो गया। आंखों में नींद नहीं। किसी से बोलना या सुनना मन को बिलकुल सुहाता नहीं था।

डॉक्टर को बताया लेकिन यहां पर आराम नहीं मिलने से पारिवारिक सदस्यों ने मुझे तुरन्त जोधपुर अस्पताल में भर्ती कराया। ४८ घन्टों में तीन हजार रुपये पानी की तरह बहाये लेकिन कुछ फायदा नहीं हुआ।

पुनः घर पर आये। इन्जैक्सन लगाते रहे लेकिन शान्ति नहीं मिली। एक दिन के अन्दर दस लाख वाहके, पेन्सिलिन ७ इन्जैक्सन लगाये लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला।

यहां पर चातुर्मास में पण्डितरत्न श्री पारसमुनिजी म. सा. और तरूण तपस्वी सेवामूर्ति पदममुनिजी म. सा. थे। मेरा मुनिवरों से सम्पर्क हुआ। मुनिवरों के मुखारविन्द से पूज्य आचार्य गुरुदेव नानेश के अलौकिक विशिष्ट अद्भुत साधना के बारे में जानकारी प्राप्त हुई। मुनिश्री की प्रेरणा पूज्य गुरुदेव के दर्शन के लिये हुई। बाड़मेर से अहमदाबाद पहुंचे। बड़े डॉक्टर को दिखाया तो उन्होंने पैर काटने की सलाह दी। पैर की हड्डी खराब हो गई अतः पूरा पैर काटना पड़ेगा। एक्स-रे लिया गया। दवाई भी दी। तीन दिन के बाद पैर कटने वाला था। मन में बहुत अशान्ति हो गई थी।

सहसा जय गुरु नाना पूज्य गुरुदेव का स्मरण हो आया, तुरन्त भाव नगर पहुंचा। वहां पर हजारों आदमी पूज्य गुरुदेव अमृतमय वाणी सुन रहे थे। प्रवचन के बाद पूज्य गुरुदेव के कमरे में मैं गया। गुरुदेव विराजे हुए थे। मैंने जाकर गुरुदेव का पैर उठाया और अपने हाथ से गुरुदेव के पैर की तलाई को घीसा और अपने पैर पर हाथ फैरा। उससे मेरे पेट में अचानक दर्द उठा। लेटरींग जाने की हाजत हो गई। मैं तुरन्त लेटरिंग घर में पहुंचा, उसके बाद ऐसा चमत्कार हुआ कि मैं बिलकुल स्वस्थ हो गया पैर की वेदना छूमन्तर हो गई मैंने पूज्य गुरुदेव से प्रतिज्ञा ग्रहण की। २० दिनों के बाद भोजन व पानी ग्रहण किया। मांगलिक सुनकर पुनः अहमदाबाद पहुंचा। उसी डॉक्टर को बताया तो आश्चर्य करने लगे डॉक्टर साहब।

अब मैं बिलकुल स्वस्थ हूं। पैर में कोई शिकायत नहीं है। यह सब पूज्य गुरुदेव की असीम कृपा एवं कठोर साधना का प्रताप है।

जब से मेरी पूज्य गुरुदेव के प्रति अगाध आस्था श्रद्धा हो गई है। मुझमें धार्मिक भावना भी जगी है। गुरुदेव की कृपा से मेरी धार्मिक क्रिया सानन्द चल रही है। जब कभी मेरे जीवन या परिवार में संकट आता है तो मैं पूज्य गुरुदेव का स्मरण करता हूं तो मुझे सफलता मिल जाती है। ऐसे महान् पूज्य गुरुदेव के पावन चरणों में शत्-शत् वन्दन-अभिनन्दन। —कल्याणपुरा, बाड़मेर-३४४००१

बने इतिहास की मिसाल

❀ वैराग्यवती कुमारी रिना जैन

श्रृंगार मां के लाल, तेने किया कमाल,
पोखरणा वंश उज्ज्वल, बने हुक्मगच्छ प्रतिपाल ।

जवाहर ज्योति से जगमगाया भाल तेने,
धर्मपाल का उद्धार कर, बने इतिहास की मिशाल ।।

सफल साधना कर अर्ध शताब्दी की,
वीर वाणी से जीवन सबका सफल किया ।

कर्म जाल की सघनता से तार काटकर,
समता सन्देश से मानव जीवन बदल दिया ।

ओ साधुमार्गी संघ के सरताज,
तुम पर हमको बहुत है नाज ।

युगों-युगों तक साधना सूर्य बन,
समर्पित वैरागिन मण्डल का सुधारो काज ।।

—बीकानेर

□

हे नानेश मैं मुक्ति वरूं

❀ वैराग्यवती कुमारी नयना

मर्म स्पर्शी वाणी ने तेरी,
हृदय को मेरे स्पर्श किया
राग रंजित स्वजन परिजन का,
स्वरूप सब समझा दिया ।।

राग त्याग, वैराग्य में,
जीवन मेरा बदल गया ।
तव पथानुगामी बनने का,
आशीर्वाद मैंने पा लिया ।।

तेरे शीतल साये में मैं,
आत्म ज्योति प्राप्त करूं ।
पा साधना का सम्बल,
हे नानेश ! मैं मुक्ति वरूं ।।

□

समता विभूति निगूढ़ ध्यान योगी

❀ **वैराग्यवती कुमारी मनीषा जैन**

अनन्त असीम संसार के संख्यातीत यायावरों की विभिन्न यात्राएं विभिन्न स्थलों पर गतिशील है न कोई ठहराव है न कोई मंजिल। फिर भी कोई प्राणी निरूपम सुख की श्वास नहीं ले पाये। काल के सतत प्रवाह में बहते-बहते उर्ध्व-अधो दिशा-विदिशा में बिना किसी लक्ष्य के आत्माएं भटक रही हैं।

चेतना की इस विवेकमूढ़ अवस्था को दिव्य दिशा दर्शन देकर जागृति का शंखनाद फूंककर राजमार्ग का राही बनाने वाले उन युगपुरुषों की महत्ता का अंकन इसी जागतिक धरापर सदियों से किया जा रहा है। जिन्होंने अज्ञान अंधकार की दुर्भेद्य दीवालों को तोड़कर ज्ञान-ज्योति की प्रसृति में परमार्थ की प्रस्तुति की है। ऐसे क्रान्तिकारी युगदृष्टाओं के विशिष्ट व्यक्तित्व की शृंखला में अनुस्यूत **अष्टम पट्टधर समता विभूति निगूढ़ ध्यान योगी आचार्य श्री नानेश का** जीवनरवि जैन क्षितिज पर उदीयमान है।

एक तरफ २० वीं शताब्दी में भौतिक चक्रवाती लालसाएं, अध्यासी प्रवृत्तियां उभर रही है। वहां पर अध्यात्म की टिमटिमाती दीपशिखा को पुनः ज्योति मानकर स्थिर बनाये रखने का दुष्कर कार्य कर रहे हैं "दिवा समा आयरिया।"

महामहिम प्रवर का ओजस्वी व्यक्तित्व ही एक ऐसा व्यक्तित्व है जिन्होंने युगानुरूप ढलती निष्प्राण चेतना को जीवन्त बनाने का भागीरथ प्रयास किया है और कर रहे हैं। ऐसे संघ शिरोमणि महायोगी पूज्य गुरुदेव के दीक्षा अर्धशताब्दी के पुनीत क्षणों में भावपूर्ण आत्मार्चना करती हुई अन्तर में उद्भावित भावोर्मियों को दर्शाना चाहती हूं—

ओ जैनाकाश के भाग्य उजागर दिव्य रवि,
दुनिया में देखी तेरी ही अनुपम संयमी छवि।
श्रद्धाभिभूत हो गया रोम-रोम मेरा,
चरणों की शरण पाने जागी भावना दबी॥
भावना अंतर की मेरी सदैव साकार बने,
आशीष ऐसी मिल जाये गुरुवर महान् की।
संयम पथ की पथिक पुनीत बनकर मैं,
ज्योति जला पाऊं अंतस के ज्ञान ध्यान की॥

—करमाला

□

समता दर्शन के अपूर्व संदेश वाहक

❀ डॉ. गौतम पारख

आचार्य-प्रवर श्री नानालाल जी म. सा. वह धन्य व्यक्तित्व हैं जिन्हें चेतना स्वयं वन्दन कर रही है और धन्य है पौष सुदी अष्टमी का यह पावन दिवस जबकि इस महामनस्वी, महातपस्वी, महायशस्वी, महातेजस्वी, सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी जैन आचार्य की दीक्षा के महिमशाली पचास वर्ष पूर्ण हो रहे हैं।

साधुमार्गी जैन समुदाय के अष्टम आचार्य समता दर्शन प्रणेता श्री नानेश अपने विलक्षण संयमी जीवन से सहज ही सर्ववंद्य हो गये हैं। पांच दशकों की इस संयम यात्रा में अब तक उन्होंने लगभग २५० मुमुक्षुओं को भागवती दीक्षाएं प्रदान की है। एक लाख से अधिक परिवारों को आचार्य श्री ने धर्मपाल जैन बनाया है इनमें दलित, शोषित अस्पृश्य समझे जाने वाले बलाई जाति के वे हजारों मानव शामिल है, जिन्हें व्यसन मुक्ति के संस्कार आचार्य श्री ने दिये। उनके सागरोपम सान्निध्य में २६० साधु-साध्वियों का विराट समुदाय है। एक ही स्थल पर अपनी अनन्य प्रेरणा से कई दीक्षाएं एक साथ सम्पन्न कराने वाले आत्मिक शांति के पाथेय आचार्य श्री नानेश, आचार्य पद के यशस्वी २५ वर्ष पूर्ण चुके हैं।

समीक्षण ध्यानयोगी, चारित्र चूड़ामणि आचार्य श्री नानालाल जी म.सा. ने देश के कोने–कोने में लगभग एक लाख कि.मी. की पदयात्रा (विहार) कर गांव-गांव शहरों में तीर्थंकर भगवान महावीर के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह आदि सिद्धान्तों को व्यावहारिक बनाया है। इस वर्ष सम्पूर्ण भारत में उनकी दीक्षा अर्धशताब्दी समारोह का भी आयोजन किया गया है।

अब तक २५ से भी अधिक साहित्यिक रचनाओं के कृतिकार आचार्य श्री नानेश ने प्रमुखतः समता दर्शन की मीमांसा कर यह कहा कि हर क्षेत्र में समता ही सर्वोपरि होनी चाहिये। मानसिक तनाव से आक्रान्त मानव तथा बढ़ते औद्योगीकरण से विघटित हो रहे हैं समाज को आज जिस चीज की सबसे अधिक आवश्यकता हैं, वह यही 'समता' है।

आचार्य श्री द्वारा प्रस्तुत समता दर्शन वैचारिक, दार्शनिक एवं व्यावहारिक क्षेत्रों में समता का समुद्घोष कर अहिंसक उत्क्रान्ति का आधार रखने वाला साम्प्रदायिक घेरे-बन्दियों से मुक्त, वैचारिक और व्यवहारिक रूपरेखा तैयार करने वाला है। यदि चिन्तकों दार्शनिकों तथा समाज व राष्ट्र के कर्णधारों की चेष्टाएं इस दर्शन के अनुरूप हों, तो मैं समझता हूं कि, निर्विवादेन विश्व शांति का प्रयास एक आश्वस्त दिशा पा सकता है।

समता या समानता का कोई यह अर्थ ले कि सभी लोग एक ही विचार के या एक से शरीर के बन जावें अथवा बिल्कुल एक सी स्थिति में रखें जावें तो यह न संभव है और न व्यावहारिक। वस्तुतः समता का अर्थ है कि पहले समतामय दृष्टि बने तो यही दृष्टि सौम्यतापूर्वक कृति में उतरेगी। इस तरह समता, समानता की वाहक बन सकती है। आप ऐसे परिवार को लीजिए, जिसमें पुत्र अर्थ या प्रभाव की दृष्टि से विभिन्न स्थितियों में हो सकते हैं। किन्तु सब पर पिता की जो दृष्टि होगी वह समतामय होगी। एक अच्छा पिता ऐसा ही करता है। उस समता से समानता भी आ सकेगी।

समता कारण रूप है तो समानता कार्यरूप: क्योंकि समता मन के धरातल पर जन्म लेकर मनुष्य को भावुक बनाती है तो वही भावुकता फिर मनुष्य के कार्यों पर असर डालकर उसे समान स्थितियों के निर्माण में सक्रिय सहायता देती हैं। जीवन में जब समता आती है तो सारे प्राणियों के प्रति समभाव का निर्माण होता है। तब अनुभूति यह होती है कि बाहर का सुख हो या दुख, दोनों अवस्थाओं में समभाव रहें। यह है स्वयं के साथ स्थिति। अन्य सभी प्राणियों को आत्मतुल्य मानकर उनके सुख-दुख में सहभागी बनें, यह है दूसरों के साथ व्यवहार की स्थिति और यही है विश्व-मैत्री का अमोघ अस्त्र।

समता दर्शन के ऐसे अपूर्व संदेश वाहक आचार्य श्री नानेश को शत्-शत् वन्दन।

—राजनांदगांव

नानेश वाणी

० महापुरुष किसी उपक्रम से घबराते नहीं और किसी भी उत्सर्ग से पीछे हटते नहीं। उनका आत्मिक साहस वज्र बनकर घनघोर बाधाओं को तोड़ता रहता है और प्रकाश रूप बनकर युग-प्रवर्तक बन जाता है।

० आप जिओ किन्तु इस तरह कि दूसरे के जीवन में आप कहीं भी व्यवधान नहीं बनो।

० भावना और साधना के संयुक्त बल का ऐसा उग्र प्रभाव होता है कि आत्म-दर्शन की तृषा शांत होने की ओर बढ़ जाती है। फिर मार्ग में चाहे जितने कठोर संकटों का सामना हो—आवरणों का चाहे जितना जटिल घनत्व हो, एक भावुक साधक उन सब को गिराता और छेदता हुआ अपने साध्य की ओर बढ़ जाता है।

आचार्य-प्रवर का बहुआयामी व्यक्तित्व

❀ श्रीमत विजयादेवी सुराणा

मैंने अनेक बार स्व. ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. एवं श्रमण संस्कृति रक्षक श्री गणेशाचार्य जी के दर्शन किए हैं। प्रवचन का लाभ भी प्राप्त किया और अब परम सौभाग्य से प. पू. गुरुदेव के दर्शन-प्रवचन का भी लाभ मिला, यह मेरा भाग्योदय है। मुझे सर्वप्रथम मेरे धर्म भ्राता स्वर्गीय श्री महावीर चन्दजी धाड़ीवाल ने गुरुदेव के विषय में जानकारी दी थी, मैं उनकी आभारी हूं।

वर्तमान आचार्य श्रीजी की भाषा समिति गजब की है। मुझे कई बार निरन्तर ३-३ घण्टे तक गुरुदेव के प्रवचन सुनने का मौका मिला। उच्चकोटि के शब्द, आनन्दघनजी की प्रार्थना आध्यात्मिक रस और व्यावहारिक जीवन में सुखी जीवन और समता समाज रचना की विवेचना से युक्त उनके प्रवचन बच्चों से लेकर बुजुर्गों तक को समान रूप से प्रभावित करते हैं।

आचार्य प्रवर की एषणा समिति भी अनूठी है। छत्तीसगढ़ के डोंगरगढ़ से विहार के समय आपश्री भाइयों से मार्गवर्ती सालेकसा-दरेकसा गांवों में घरों आदि की पूछताछ कर रहे थे, मुझे आश्चर्य हुआ किन्तु बाद में देखा कि दया के सागर आचार्य-प्रवर ने केवल एक शिष्य को साथ लेकर विहार कर दिया और शेष संतों को २-२ की टोली में विहार कराया। ऐसा ही दृश्य अभी सं. २०४६ के कानोड़ चातुर्मास में देखने को मिला। गुरुदेव ने आधाकर्म आहार से बचने के लिए ऐसा किया था।

एक बार मारवाड़ के बगड़ी शहर में प्रवेश के समय मैंने देखा कि गुरुदेव ने मार्ग की एक छोटी-सी नाली के पानी से गीली सड़क को भी लांघा नहीं, बल्कि लंबा चक्कर लगा कर ग्राम प्रवेश किया। उनके प्रवेश से जंगल में मंगल हो जाता है, यह भी मैंने बगड़ी के उसी प्रवास में देखा। बगड़ी के काफी घर उन दिनों बंद थे। मेरे पूज्य पिताजी श्री सुखराजजी दुगड़ चिंतित थे कि प्रवचन में उपस्थिति कैसी होगी ? किन्तु जब प्रवचन में देखा तो जैनों से अजैनों की संख्या अधिक थी। स्कूल का आंगन छोटा पड़ने लगा।

आचार्य-प्रवर के अनुशासन में उनके आज्ञानुवर्ती संत-सती वर्ग ने जिन-शासन की जो सेवा की है वह अनुपम है। वे कितनी भी दूरी पर हों, संकेत प्राप्त होते ही तुरंत सेवा में पहुंचते हैं। बीकानेर जैसे सुदूर क्षेत्रों में वृद्ध संत-सतियों की जो सेवा हो रही है, वास्तव में उसे देखकर चकित रह जाना पड़ता है।

धन्य है ऐसे महापुरुष को जो अपनी संयम-साधना के पथ पर अत्याचार संहिता की सजगता के साथ मोक्ष पथ के निकट पहुंच रहे हैं और अनेक प्राणियों को भी उस पथ पर अग्रसर कर रहे हैं। —रायपुर (म. प्र.)

णाणेश--अट्ठगं

❀ डा. उदयचन्द जैन

वीरेस-दिण्ण जययं गुरुयं गहित्ता
उज्जोय-सम्म-पभवत्त-लहुत्त-भावं [।
भंतं मणो मइवक्क-कुमइव्व जाया
णाणेस-आइरियहं पणमामि णिच्चं ।।१।।

अच्छे-२ [एतदखिलं तणवित्ति-जुत्तो
णाणा-विकप्प-दवियं ण धणं समत्थं ।
णायं भवो सि समया सि मणं च तुब्भं
णाणेस-आइरिय हं पणणामि णिच्चं ।।२।।

उम्मिल्ल-णेत्त-जुयलं समयाणुपेही
दिट्ठं सुधम्म-सुसरत्त-दिवा सु-सूरं ।
गंगासमो ससिकला च सु-सीयलो जो
णाणेस आइरिय हं पणमामि णिच्चं ।।३।।

संसारिणो विरहिणो सुयवत्तदंसी
तं धम्मवाल-गुरुणं च सुभत्तिए मं ।
तं दंसणं चरिय-णाण-सुसम्म-जायं
णाणेस आइरिय हं पणमामि णिच्चं ।।४।।

संता-सयं भवसुसंतदयाणुदिट्टी
सिद्धंत-सायर-तरंत-पबुद्ध-जाओ ।
अप्पं हियं परमियं च विचिंतए हू
णाणेस-आइरिय हं पणमामि णिच्चं ।।५।।

गामाणुगाम-विचरंत-समत्त-हेउं
आवाल-वुड्ड-णर-णारि-पबुद्ध-णाणी ।
'णाणा' तुमं भव-सुबद्ध-परोवयारं
णाणेस-आइरिय हं पणमामि णिच्चं ।।६।।

सच्चं पहू विसमया-पवड्ढ-सीला
जीवो ण जाणइ इमस्स विराड-रूवं ।

धण्णं तुमेव पणाया जणमेत्त-सम्मं
णाणेश आइरिय हं पणमामि णिच्चं ।।७।।

तुज्झं णमो सु समया करुणावयारं
तुज्झं णमो धरमवाल-पवोह-सीलं ।
तुज्झं णमो विरय-वेहृद-अप्पधामं
णाणेस आइरिय हं पणमामि णिच्चं ।।८।।

बुद्धि-हीण-विगय-मोहो, उदयचन्दों ण सोम्मो ण सरसो ।
तव भत्तासत्तो अवि, समयाए, लहिउ पवित्तो सि ।।

—३, अरविन्द नगर, उदयपुर–३१३००१

वन्दन सौ-सौ बार

❀ **श्री चम्पालाल छल्लाणी**

'नाना' वीतरागी गुरु,
निर्मल मन मनीष ।
करुणाकर करुणा करो,
कर से दो आशीष ।।

संयम – पथ के सारथी,
श्रमण – संघ श्रृंगार ।
अष्टम् पद आचार्यवर,
वन्दन सौ – सौ बार ।।

प्रतिबोधक धर्मपाल के,
श्रमण–संस्कृति प्राण ।
संघनायक सरदार हे !
सत्–पथ का दो दान ।।

दीक्षा – वर्ष पचासवें,
श्रद्धा–सुमन करें अर्पण ।
स्वीकार करो हे महाऋषि!
सकल संघ का समर्पण ।।

—आर. के बोस रोड, धुबड़ी ७८३३०१ आसाम

चतुर्थ खण्ड

आचार्य श्री नानेश कृतित्व-समीक्षा
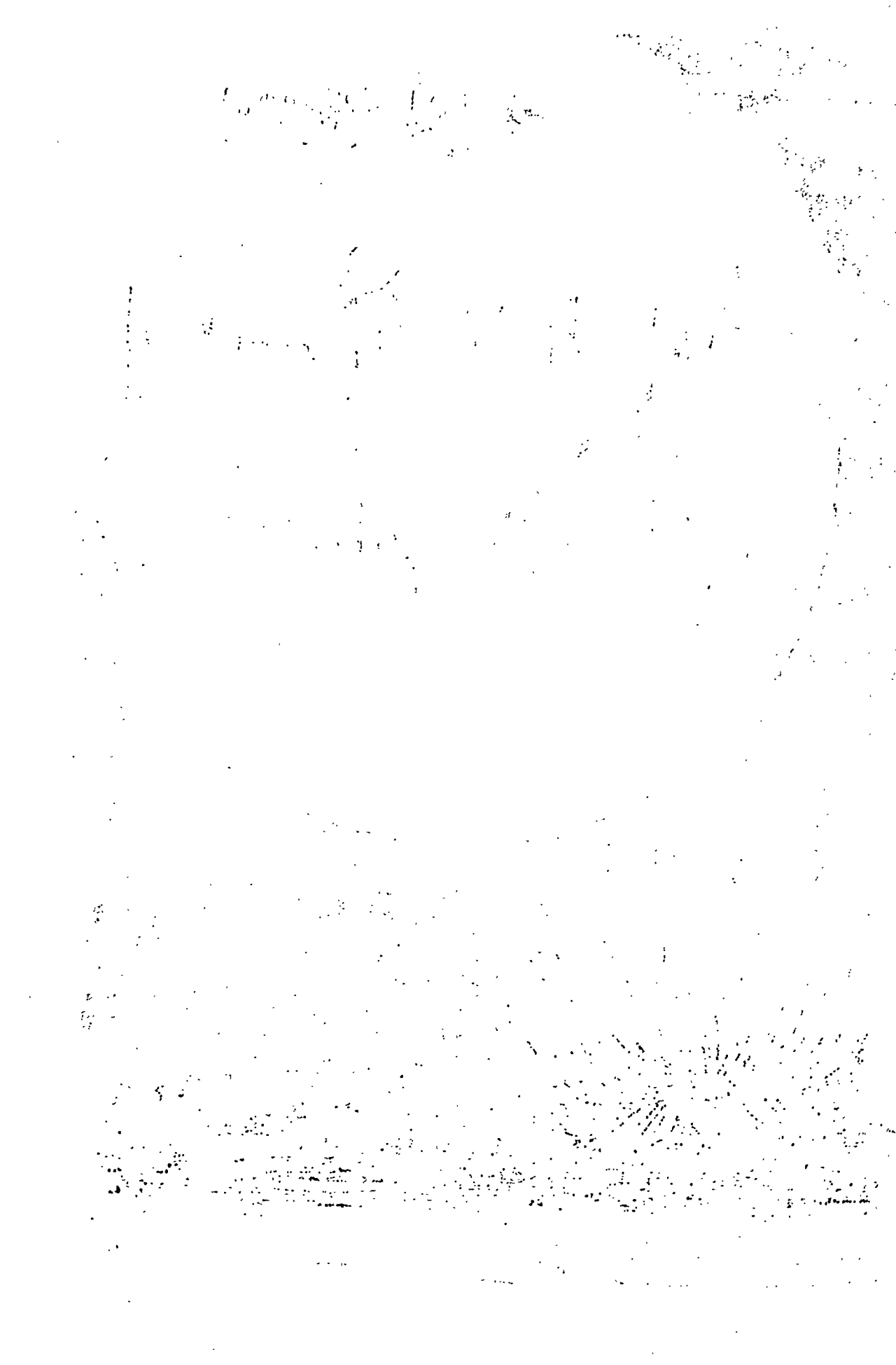
कल्याणकारी उपदेशों के प्रकाशमान स्वरूप

❁ पं. विद्याधर शास्त्री

आचार्य श्री नानालालजी म. सा. के प्रवचनों का प्रत्येक वाक्य महाराज साहब के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक ज्ञान से ओत-प्रोत होने के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को मानसिक एवं आत्मिक समुत्थान हेतु प्रेरणा प्रदान करने वाला है।

महाराज का प्रत्येक सुझाव व्यावहारिक होने के साथ ही व्यक्ति की साधना-शक्ति से बहिर्भूत नहीं है। आपका यह दृढ़ अभिमत है कि कोई भी आत्मा स्वभाव से निःशक्त और निःसार नहीं है। हम सब आध्यात्मिक वैभव के अधिकारी और भगवान् विमलनाथ के समान विमलता एवं नाना प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न हो सकते हैं।

वर्तमान युग के जीवन की सबसे अधिक शोचनीय विडम्बना यह है कि हमारा भावना-पक्ष प्रबल होने पर भी हमारा कार्य-पक्ष अत्यन्त निर्बल है। हम सब में अमृतमय जीवन बिताने और बनाने की कला विद्यमान है। हम अपने आप उसका सृजन कर सकते हैं परन्तु प्रयत्न के बिना उन शक्तियों का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। यदि हम अपने जीवन की क्रियाओं का प्रयोग शुद्ध आत्मिक लक्ष्य की ओर करें तो यह निश्चित है कि उससे आत्मिक शक्ति प्राप्त होगी ही—

'यदि आप अपने जीवन को विमल बनाना चाहते हैं तो दुनिया की मलिनता के कांटों को छू-छू कर अपने आपको दुःखी क्यों बना रहे हैं? क्यों नहीं आप अपने जीवन में ऐसे आवरण लगा लेते, जिससे कि सारी दुनिया मलिन कांटों से भरी रहे परन्तु आपका जीवन तो आबाध गति से इस प्रकार चले कि कोई आपका कुछ बिगाड़ ही नहीं कर सके।'

खेद है कि आज के लोग अपनी बुराइयों को समझ कर भी उनको हटाने की अपेक्षा उनमें अधिक से अधिक रस ले रहे हैं—

'आज का तरुण-वर्ग कानों में तेल डाल कर सोया हुआ है। तरुण सोचते हैं कि धर्म करना तो वृद्धों का काम है। हमको तो राजनीति में भाग लेना है या नौकरी अथवा व्यवसाय करना है। यह वर्ग जीवन के लक्ष्य को भूला हुआ है।'

'आज की युवा-पीढ़ी कई कुव्यसनों से लांछित है। आज का युवक-वर्ग उनका दास वन गया है। क्या यह जीवन के साथ खिलवाड़ नहीं है? जो नैतिकता के धरातल को भूल कर उससे गिर जाये तो क्या ऐसे युवक युवा-पीढ़ी के योग्य हैं? अरे, इनसे तो वे बूढ़े ही अच्छे हैं, जो कुव्यसनों से दूर हैं।'

महाराज के इन वाक्यों से यह प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध हो रहा है कि आपके हृदय में सामाजिक परिष्करण की जो भावना है, वह कितनी प्रबल है और वे आज के युवकों से किस प्रकार के जीवन की अपेक्षा रखते हैं।

यह जीवन साधना का जीवन है—पद-पद पर विषमता को पनपाने की अपेक्षा यह समता-दर्शन के अनुपालन और सर्वत्र क्रिया-शुद्धि का जीवन है। इसमें 'कथनी' की अपेक्षा सर्वत्र 'करनी' की प्रधानता है। महाराज का दृढ़ अभिमत है कि यदि हम क्रिया-शुद्धि के साथ आगे बढ़ें तो हम सब श्रीकृष्ण आदि के समान नाना गुणों के आगार बन सकते हैं—

'आप अपनी शक्ति के अनुसार अपने अन्दर हरि का जन्म कराइये। वह जन्म आपके लिए हितावह होगा।'

'जिन्होंने गृहस्थ अवस्था में अपने जीवन को नैतिकता के साथ रखा है, जिन्होंने नैतिकता को प्रधानता देकर आध्यात्मिकता की मंजिल तैयार करने की सोची है और जिनका लक्ष्य शुद्ध है, वे इस सृष्टि के बीच चमकते हुए सितारों की तरह हजारों वर्षों तक प्रकाश देते रहेंगे।

किं बहुना, महाराज का प्रत्येक वाक्य श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है। शुद्ध नैतिकता की अपेक्षा इसमें किसी विकृत राजनीति या अन्य किसी भी धर्म या वाद विशेष पर किसी तरह का आक्षेप नहीं है। सर्वत्र कल्याणकारी उपदेशों का प्रकाशमान स्वरूप है, जो शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक दृष्टान्तों से समर्थित है। □

बन्धन-मुक्त

❀ श्री मोतीलाल सुराना

तालाब को रोना आ गया, सामने कल-कल करती बह रही नदी को देखकर। उसने नदी से पूछा—कहां जा रही है बहन? तो नदी बोली—अपने घर, पिताजी के पास, वहां मेरी बहनों से मिलने। नदी का मतलब था समुद्र के पास जा रही हूं। तेरे पिताजी को कहना—तालाब बोला—मुझे भी वहां बुला लें। पास ही खड़े एक महात्मा तालाब और नदी की बात सुन रहे थे। महात्मा बोले—अरे तालाब, तूने तो अपने आपको चार दीवारी में रोक रखा है। जब तक ये चारों दीवारें दूर न हो, तब तक तू वहाँ कैसे जा सकता है?

सच तो है, मनुष्य जब तक बंधन से अलग न हो तब तक परमात्मा के पास कैसे पहुंच सकता है? बन्धन-मुक्त होना आवश्यक है।

—१७/३, न्यू फलासिया, इन्दौर-४५२००१

समता-दर्शन : व्यापक मानव-धर्म

❀ श्री रणजीतसिंह कूमट

वर्तमान जीवन में व्यक्ति से अन्तर्राष्ट्रीय जगत् तक व्याप्त विषमता एवं उनकी विभीषिका, विग्रह एवं विनाश की कगार, असन्तुलन एवं आन्दोलन आचार्य श्रीजी ने अपनी आत्म-दृष्टि से देखा एवं मानवता के करुण क्रन्दन से द्रवित हो उसको बचाने के लिये उपदेशामृत की धारा प्रवाहित की है।

समता-सिद्धान्त नया नहीं है—वीर प्ररूपित वचन है व जैन दर्शन का मूलाधार है। परन्तु इसे धर्म की संकीर्णता में बंधा देख व उसकी व्यापक महत्ता का ज्ञान जन-जन को न होने से इसे नये सन्दर्भ व दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। यह किसी वर्ग विशेष के लिये नहीं वरन् प्राणीमात्र के लिये है। यदि मानवता के किसी भी वर्ग ने समता–सिद्धान्त को न समझकर विषमता की ओर कदम बढ़ाये तो समग्र विश्व के लिये खतरा उत्पन्न हो सकता है। इसी दृष्टि–कोण को ध्यान में रखकर व्यापक मानव–धर्म के रूप में समता–दर्शन को प्रति–पादित किया है।

समता जीवन की दृष्टि है। जैसी दृष्टि होगी वैसा ही आचरण होगा। जैसा मानव देखता है वैसी ही उसकी प्रतिक्रिया होती है। यदि एक साधारण रस्सी को मनुष्य भ्रमवश सांप समझ ले तो उसमें भय, क्रोध व प्रतिशोध की प्रतिक्रिया होती है। यदि कदाचित् सांप को ही रस्सी समझ ले तो निर्भीकता का आचरण होता है। यही सिद्धान्त जीवन के हर पहलू पर लागू होता है। यदि किसी भी वस्तु को सम्यक् व सही रूप से समझने की दृष्टि रखें व उसी रूप से आचरण करने का प्रयत्न करें तो सामाजिक असन्तुलन, विग्रह व विषमता समाज में हो नहीं सकती। यही आचार्य श्रीजी का मूल-सन्देश है।

आचार्यश्री ने सिद्धांत प्रतिपादित कर छोड़ दिया हो ऐसी बात नहीं है। सिद्धान्त को कैसे व्यवहार में परिणत किया जाय, इस पर भी पूरा विवेचन किया है। सिद्धान्त दर्शन के अतिरिक्त जीवनदर्शन, आत्मदर्शन व परमात्मदर्शन के विविध पहलुओं में कैसा आचरण हो, इसका पूरा निरूपण किया है।

आज की युवा-पीढ़ी पूछती है—धर्म क्या है? किस धर्म को मानें? मन्दिर में जायें या स्थानक में—? अथवा आचरण शुद्धता लायें? धर्म–प्ररूपित आचरण आज के वैज्ञानिक युग में कहाँ तक ठीक है व इस का क्या महत्त्व है? कतिपय धर्मानुरागियों के 'धर्माचरण' व 'व्यापाराचरण' में विरोध को देखकर भी युवा–पीढ़ी धर्म-विमुख होती जा रही है। धर्म ढकोसले में नहीं हैं। आचरण में है। धर्म जीवन का अंग है। समता धर्म का मूल है। इस तर्कसंगत विवेचन व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आचार्यश्री ने आधुनिक पीढ़ी को भी आकर्षित करने का प्रयत्न किया है। □

समतासिद्ध जीवन

※ प्रो. शिवाशंकर त्रिवेदी

आचार्यश्री का जीवन समग्रतः समताभिमुख है। उनके योग और प्रयोग, चिन्तन और ध्यान, साधना और वैराग्य, वाणी और कर्म, आचार और व्यवहार सबका आधार समत्व है। उनका साहित्य समताभिमुख है, सान्निध्य समत्वानुगुंजित है, वाणी में समत्व घोष है, ध्यान समत्वग्रही जीवन के अतल से वे समत्व का ही रस ग्रहण करते हैं और व्यावहारिक जीवन में उसी रस की वृष्टि करते हैं। पिछली कई शताब्दियों में समत्व का इतना गहन, जीवन्त, सुदीर्घ, अविचल और नैष्ठिक प्रयोग संभवतः आचार्यश्री के अतिरिक्त अन्य किसी ने नहीं किया है। वे समग्रतः समत्व एवं चेतनानुवर्ती न्याय के मूर्त्त स्वरूप हैं। उनके जीवन को खण्डित रूप में देखना, समत्व के खण्ड-खण्ड करने के समान है।

समता दर्शन केवल विचार-सामग्री नहीं, विचार-क्रान्ति भी नहीं है, यह तत्त्वतः आचार-क्रान्ति है। अतः इसके विस्फोट की पहली आवश्यकता है कि चेतन जागृत होकर अपने स्वत्व के प्रति सावधान हो जाय। इस क्रान्ति को आगे तभी बढ़ाया जा सकता है जब हम अपनी संचेतना के प्रति आश्वस्त और निष्ठावान हो जायँ। जड़त्व, परिषह और विषमता के प्रति हम व्यामोहवश समर्पित हैं। इस व्यामोह का टूटना समत्व क्रान्ति की पहली शर्त और उसका अन्तिम चरण है। समत्व सर्व आयामी है। इसके विकास में जहाँ विश्व का चरम मंगल सन्निहित है, वहीं यह मानव-जीवन का परम पद भी है। यह एक ऐसा दर्शन है, जिसे क्रियान्वित करने के लिये संघर्ष और हिंसा की आवश्यकता नहीं है। हिंसक संघर्ष चेतनता का अपमान है। हिंसा का भाव हमारी मूर्च्छना का प्रमाण है। समत्व में तो क्रमिक जागृति और विकास ही सन्निहित है। इसके पहले सोपान पर वैचारिक जागृति, दूसरे पर सदाचार और सत्साधना, तीसरे पर विश्व मंगल का उन्नयन और चौथे पर परम सत्ता का विलास है। यह वैचारिक पिष्टपेषण कम, व्यावहारिक कार्यक्रम विशेष है।

आचार्य श्री नानालालजी म. सा. ने समता-दर्शन को व्यापक एवं व्यावहारिक बनाकर प्रस्तुत किया है। उन्होंने कर्मासक्ति से कर्म-समृद्धि की ओर बढ़ने का आह्वान किया है। कर्मासक्ति में आसक्ति प्रधान होती है। उसमें आसक्ति का स्वामित्व होता है—कर्म परवश होता है, व्यक्ति परवश होता है, जीवन परवश होता है। व्यक्ति अपने कर्मों का स्वामी नहीं, बल्कि आसक्ति का दास होता है। आचार्य श्री नानालालजी का समता-दर्शन व्यक्ति तक उसका स्वामित्व, उसका

पौरुष, उसकी तेजस्विता पहुँचाने का प्रयास है, अभियान है। उनका विश्वास है कि व्यक्ति के आसक्ति ग्रस्त जीवन में ही उसके स्वातन्त्र्य एवं स्वामित्व बोध का बीजारोपण किया जा सकता है। परिग्रह जहाँ घोर दासता और अधःपतन का सूचक है, त्याग स्वामित्व के उदय का संकेत है। ग्रहण और संग्रह की सनक में केवल परवशता का ही भाव है। त्याग का भाव ही परिग्रह पर स्वामित्व की एकमात्र परख है। कर्मासक्ति और परिग्रह की बुनियाद ही स्वामित्व एवं स्वाधीनता की शक्तियों से अपरिचय अथवा इनका अप्रकाशन है। समत्व दर्शन इसी आधार पर स्वत्व का दर्शन न होकर स्वामित्व का दर्शन है। स्वत्व का हस्तान्तरण सम्भव है, स्वामित्व को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता। स्वत्व मूर्च्छना का प्रथम लक्षण है, स्वामित्व-बोध जागृति की पहली किरण है। ▽

कंकर और गेहूँ

❀ आचार्य श्री नानेश

एक मनुष्य ने बहुत बड़ी गेहूं की राशि देखी, जिसमें बहुत अधिक कंकर मिले हुए थे। फिर उसने यह विचार किया कि इस गेहूं के साथ बहुत कंकर हैं और यदि ये कंकर के साथ खाए गए तो मेरे जीवन के लिए घातक बनेंगे। मैं इन कंकरों को बीन लूं तो शुद्ध गेहूं मेरे जीवन के लिए हितावह हो सकते हैं। इस भावना से यदि वह गेहूं को देखना चालू करे और उसमें रहने वाले कंकरों को चुनना चालू करे तो आहिस्ता-आहिस्ता वह उस गेहूं की राशि को कंकरों से रहित कर सकता है। परन्तु यदि कोई चाहे कि गेहूं की राशि को मैं एक साथ ही कंकरों से रहित कर दूं तो यह शक्य नहीं है।

इस जीवन की भव्य राशि में कंकरों के समान जो हीन-भावनाओं का संचय है, मलिन तत्त्वों की उपस्थिति है, यदि उनको चुनने का कोई अभ्यास वना ले तो वह प्रतिदिन अपने गुणों में वृद्धि करता हुआ, अपने जीवन में पुण्यशील बन सकता है।

आचार्य नानेश के प्रवचन-साहित्य का अनुशीलन

❀ डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'

आजकल लोग 'प्रवचन' (Sermonizing) शब्द सुनकर चिढ़ से जाते हैं। कोई यदि उन्हें 'प्रवचन' देने लगता है तो वे उस व्यक्ति को 'वोर' कहने लगते हैं। दरअसल, प्रवचनों से हम सभी ऊब से गये हैं। बहुत कम लोग प्रवचन सुनना पसन्द करते हैं। इसका क्या कारण है? इसका कारण संभवतः यह है कि प्रवचनकर्ता और श्रोताओं के बीच अपेक्षित संबंध नहीं पनप पाता, पारस्परिक संप्रेषणीयता का अभाव रहता है। आदाता और प्रदाता में समीकरण नहीं बैठ पाता। प्रवचनकर्ता के शब्द श्रोताओं को उज्जीवित नहीं कर पाते। प्रवचन, मात्र वाचिक खिलवाड़ बनकर रह जाते हैं और प्रवचनकर्ता एक महज मशीन। यही कारण है कि 'प्रवचन' शब्द इतना अवमूल्यित हो गया है कि लोग प्रवचन सुनने से कतराने लगे हैं। यह स्थिति इसलिए भी पैदा हुई है क्योंकि प्रवचनकर्ताओं में वह ऊर्जा और प्रेरणा नहीं रही जो कि आदर्श और तपोनिष्ठ प्रवचनकर्ताओं में हुआ करती थी। शब्द और कर्म, चिन्तन और आचरण का अद्वैत अब बहुत कम देखा जाता है। प्रवचनकर्ता प्रायः वे ही बातें दोहराते रहते है जो स्वयं न करके, दूसरों से करने की अपेक्षा करते हैं। परिणाम यह होता है कि प्रवचनकर्ताओं के प्रवचन, मात्र शाब्दिक-व्यायाम बनकर रह जाते हैं, श्रोताओं पर उनका इच्छित प्रभाव नहीं पड़ता, पर दोष प्रवचनों का नहीं है। मानव जाति के संचित ज्ञान का कोष महान् व्यक्तियों के प्रवचनों का ही कोष है। विश्व की निखिल संस्कृति प्रधान रूप से प्रवचन प्रेरित रही है। महान् संतों के प्रवचन, उनकी आर्षवाणी, उनके आप्त वाक्य—विश्व संस्कृति के सतत प्रेरणास्रोत रहे हैं। इन प्रवचनों ने मनुष्य को अन्धकार से बाहर निकालकर प्रकाश की राह दिखाई है। मनुष्य को पशुत्व से देवत्व की ओर प्रेरित किया है। उसके अनुदात्त जीवन को उदात्त बनाया है, आगम, वेद, उपनिषद्, गीता, कुरान, गुरु ग्रन्थ साहब, बाइबिल मूल रूप से प्रवचन ही तो हैं। बुद्ध, महावीर, नानक, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द तथा महात्मा गांधी—इनके प्रवचनों ने ही तो मनुष्य को अमृतत्व का मार्ग दिखाया है। क्या कारण है कि इन दिव्य पुरुषों के प्रवचनों को हम बार-बार सुनना और पढ़ना पसन्द करते हैं? कारण बिल्कुल स्पष्ट है, ये प्रवचन इन महात्माओं की प्राण ऊर्जा से अभी तक प्रोद्भासित एवं ऊर्ज्वसित हैं। इन महाप्राण संतों में वाणी और व्यवहार का द्वैत नहीं था। जो कुछ वे कहते थे, स्वयं करते थे, जो करते थे वही कहते थे। मानव संस्कृति का इतिहास वाणी और व्यवहार के स्वस्थ समीकरण का ही इतिहास है। ऐसे महात्माओं का ही लोकानुगमन होता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरूते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(गीता ३, २१)

श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है अन्य पुरुष वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है समस्त मनुष्य-समुदाय उसी के अनुसार वरतने लग जाता है ।

इन संतों में प्रवचनों में इसलिए अधिक प्रभाव और सम्मोहन होता है क्योंकि ये प्रवचन इन महात्माओं के स्वयं के अनुभवों पर आधारित होते हैं । कुछ वे बोलते हैं वह स्वानुभूत होता है, मात्र पुस्तकीय अथवा शास्त्रीय प्रलाप नहीं। फिर, ये प्रवचन दिव्य-तत्त्व से तरंगायित होते हैं और जब ये प्रवचन तपोपूत संतों के मुख से निकलते हैं तो ये सीधे ही श्रोताओं के कर्ण-रंध्रों को लांघते हुए उनके मन-प्राणों की गहराइयों में उतरते चले जाते हैं । अन्ततः ये प्रवचन श्रोताओं की संवेदना और चेतना का मूलाधार बन जाते हैं । इस प्रकार के प्रवचन; प्रवचनकर्ता और श्रोता—दोनों के लिए ही हितकर होते हैं । इनसे न केवल श्रोता ही लाभान्वित होते हैं अपितु प्रवचनकर्ता भी इनके माध्यम से लोक-मंगल और 'आत्मोत्थान' गुरु-गंभीर दायित्व पूरा करते हैं—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्य संशयः ॥

(गीता, १८, ६८)

जो पुरुष मुझ में परम प्रेम करके इस 'परम ज्ञान' को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें कोई संदेह नहीं ।

व्यष्टि और समिष्ट के सम्यक् विकास में उदारचेतसमयी प्रेरणा से समन्वित संतों और महात्माओं के प्रवचनों की प्रभूत भूमिका रही है । दरअसल, धर्म के संस्थापन, प्रचार-प्रसार में प्रवचनों का अमूल्य योगदान रहा है । मानव को उदात्त जीवन की ओर प्रेरित करने वाले प्रवचन किसी धर्म, सम्प्रदाय, जाति या देश की सीमाओं में नहीं बंधे रहते । इन प्रवचनों का क्षितिज निस्सीम होता है, इनका आकाश व्यापक और विराट । इसलिए वे ही प्रवचन चिरस्थायी और कालजयी होते हैं जो सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वदेशिक होते हैं । वे ही प्रवचन प्रभावशाली और सनातन होते हैं जिनका लक्ष्य लोक-मंगल होता है, व्यष्टि-समष्टि का सतत क्षेम होता है । इन प्रवचनों की अपनी एक शैली होती है। प्रवचनकर्ता के भास्वर व्यक्तित्व को पूर्ण उजागर करने वाली। सरल, सहज, बोधगम्य, दृष्टांत सम्पन्न, सम्प्रेष्य यह शैली प्रवचन का प्राण होती है । प्रवचन-कर्ता के अपने अनुभवों का नवनीत इन प्रवचनों में सम्पृक्त रहता है ।

जैन धर्म के प्रातः स्मरणीय संत आचार्य नानेश जी के प्रवचन इसी शैली

क पुष्कल प्रमाण हैं। इनके प्रवचन-साहित्य के अनुशीलन से वही प्रेरणा प्राप्त होती है जो कि उनके मुखारविन्द से निःसृत वचनों से। संतश्री के प्रवचन मुद्रित रूप में भी उतने ही बोधगम्य और प्रभावशाली होते हैं जितने कि उनको सुनते समय। इसका कारण संभवतः यह है कि नानेश जी प्रवचनों को न केवल मुखरित ही करते हैं अपितु वे उन्हें स्वयं जीते भी हैं। उनके चिन्तन और आचरण में एक अद्भुत साम्य रहता है, विचार और क्रिया में एक विरल अद्वैत के दर्शन मिलते हैं। आचार्य श्री के प्रवचनों को सुनना और पढ़ना अपने आप में एक दिव्यानुभूति (Divine Experience) हैं। **आध्यात्मिक वैभव** (प्रवचनमाला २, श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ, बीकानेर से प्रकाशित) में प्रस्तावना-स्वरूप लिखे पं. विद्याधर शास्त्री के ये शब्द कितने सार्थक है—

'महाराज का प्रत्येक वाक्य श्रोतव्य, मन्तव्य, और निदिध्यासितव्य है। शुद्ध नैतिकता की अपेक्षा इसमें किसी विकृत राजनीति या अन्य किसी भी धर्म या वाद विशेष पर किसी तरह का आक्षेप नहीं है। यहां तो सर्वत्र कल्याणकारी उपदेशों का प्रकाशमान स्वरूप है जो शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक दृष्टांतों से समर्थित है। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' वाली बात आचार्यश्री पर लागू नहीं होती क्योंकि उनका अपना जीवन, प्रवचन और कर्म का एक मनोरम भाष्य है। उनका प्रवचन-साहित्य इतना विपुल है, इतना विस्तृत है कि उसके अनुशीलन से श्रोता या पाठक मानव जीवन के विभिन्न पक्षों को आत्मसात करता हुआ, आत्म विकास की ओर प्रशस्त होता हुआ, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु, की भावना से ओतप्रोत हो जाता है। उसमें प्राणिमात्र का द्वैत भाव तिरोहित हो जाता है।'

आचार्य नानेश जी के प्रवचन विभिन्न जैन-संस्थाओं द्वारा प्रकाशित ग्रंथों में संकलित हैं। समय-समय पर दिये गये ये प्रवचन पुस्तकाकार रूप में ढलकर भारतीय वाङ्मय के अंग बन गये हैं। इन संग्रहों में—प्रवचन प्रकाशन समिति, जयपुर द्वारा प्रकाशित **पावस-प्रवचन** (भाग १, २, ३, ४, ५, १९७२) श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर द्वारा प्रकाशित **प्रवचन-पीयूस** (१९८०), **आध्यात्मिक-वैभव** (वि. सं. २०४१), **ऐसे जीएं** (१९८६), श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ, गंगाशहर-भीनासर द्वारा प्रकाशित **मंगलवाणी** (१९८१), **जीवन और धर्म** (१९८२), **अमृत-सरोवर** (१९८२), श्रीमती वाधुदेवी दूगड़, देशनोक (राजस्थान) द्वारा प्रकाशित **प्रेरणा की दिव्य रेखा में** (१९८२) आदि प्रमुख हैं।

आचार्य श्री के प्रवचनों के दिव्य स्पर्श से ये ग्रन्थ मानवजाति की प्रेरणा के चिरस्थायी दीप्ति स्तम्भ वन गये हैं। इन ग्रन्थों में एक ही भाव प्रमुख है, एक ही स्वर मुखर है और वह है कि मनुष्य अपने आभ्यन्तर 'दिव्य तत्व' को कैसे उजागर करे? विभिन्न कषाओं से धूमावृत आत्म-दीप को निर्धूम कैसे

करे ? प्राणिमात्र में 'समता' का भाव कैसे जागृत हो ? और व्यष्टि के पूर्णत्व से समष्टि का पूर्णत्व कैसे प्राप्त हो ? यह भाव एक अर्थ में सनातन भाव है तथा सभ्यता और संस्कृति के सूर्योदयकाल से ही मनुष्य की चेतना को कुरेदता रहा है। समय-समय पर उत्पन्न होने वाले संत-महात्माओं ने अपने-अपने ढंग से इन प्रश्नों के उत्तर खोजने का श्रम किया है। कभी ये उत्तर नितांत दार्शनिक, वायवी और सैद्धान्तिक बनकर रह गये हैं और कभी अत्यन्त व्यावहारिक। नानेश जी के प्रवचन ज्ञान-गरिमा की आभा से मण्डित होते हुए भी बोझिल नहीं हैं और न वे मात्र पाण्डित्यपूर्ण या अव्यावहारिक हैं। एक सुलझे, मनोविज्ञ प्रवचनकार की तरह नानेश जी श्रोता की मानसिकता को अच्छी तरह समझते हैं, उसकी सीमाओं से परिचित हैं, उसकी बोधवृत्ति का उन्हें सम्यग्ज्ञान है। यही कारण है कि उनके प्रवचन दुरूह, रुक्ष, क्लीष्ट, वायवी न होकर सुगम, सरल, सहज, व्यावहारिक और सम्प्रेष्य होते हैं। उनके प्रवचनों में उपयुक्त, सांदर्भिक दृष्टांतों और उदाहरणों का अच्छा समावेश मिलता है। कहीं-कहीं काव्यत्व के भी दर्शन होते हैं। प्रवचन-शैली में कथाओं, दृष्टांतों, उद्धरणों, रूपकों, उपमाओं का बड़ा महत्त्व होता है। इसी प्रकार की शैली श्रोता को बांधे रखती है और उसके मस्तिष्क में विषय को दीर्घकाल तक थामे रहती है। नानेश जी अपने प्रवचनों में श्रोताओं से संभाषण करते चलते हैं। यही कारण है कि प्रवचनकर्ता और श्रोताओं में एक 'निकटता' का सेतु बन जाता है। श्रोता, प्रवचनकर्ता को अपना 'मित्र, दार्शनिक और पथप्रदर्शक' (Friend, philosopher & guide) मानकर उसके प्रति पूर्ण रूप से समर्पित हो जाता है। उसके प्रति श्रद्धावान बनकर ज्ञान-लाभ प्राप्त करता है। नानेश जी के द्वारा प्रयुक्त उदाहरण, दृष्टांत केवल धर्म-ग्रन्थों से नहीं होते अपितु हमारी रोजमर्रा की जिन्दगी से चुने हुए होते हैं। उनके दृष्टांत यदि एक ओर वेद, उपनिषद्, गीता, नीति-शास्त्र एवं जैन वाङ्मय से लिये होते हैं तो दूसरी ओर वे लोक-कथाओं, लोक-जीवन तथा लोक-व्यवहार से गृहीत होते हैं। उनके प्रवचनों को सुनकर या पढ़कर यह नहीं लगता कि वे मात्र एक संसारत्यागी संत हैं और उन्हें आसपास की जिन्दगी का कोई ज्ञान या अनुभव नहीं। प्रत्युत, इन प्रवचनों के श्रवण और अनुशीलन से आचार्य श्री की पैनी, तत्त्वाभिनिवेषी, सर्वग्राही जीवन-दृष्टि का सहज अनुमान लग जाता है। वे सही रूप में 'जल में कमलवत्' रहते हुए मनुष्य-मात्र को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने में सर्वथा समर्थ हैं।

आचार्य श्री के प्रवचन-साहित्य का अनुशीलन अपने में एक आध्यात्मिक यात्रा (Spiritual Pilgrimage) है, एक दिव्य अनुभव है। इन प्रवचनों में नानेश जी मनुष्यमात्र को संबोधित करते हुए कहते हैं कि मनुष्य अपने प्रयत्नों से ही अपना 'उद्धार' कर सकता है। 'गीता में इसी भाव को मूलरूप से कहा गया है पर 'प्रवचन' में यह भाव ढलकर अधिक प्रभावशाली बन गया है। 'प्रेरणा की

दिव्य रेखायें' नामक संकलन में इस भाव की सरलता एवं बोधगम्यता की एक बानगी देखी जा सकती है—

'मेरा काम उपदेश देना है, मार्ग बताना है परन्तु उस पर चलना तो आपका स्वयं का काम है। यह आपका दायित्व है कि अपना उद्धार स्वयमेव करें। एक व्यक्ति कमरा बंद कर रजाई ओढ़े सो रहा है। वह आंखों पर पट्टी बांध लेता है और फिर चिल्लाता है कि इस कपड़े ने मेरे आंखें बांध दी हैं, रजाई ने मुझे ढक लिया है, कोई आकर मुझे बचाओ। अन्दर से सांकल लगी हुई है। दूसरा व्यक्ति अन्दर नहीं जा सकता। बाहर से कोई व्यक्ति उसे सुझाव देता है कि अरे भाई! तुमने अन्दर से सांकल लगा रखी है, रजाई तुमने ओढ़ रखी है, आंखों पर पट्टी तुमने बांध रखी है। अपने हाथों से ही पट्टी ढीली कर लो, रजाई फैंक दो, अन्दर की सांकल खोल दो, बाहर की हवा लो, स्वयमेव तुम मुक्त हो जाओगे। वह कहता है कि 'मैं तो यह सब नहीं कर सकता, आप ही मेरी मदद कीजिए। ऐसे व्यक्ति के विषय में आप क्या सोचेंगे? यही न कि वह मूर्ख है। ठीक इसी तरह अपने-अपने कर्मों के आवरण को स्वयमेव हटाने में समर्थ हैं, दूसरा कोई नहीं।' (पृ. २८-२९)

उनका कहना है कि 'आत्मोद्धार' की प्रक्रिया में, मनुष्य की आत्मा पर पड़ी हुई भारी शिलाओं को हटाना बहुत जरूरी है। ये शिलाएं बाहरी नहीं हैं। बाहरी शिलायें तो दूसरों की सहायता से भी हटाई जा सकती हैं परन्तु आत्मा पर पड़ी हुई आठ कर्मों की भारी शिलाओं को हटाने के लिए स्वयं को ही पुरुषार्थ करना पड़ता है। दूसरा व्यक्ति निमित्त मात्र हो सकता है, उपादान नहीं। इस भाव को आचार्य श्री की प्रवचन शैली के माध्यम से सुनें या पढ़ें तो कैसा लगता है—

'मैं आपसे एक सीधा सा प्रश्न करूं। यदि कोई व्यक्ति किसी दुर्घटना के कारण पत्थर की शिला के नीचे दब जाये तो वह क्या करेगा? आप चट उत्तर देंगे कि वह किसी भी तरीके से निकलने की कोशिश करेगा। यदि उसके हाथ खुले हैं तो उनसे शिला को हटाने का प्रयास करेगा। उस समय यदि कोई उसे कहे कि कलकत्ते से सोहन-हलवा आया है, अपने हाथों से उसे ग्रहण करो। क्या वह व्यक्ति उस समय अपने हाथों को हलवा ग्रहण करने में लगायेगा? या अपने पर पड़ी हुई शिला को हटाने के लिए हाथों का उपयोग करेगा। स्पष्ट है कि वह पहले शिला को हटाने का प्रयास करेगा।....इन आठ कर्मों की शिलाओं को हटाने का काम आसान नहीं है। यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है परन्तु प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा साध्य है।" (वही पृ. ५-६)

'आत्मोत्थान' के शुभ-कर्म को बिना प्रमाद के प्रारम्भ कर देना श्रेयस्कर है क्योंकि—

परिजुरई ते सरीरयं, केसा पडुंरया हृवन्ति ते ।
से सव्व बलेण हावई, समयं, गोयस, मा पमायए ॥

तुम्हारा शरीर जब ढल जायेगा, मुंह पर झुरियां पड़ जायेंगी, बाल सफेद होंगे और अंगोपांग जर्जर हो जायेंगे, तब क्या कर पाओगे ? मुहूर्त के भरोसे मत बैठे रहो । प्रमाद मत करो । आत्मोत्थान के शुभ कार्य को आरम्भ कर दो ।

'आत्मोत्थान' की प्रक्रिया में जीवन को संस्कारित करना बहुत आवश्यक है क्योंकि असंस्कारित जीवन में आत्मोत्थान संभव नहीं । आचार्य श्री के प्रवचन का एक अंश द्रष्टव्य है—

'असंस्कारित जीवन में किसी तत्त्व को डाल दोगे तो उसका संस्कार नहीं हो पायेगा, उसका दुरुपयोग होगा । अपरिक्व घड़े में यदि अमृत डाल दोगे तो घड़ा भी चला जायेगा और अमृत भी ।' (पावस-प्रवचन भाग १ पृ. १७)

इसलिए संस्कारित जीवन बनाने के लिए सुमति जागृत करना बहुत आवश्यक है । सुमति के बिना जीवन संस्कारित नहीं बन सकता । कुमति का जीवन असंस्कारित जीवन है, अज्ञान का जीवन है । इस भाव को कितनी सरलता से नानेश जी अपने प्रवचन में प्रस्तुत करते हैं—

'आप देख रहे हैं, एक बच्चे के सामने बहुमूल्य रत्न रख दीजिए । आप अपनी अगूंठी का तीन लाख या पांच लाख का हीरा रख दीजिए । वह बच्चा उस हीरे की कीमत क्या करेगा ? वह बच्चा उस हीरे को क्या समझेगा? वह बच्चा उस हीरे को यत्न से रखने का प्रयत्न करेगा ? नहीं । वह तो उसे उठाकर फेंक देगा । बच्चे के जीवन में हीरे की पहचान का संस्कार नहीं है । इसलिए वह बच्चा उस ज्ञान के अभाव में, प्रारम्भिक स्थिति में असंस्कारित होने के कारण हीरे के विषय में कुछ नहीं जान पा रहा है ।' (वही पृ. १७)

संस्कारित जीवन 'विमलता' का जीवन है । विमलता के अभाव में ही, विषमता की ज्वालाएं सुलग रही हैं । यदि मनुष्य का मन विमल बन जाता है, इसमें पवित्र संस्कारों का संचार हो जाता है तो तमाम कुटिलताएं और मलिनताएं समाप्त हो जाती हैं ।

आचार्य नानेश जी के प्रवचनों में जिस प्रमुख 'भाव' का सौरभ बिखरा रहता है वह 'समता' का भाव है । आचार्यजी का मानना है कि व्यक्ति से व्यक्ति तभी जुड़ सकता है जबकि उसमें 'समता' दृष्टि हो । 'समता' के अभाव में विषमताओं का जन्म होता है और विषमता से विघटन और बिखराव । समता की विरोधी स्थिति होती है ममता की स्थिति । ममता में 'मम' शब्द का अर्थ होता है 'मेरा' और ममता का अर्थ है 'मेरापन' । जहां 'मेरापन'—ममता है, वहां स्वार्थबुद्धि है, संग्रह वृत्ति है और पदार्थों के प्रति लोलुपता है । जहां ममता है वहां समता नहीं है या यों कहें कि सबको अपने तुल्य आत्मवत् समझने की क्षमता नहीं । नानेश जी का यह कथन कितना युगानुकूल और सांदर्भिक है—

'भौतिक विषमता के कुप्रभाव से दृष्टि कितनी स्थूल बन गई है कि जब मुद्रा के अवमूल्यन का प्रसंग आता है तो देश के अर्थशास्त्री और राजनेता चिन्तित होते हैं किन्तु दिन-रात जो भारतीय-जन के चारित्र का अवमूल्यन होता जा रहा है, उसके प्रति चिन्ता तो दूर उसकी तरफ नेता लोगों की कार्यकारी दृष्टि नहीं जाती। विषमता के इस सर्वमुखी संत्रास से विमुक्ति समता को जीवन में उतारने से ही हो सकेगी। समता की भूमिका जब तक जन-जन के मन में स्थापित नहीं होगी, तब तक जीवन की चेतना-शक्ति के भी दर्शन नहीं होंगे। (**जीवन और धर्म**, पृ. ३२)

समता की दृष्टि, व्यष्टि और समष्टि, दोनों स्तरों पर आवश्यक है। आज के विश्व की अनेकानेक समस्याओं का समाधान 'समता दृष्टि' से ही संभव है। आज के परिप्रेक्ष्य में आचार्य श्री के ये शब्द कितने सारगर्भित हैं—

'समता-जीवन-दर्शन के बिना शांति होने वाली नहीं है। अन्य अनेक प्रयत्न चाहे किसी धरातल पर होते हों, वे किसी भी लुभावने नारे के साथ हों परन्तु जीवन में जब तक समता-दर्शन नहीं होगा, तब तक वे सब नारे केवल नारों तक सीमित रहेंगे और उनके साथ विषमता की जड़ें हरी होती हुई चली जायेंगी। इसलिए समता-जीवन-दर्शन को मुख्यता अपने जीवन में उतारने के लिए तत्पर हो जाते हैं तो मानव-जीवन में एक नये आलोक और एक नई शांत क्रांति का प्रादुर्भाव हो सकता है। (**आध्यात्मिक वैभव**, पृ. ६५)

'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की ऐसी व्यापक एवं सर्वग्राह्य व्याख्या अन्यत्र कहां मिल सकती है? नानेश जी मात्र स्वप्नदर्शी (arm-chair philosopher) न होकर सही अर्थों में एक कर्मयोगी हैं। स्थित प्रज्ञ एवं स्थिरधी हैं। उनके लिए समस्त मानवज्ञान 'हस्तामलकवत्' है और ये उस ज्ञान को व्यक्ति और समाज के परिष्करण में लगाना अभीष्ट समझते हैं। शास्त्रीय ज्ञान की व्यावहारिक एवं जनसंवेद्य व्याख्या उनके प्रवचनों का प्राणतत्त्व है। वे गगन विहारी दार्शनिक न होकर जीवन की कठोर भूमि पर विचरण करने वाले कर्मठ तापस हैं। ऐसे तपस्वी जो कन्दरावासी न होकर समाज की धड़कनों को समझते हैं, आज के तरुण-वर्ग को उद्बोधित करते हुए वे कहते हैं—

'आज का तरुण वर्ग कानों में तेल डालकर सोया हुआ है। तरुण सोचते हैं कि धर्म करना तो वृद्धों का काम है। हमको तो राजनीति में भाग लेना है, या नौकरी अथवा व्यवसाय करना है। यह वर्ग जीवन के लक्ष्य को भूला हुआ है।' (**वही पृ. ७०**)

'ऐसे जीए' नामक संकलन में आचार्य श्री ने जीवन जीने की कला का मर्म उद्घाटित किया है—जो भी काम करें, चाहे वह छोटा से छोटा भी क्यों न हो, उसे मनोयोग पूर्वक सम्पन्न करने का प्रयास करें, जिससे कि आपको सही ढंग से

जीने की कला प्राप्त हो सके ।' (पृ. १६-१७) 'योग: कर्मेषु कौशलम्' की कितनी सरल व्याख्या !

आचार्य नानेश जी के प्रवचनों में बुद्ध, महावीर, ईसा, नानक, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, महात्मा गांधी प्रभृति महात्माओं के भाव और कर्मलोकों का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है । इस दृष्टि से इन प्रवचनों में एक विशेष प्रकार की विश्वजनीनता (Universality) है । मानव की 'समग्र चेतना' को इन प्रवचनों में संजोना नानेश जी जैसे तपस्वी संत का ही कर्म हो सकता है । उनके प्रवचन-साहित्य का अनुशीलन, चिन्तन-मनन तथा तदनुसार आचरण व्यक्ति और समाज दोनों के हित में है । वे व्यक्ति एवं संस्थायें धन्य हैं जो आचार्य श्री की वाणी को जन-जन तक पहुंचाने का मंगलमय कार्य कर रही हैं ।

—७ च-२ जवाहरनगर, जयपुर—३०२००४

समता के स्वर

❀ आचार्य श्री नानेश

वर्तमान विषमता की कर्कश ध्वनियों के बीच आज साहस करके समता के समरस स्वरों को सारी दिशाओं में गुंजायमान करने की आवश्यकता है । समस्त जीवन के सभी क्षेत्रों में फैली विषमता के विरुद्ध मनुष्य को संघर्ष करना होगा, क्योंकि इस विषम वातावरण में मनुष्यता का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है ।

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य गिरता, उठता और बदलता रहेगा, किन्तु मनुष्यता कभी समाप्त नहीं होगी, उसका सूरज डूबेगा नहीं । वह सो सकती है, मर नहीं सकती । अब समय आ गया है कि जब मनुष्य की सजीवता को ले कर मनुष्य को उठना होगा—जागना होगा और क्रान्ति-पताका को उठा कर परिवर्तन का चक्र घुमाना होगा । क्रान्ति यही कि वर्तमान विषमताजन्य सामाजिक मूल्यों को हटा कर समता के नये मानवीय मूल्यों की स्थापना की जाए । इसके लिए प्रबुद्ध एवं युवावर्ग को विशेष रूप से आगे आना होगा और एक व्यापक जागरण का शंख फूंकना होगा ताकि समता के समरस स्वर उद्बुद्ध हो सकें ।

आचार्य श्री नानेश के उपन्यास : कथ्य और शिल्प

❀ प्रो. महेन्द्र रायजादा

आचार्य श्री नानेश जैन आगमों तथा शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान हैं। वे समता दर्शन के अध्येता, व्याख्याता तथा पुरस्सरकर्त्ता हैं। श्री नानेश जैन धर्म के अनन्य साधक होने के अतिरिक्त साहित्य के साधक और सृजनात्मक प्रतिभा के धनी भी हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। वे अपने तात्त्विक और गूढ़ विचारों को सीधी-सादी एवं सरल भाषा में अभिव्यक्त करने में सिद्धहस्त हैं। उन्होंने प्राचीन लोक-कथाओं के द्वारा मानव जीवन के सत्य एवं मर्म को अपनी कथा-कृतियों के माध्यम से उद्घाटित किया है।

कथा-कहानियां सुनने के प्रति मानव का आकर्षण चिरकाल से रहा है। बालक से लेकर वृद्ध तक सभी को कथा-कहानियों द्वारा जीवन के यथार्थ और आदर्श को आसानी से समझाया जा सकता है। आचार्य नानेश ने अपने चातुर्मास के दौरान अपने प्रवचनों में समय-समय पर अपने नैतिकतापरक मूल्यवान धार्मिक विचार कथा-कहानियों के माध्यम से रोचक ढंग से व्यक्त किये हैं। उन्हीं आख्यानों को विद्वानों ने संकलित सम्पादित कर उपन्यासों के रूप में प्रस्तुत किया है। उपन्यास, साहित्य की एक ऐसी विधा है जो जीवन के गूढ़ विषयों को सरस और सुगम बना कर प्रस्तुत करती है। आचार्य नानेश ने अपने सद्विचारों को समता दर्शन में निरूपित कर अस्पृश्यता-निवारण हेतु महान् कार्य किया है। मध्यप्रदेश के मालवा क्षेत्र के अस्पृश्य कहलाये जाने वाले बलाई आदि जातियों के लोगों को सुसंस्कारी बनाने में आचार्य श्री नानेश के सदुपदेशों तथा प्रवचनों ने प्रेरणादायी कार्य किया है। जनमानस में संयम, नियम, समताभाव, त्याग और विवेकशीलता को जागृत करने में इन कथाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

आचार्य श्री के चार उपन्यास अब तक प्रकाशित होकर सामने आये हैं, जिनका कथ्य और शिल्प इस प्रकार है—

१. ईर्ष्या की आग :

यह लघु उपन्यास आचार्य नानेश के प्रवचनों का अंश है। आचार्य श्री द्वारा अपने प्रवचनों में कही गई रोचक कहानी को श्री ज्ञान मुनिजी ने संकलित एवं सम्पादित कर उपन्यास के कलेवर में सजाया-संवारा है। आधुनिक युग में कहानी और लघु उपन्यास अधिक लोकप्रिय हैं। इस दृष्टि से यह कथाकृति पाठकों के लिये मार्गदर्शन का कार्य करती है।

प्रस्तुत उपन्यास में मेदनीपुर निवासी संपत सुभद्र सेठ के दो पुत्र सुरेश

और अवधेश तथा पुत्र वधुएँ भामिनी और यामिनी की कथा प्रस्तुत की गई है। बड़ा भाई सुधेश बचपन से ही स्वार्थी और कपटी है। छोटा भाई अवधेश उसके विपरीत परमार्थी, सरल और ईमानदार है। पिता की मृत्यु के बाद घर-गृहस्थी का भार बड़े भाई सुधेश पर आया। सुधेश विवाहित था और उसकी पत्नी भामिनी भी उसी की तरह स्वार्थी, कपटी और ईर्षालु थी। अवधेश अपने बड़े भाई सुधेश और भाभी की बहुत इज्जत करता था और आज्ञाकारी भी था। अवधेश को उसकी भाभी जो कुछ रूखा-सूखा खाने को देती, उसे वह समभाव से संतोषपूर्वक ग्रहण कर लेता था। अवधेश साधु और मुनियों का सत्संग करता था। अतः वह निन्दा और प्रशंसा में समभाव रखता था तथा बड़े भाई और भाभी द्वारा दिये गये कष्टों को सहन करता था। सुधेश ने अपने छोटे भाई अवधेश का विवाह एक गरीब घराने की कन्या यामिनी से कर दिया।

कुछ दिनों के पश्चात् सुधेश और भामिनी ने अवधेश और यामिनी को अपमानित कर अलग रहने के लिये बाध्य किया। अवधेश अपनी पत्नी यामिनी के साथ एक खण्डहर वाले टूटे-फूटे मकान में रहकर मेहनत-मजदूरी कर जीवन-निर्वाह करने लगा। दूसरी ओर सुधेश व्यापार करने लगा और अपनी पत्नी भामिनी सहित सुख और वैभव का जीवन व्यतीत करने लगा।

एक दिन अवधेश लकड़ी काटने जंगल में गया। वहाँ उसे एक योगी मिले और उन्होंने अवधेश को त्याग-प्रत्याख्यान की बात कही और गीली लकड़ी काटने का निषेध किया। कई दिनों तक अवधेश को सूखे वृक्ष दिखलाई नहीं दिये और उसे अपनी पत्नी सहित निराहार रहना पड़ा, किन्तु उस स्थिति में भी वे संतोष पूर्वक प्रसन्न रहे। एक दिन देवालय के कपाट कुल्हाड़े से तोड़ते समय सोमदेव प्रकट हुए और अवधेश के संयम-नियम का प्राणपन से पालन करने को देखकर उसे वरदान दिया। फलस्वरूप सूखी लकड़ियां चन्दन बन गई और उसे उन्हें बेचने पर बीस हजार रुपये प्राप्त हुए। बाद में वह ईमानदारी से व्यापार कर सदाचारिणी यामिनी सहित सुखपूर्वक रहने लगा। भामिनी यामिनी से सारी बात जानकार अपने पति सुधेश को सोमदेव से वरदान लेने भेजती है। किन्तु वहां जाकर सुधेश को जान के लाले पड़ जाते हैं। और देव के समक्ष प्रतिज्ञा करने पर उसे छुटकारा मिलता है।

अन्त में सुधेश और भामिनी को अपने किये पर पश्चाताप होता है। सुधेश सोमदेव के आदेशानुसार अपने पिता की सम्पत्ति का आधा भाग व्याज सहित अवधेश को देने पर विवश होता है। अवधेश के यहां पुत्रोत्सव का आयोजन होता है। सुधेश और भामिनी अवधेश और यामिनी के साथ सद्भावना-पूर्वक रहने लगते हैं। अन्ततोगत्वा महायोगी के दर्शन प्राप्त कर अवधेश और भामिनी परम शांति और आनन्द की अनुभूति से सम्यक् साधना की गहराइयों में पैठकर महामानव की दिशा की ओर अग्रसर होते हैं।

उपन्यासकार ने इसके पात्रों में अवधेश और यामिनी को सदाचारी, सात्विक, परमार्थी और परम संतोषी दरसाया है तथा सुधेश और भामिनी को स्वार्थी, ईर्षालु, बेईमान और कपटी बतलाया है। अवधेश और यामिनी परम त्यागी, समतावान और श्रमण संस्कृति के अनुगामी हैं। इस उपन्यास का कथानक पाठक को सद्प्रवृत्तियों की ओर उत्प्रेरित कर उदात्त जीवन मूल्यों की ओर उन्मुख करता है।

२. लक्ष्य–वेध :

इस उपन्यास का कथानक २५ परिच्छेदों में विभक्त है। इसकी कथा मानसिंह और अभयसिंह के आदर्श भ्रातृ-प्रेम को लेकर लिखी गई है। इस उपन्यास की कथा वस्तु प्राचीन लोक-कथा के आधार पर बुनी गई है। कथानक का उद्देश्य अपने 'स्व' को जागृत कर सशक्त बनाना है। आज व्यक्ति का 'स्व' अस्थिर और चंचल बना हुआ है। फलतः वह पथभ्रष्ट और दिशाहीन हो रहा है। लेखक ने अभयसिंह के माध्यम से भीतरी लक्ष्य अर्थात् त्याग और सेवा की वृत्ति का समर्थन करते हुए मानसिंह के माध्यम से बाह्य लक्ष्य और भोगवृत्ति से विरत होने का संकेत किया है। लेखक का उद्देश्य मानव के आत्मधर्म तथा समाजधर्म के प्रति कर्तव्य पालन की भावना को जागृत करना है।

इस उपन्यास की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—

महाराजा प्रतापसिंह के मानसिंह और अभयसिंह दो पुत्र थे। राजा प्रतापसिंह प्रजापालक, चारित्रवान, न्यायप्रिय और आदर्श जीवन व्यतीत करने वाले लोकप्रिय शासक थे। मानसिंह और अभयसिंह दोनों भाइयों में पारस्परिक प्रगाढ़ प्रेम था। मानसिंह भोग-लिप्सा और रसिकता में विश्वास करता था, किन्तु अभयसिंह सात्विक विचारों का विवेकशील युवक था। एक दिन दोनों भाई नगर के प्रसिद्ध उद्यान में कमलताल के निकट बैठे हुए वार्तालाप कर रहे थे। तालाब की दूसरी ओर नगर श्रेष्ठी की कन्या अन्य सखियों के साथ जल गगरी भर कर खड़ी थी। मानसिंह अपने तीर से लक्ष्य भेदकर नगर श्रेष्ठी की कन्या की गगरी (कलशी) का छेदन करता है। पर अभयसिंह को मानसिंह का यह कार्य अच्छा नहीं लगता है। अभय का विश्वास था कि अपनी कला अथवा ज्ञान का उपयोग पर–पीड़न में नहीं है। प्राणीमात्र को सुख पहुंचाना हमारा आन्तरिक लक्ष्य होना चाहिये। अभयसिंह का जीवन इसी आन्तरिक लक्ष्य प्राप्ति हेतु समर्पित रहता है। जब महाराजा को ज्ञात होता है कि राजकुमार मानसिंह ने नगर श्रेष्ठी कन्या की जल-कलशी को छेदन करने का अपराध किया है, वह उसे राज्य से निकाल देता है। साथ ही अभयसिंह को भी राज्य से निष्कासित कर देता है क्योंकि उसने मानसिंह के इस अपराध की सूचना राजा को नहीं दी थी।

दोनों राजकुमार इस निर्वासन-काल में अनेक प्रकार के कष्टों का बड़े

इस उपन्यास में लेखक ने अनेक घटनाओं का समावेश किया है। उपन्यासकार उदात्त जीवन मूल्यों की स्थापना करने में सफल रहा है। उपन्यास में पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों का भी चित्रण किया गया है। कथा के नायक श्रीकांत और नायिका मंजुला को बाह्य तथा अन्तर्द्वन्द्व से निकाल कर लेखक निर्द्वन्द्व की स्थिति में पहुंचा कर उदात्तीकरण की ओर ले जाता है। वास्तव में मनुष्य अपने जीवन को प्रेम, त्याग और परमार्थ के पथ पर लेजाकर ही अपनी सार्थकता को बनाये रख सकता है।

आज मानव भौतिक सुखों की लालसा से ग्रसित है। वह भोग विलास को ही सब कुछ मान बैठा है। यह उपन्यास आज के भौतिकवादी मानव को इस भोग-लिप्सा से निकल कर परमार्थ के पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है। मंजुला और श्रीकांत के चरित्र आज की युवा-पीढ़ी को सही दिशा में उन्मुख होने को प्रेरणा देते हैं। यह कृति भौतिकता में लिप्त मानव को परमार्थ और आध्यात्मिकता का संदेश देती है।

आचार्य श्री नानेशजी की उपर्युक्त विवेचित कथा-कृतियां समता-दर्शन, संयम, सेवा, क्षमाशीलता, वीतराग, अहिंसा, कर्तव्य पालन और त्याग का स्फुरण करने वाली हैं। नैतिक, सदाचार की भावना से अनुप्राणित लोक-कथाओं के द्वारा इसकी कथा का ताना-बाना बुना गया है। इनकी अनेक घटनाएँ कौतूहल वर्धक हैं तथा पारस्परिक कथा रूढ़ियों का पोषण करती हैं। अतः उनमें अतिरंजना और कहीं-कहीं चामत्कारिकता दृष्टिगोचर होती है। ये कथाएँ आचार्य श्री के प्रवचनों के दौरान कही गई हैं, अतः ज्ञानवर्धक होने के साथ-साथ उपदेशपरक भी हैं। इनमें उपन्यास के सभी साहित्यिक तत्त्वों को खोजना अनुपयुक्त होगा। इनकी भाषा-शैली रोचक, प्रभावोत्पादक है एवं बोधगम्य है।

—पूर्व प्रिंसिपल, गवर्नमेंट कॉलेज, डीग
५-ख-२०, जवाहरनगर जयपुर-३०२००४
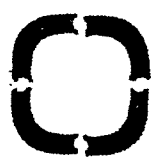
जैन योग के लिए नवीन दृष्टि

❀ डॉ. कमलचन्द सोगानी

आचारांग सूत्र आध्यात्मिक अनुभवों का सागर है। जीवन की मूल्यात्मक गहराइयाँ इसमें वर्णित हैं। आध्यात्मिक साधना के लिए उसका मार्ग-दर्शन अनोखा है। इसमें साधना एवं जीवन-विकास के सूत्र बिखरे पड़े हैं। आध्यात्मिक महापथ के पथिक आचार्य श्री नानेश ने 'आचारांग' के जिस सूत्र की व्याख्या 'क्रोध-समीक्षण' नामक पुस्तक में प्रस्तुत की है वह उनकी गहन साधना का परिचायक है। वे समीक्षण ध्यान के प्रवर्तक हैं। उनकी यह पुस्तक साधकों के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करेगी। जिस दृष्टि से क्रोध कषाय को लेकर विषय का विवेचन किया गया है वह समीक्षण ध्यान के प्रयोग का एक उदाहरण है। क्रोधादि कषायों का 'दर्शी' बनना एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक प्रक्रिया है। वास्तव में सम्यक् अवलोकन ही समीक्षण ध्यान है। आचार्य श्री का कहना है कि "समीक्षण के लिए साधक की अवधानता तभी बन सकती है, जब वह सतत प्रयत्नपूर्वक चरम लक्ष्य की उपलब्धि के लिए जागृत रहे।"

विषय का विवेचन करते हुए आचार्य श्री नानेश ने क्रोध की तरतमता, क्रोध का स्वरूप, क्रोधोत्पत्ति के कारण, क्रोध के दुष्परिणाम, क्रोध-शमन के तात्कालिक उपाय आदि बिन्दुओं को स्पष्टतया समझाया है। इन सभी बिन्दुओं की समझ क्रोध-समीक्षण की आधार-शिला बन जाती है। आचार्य श्री के शब्दों में, "समीक्षण-ध्यान एवं समतामय आचरण के बल पर एक साधक अपनी साधना के अनुरूप क्रोध संबंधी स्कंधों का अवलोकन कर सकेगा।" वास्तव में क्रोध-दर्शी (कोहदंसी) बन जाने से साधक मान-दर्शी (माणदंसी) भी बन जाएगा। इस तरह से समीक्षण ध्यान के प्रयोग से साधक विभिन्न कषायों के आवरण को छेदता हुआ दुःखरहित बन सकता है। आचार्य श्री का क्रोध-समीक्षण विवेचन जैन योग के लिए नवीन दृष्टि प्रदान करता है। कषायों के समीक्षण से साधक आत्मा की शुद्धावस्था तक की यात्रा कर सकता है।

—अध्यक्ष, दर्शन शास्त्र विभाग, सुखाड़िया वि. वि. उदयपुर

सौम्य भाव की यात्रा

❀ डॉ. नरेन्द्र भानावत

धर्म अन्धविश्वास, मनगढ़न्त कल्पना और भावोन्माद का परिणाम न होकर यथार्थ चिन्तन, उदात्त जीवनादर्शों और वृत्तियों के परिष्करण का प्रतिफलन है। चित्तवृत्तियों की शुभाशुभ परिणति से ही मनुष्य और पशु में भेद पैदा होता है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय अशुभ वृत्ति के सूचक हैं। इन पर नियन्त्रण और संयमन करके ही चेतना की ऊर्ध्वमुखी किया जा सकता है।

लोक और शास्त्र के गूढ़ चिन्तक और व्याख्याता आचार्य श्री नानेश ने क्रोध कषाय की जो व्याख्या, विवेचना और समीक्षा प्रस्तुत की है वह हिन्दी साहित्य में चिन्तन की नवीन स्फुरणा और दिशा है। क्रोध जैसे विषय पर इससे पूर्व भी लिखा गया है पर वह उसके हानि–लाभ के व्यावहारिक संदर्भों के सिल-सिले में ही। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने क्रोध विषयक निबन्ध में मनोविज्ञान का धरातल अवश्य प्रस्तुत किया है पर वे उसे आत्मिक संस्पर्श नहीं दे सके हैं।

आचार्य श्री नानेश की यह मौलिक विशेषता है कि उन्होंने क्रोध की उत्पत्ति, स्फीती, अभिव्यक्ति, परिणति, और उसके शमन की प्रक्रिया और सिद्धि पर सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों स्तरों पर शास्त्रीय और अनुभवप्रवण प्रकाश डाला है। साहित्य शास्त्र में क्रोध को रौद्र रस का स्थायी भाव माना गया है पर आचार्य श्री ने क्रोध-त्याग द्वारा सहिष्णुता के विविध आयामी विकास की जो चर्चा की है, वह सौम्य भाव जगाने वाली है। यह सौम्य भाव ही रस अर्थात् आनंद का स्रोत है। रौद्र से सौम्य की ओर हमारी यात्रा हो, यही आचार्य श्री का सन्देश है।

—एसोशियेट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
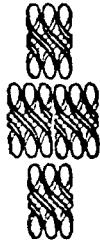
आचार्य श्री नानेश और समता दर्शन

❀ वैराग्यवती कुमुद दस्साणी

युगद्रष्टा युगपुरुष चिन्तन के नवीनतम आलोक में युगीन समस्याओं का समाधान आध्यात्मिक उच्चभूमिकापरक दृष्टि से करते हैं। अपने समय में संव्याप्त कुरीतियों का बहिष्कार कर, जन-समुदाय को नवीन दिशा-बोध देना उनका प्रमुख ध्येय रहता है। इस कड़ी में आचार्य श्री नानेश ने आज चहुंओर विषधर की तरह फुफकार मारती हुई विषमता के प्रतिघात में जनता को एक नवीन आयाम दिया—समता-दर्शन।

आज का जनजीवन आसक्ति रूपी मदिरा में आसक्त विषमता के गहन दल-दल में फंसता जा रहा है। हिंसा का तांडव नृत्य मानव-मन को भयाक्रान्त बना रहा है। विषम विभीषिका के दावानल में प्रज्वलित सभ्यता एवं संस्कृति को सुरक्षित बनाने के लिए पयोधिवत् गम्भीर, मेदिनीवत् क्षमा-शील समता की आवश्यकता है। पतन के गर्त में गमनस्थ जीवन में शाश्वत सुख की सम्प्राप्ति समता से ही सम्भव है। कहा है—

अज्ञान कर्दमे मग्नः जीवः संसार सागरे।
वैषम्येण समायुक्तः, प्राप्तुमुर्हति नो सुखम् ।।

अर्थात्—संसार-सागर में अज्ञानरूपी कीचड़ में लीन, विषमता से युक्त जीव कभी भी सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रत्येक प्राणि इस वैज्ञानिक युग में सुख की साँस ले सके, एतदर्थ आचार्य श्री नानेश ने अपनी मौलिक देन प्रस्तुत की, **समता-दर्शन।**

समता-दर्शन की व्याख्या—दर्शन शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है—**"दर्शन वह उच्च भूमिका है, जहां पर तत्त्वों का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाता है।"** समता-दर्शन में चेतना के समत्वमय स्वरूप को जानकर उसे क्रियान्विति देने का स्वर प्रस्फुटित होता है। इसलिए यह भी दर्शन-कोटि में समाहित है। गीता में **'समत्व'** की मूर्धन्य प्रतिष्ठा संस्थापित करते हुए, उसे मुक्ति अवाप्ति का साधन बतलाते हुए कहा है—

"योगस्थः कुरु कर्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।

अर्थात् सिद्धि और असिद्धि में समान भाव ही समत्व योग है। अतः हे धनञ्जय ! तू अनासक्त भाव से योग में स्थित होकर कर्म कर। यहां समत्व को योग बतलाया है। सुख-दुःख में समत्व की अनुभूति जीवन में सर्वश्रेष्ठ सफलता

धैर्य, साहस और विवेकशीलता से सामना करते हैं। दोनों भाइयों का विछोह भी होता है। जंगल में लक्ष्मी और कालका देवियों का आगमन और उनके द्वारा मार्गदर्शन होता है। नाग की मणि लेने के बाद अभयसिंह की नागिन के दंश से मृत्यु, तांत्रिक महात्मा के मंत्र से अभय का विषहरण, श्रेष्ठी कन्या द्वारा परिचर्या और उससे विवाह। राजा की निसंतान मृत्यु, उत्तराधिकारी के लिये हथिनी द्वारा माल्यार्पण। इधर अभयसिंह वसन्तपुर के एक बड़े व्यापारी धनदत्त के साथ रत्नद्वीप जाता है। रत्नद्वीप की राजकुमारी रत्नावली अभयसिंह का वरण करती है। अभय और रत्नावली के जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ होता है और दोनों प्रेम के पवित्र बंधन में बंध जाते हैं। दोनों विशुद्ध प्रेम और आचरण की शुद्धता में पूर्ण निष्ठा रखते हैं।

अन्त में मानसिंह और अभयसिंह का राम और भरत की तरह मिलाप होता है। दुष्ट धनदत्त को फाँसी की सजा सुनाई जाती है। महाराजा प्रतापसिंह विरक्त हो राज्य का भार युवराज अभयसिंह को सौंप देते हैं। मानसिंह अपने पिता प्रतापसिंह के साथ साधना के मार्ग पर चल पड़ते हैं। राजा अभयसिंह अपनी महारानी मदन-मंजरी व रत्नावली के साथ रत्नद्वीप के भी राजा बन जाते हैं। कालान्तर में अभयसिंह अपने पुत्रों को राज्य सौंप कर दोनों महारानियों सहित भगवती दीक्षा ग्रहण कर आत्म–साधना में लीन हो जाते हैं।

'लक्ष्य-वेध' का कथानक प्रेम, संयम, न्याय और समाज–धर्म के भावों को जाग्रत करता है। इस उपन्यास का नायक अभयसिंह सात्विक गुणों एवं सद्प्रवृत्तियों से युक्त है। प्राचीन लोक-कथा पर आधारित इस उपन्यास में मानव–जीवन का यह सत्य प्रतिपादित किया गया है कि मानव का लक्ष्य 'स्व' को जाग्रत कर सशक्त बनना है। आज व्यक्ति अपने केन्द्र 'स्व' से हटकर परिधि की ओर दौड़ रहा है। अतः वह पथभ्रष्ट होकर दिशाहीन हो रहा है। कथाकार मानसिंह के माध्यम से 'बाहरी लक्ष्य' अर्थात् भोग दृष्टि की ओर संकेत करता है तथा अभयसिंह के माध्यम से भीतरी लक्ष्य अर्थात् त्याग दृष्टि तथा सेवा वृत्ति का प्रतिपादन करता है।

इस उपन्यास द्वारा विद्वान् लेखक व्यक्ति के अन्दर समाज के प्रति उत्तम कर्तव्य बोध की भावना जाग्रत करता है। नगर श्रेष्ठी जयमल धर्म की सामाजिकता का पोषण करता है और नगरवासियों के चारित्र को विगड़ने देना नहीं चाहता है। समाज धर्मिता मनुष्य में उदात्त लोक-सेवा की भावना जाग्रत करती है। आदिवासियों को वह अपना प्यार देता है तथा उन्हें ज्ञानदान देकर सुसंस्कारी बनाता है। पन्ना कुम्हार निर्लोभी है और घूस में वह अशर्फिया लेने से इन्कार कर देता है। कान्ता दासी सच्ची नारी है और वह अपनी स्वामिनी रत्नावली का निष्ठापूर्वक साथ देती है। धनदत्त दुष्ट है और किसी भी प्रकार से धन कमाना

उसका लक्ष्य है । उपन्यास के अन्त में दुष्ट पात्रों के लिये उचित दण्ड की व्यवस्था कर सदाचरण और मन को शुद्धि पर बल दिया गया है । अभयसिंह की दोनों पत्नियां मदनमंजरी और रत्नावली शील और सदाचार का आदर्श है, उनमें सेवा और त्याग की भावना विद्यमान है । कथानक में कर्म और पुरुषार्थ का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है ।

उपन्यास के घटना-संयोजन में विभिन्न रूढ़ियों का आश्रय लिया गया है। राजकुमार द्वारा जल-कलशो छेदन, राजकुमारों का निर्वासन, वन-वन भटकना, लक्ष्मो और कालिका देवियों का आगमन, उनके द्वारा मार्गदर्शन, नर राक्षस का आतंक, मणिधर सर्प, सर्पिणी का दंश, तांत्रिक द्वारा मंत्र से विष उपचार, ३२ लक्षणों वाले पुरुष को बलि का विधान आदि रूढ़ियों के प्रयोग से कथा में कौतूहल और रोचकता का समावेश किया गया है ।

३. अखण्ड सौभाग्य :

आचार्य श्री नानेश के प्रवचनों के आधार पर प्रकाण्ड विद्वान् श्री शांतिचन्द्रजी मेहता द्वारा इस उपन्यास का सम्पादन किया गया है । इस कथाकृति में महाराजा चन्द्रसेन आदि उनकी पटरानी तथा युवराज आनंद सेन के माध्यम से समतावान जीवन, क्षमाशीलता, राजा के कर्तव्य तथा विनयशीलता आदि मानवीय उदात्त गुणों का प्रतिपादन किया गया है । कथानक रोचक एवं कौतूहलवर्धक है ।

इस उपन्यास का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है—

ऐतिहासिक चम्पा नगरी अपने राज्य वैभव के कारण इतिहास में प्रसिद्ध है । यहां के राजा प्रजा-हितकारी, समतावान और जनकल्याण के प्रति निष्ठावान थे । इसी परंपरा में सम्राट चन्द्रसेन चम्पा नगरी के शासक बने । उनके कोई सन्तान नहीं थी । अतः वे इस कारण चिंतित रहते थे कि उनका उत्तराधिकारी कौन होगा । वे देवी-देवताओं की मनोतियां करते रहते, पर उनकी महारानी ज्ञानवान तथा समतावती थी, वह कर्म सिद्धान्त में विश्वास रखती थी । महाराजा को खिन्न देखकर उसने दूसरे विवाह की अनुमति दे दी । दूसरे विवाह से भी उन्हें संतान की प्राप्ति नहीं हुई । इस प्रकार राजा चंद्रसेन ने एक के बाद एक बारह विवाह किये । बड़ी रानी के स्नेह एवं समतामय जीवन तथा सद्व्यवहार के कारण सभी रानियां प्रेमपूर्वक रहती थीं । राजा चंद्रसेन स्वयं बड़ी रानी के श्रेष्ठ विचारों एवं आदर्श जीवन से प्रभावित थे ।

श्री विद्याधर की पुत्री विश्व सुन्दरी श्री चंद्रसेन की बारहवीं रानी थी जो वास्तव में अपूर्व सुन्दरी थी । दैवयोग से विश्व सुन्दरी गर्भवती हो जाती है । राजा चंद्रसेन विश्व सुन्दरी की देखभाल का कार्य अनुभवी नाइन सलखू को सौंपते हैं, किन्तु अन्य रानियों को विश्व सुन्दरी से ईर्षा हो जाती है और वे सलखू नाइन को स्वर्णाभूषण का प्रलोभन देकर विश्व सुन्दरी की भावी संतान

को नष्ट करने हेतु षड्यंत्र रचती हैं । सलखू नाइन प्रलोभन में आकर विश्व सुन्दरी के जुड़वा शिशुओं को एक अंधे कुए में फेंक देती है और महाराजा से असत्य कह देती है कि रानी ने कुत्ते के दो बच्चों को जन्म दिया है । फक्कड़ बाबा ब्रह्मानंद द्वारा विश्व सुन्दरी के दोनों बच्चों (आनंदसेन और चम्पकमाला) की रक्षा होती है ।

अन्त में महाराजा चम्पानगरी से आनन्दपुर जाते हैं । वहां अपने पुत्र आनंदसेन और पुत्री चम्पकमाला से मिलकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं । शीलावती आनन्दसेन को स्वामी स्वीकारती है । राजा चन्द्रसेन षड्यंत्रकारी ग्यारह रानियों को मृत्यु दण्ड और सलखू नाइन को राज्य निष्कासन का आदेश देते हैं । किन्तु विश्व सुन्दरी और आनन्दसेन के तथा चम्पकमाला के कहने पर मृत्यु दण्ड को देश निष्कासन में परिवर्तित कर देते हैं । महाराजा चन्द्रसेन, बड़ी रानी, आनंदसेन, विश्व सुन्दरी, चम्पकमाला आदि सहित चम्पानगरी लौटते हैं । वे राज सभा में आनन्दसेम को अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हैं । महाराजा चन्द्रसेन, सभी रानियां तथा राजकुमारी चम्पकमाला भागवती प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं । आनंदसेन अपनी रानी शीलावती सहित धर्मानुसार अपना कर्तव्य पालन करते हैं ।

उपन्यास के अन्तिम अंश में आर्य जिनसेन से उद्‌बोधित होकर मुमुक्षु आत्माओं का संयम धारण करना आदि कौतूहलवर्धक है । इस कथाकृति में सत्य, समता भावना तथा नवकार महामंत्र की महत्ता और साधना का महत्त्व प्रति–पादित किया गया है । साथ ही समता, आस्था, शील और विनय को अखण्ड सौभाग्य का देने वाला दरसाया गया है । कथा में निरन्तर रोचकता बनी रहती है ।

४. कुंकुम के पगलिए :

आचार्य श्री नानेश ने अपने अजमेर चातुर्मास के दौरान अपने प्रवचनों में इस उपन्यास की कथा का उपयोग किया था । श्री शान्ति चन्द्र मेहता ने इस कथाकृति का सुसम्पादन किया है । इस उपन्यास का कथानक ३४ परिच्छेदों में विभक्त है । श्रीकान्त और मंजुला इस उपन्यास के नायक और नायिका हैं । दोनों का आदर्श चरित्र नैतिक सदाचार से युक्त है । लौकिक प्रेम से परिपूर्ण मंजुला द्वारा नववधू के रूप में बनाये गये कुंकुम के पगलिए अनेक घटना–चक्रों से गुजरकर तप और त्याग की अग्नि में दहकते हुए उसे आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करते हैं । कथानक का सृजन लोकभूमि के धरातल पर हुआ है । मंजुला के पगलिए लाल कुंकुम के हैं जो अनुराग, सुख और अखण्ड सौभाग्य के प्रतीक हैं ।

श्रीपुर नगर में श्रेष्ठ वर्ग का श्रीकान्त नामक एक संस्कारशील, स्वाभिमानी और पुरुषार्थी युवक अपनी माता और छोटी वहन पद्मा के साथ रहता था । श्रीकान्त का विवाह एक सुशील सुसंस्कारी मंजुला नामक कन्या से हुआ था । मंजुला के माता-पिता भी सम्पन्न एवं सद्‌प्रवृत्ति वाले थे । नववधू सौ. मंजुला

के पगतलियों में कुंकुम का लेप किया गया ताकि ससुराल की हवेली में पड़ने वाला उसका प्रत्येक चरण कुंकुम के पगलिए मांडता जाए, उसका प्रत्येक चरण इस घर को कुंकुम की तरह मंगलमय बनावे।

श्रीकान्त सादगी पसंद एक स्वाभिमानी युवक था। धन और वैभव की उसे चाहना नहीं थी। अपने पिता की सम्पत्ति को वह मां के दूध की तरह पवित्र मानता था और उसका उपयोग अपने लिये नहीं करता है। वह अपने पुरुषार्थ से अर्जित की गई सम्पत्ति को ही निजी सम्पत्ति मानता था। अतः विवाह के दूसरे दिन ही वह स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करने की कामना से अपनी जीविका के लिये पुरुषार्थ के पथ पर चल पड़ता है। उसे विश्वास है कि उसकी पत्नी मंजुला के कुंकुम के पगलिए और उसका शील-सौभाग्य बनकर उसे सदैव सुखी रखेगा।

इधर श्रीकान्त पुरुषार्थी बनकर अनजान पथ पर अग्रसर हो जाता है। उधर श्रीकांत की अनुपस्थिति में उनकी पत्नी मंजुला पर उसकी मां और बहन पद्मा द्वारा मिथ्या आरोप लगाये जाते हैं और उसे घर से निकाल दिया जाता है। मंजुला दर-दर भटकती हुई अनेक कठिनाइयों का सामना करती है और एक पुत्र को जन्म देती है। बाद में उसका पुत्र भी उससे बिछुड़ जाता है। मंजुला दुर्भाग्यवश कामुक राजा जयशेखर की बंदिनी बनती है। वह अपनी विषम स्थितियों में अपने शील और धर्म की रक्षा करती है। किसी प्रकार राजा जयशेखर से छूट कर वह एक वेश्या के चंगुल में फंस जाती है। अपने प्राणों की बाजी लगा कर मंजुला उस वेश्या से मुक्त होती है। अन्त में दोनों का कठिनाइयों से छुटकारा मिलता है। श्रीकान्त और मंजुला अपने पुत्र कुसुम कुमार से मिलते हैं। मां और पद्मा को भी अपनी गलती का अहसास होता है। श्रीकान्त, मंजुला और उनका पुत्र कुसुम कुमार विधि-विधानपूर्वक साधु धर्म की दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

मंजुला का चरित्र एक शीलवती, सदाचारिणी आदर्श नारी के रूप में चित्रित हुआ है। उसके द्वारा बनाये गये कुंकुम के पगलिए राग के प्रतीक न होकर उसके लिये विराग का अमृत बन जाते हैं। वह तेजोमयी, कर्तव्यनिष्ठ, शक्तिवती नारी है। श्रीकांत एक स्वाभिमानी, उत्साही, पुरुषार्थी और साहसी युवक है। उसमें आत्मशक्ति और परोपकारी भावनाएँ हैं। वह अपने भाग्य का निर्णय करने हेतु अनजान पथ का पथिक बन जाता है। उसे अनीति से प्राप्त धन अभीष्ट नहीं है। वह पुरुषार्थ, न्याय और नीति से अर्जित धन पर ही अपना अधिकार समझता है। मित्र विद्याधर के सहयोग से उसके पुरुषार्थ को बल मिलता है। अनेक कठिनाइयों को सहन करने के पश्चात् वह अपने उद्देश्य में सफल होता है। श्रीकान्त अपने स्नेहिल सद्व्यवहार और परोपकारी वृत्ति से दूसरों को प्रभावित करता है।

है। यही समत्व वीतरागत्व प्राप्ति में परम सहायक है। 'आचाराङ्ग सूत्र' में इसी समत्व की श्रेष्ठता द्योतित करते हुए कहा है—**'समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए।'** अर्थात्—आचार्यों ने समत्व में धर्म कहा है। अतः प्राणिमात्र के प्रति समत्व की उदार भावना से समन्वित आत्मोत्थान के लिए प्रशान्त वृत्ति ही समता है। प्रभु महावीर का **'जियो और जीने दो'** सिद्धान्त इसी समत्व का परिपोषक है। वस्तुतः समता मानव जीवन की महान् एवं अनुपम उपलब्धि है।

समता-दर्शन का उद्देश्य—अन्तर्बाह्य विषमताओं का अन्त करना ही समता दर्शन का उद्देश्य है। समता का समुज्ज्वल आदर्श चिरन्तन साधना का समुपयोगी तत्त्व है। समग्र आचार दर्शन का सार समत्व की साधना में समाहित है। मानसिक चंचलता को संयम से वशीभूत कर भौतिकता की भीषण ज्वाला को आध्यात्मिकता के शीतल पय से शमित करना समता की अपेक्षित तत्त्व दृष्टि है। सहयोग, समन्वय, संयम, सद्भाव इसके महास्तम्भ हैं।

'एगे आया' के सिद्धान्त को अपनाकर **'सव्वेसिं जीवियं पियं'** की सद् शिक्षा को प्रत्येक मानव के उदात्त मस्तिष्क में भरना ही समता-दर्शन का मूल उद्देश्य है। भौतिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में संव्याप्त विषमता की दुष्ट प्रवृत्तियों पर प्रतिबन्ध लगाना, भावात्मक एकता की ओर अग्रसर करना ही इसका मूल प्रयोजन है। अन्य-२ दार्शनिक प्रवरों के सिद्धान्तों को सुगमता से हृदयङ्गम करने का एक मात्र उपाय है, समता-दर्शन। यह केवल दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ही समुपयोगी नहीं है, प्रत्युत आज इस वैज्ञानिक युग में जहां तृतीय विश्व युद्ध की घनघोर घटाएं मंडरा रही हैं, वहाँ शांतिपूर्ण एवं सुगम रीति से मानव-मूल्यों की संरक्षा समता-दर्शन से ही सम्भव है।

समता-दर्शन के सोपान—सम्पूर्ण विश्व में सुरभिमय वातावरण उपस्थित करने के लिए, समता-दर्शन के प्रचार-प्रसार का विशिष्ट कार्य आचार्य श्री नानेश ने किया है। उन्होंने इसके प्रमुख चार सोपानों का प्रतिपादन किया है। वे इस प्रकार हैं—

१. सिद्धान्त-दर्शन—अपनी समस्त इन्द्रियों को संयमित कर प्रत्येक कार्य में समत्व को प्रधानता देना ही सिद्धान्त-दर्शन है। समभाव की पूर्णावस्था ही समता का सत्य तथ्य सिद्धांत है। कहा है—

> **गृह्णातिहृदि भद्रेण, त्यागवैराग्य संयमम्।**
> **लभते सम सिद्धान्तं, जीवनोन्नति कारकम्॥**

अर्थात्—त्याग, वैराग्य और संयम को सरलता से जो हृदय में धारण करता है, वही जीवन उन्नति कारक समता सिद्धान्त को प्राप्त करता है।

२. जीवन-दर्शन—समभाव की साधना के लिए सप्त कुव्यसनों का त्याग

करते हुए जीवनोपयोगी आत्म-साक्षात्कार कराने वाली वस्तुओं का आचरण जीवन-दर्शन है। **'आत्मवत् सर्व भूतेषु'** ही समता-दर्शन का द्वितीय सोपान है। जीवन को सादा, शीलवान्, अहिंसक बनाये रखना समता जीवन-दर्शन है।

३. आत्म-दर्शन—अपनी आत्मा को सावद्य प्रवृत्तियों से विलग कर सत्प्रवृत्तियों की तरफ सत्पथगामी बनाना ही आत्म-दर्शन है। कहा भी है—

अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकिञ्चनम् ।
यश्चपालयते नित्यं स आप्नेत्यात्मदर्शनम् ॥

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जो सर्व-संयमित पालन करता है, वह आत्म-दर्शन को प्राप्त करता है।

४. परमात्म-दर्शन—आत्मा का साक्षात्कार ही परमात्म-दर्शन है। सम्पूर्ण कर्ममल रहित निराकार पद की अवाप्ति ही परमात्म स्वरूप है। कहा है—

कर्मणश्च विनाशेन, संप्राप्यायोगिजीवनम् ।
संसारे लभते प्राणी, परमात्मपदं फलम् ॥

अर्थात्—कर्म के विनाश से अयोगी अवस्था को प्राप्त आत्मा-परमात्मपद को प्राप्त करती है। इस प्रकार आचार्य श्री ने समता-दर्शन की सुन्दर परिव्याख्या की है।

समता-दर्शन की महत्ता नवीन परिप्रेक्ष्य में—युद्ध की विभीषिका आज जहां सभ्यता एवं संस्कृति को विनष्ट करने में तत्पर है, वहां समता का मंगलमय स्वर उसे सुरक्षित रख सकता है। समतामय आचरण के २१ सूत्र तथा तीन चरण भी इस हेतु द्रष्टव्य हैं। आचार्य श्री ने सुदीर्घ साधना एवं गहन चिन्तन की वीथिकाओं में विहरण कर समता-दर्शन का अद्भुत उपहार दिया है। समता से भावी एवं वर्तमान का नव्य भव्य निर्माण सम्भव है। यह इस युग के लिए ही नहीं प्रत्युत प्रत्येक युग के लिए एक प्रकाश स्तम्भ बन कर रहेगा। यह छोटी-सी विषमता से लेकर विस्तृत विषमता का दूरीकरण करने में समर्थ है। शांति का विमल ध्वज इसी के आधार पर फहराया जा सकता है। आचार्य श्री ने अनुभूति के आलोक में जो कुछ देखा, उसे समता-दर्शन के रूप में जन-२ तक पहुंचाया है। समता ही सारभूत है। गीता में कहा है—

'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।'

—समता-भवन, बीकानेर

□

आचार्य श्री नानेश और समीक्षण ध्यान

❀ श्री शान्ति मुनि

ध्यान-साधना की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए महावीर दर्शन में कहा गया है—

अहो ! अनन्तवीर्योऽयमात्मा विश्व प्रकाशकः
त्रैलोक्यं चालयत्येव, ध्यान शक्ति प्रभावतः ।।

यह आत्मा अनन्तवीर्य-शक्ति–सम्पन्न एवं विश्व के अणु-अणु का प्रकाशक है। जब इसमें ध्यान–ऊर्जा का जागरण हो जाता है तो यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को चलित कर सकता है।

वास्तव में ध्यान की शक्ति अबूझ है। क्योंकि ध्यान का सामान्य अर्थ है चित्तवृत्तियों के भटकाव को अवरुद्ध करके उन्हें किसी एक तत्त्व पर केन्द्रित कर देना। यह वैज्ञानिक सिद्धांत है कि बिखरी हुई सूर्य-किरणें, सौर-ऊर्जा अकिञ्चित कर होती हैं, किन्तु वे ही किसी आइग्लास पर केन्द्रित होकर, अग्नि उत्पन्न कर देती हैं। ठीक यही स्थिति चैतन्य ऊर्जा की है। जब ध्यान के द्वारा चैतन्य ऊर्जा का जागरण हो जाता है तो उसके लिये इस विश्व में कोई भी असम्भव कार्य नहीं बचता है।

ध्यान–ऊर्जा का इतना अचिन्त्य प्रभाव होने पर भी ध्यान–साधना का हो पाना सुकर नहीं है। जीवन इतना जटिल हो गया है कि उसे सहज बनाना कठिन हो गया है। आज अधिकांश व्यक्तियों का पूरा जीवन विपरीतियों, विसंगतियों एवं तनावों में जीने का अभ्यस्त बन गया है। उस अभ्यास के कारण विपरीतियां और विसंगतियां वैसी लगती ही नहीं है। आज का आम मानव भ्रान्तियों में जीने का अभ्यासी, आदी बन गया है। आज उसे सत्य में जीना बड़ा अटपटा लगता है। पाश्चात्य दार्शनिक नीत्से ने एक जगह लिखा है—'आदमी सत्य को साथ लिये नहीं जी सकता है। उसे चाहिये सपने, भ्रान्तियां, उसे कई तरह के झूठ चाहिये जीने के लिये।' और नीत्से ने जो कुछ कहा वह आम मानव की दृष्टि से सत्य ही लगता है। आज इन्सान ने जीने के लिये असत्य को बहुत गहराई से पकड़ा है। अपने इर्द-गिर्द भ्रान्तियों की बाड़ लगा दी है और अपनी ही लगाई उस बाड़ से उसका निकलना कठिन हो गया है।

● मुनि श्री की समीक्षण-ध्यान सम्बन्धी कृतियों से संकलित।

इस बात को समझना वहुत आवश्यक हो गया है क्योंकि इसे समझे बिना हम आनन्द या शक्ति के द्वार तक नहीं पहुंच सकते हैं और वहां पहुंचे बिना हमारी चेतना को कहीं विश्रान्ति नहीं मिल सकती है । किन्तु भ्रान्तियों की बाड़ या असत्य के चौखटों को समझने के लिये मन को, उसकी वृत्तियों को और उसके सूक्ष्म स्पन्दनों को समझना आवश्यक है । उसे समझने की प्रक्रिया का नाम है—'समीक्षण ध्यान-साधना ।' समीक्षण ध्यान-साधना उस जड़ाभिमुख तन्द्रा को तोड़ती है जिसके कारण व्यक्ति असत्य और भ्रान्तियों में जीने का अभ्यासी हो गया है। ज़ैसे चमारों को चमड़े की गन्ध नहीं आती, करीब–करीब वही दशा आम व्यक्ति की बनी हुई है ।

आज का विज्ञान भी कहने लगा है—कि मनुष्य नींद के बिना तो फिर भी जी सकता है, सपनों के बिना इसका जीना मुश्किल है। पुराने युग में समझा जाता था कि नींद एक आवश्यक प्रक्रिया है, किन्तु आज वह मान्यता वदल गई है। आज का विज्ञान मानता है कि नींद इसलिये आवश्यक है कि आदमी सपने ले सके ।

चूंकि आदमी स्वप्नलोकी तन्द्रा में जीने का अभ्यासी बन गया है और उसे वे अभ्यास आनुवंशिक परम्परा के रूप में मिलते जाते हैं । अतः उसके जीने के लिये वे आवश्यक हो जाते हैं, किन्तु यथार्थ सत्य यह है कि इन्सान का यह विपरीतियों से भरा अभ्यास ही उसे अशान्त बनाये हुए है। आज मानव मन की अशान्ति, उसके तनाव, चरम सीमा का स्पर्श करते दिखाई देते हैं और इसी दृष्टि से समस्त बुद्धिजीवियों में एक व्यग्रतापूर्ण भाव भी निर्मित होता जा रहा है कि आखिर विसंगतियों से भरी यह जीवन-प्रणाली हमें कहां ले जाकर डालेगी? हमारे ऐहिक और पारलौकिक दोनों जीवन कब तक असन्तुलित एवं तनावपूर्ण बने रहेंगे ? और इसी व्यग्रता ने अनेक साधना–पद्धतियों का आविष्कार किया है। तनाव–मुक्ति एवं आत्म-शान्ति की शोध में हजारों–हजार मानव मन विभिन्न साधना–सरिताओं में प्रवाहित होने लगे । उन्हीं साधना–सरिताओं में से एक परम पावनी, मन–मलीन–हारिणी, जन–जन तारिणी सुपरिष्कृत साधना पद्धति है—समीक्षण-ध्यान । इस साधना पद्धति के द्वारा हम न केवल बाह्य तनावों से ही मुक्त होते हैं, अपितु कषाय-मुक्ति एवं वासना–विवेचन के द्वारा आत्म साक्षात्कार एवं परमात्म साक्षात्कार का चरम आनन्द भी प्राप्त करते हैं।

इस साधना पद्धति के आविष्कर्ता समतायोगी आचार्य श्री नानालालजी म. सा. स्वयं में एक उच्चकोटि के महान् ध्यान–साधक हैं । साधना ही उनके जीवन का सर्वस्व है । उनका प्रतिपल आत्म–समीक्षण को ही समर्पित है । एक वहुत विराट संघ के नायक–संचालक होते हुए वे भी उससे जल कमलवत् अलिप्त रहने के अभ्यासी हैं । अतः उनकी यह आविष्कृति पूर्णतया अनुभूतियों से सम्पृक्त

अन्तरंग चेतना की भावभूमि से निःसृत है। अनेक वर्षों की गुरु-चरण सेवा एवं साधना अनुभवों का निष्कर्ष है—यह साधना पद्धति। अस्तु इसका सर्वजनोपयोगी होना स्वतः निर्विवाद हो जाता है।

साधना के सन्दर्भ में एक विचारणीय बिन्दु यह है कि यह केवल चर्चा, तर्क-वितर्क अथवा अध्ययन का विषय नहीं है। यह स्वयं में साधन कर चलने एवं अनुभूतियों से गुजरने का विषय है, हम आचार्य प्रवर द्वारा प्रदत्त इस साधना-पद्धति का अनुशीलन कर स्वयं अनुभव करें कि यह साधना-पद्धति हमारे लिये कितनी उपयोगी एवं आवश्यक सिद्ध होती है।

समीक्षण-ध्यान आगम वर्णित ध्यान विधियों का निचोड़-निष्कर्ष है और आचार्य प्रवर श्री नानेश की दीर्घकालीन साधनात्मक अनुभूतियों का सन्दोह है। यद्यपि अभी यह साधना विधि प्रयोगात्मक प्रणाली के आधार पर अधिक जन-प्रचारित नहीं हुई है, किन्तु जिन आत्म-साधकों ने इसकी प्रयोगात्मकता को आत्मसात् किया है, उन्होंने आत्मानन्द के साथ मनः सन्तुलन एवं मानसिक एकाग्रता के क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की है।

आचार्य प्रवर श्री नानेश ने अनेक बार समीक्षण ध्यान के विविध आयामी प्रयोगों को आत्मसात् ही नहीं किया, अपितु अपने शिष्य-परिकर को भी उन अनुभूतियों का आस्वादन करवाया है। उनकी स्वयं की जीवन-प्रणाली तो प्रतिपल ध्यान योग में लीन एक ध्यान-योगी की प्रणाली है। उनकी चेतना के प्रत्येक प्रदेश में, उनके जीवन के प्रत्येक व्यवहार में ध्यान-योग प्रतिबिम्बित ही दिखाई देता है। उनकी इस योग-मुद्रा का प्रभाव अपने परिपार्श्व को भी प्रभावित करता है। इसीलिये उनके निकट का समस्त वायु मण्डल ध्यान-साधना से अनुप्राणित बना रहता है।

आचार्य प्रवर ने अपनी सुदीर्घ ध्यान-साधना की अनुभूतियों के आधार पर ध्यान की इस नूतन विधा को अभिव्यक्ति प्रदान की है। यद्यपि यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह समीक्षण-ध्यान विधा आगम प्रतिपादित ध्यान-विद्या से भिन्न नहीं है, फिर भी इसकी अन्य अनेक प्रचलित ध्यान विधाओं से अलग ही विशेषता है, इसके द्वारा हम जीवन की सामान्य से सामान्यवृत्ति का समीक्षण करते हुए आत्म-समीक्षण और परमात्म-समीक्षण की स्थिति तक पहुंच सकते हैं।

ध्यान की यह अप्रतिम विधा अपने आप में एक नूतन विधा है। यह केवल मानसिक तनाव-मुक्ति तक ही सीमित नहीं है। इसका प्रभाव आत्म-दर्शन की उस भूमिका तक जाता है जो परमात्म-दर्शन के द्वार उद्घाटित कर देती है।

समीक्षण ध्यान-साधना में किसी भी प्रकार की हठयोग जैसी प्रक्रियाओं

को स्थान नहीं दिया गया है। यह साधना सहज योग की साधना है। समीक्षण द्रष्टाभाव की साधना है। इस प्रक्रिया में हम दुर्वृत्तियों के निष्कासन के प्रति किसी प्रकार की जबर्दस्ती नहीं करते हैं और न शक्ति जागरण द्वारा आत्मोन्नयन के प्रति भी किसी प्रकार की हठवादिता अपनाई जाती है। यहां केवल द्रष्टाभाव आत्म-समीक्षण की सूक्ष्म प्रक्रिया के द्वारा ही सहज, सरलता से अशुभत्व का बहिष्कार एवं शुभत्व का संस्कार होता चला जाता है।

समीक्षण ध्यान हंस चोंचवत्–वस्तु के स्वरूप का यथार्थ बोध कराता हुआ अंतर्पथ के राही को ऊर्ध्वारोहण में गति प्रदान करता है।

'ज्ञानार्णव', 'योग दृष्टि समुच्चय' आदि ग्रन्थों में जिन पदस्थ आदि ध्यान-विधियों का उल्लेख मिलता है, वे ही आत्म–समीक्षण की भी विधियां हैं। आगमों में आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान का जो गहनतम विवेचन उपलब्ध होता है, वह सब समीक्षण का ही विविध रूपी विश्लेषण है। धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान की जो भावनाएँ-अनुप्रेक्षाएँ बताई गई हैं, वे समीक्षण की विविध-आयामी पद्धतियां ही हैं।

इस प्रकार मन को किंवा मनोयोग को स्वस्थ दिशा प्रदान करने वाली जितनी भी विधियां/प्रणालियां अथवा पद्धतियां हैं, वे समीक्षण-ध्यान की विधियां मानी जा सकती हैं।

आगमिक परिप्रेक्ष्य में चिंतन किया जाय तो ध्यान का सम्बन्ध प्रारम्भ में मानसिक अशुभ वृत्तियों का परिमार्जन एवं शुभ वृत्तियों को आत्म-स्वरूप की ओर दिशा देने से ही अधिक है। इस प्रकार की प्रक्रिया से चलता हुआ साधक जब तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान में पहुंचता है तो उन वीतरागी आत्माओं को ध्यान-साधना की विशेष अपेक्षा नहीं रहती है, क्योंकि उन स्थानवर्ती आत्माओं के मन की अशुभ वृत्तियां परिमार्जित हो जाती हैं जिससे मन सम्बन्धी चंचलता का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है एवं शुभ वृत्तियां आत्म-स्वरूप की ओर मोड़ खाती हुई अप्रमत्त भाव में समाविष्ट हो जाती हैं। अतः प्रारम्भिकता से लेकर कुछ ऊर्ध्वगमन तक स्थिर रखने के प्रयास की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इन दोनों गुण-स्थानों में सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती एवं सम्भुछिन्न क्रिया निवृत्ति रूप दो ध्यान पाते हैं, वे भी मन, वचन, काय के योगों का व्यवस्थितिकरण एवं चरम-परिणति की अवस्था में आत्म-प्रदेशों का स्थिरीकरण होने से सम्बन्धित है, क्योंकि वहां ध्यान-साधना की अन्तिम मंजिल प्राप्त हो जाती है।

निष्कर्ष में हम यह कह सकते हैं कि समीक्षण ध्यान आचार्य श्री नानेश के द्वारा उद्घाटित वह द्वार है, जिससे हम सर्व-समाधानों की मंजिल प्राप्त कर सकते हैं एवं आत्म-कल्याण के चरम लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं। ▽

समता-साधना : सामाजिक एवं नैतिक पक्ष

❀ श्री सुरेशकुमार सिसोदिया

सामाजिक शब्द ही यह स्पष्ट करता है कि जहां समाज है वहां समता की नितान्त आवश्यकता है। वस्तुतः देखा जाय तो ज्ञात होता है कि समाज के टिके रहने का आधार ही समता है क्योंकि समता का अभिप्राय ही सबके प्रति समभाव रखना और मिलजुल कर भाई-चारे से रहना है। जहां यह भाव नहीं, वहां सामाजिकता टिक ही नहीं सकती।

अब यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति के जीवन में समता कैसे आये ? जब हम प्राणिमात्र के जीवन को देखते हैं और उस पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि यह सब नैतिकता से आबद्ध है। नैतिकता ही जीवन की वह अमूल्य धरोहर है जो व्यक्ति को सफलता के सर्वोच्च सोपान तक पहुंचाने में समर्थ है। यदि व्यक्ति के जीवन से नैतिकता हट जाती है तो फिर उच्छृंखलता और स्वच्छन्दता दोनों ही साथ-साथ आती है जो न केवल संघर्ष का कारण बनती है वरन् उसके पतन का कारण भी बनती है।

नैतिकता तो सामाजिक धरातल का आधार स्तम्भ है। इस कथन की सत्यता को प्रबुद्ध व्यक्ति किस सीमा तक स्वीकारते हैं, यह अलग बात है। किन्तु समाज का वह वर्ग जिसे हम अनपढ़, असभ्य, डाकू, चोर, लुटेरे कुछ भी कह लें, नैतिकता तो उनमें भी विद्यमान है। उनमें भी पूर्ण नैतिकता का पालन होता है। चोर और लुटेरे भी चोरी के माल को आपस में बांटते समय ईमानदार बने रहते हैं। वे भी अपने समाज और अपने गिरोह के लिए ईमानदार हैं, विश्वसनीय हैं और एक दूसरे का विश्वासपात्र बने रहने में अपना हित मानते हैं। नैतिकता का इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या हो सकता है ? यहां मेरे इस कथन का यह अर्थ नहीं लिया जाय कि मैं उनकी तथाकथित नैतिकता को आदर्श मान रहा हूं। मेरे यह कहने का अर्थ समाज को इस ओर इंगित करना मात्र हैं कि जब समाज का निम्न स्तरीय वर्ग भी इस सीमा तक नैतिकता का पालन कर रहा है तो समाज का वह बुद्धिजीवी वर्ग जिसे हजारों वर्षों से उन सन्त महात्माओं, युग पुरुषों और ज्ञानियों के प्रवचन पढ़ने, सुनने को मिलते रहे हैं जिन्होंने जीवन पर्यन्त स्वयं समतावान बनकर मानव समाज को नैतिकता का पाठ पढ़ाया हो, समता का उपदेश दिया हो, लेकिन वह वर्ग उन संत महात्माओं एवं विचारकों के उपदेशों को सुनने और समझने के बाद भी समाज में अमीर-गरीब, शोषक-शोषित, मालिक-मजदूर और ऊंच-नीच का भेद-भाव कम नहीं कर सका।

आज भौतिकता की चकाचौंध ने व्यक्ति को इस सीमा तक अपनी ओर आकर्षित कर लिया है कि उसके पड़ौस में क्या कुछ हो रहा है यह सब देखने, सुनने और समझने का वह प्रयत्न ही नहीं करता।

प्रायः सभी धर्मों ने किसी न किसी रूप में मानव समाज को समता का उपदेश दिया है। समता का अर्थ एवं उसकी सार्थकता मात्र धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित है, यह कहना न्यायोचित नहीं होगा वरन् समता तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का अभिन्न अंग है। चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो, राजनैतिक क्षेत्र हो या आर्थिक क्षेत्र ही क्यों न हो। समता की उपयोगिता से यों तो सभी परिचित से लगते हैं लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि हमारा सम्पूर्ण जीवन विषमता से भरा है।

समभाव, समन्वय, साम्यदृष्टि, साम्य–विचार आदि समता में विद्यमान हैं। सामाजिक एवं नैतिक मूल्य समता के अभिन्न अंग हैं। समता की विभूति आदर्श है इतना सब होते हुए भी समता का सिद्धान्त साधना के चरम शिखर को छू सके या न छू सके यह बात अलग है किन्तु यह दायित्व तो उदात्त भी बनता है कि हमारे द्वारा जन-जन में यह धारणा व्याप्त कर दी जानी चाहिए कि समता हमारी संस्कृति का जीवनप्राण है जिसमें न केवल सभ्यता के बीज निहित हैं वरन् उसमें तो सम्पूर्ण जीवन का अस्तित्व समाविष्ट है। समता वह अमोघ शस्त्र है जिसका प्रयोग करने से आक्रमणकारियों के जीवन पक्ष भी सभ्य बनकर त्याग, बलिदान एवं साहस की वास्तविकता को स्वीकारेंगे।

सादगी, सरलता एवं नैतिकता आदि समता के सूत्र हैं परन्तु इस सूत्र का व्यापक स्तर पर संवर्द्धन नहीं हो सका है अतः साधुवर्ग, श्रावकवर्ग, लेखक, समाज के प्रतिष्ठित लोग एवं समाज के प्रत्येक नागरिक का यह दायित्व बनता है कि वह अब भी इस पक्ष की उपादेयता को अंगीकार करे एवं समाज के उत्थान एवं नैतिक मूल्यों की स्थापना में लगे। यदि हमारा लक्ष्य सर्वोपरि होगा तो भ्रान्तियां निसन्देह मिटेंगी तथा हममें एकता की शक्ति और सुरक्षा की भावना स्वतः ही उत्पन्न होगी और तब एक ऐसे बीज का पुनः प्रयोग होगा जो हजारों वर्षों से लुप्त मानवीयता को सम्मुख लाकर एक विशाल वृक्ष की संज्ञा को प्राप्त हो सकेगा। प्राकृत के साथ-साथ दर्शन का विद्यार्थी होने के नाते विभिन्न दर्शनों का अध्ययन करने के उपरान्त मुझे तो यही लगा कि समभाव, समन्वय, साम्य–दृष्टि और साम्यविचारों के आधार स्तम्भ पर टिका आचार्य श्री नानेश का यह समता दर्शन विश्व में अग्रणी स्थान रखता है।

आज जब हम आचार्य श्री के ५० वें दीक्षा महोत्सव को व्यापक रूप से मनाने की ओर अग्रसर हो रहे हैं तो सर्वाधिक आवश्यकता इस बात की है कि हम और सभी बाह्य आडम्बरों को छोड़ कर आचार्य श्री के २६ वर्षों की तपस्या के नवनीत समता दर्शन को जैन और जैनेतर लोगों में अधिकाधिक प्रचारित–प्रसारित करें।

—आगम, अहिंसा–समता एवं प्राकृत
संस्थान पद्मिनी, मार्ग, उदयपुर (राज.)

समता दर्शन : उत्पत्ति से निष्पत्ति तक

❀ मुनि श्री ज्ञान

आज से करीब २७ वर्ष पूर्व साधुमार्गी संघ का दीप, इतर लोगों को ही नहीं अपितु उसके अनुयायियों को भी धुमिल होता नजर आ रहा था। स्वर्गीय गणेशाचार्य के बुझ रहे देह-दीप के साथ ही साधुमार्गी संघ का शुभ प्रकाश भी अंधकार के रूप में परिणित होने की संभावनाएं करीब-करीब सबको नजर आने लगी थी, इस बुझ रहे दीप को सदैव प्रज्वलित बनाये रखने के लिए संघ का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व स्वर्गीय गणेशाचार्य ने संवत् २०१९ आश्विन शुक्ला द्वितीया को अपने सुयोग्य शिष्य श्री नानालालजी म. सा. के सशक्त कंधों पर डाल दिया। करीव साढ़े तीन मास के अनन्तर ही गणेशाचार्य के स्वर्गवास हो जाने से आपश्री आचार्य पद पर आसीन हुए। जैन धर्म संघ में आचार्य पद अत्यधिक गरिमामय पद रहा है, इस पद पर आसीन साधक स्वयं के उत्थान के साथ ही चतुर्विध संघ, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका एवं मानव ही नहीं अपितु प्राणीमात्र के कल्याण के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। आचार्य पद पर आसीन व्यक्ति पर द्वितरफा उत्तर–दायित्व होता है। क्योंकि आचार्य, नवकार मंत्र के तृतीय पद पर प्रतिष्ठित है, आयरियाणं पद के पूर्व अरिहंताणं और सिद्धाणं है और पश्चात् उवज्झायाणं और साहूणं हैं। आचार्य पदासीन महापुरुष अरिहंत सर्वज्ञ तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को अक्षुण्ण रूप से प्रतिपादित करते हैं, साथ ही सिद्ध भगवंतों के वास्तविक स्वरूप को भी जनता के सामने प्रस्तुत करते हैं, इधर चतुर्विध संघ के पंचम पद पर आसीन भव्यात्माओं को भी सतत निर्देशन देकर प्रगति की दिशा में नियोजित करते हैं। इस प्रकार उन्हें द्वितरफा उत्तरदायित्व का सम्पूर्ण रूप से निर्वहन करना होता है। आचार्य प्रवर ने यह निर्वहन बहुत ही वखूबी किया है, यह वर्तमान के परिपेक्ष्य से एवं भूत–भावी अवस्थाओं के अनुचिंतन पर स्पष्ट परिभाषित होता है।

जव आचार्य प्रवर श्रद्धेय गुरुदेव श्री नानेश अपना प्रथम चातुर्मास रत–लाम में कर रहे थे, उस समय आप श्री की सर्व जीव कल्याणी चेतना ने जव शैतान के आतंक की भांति फैल रहे विषमता, वैमनस्य, विभेद, विघटन एवं मानवता के विनाश का नग्न तांडव देखा तो वह कराह उठी और विषमता की उपशांति के लिए जिज्ञासाओं द्वारा संभावित जिज्ञासुओं को समाधिवत करने के लिए चिंतन

● मुनि श्री को डॉ. भानावत द्वारा पूछे गये प्रश्न के उत्तर के आधार पर संकलित।

की गहराइयों में पैठ करती चली गई, जिसमें पैठ करते वक्त प्रभु महावीर की अमृतवाणी तो जीवन बेल्ट के रूप में साथ थी ही गहराई के इन क्षणों में चेतना से चेतना को संस्पर्श, संबल, साहस, सहअस्तित्व भाव देने वाला एक शब्द प्रादुर्भूत हुआ और वह शब्द था **'समता ।'**

यह उच्च शब्द जाति, पंथ, संप्रदाय, पार्टी से अलग रहकर सम्पूर्ण प्राणी वर्ग से जुड़ा हुआ है । यद्यपि शालि (गेहूं) व्यक्ति की क्षुधा तृप्त कर सकता है, लेकिन जब तक वह सुसंस्कृत न हो जाए तब तक वह अपनी क्षुधा उस गेहूं से तृप्त नहीं कर सकता है (क्षुधा मिटाने की वास्तविक विधि की अनभिज्ञता के कारण स्वस्थता के साथ क्षुधा की तृप्ति कर पाना प्राय: असम्भव ही है) । वहीं स्थिति समता के साथ रही हुई है । इसलिए यह तो निर्विवाद है कि समता शब्द किसी जाति या व्यक्ति विशेष से नहीं जुड़ा हुआ है, पर जब तक इसका यथायोग प्रस्तुतीकरण न हो जाए तब तक वह जनता के लिए उपयोगी कैसे बन सकता है।

श्रद्धेय गुरुदेव ने समता को अपनी विशिष्ट प्रज्ञालोक में आलोकित कर इस प्रकार से सुसंस्कृत किया कि वह प्राणीमात्र की विषमता को समझ कर उन्हें शांति की अनुभूति देने में समर्थ हो गया । रतलाम में इसकी प्रादुर्भूति एक बीज के रूप में हुई थी जिसका विस्तारीकरण करीब दस वर्ष बाद जयपुर के चातुर्मास में हुआ था, क्योंकि गुरुदेव का यह स्वभाव रहा है कि वे अपने कर्त्तव्य-पालन की दृष्टि से जनकल्याण की भावनाओं से अनुप्रेरित होकर अपने विचार जनता के समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं । ग्रहण करना या नहीं करना, यह जिज्ञासुओं पर निर्भर करता है । दस वर्ष तक तो किसी का ध्यान इस ओर नहीं गया पर जयपुर चातुर्मास में एक जिज्ञासु भाई ने आचार्य देव के समक्ष अपनी एक जिज्ञासा प्रस्तुत की कि गुरुदेव यह जीवन क्या है ।

बड़ा मौलिक प्रश्न रहा है । यहां यह, आज से ही नहीं अपितु चिन्तन समय से उभरता हुआ चला आ रहा है और इसका समाधान भी विविध रूपों में दिया जाता रहा है । यही प्रश्न जब आचार्य प्रवर के समक्ष आया तो आप श्री ने उस प्रश्न को प्रांजल भाषा संस्कृत में रूपांतरित करते हुए उसका समाधान भी संस्कृत में ही सूत्र शैली में प्रस्तुत किया । वह निम्न है—

किं जीवनम् ? सम्यक् निर्णायकं समतामयञ्च यत् तज्जीवनम् ।

जीवन क्या है ? जो चेतना सम्यक् निर्णायक एवं समता से संबंधित हो, वही यथार्थ में जीवन है ।

बस इसी जिज्ञासा का समाधान आप श्री ने अपने चातुर्मास के दौरान प्रवचनों के माध्यम से जनता के सामने रखा जिसे राजस्थान की राजधानी गुलाबी नगरी जयपुर की प्रबुद्ध जनता ने बहुत सराहा अत्यंत उपयोगी समझकर जन-जन

तक पहुंचाने के लिए तत्काल ही **'पावस-प्रवचन'** के नाम से करीब पांच भागों में पुस्तकों के माध्यम से जनता के सामने प्रस्तुत किया ।

समीक्षा का विषय यह है कि अच्छे से अच्छे विचार किसी भी विद्वान् व्यक्ति के द्वारा दिये जा सकते हैं, पर वे जनता में तभी प्रभावी होते हैं जब स्वयं प्रवचनकार, चिंतक उन सिद्धांतों को अपने जीवन में साकार करे, क्योंकि बिना ऊर्जा के बल्ब प्रकाशित नहीं हो सकता ।

आचार्य देव ने समता को पहले अपने जीवन में रमाया है। अपने जीवन की प्रयोगशाला में उन्होंने एक-दो वर्ष ही नहीं करीब २३ वर्ष तक निरन्तर प्रयुक्त करने के बाद ही जनता के सामने प्रस्तुत किया है। आचार्य प्रवर का जीवन समता की जलधि में निमज्जित होकर उस पावनता को प्राप्त हो चुका है जिससे उनके संपर्क में आने वाला अपावन व्यक्ति भी पावन बन जाता है ।

समता का सीधा अर्थ यदि लिया जाए तो स्पष्ट होगा कि अपने समान ही संसार की समस्त आत्माओं के साथ एकरूप व्यवहार है। जिसकी चरम परिणति पर ही आत्मा में परम रूप की अभिव्यक्ति होती है एवं जिसे परमात्मा के नाम से अभिसंज्ञित किया जा सकता है। आत्मा से परमात्मा तक पहुंचने के लिए उस आत्मा को संसार की समग्र आत्माओं के साथ आत्मीय संबंध कायम करना होता है, उसी संबंध के विकास की क्रमिक प्रक्रिया का वर्णन समता दर्शन के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है ।

वास्तव में वर्तमान में जहां कहीं भी दृष्टिपात किया जाता है तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आज व्यक्ति से लेकर विश्व तक अशांति या द्वन्द्व की स्थिति छाई हुई है और उसके मूल में विषमता ही एक मात्र कारण है, चाहे कोई व्यक्ति हो या समाज या चाहे राष्ट्र। लगभग सभी के मन में यह स्वार्थ की भावना गहराती जा रही है कि दुनियां में मैं ही रहूं, मेरा ही अस्तित्व रहे, अन्य किसी को वह पसंद नहीं करता है। आज मानव अपने इस छोटे से जीवन की स्वार्थ पूर्ति के लिए हजारों का हनन करने में जरा भी नहीं हिचकिचाता है, इस तुच्छ अमानवीय भावना ने सर्वत्र अशांति का साम्राज्य फैला दिया है। भाई-भाई में, बाप-बेटे में, पति-पत्नी में, ननद-भौजाई में, एक परिवार का दूसरे परिवार से, एक समाज का दूसरे समाज से, एक धर्म का दूसरे धर्म से, और एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से यदि कोई झगड़ा होता है तो वह सिर्फ इस तुच्छ भावना के कारण होता है कि मैं तुमसे बड़ा हूं, तुम मेरे अधीनस्थ रहो, या फिर तुम्हारी वस्तुएं तुम्हारी नहीं होकर मेरी हैं, दुनियां में तुम्हारा कोई अस्तित्व ही नहीं है, दुनियां में मैं ही रहना चाहता हूं। इस तुच्छ भावना में रमकर मानव ने स्वयं के विनाश को स्वयं ने ही आमंत्रित कर लिया है ।

आज एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर घात लगाये बैठा है, जिसके परिणाम

की गहराइयों में पैठ करती चली गई, जिसमें पैठ करते वक्त प्रभु महावीर की अमृतवाणी तो जीवन बेल्ट के रूप में साथ थी ही गहराई के इन क्षणों में चेतना से चेतना को संस्पर्श, संबल, साहस, सहअस्तित्व भाव देने वाला एक शब्द प्रादुर्भूत हुआ और वह शब्द था **'समता ।'**

यह उच्च शब्द जाति, पंथ, संप्रदाय, पार्टी से अलग रहकर सम्पूर्ण प्राणी वर्ग से जुड़ा हुआ है । यद्यपि शालि (गेहूं) व्यक्ति की क्षुधा तृप्त कर सकता है, लेकिन जब तक वह सुसंस्कृत न हो जाए तब तक वह अपनी क्षुधा उस गेहूं से तृप्त नहीं कर सकता है (क्षुधा मिटाने की वास्तविक विधि की अनभिज्ञता के कारण स्वस्थता के साथ क्षुधा की तृप्ति कर पाना प्रायः असम्भव ही है) । वही स्थिति समता के साथ रही हुई है । इसलिए यह तो निर्विवाद है कि समता शब्द किसी जाति या व्यक्ति विशेष से नहीं जुड़ा हुआ है, पर जब तक इसका यथायोग प्रस्तुतीकरण न हो जाए तब तक वह जनता के लिए उपयोगी कैसे बन सकता है।

श्रद्धेय गुरुदेव ने समता को अपनी विशिष्ट प्रज्ञालोक में आलोकित कर इस प्रकार से सुसंस्कृत किया कि वह प्राणीमात्र की विषमता को समझ कर उन्हें शांति की अनुभूति देने में समर्थ हो गया । रतलाम में इसकी प्रादुर्भूति एक बीज के रूप में हुई थी जिसका विस्तारीकरण करीब दस वर्ष बाद जयपुर के चातुर्मास में हुआ था, क्योंकि गुरुदेव का यह स्वभाव रहा है कि वे अपने कर्त्तव्य-पालन की दृष्टि से जनकल्याण की भावनाओं से अनुप्रेरित होकर अपने विचार जनता के समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं । ग्रहण करना या नहीं करना, यह जिज्ञासुओं पर निर्भर करता है । दस वर्ष तक तो किसी का ध्यान इस ओर नहीं गया पर जयपुर चातुर्मास में एक जिज्ञासु भाई ने आचार्य देव के समक्ष अपनी एक जिज्ञासा प्रस्तुत की कि गुरुदेव यह जीवन क्या है ।

बड़ा मौलिक प्रश्न रहा है । यहां यह, आज से ही नहीं अपितु चिन्तन समय से उभरता हुआ चला आ रहा है और इसका समाधान भीं विविध रूपों में दिया जाता रहा है । यही प्रश्न जब आचार्य प्रवर के समक्ष आया तो आप श्री ने उस प्रश्न को प्रांजल भाषा संस्कृत में रूपांतरित करते हुए उसका समाधान भी संस्कृत में ही सूत्र शैली में प्रस्तुत किया । वह निम्न है—

किं जीवनम् ? सम्यक् निर्णायकं समतामयच्च यत् तज्जीवनम् ।

जीवन क्या है ? जो चेतना सम्यक् निर्णायक एवं समता से संवंधित हो, वही यथार्थ में जीवन है ।

वस इसी जिज्ञासा का समाधान आप श्री ने अपने चातुर्मास के दौरान प्रवचनों के माध्यम से जनता के सामने रखा जिसे राजस्थान की राजधानी गुलावी नगरी जयपुर की प्रवुद्ध जनता ने वहुत सराहा अत्यंत उपयोगी समझकर जन-जन

तक पहुंचाने के लिए तत्काल ही **'पावस-प्रवचन'** के नाम से करीब पांच भागों में पुस्तकों के माध्यम से जनता के सामने प्रस्तुत किया ।

समीक्षा का विषय यह है कि अच्छे से अच्छे विचार किसी भी विद्वान् व्यक्ति के द्वारा दिये जा सकते हैं, पर वे जनता में तभी प्रभावी होते हैं जब स्वयं प्रवचनकार, चिंतक उन सिद्धांतों को अपने जीवन में साकार करे, क्योंकि बिना ऊर्जा के वल्ब प्रकाशित नहीं हो सकता ।

आचार्य देव ने समता को पहले अपने जीवन में रमाया है। अपने जीवन की प्रयोगशाला में उन्होंने एक-दो वर्ष ही नहीं करीब २३ वर्ष तक निरन्तर प्रयुक्त करने के बाद ही जनता के सामने प्रस्तुत किया है । आचार्य प्रवर का जीवन समता की जलधि में निमज्जित होकर उस पावनता को प्राप्त हो चुका है जिससे उनके संपर्क में आने वाला अपावन व्यक्ति भी पावन बन जाता है ।

समता का सीधा अर्थ यदि लिया जाए तो स्पष्ट होगा कि अपने समान ही संसार की समस्त आत्माओं के साथ एकरूप व्यवहार है। जिसकी चरम परिणति पर ही आत्मा में परम रूप की अभिव्यक्ति होती है एवं जिसे परमात्मा के नाम से अभिसंज्ञित किया जा सकता है । आत्मा से परमात्मा तक पहुंचने के लिए उस आत्मा को संसार की समग्र आत्माओं के साथ आत्मीय संबंध कायम करना होता है, उसी संबंध के विकास की क्रमिक प्रक्रिया का वर्णन समता दर्शन के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है ।

वास्तव में वर्तमान में जहां कहीं भी दृष्टिपात किया जाता है तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आज व्यक्ति से लेकर विश्व तक अशांति या द्वन्द्व की स्थिति छाई हुई है और उसके मूल में विषमता ही एक मात्र कारण है, चाहे कोई व्यक्ति हो या समाज या चाहे राष्ट्र । लगभग सभी के मन में यह स्वार्थ की भावना गहराती जा रही है कि दुनियां में मैं ही रहूं, मेरा ही अस्तित्व रहे, अन्य किसी को वह पसंद नहीं करता है । आज मानव अपने इस छोटे से जीवन की स्वार्थ पूर्ति के लिए हजारों का हनन करने में जरा भी नहीं हिचकिचाता है, इस तुच्छ अमानवीय भावना ने सर्वत्र अशांति का साम्राज्य फैला दिया है। भाई-भाई में, बाप-बेटे में, पति-पत्नी में, ननद-भौजाई में, एक परिवार का दूसरे परिवार से, एक समाज का दूसरे समाज से, एक धर्म का दूसरे धर्म से, और एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से यदि कोई झगड़ा होता है तो वह सिर्फ इस तुच्छ भावना के कारण होता है कि मैं तुमसे बड़ा हूं, तुम मेरे अधीनस्थ रहो, या फिर तुम्हारी वस्तुएं तुम्हारी नहीं होकर मेरी हैं, दुनियां में तुम्हारा कोई अस्तित्व ही नहीं है, दुनियां में मैं ही रहना चाहता हूं । इस तुच्छ भावना में रमकर मानव ने स्वयं के विनाश को स्वयं ने ही आमंत्रित कर लिया है ।

आज एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर घात लगाये वैठा है, जिसके परिणाम

स्वरूप दो बार विश्वयुद्ध की भयंकर बौछार हो चुकी है। फिर भी तृप्ति नहीं हुई है। आज मानव ने ऐसे परमाणु बमों का आविष्कार कर लिया है, जिनके विस्फोट से लाखों-करोड़ों व्यक्तियों की जिन्दगी कुछ ही क्षणों में समाप्त हो सकती है। वैज्ञानिकों द्वारा बताए गये, इस विश्व जैसे अन्य अनेक विश्व का भी यदि निर्माण किया जाए तो भी उन सारे विश्वों के विनाश की क्षमता के अणुबम आज मानव के पास मौजूद हैं।

हिरोशिमा में डाले गये बम से करीब ६५१५० मानव मारे गये थे। द्वितीय विश्व युद्ध में करीब ढ़ाई करोड़ आदमी मारे गये थे और बाद में छूटकर युद्धों में भी करीब ढ़ाई करोड़ लोग मारे गये। इस प्रकार पांच करोड़ व्यक्ति मारे गए। वैज्ञानिकी खोज ने बतलाया है कि बोटुलिज्म जहर का एक ग्राम ७० लाख आदमियों को मार सकता है और अशुद्ध सिटाकोसिस जहर का चौथा ग्राम ७ अरब व्यक्तियों को मार सकता है। ऐसे मारक विष के द्वारा निर्मित अणु-बमों का खजाना बड़े-बड़े शक्तिशाली राष्ट्रों के पास विद्यमान है। ऐसी स्थिति में यह विश्व कब किस समय प्रलंयकारी रूप ले ले, यह कहा नहीं जा सकता। न्यूट्रॉन बम के आविष्कारक अमेरिकी वैज्ञानिक सेम्युअल कोहन ने तो तीसरे विश्व युद्ध की भी घोषणा कर दी थी। उनके अनुसार १९८५ से १९९९ के बीच कभी भी विश्व युद्ध छिड़ सकता है। जिसमें अरब-इजराइल, भारत-पाकिस्तान, चीन-दक्षिण अफ्रीका विशेष रूप से लड़ेंगे। रूस और अमेरिका परोक्ष रूप में रहेंगे। बमों का भी व्यापक स्तर पर प्रयोग होगा। यह घोषणा मानवीय चेतना को भयाक्रांत बनाने वाली है।

इस स्वार्थपरता ने समुचित मानव जाति को विनाश के ऐसे कगार पर ला खड़ा किया है कि यदि इनसे वापस रिवर्स (पीछे) नहीं हुए तो विनाश अवश्यंभावी है। ऐसी स्थिति में यदि मानव चेतना ने नवीन अंगड़ाई नहीं ली तो यह विनाश का रूप कितना उग्र रूप धारण कर लेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता।

आज भारत देश की स्वयं की दशा भी बड़ी दयनीय बनी हुई है। वोट की राजनीति में चंद व्यक्तियों के स्वार्थ के कारण हजारों हजार निर्दोष व्यक्ति पिसते चले जा रहे हैं। इस परिपेक्ष्य में आचार्य देव द्वारा प्रतिपादित विश्व शांति का अमोघ उपाय समता दर्शन की नितांत आवश्यकता है। समता दर्शन डूबते हुए जनजीवन की एक मात्र पतवार बन सकती है। यद्यपि समता का महत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी समझा गया है, तभी सन् १९८७ का वर्ष समता वर्ष के नाम से घोषित किया गया था यथापि उस घोषणा के साथ समता का सकारात्मक रूप न आने के कारण विषमता का उन्मूलन नहीं हो पा रहा है। यह सत्य है कि भोजन के उद्घोष से भूख शांत नहीं होगी, परन्तु उस उद्घोष के साथ ही

भोजन ग्रहण किया जाएगा और वह भोजन आंतरिक रासायनिक परिवर्तन के साथ परिवर्तित होता हुआ खल भाग, रस भाग आदि में विभाजित होकर यथा-योग्य रूप से सभी इन्द्रियों के पास पहुंचेगा, तभी शरीर में तेजस्विता आ सकती है, वैसे ही समता दर्शन के सिद्धांतों को स्वीकार करने मात्र से ही विषमताओं का उन्मूलन नहीं हो सकता है, उस समता को जीवन में सकारात्मक रूप से यथा-शक्ति उतारना होगा, तभी शांति का सही स्वरूप आ सकेगा।

समता दर्शन को व्यक्ति से लेकर विश्व तक सकारात्मक रूप देने के लिए आचार्य देव ने चार सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं। १. समता सिद्धांत दर्शन, २. समता जीवन दर्शन, ३. समता आत्म-दर्शन, ४. समता परमात्म-दर्शन। जिनका विस्तृत वर्णन तो 'समता दर्शन एवं व्यवहार' नामक ग्रन्थ में किया गया है तथापि यहां आपकी जिज्ञासा का समाधान देने के लिए संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत कर देता हूं।

समता-सिद्धांत-दर्शन—किसी भी वस्तु को अपनाने से पहले उसकी उप-योगिता और अनुपयोगिता के बारे में चिंतन-मनन कर तदनन्तर अवधारण आव-श्यक होता है। किसी अनुपयोगी वस्तु को ग्रहण कर भी लिया जाता है तो उसे समय के प्रवाह के साथ छोड़ भी दिया जाता है। अतः जिस किसी वस्तु को अपनाना है तो उसकी पूर्ण समीक्षा करने के पश्चात् ही अपनाना उपयुक्त रहेगा समता को जीवन में अपनाने के पूर्व उसके सिद्धांतों को उपयोगी माना जाए। इस बात को दृढ़संकल्प के साथ स्वीकार किया जाए कि समता दर्शन हमारे लिए पूर्ण रूप से उपयोगी है एवं इसे अपनाने पर ही आत्म-शांति प्राप्त हो सकती है।

यह सत्य है कि जिसे हम अन्तर चेतना से स्वीकार कर लेते हैं, तदनुसार की गई गति, सही प्रगति में रूपांतरित होती है।

वर्तमान में आधुनिक युवा और युवतियां जो सिनेमा आदि देखते हैं, उनके मन में या मस्तिष्क में वहां का गीत अच्छी प्रकार से जम जाता है और वे जहां तहां भी जाते हैं, उसे गुनगुनाते रहते हैं, जिसका भान कभी-कभी उन्हें भी नहीं रहता है। ठीक इसी प्रकार समता से व्यक्ति से लेकर विश्व तक की शांति तभी सम्भव है। जब समता को हम उसी रुचि के साथ माने। तभी वह व्यावहारिक स्तर पर सकारात्मक रूप से उभरेगी। समता का व्यावहारिक रूप है-सम सोचें, सम मानें, सम देखे, सम जानें और सम ही करने का प्रयास करें। जीवन के प्रत्येक कार्य में समता का होना परम आवश्यक है दूसरों के अस्तित्व को भी हमें हमारे अस्तित्व के समान स्वीकार करना होगा।

समता-सिद्धान्त दर्शन के कुछ प्रावधान—१. समग्र आत्मीय शक्तियों के सम्यक् सर्वांगीण के विकास को सर्वत्र सम्मुख रखना। २. समस्त दुष्ट वृत्तियों के त्यागपूर्वक सत्साधना में पूर्ण विश्वास रखना। ३. समस्त प्राणीवर्ग का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करना। ४. समस्त जीवनोपयोगी वस्तुओं के यथायोग्य सम-

वितरण पर विश्वास रखना । ५. गुण एवं कर्म के आधार पर प्राणियों के श्रेणी विभाग में विश्वास रखना । ६. द्रव्य संपत्ति व सत्ता प्रधान व्यवस्था के स्थान पर चेतना एवं कर्तव्यनिष्ठा को प्रमुखता प्रदान करना ।

२. समता जीवन दर्शन–सिद्धांत रूप से समता को ग्रहण अथवा स्वीकार कर लेने पर व्यावहारिक जीवन में भी समता सहज ही आने लगती है, जिस प्रकार यदि मिट्टी के घट में पानी है तो उसकी शीतलता, तरलता स्वयमेव वाहर आ जाती है । समता जीवन दर्शन व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन को विषमता से हटाकर समता में परिवर्तित करता है । सबके लिए एक और एक के लिए सव, जीओ और जीने दो के सिद्धान्त को जीवन में उतारना समता जीवन दर्शन है । इसके लिए निम्न प्रावधान हैं—

१. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और सापेक्षतावाद को जीवन में उतारना । २. जिस पद पर जीवन रहे उसी पद की मर्यादा को प्रामाणिकता के साथ जीवन में उतारना ।

समता जीवन दर्शन में प्रवेश पाने वाला व्यक्ति जुआ, मांस, चोरी, शिकार, परस्त्रीगमन, वैश्यागमन इन सात कुव्यसनों के परित्याग के साथ अपने जीवन को अधिकाधिक प्रामाणिकता, नैतिकता, मानवता व धार्मिकता से परिपूर्ण वनाने में समर्थ होता है । सापेक्षवाद से अपने मानस को स्वस्थ रखता हुआ अन्यों की ग्रन्थियों को भी विमोचित कर देता है ।

३. समता आत्म-दर्शन—समता जीवन दर्शन से भी साधना की चेतना जव ऊपर उठने लगती है, तब वह समता आत्म-दर्शन की स्थिति में आती है । समता जीवन दर्शन में तो वह परिवार, समाज, राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर को समतामय बनाने में सहयोगी वनती है । परन्तु आत्म-दर्शन में वह स्वयं की चेतना के अन्तर्गत अमूल्य शक्ति स्फुलिगों को स्फुरित करने के लिए आत्मस्थ साधना में तल्लीन वनने लगती है । आत्म-साधक पुरुष जड़ चेतना का स्वरूप समझकर जड़त्व की राग-द्वेष की परिणति से विलग रहने लगता है, क्योंकि उसे यह अन्तरप्रज्ञा से ज्ञात हो जाता है कि इस क्षणभंगुर दुनियां में कुछ भी स्थायी नहीं है। जव सभी परिवर्तनशील है तो राग-द्वेष उत्पन्न करके अपने आत्मपतन के साथ ही, दुनियां की दृष्टि में अपने आपको हास्यास्पद क्यों वनाया जाए । समता आत्म-दर्शन के निम्न प्राववान हैं—

१. प्रातःकाल सूर्योदय से पहले कम-से-कम एक घण्टा आत्म-दर्शन के लिए निर्धारित करना । २. जिन मिनटों में घण्टा नियुक्त किया जाए नित्य उसी समय हमेशा ध्यान लगाकर साधना करना । ३. साधना के समय में पापकारी वृत्तियों से अलग हटकर सत्वृत्तियों को स्वयं के आचरण में लाना । ४. समस्त प्राणीवर्ग को अपनी आत्मा के तुल्य समझना । आत्म-साधक पुरुप स्वयं के लिए

अन्य किसी को भी कष्ट नहीं देता। वह अन्य समग्र आत्माओं को अपने तुल्य समझकर ही उनके साथ व्यवहार करता है। उसकी यह मान्यता सदा बनी रहती है कि किसी का भी हनन स्वयं का हनन है।

४. समता परमात्म दर्शन—जब आत्म साधक पुरुष संसार की समस्त आत्माओं के साथ अपनी आत्मा के समान ही समझकर व्यवहार करने लगता है तब उसका परमात्म स्वरूप प्रकट होने लगता है, क्योंकि ऐसा साधक राग-द्वेष और तेरे–मेरे की भावना से सम्पूर्णतः ऊपर उठकर वीतरागी बन जाता है। परमात्म-साधक के प्रज्ञालोक में सम्पूर्ण विश्व आलोकित हो जाता है। परमात्म–साधक स्वयं के चरम विकास के साथ ही अन्यात्माओं के विकास में भी सहयोगी बन जाता है।

२१ सूत्रीय योजना—इन चार सोपानों को मूल बनाकर आचार्य प्रवर ने समता समाज सर्जना पर विशेष प्रकाश डाला है। विषमता से विषाक्त विश्व में अमृत का संचार करने के लिए समता दर्शन को अपनाना ही होगा। जब तक हम दूसरों के अस्तित्व को सुरक्षित रखने की ओर प्रयत्नशील नहीं बनेंगे तब तक हमारे अस्तित्व की सुरक्षा नहीं हो सकती है। समता समाज रचना के लिए आचार्य प्रवर ने २१ सूत्रीय योजना को भी प्रस्तुत किया है। वे २१ सूत्र निम्न हैं—

१. ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म आदि की सुव्यवस्था अर्थात् तत्संबंधी सामाजिक नियमों का पालन करना। उसमें कोई कुव्यवस्था पैदा नहीं करना और कुव्यवस्था पैदा करने वालों का सहयोगी नहीं बनना। २. अनावश्यक हिंसा का परित्याग करना, तथा आवश्यक हिंसा की अवस्था में भी व्यक्ति, परिवार, राष्ट्र आदि की सुरक्षा की भावना रखना तथा विवशता से होने वाली हिंसा के प्रति लाचारी का भाव या अनुभव करना न कि प्रसन्नता। ३. झूठी गवाही नहीं देना, स्त्री-पुरुष पशु-धन, भूमि आदि के लिए झूठ नहीं बोलना। ४. वस्तुओं में मिलावट करके धोखे से नहीं बेचना। ५. ताला तोड़ कर, चाबी लगाकर कोई वस्तु नहीं चुराना। ६. परस्त्री गमन का त्याग करना, स्वस्त्री के साथ भी अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य का पालन करना। ७. व्यक्ति समाज व राष्ट्र आदि के प्रति दायित्व निर्वाह के आवश्यक अनुपात से अधिक धन-धान्य पर अधिकार नहीं रखना। आवश्यकता से अधिक धन-धान्य होने की स्थिति में जरूरतमंदों को सम-भाव से वितरण करने की भावना रखना। ८. लेन-देन एवं व्यवसाय आदि की सीमा एवं मात्रा को अपनी समर्थतानुसार मर्यादित रखना। ९. स्वयं के, परिवार के, समाज के और राष्ट्र के चरित्र पर कलंक लगने जैसा कोई कर्म नहीं करना। १०. आध्यात्मिक जीवन के निर्माणार्थ नैतिक संचेतना एवं तदनुरूप सत्प्रवृत्ति का ध्यान रखना। ११. मानव जाति के गुण कर्म के अनुसार वर्गीकरण पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए किसी भी व्यक्ति से राग और द्वेष नहीं रखना। १२. संयम की मर्या-

दाओं का पालन करना एवं अनुशासन भंग करने वालों को अहिंसक तरीके के सहयोग से सुधारना। परन्तु द्वेष की भावना नहीं लाना। १३. पदाधिकारों का दुरुपयोग नहीं करना। १४. कर्तव्य पालन का पूरा ध्यान रखना एवं विभिन्न सत्ता में आसक्त, लोलुप नहीं होना। १५. सत्ता व संपत्ति को मानव सेवा का साधन मानना न कि साध्य। १६. सामाजिक व राष्ट्रीयता को सद्चरित्र पूर्वक भावात्मक एकता का महत्त्व देना। १७. जनतन्त्र का दुरुपयोग नहीं करना। १८. दहेज बिंटी, तिलक, टीका आदि की मांगणी, सोदेबाजी तथा प्रदर्शन नहीं करना। १९. सादगी में विश्वास रखना एवं बुरे रीति-रिवाजों का परित्याग करना। २०. चरित्र निर्माण पूर्वक धार्मिक शिक्षण पर वल देना और नित्य प्रति कम से कम एक घण्टा धार्मिक प्रक्रियाओं द्वारा स्वाध्याय, चिंतन, मनन आदि करना। २१. समता दर्शन के आधार पर सुसमाज व्यवस्था पर विश्वास रखना।

समता के इस स्वरूप को व्यक्तिगत रूप से अपने जीवन में उतारने के लिए हमें इन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखकर आगे बढ़ना चाहिए। समता का सर्वप्रथम पक्ष यह है कि 'जीओ और जीने दो' अर्थात् तुम भी जीओ और दूसरा यदि जी रहा है तो तुम उसे भी जीने दो। उसके जीवन में तुम किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप मत करो।

समता का द्वितीय पक्ष होगा, जो तुम्हें जीने का अधिकार दे, उसे तुम भी जीने का अधिकार दो, यदि तुम्हें कोई नैतिक सहयोग दे रहा है तो तुम्हारा परम कर्तव्य हो जाता है कि तुम भी उसे सहयोग प्रदान करो।

समता का तृतीय पक्ष होगा—जो तुम्हें सहयोग नहीं कर रहा है और जिसे सहयोग की अपेक्षा है और यदि तुम्हारे पास साधन उपलब्ध हैं तो तुम विना किसी स्वार्थ के उसका सहयोग करो। यह सहयोग तुम्हारे भीतर एक प्रकार की विशिष्ट आनन्दानुभूति कराने वाला होगा।

समता का चतुर्थ पक्ष होगा—दूसरों की सुख-सुविधाओं के लिए विना किसी अपेक्षा के अपनी सुख-सुविधाओं का विसर्जन कर दो। यह पक्ष आत्मा को समता में निमज्जित करके उसे परम पावन बनाने वाला होगा। जिस प्रकार की स्कंदक अणगार ने एक पक्षी की सुरक्षा के लिए स्वयं की आहुति दे दी। धर्म रुचि अणगार ने चींटियों की सुरक्षा के लिए स्वयं को होम दिया था।

समता के इन चार पक्षों को समक्ष रखते हुए चलने पर स्वतः ही समस्याओं का समाधान होता चला जाएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कुछ तो समता की आवाज वुलंद हुई है तभी तो १८-१२-१९८७ के दिन रूस-अमेरिका में परस्पर यह निर्णय हुआ कि मध्य एटमी प्रक्षेपास्त्रों के एक हजार राकेट और १८५० एटम वम दोनों तरफ से नष्ट कर दिये जाएंगे। इस दस्तावेज पर दोनों ही देशों के शीर्ष नेताओं ने हस्ताक्षर किये थे। निःशस्त्रीकरण की यह भावना भी समता का एक आंशिक रूप ही है।

पर इतने मात्र से शास्त्रों की भयानकता नहीं टाली जा सकती है। इसके लिए आवश्यक है वह जीओ और जीने दो रूप—समता का पहला पक्ष स्वीकार करें। सभी राष्ट्रों में राष्ट्रीय स्तर पर यह संधि हो जाए कि कोई भी देश किसी पर हमला नहीं करेगा, कोई भी किसी का धन, माल, जमीन आदि हड़पने की कोशिश नहीं करेगा। क्योंकि दुनिया में सभी को जीने का अधिकार है। हम भी जीयें और दूसरों को भी जीने दें। यदि यह पहला सिद्धांत भी जीवन में स्वीकार कर लिया जाता है तो मानव जाति में एक विशिष्ट आनन्द का संचार हो जाएगा। क्योंकि आज मानव को मानव से जितना डर है उतना अन्य से नहीं है। 'जीओ और जीने दो' के पक्ष को अपना लेने पर आज जितना भी खर्च शास्त्रों के निर्माण में मानव जाति के विनाश के लिए हो रहा है, वह सजन में होने लगेगा। आज जो पड़ोसी देश एक दूसरे को शत्रु मान रहे हैं, वे मित्र समझने लग जाएंगे। सारी समस्याओं का समाधान होने में देरी नहीं लगेगी। इसके बाद समता के अगले पक्ष को स्वीकार करने पर तो मानव की आंतरिक और बाहरी दोनों ही समस्याएं विमोचित होकर परम स्वरूप की अभिव्यक्ति होने लगेगी।

चरम तीर्थंकर भगवान महावीर ने अपनी देशना में स्थान-स्थान पर समता की अत्यन्त सुन्दर विवेचना की है। 'आचारांग' सूत्र में तो समता को ही धर्म बतलाया गया है—'समियाए धम्मे' समता ही धर्म है। यदि आपके अन्दर समता के भाव नहीं हैं, दीन-हीन, अभावग्रस्त जीवों के प्रति सद्भाव नहीं है तो आप धर्म को जीवन में नहीं अपना सकते। धर्म को अपनाने के लिए पहले मानवता का आना अनिवार्य है, मानवता समता का ही एक अंश है। 'सूत्रकृतांङ्ग' सूत्र में समता को अधिक स्पष्ट करते हुए प्रभु महावीर ने कहा है—

पण्णासमत्ते उ सयाजए, समता धम्ममुदाहरे।
सुहुमे उसया अलुसए णो कुज्णोमाणी माहने ॥ १, २, २८

प्रज्ञा में समता के आने पर ही साधक समता के अनुसार यत्नवान बनता हुआ समता धर्म की साधना करें। समता साधक अहिंसक भावना में रहता हुआ न क्रोध करे, न ही अभिमान करे।

प्रभु महावीर का यह उद्घोष निश्चय ही समता के स्वरूप की सही व्याख्या करता हुआ समता प्रवक्ता की स्थिति को भी स्पष्ट करता है। समता के प्रवर्तन का यथार्थ में वही अधिकारी हो सकता है जो अहिंसक और क्रोध, मान अर्थात् राग-द्वेष से रहित होने की साधना में तल्लीन हो, आचार्य प्रवर ने समता के प्रवर्तन के पूर्व अपने जीवन को ठीक उसी रूप में अहिंसा और वीतराग की साधना में तल्लीन किया था और कर रहे हैं, आपके जीवन के भीतर और बाहर समता लबालब भरी है इसी का परिणाम है कि वर्तमान में तो मानो समता दर्शन आचार्य प्रवर का पर्याय ही बन गया है।

यह तो प्रारम्भ में ही बताया जा चुका है कि समता दर्शन किसी व्यक्ति,

जाति, समाज या राष्ट्र से जुड़ा हुआ नहीं है। यह शब्द तो सम्पूर्ण मानव जाति ही नहीं अपितु प्राणी वर्ग से जुड़ा हुआ हैं। यह किसी एक का धर्म नहीं अपितु समस्त आत्माओं का धर्म है। जो भी समता को अपनाता है, वह उसी से जुड़ जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि समता उसी की है। वह तो तृषातुर के लिए पानी के समान सभी की है—यद्यपि समता को हर धर्म ने, हर राष्ट्र ने अपने रूप में स्वीकार किया है, किंतु उसका देश-काल की परिधियों को लक्ष्य में रखने युगानुकूल प्रस्तुतीकरण नहीं होने से वह पूर्ण रूप से व्यावहारिक नहीं बन पा रहा है, इस अभाव की पूर्ति आचार्य प्रवर ने अपने दीर्घकालीन संयम साधना की अनुभूतियों के पश्चात् सर्व व्याधियों की उपशामक समता की संजीवनी प्रस्तुत की है। आवश्यकता है उस औषधि के व्यवस्थित रूप से आसेवन की।

जिस किसी भी सुयोग्य चिंतक ने आचार्य प्रवर के समता दर्शन को सुना, पढ़ा, समझा है वह उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा है। एक उदाहरण यहां पर्याप्त होगा—

यह घटना करीब आज से १५ वर्ष पूर्व की है, जब आचार्य प्रवर का मारवाड़ में विचरण चल रहा था। आचार्य प्रवर बीकानेर के समीप ही भीनासर में विराजमान थे, तब ई. एन. टी. विभाग के विशेषज्ञ डॉ. छंगाणी किसी गृहस्थ रोगी के उपचार हेतु बीकानेर से गंगाशहर आ रहे थे। उस समय आचार्य श्री भी पास ही बांठिया पौषधशाला में विराज रहे थे। आचार्य प्रवर के भी नाक में कुछ वेदना थी। कुछ सज्जनों के संकेत से डॉ. साहब पौषधशाला आये और उन्होंने रोग का निदान तो किया ही साथ ही गुरुदेव के व्यक्तित्व का गम्भीरता-पूर्वक निरीक्षण भी किया। आचार्य प्रवर के व्यक्तित्व से ऐसे प्रभावित हुए कि कुछ समय वहीं बैठ गये और अपनी जिज्ञासाओं का समाधान लेकर लौटे। जाते समय संघ के किसी सदस्य ने 'समता दर्शन एवं व्यवहार' नामक पुस्तक की एक प्रति उन्हें भेंट की। उन्होंने उस पुस्तक को पढ़ा, अध्ययन किया और इतने प्रभावित हुए कि कुछ ही दिनों बाद स्वयं ही गुरुदेव की सेवा में उपस्थित हुए और निवेदन किया कि वास्तव में प्रस्तुत पुस्तक में विश्व की कुटिल मानी जाने वाली समस्याओं का हृदयस्पर्शी समाधान प्रस्तुत किया गया है। व्यक्ति से लेकर विश्व तक की समस्याओं का समाधान करते हुए उन्हें अपने वास्तविक कर्तव्य का बोध कराया है। विश्व में समस्याएं इसलिए हैं कि हम दृष्टि को नहीं सृष्टि को बदलना चाहते हैं, हम इच्छाओं पर नहीं ईश्वर पर अपना नियंत्रण चाहते हैं, लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ है और नहीं हो पाएगा। शांति चाहिए तो समता के धरा-तल पर सृजन का सूत्रपात करना होगा। हमें आपके समता दर्शन से सही प्रेरणा मिली है और मैं तो यह कहूंगा कि हम वैभव की वृद्धि से अपने विनाश को आमंत्रित कर रहे हैं। मैं स्वयं भी अभी तक इसी ओर चल रहा था, लेकिन अब मार्ग बदलने का प्रयास आरम्भ कर दिया है, देखिये किस सीमा तक पहुंच सकूंगा।

उदारः चरितानां
वसुधैव कुटुम्बकम्

विज्ञापन-सहयोग हेतु सभी प्रतिष्ठानों एवं महानुभावों के प्रति

हार्दिक आभार

आचार्य श्री नानेश दीक्षा अर्द्धशताब्दी वर्ष

के उपलक्ष्य पर शत् शत् वंदन अभिनन्दन

KATHMANDU
U.S.A
SINGAPORE
JAPAN
HATHRAS
BOMBAY
PATNA
AUSTRALIA
DHAKA
KANPUR
U.K.
DELHI
JAIPUR
AGRA
Port Blair, Phuntsholing or next door. When it comes to delivering a package or parcel you can count on Overnite Express. Our network, with the largest number of stations, covers every corner of India and the world And with three transhipment points, located strategically, your package won't go around the bend getting to its destination.
So, the next time, you need a courier call us. We'll show you how far you can go in 24 hours.
AT OVERNITE EXPRESS
WE'VE BUILT A NETWORK THAT OFFERS YOU
WHAT YOU WANT. EVERYTIME.
WE'VE GOT YOUR
POINT
OVERNITE
EXPRESS
PRIVATE LIMITED
DOMESTIC & INTERNATIONAL COURIERS
ON TIME EVERY TIME
Anthem/OE/322

आचार्य श्री के दीक्षा अर्द्धशताब्दी वर्ष के उपलक्ष में

श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ

उदयरामसर

आचार्य श्री के दीक्षा अर्द्धशताब्दी वर्ष के उपलक्ष में

श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ

उदयरामसर

परम श्रद्धेय, चारित्र चूड़ामणि, समता विभूति, धर्मपाल प्रतिबोधक, समीक्षण ध्यान-योगी, जिनशासन प्रद्योतक, अखण्ड बाल ब्रह्मचारी

आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री नानालालजी म. सा. के दीक्षा अर्द्ध शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित

श्रमणोपासक विशेषांक की सफलता हेतु

श्री जवाहर जैन शिक्षण संस्था परिवार, उदयपुर की हार्दिक शुभकामनाएं
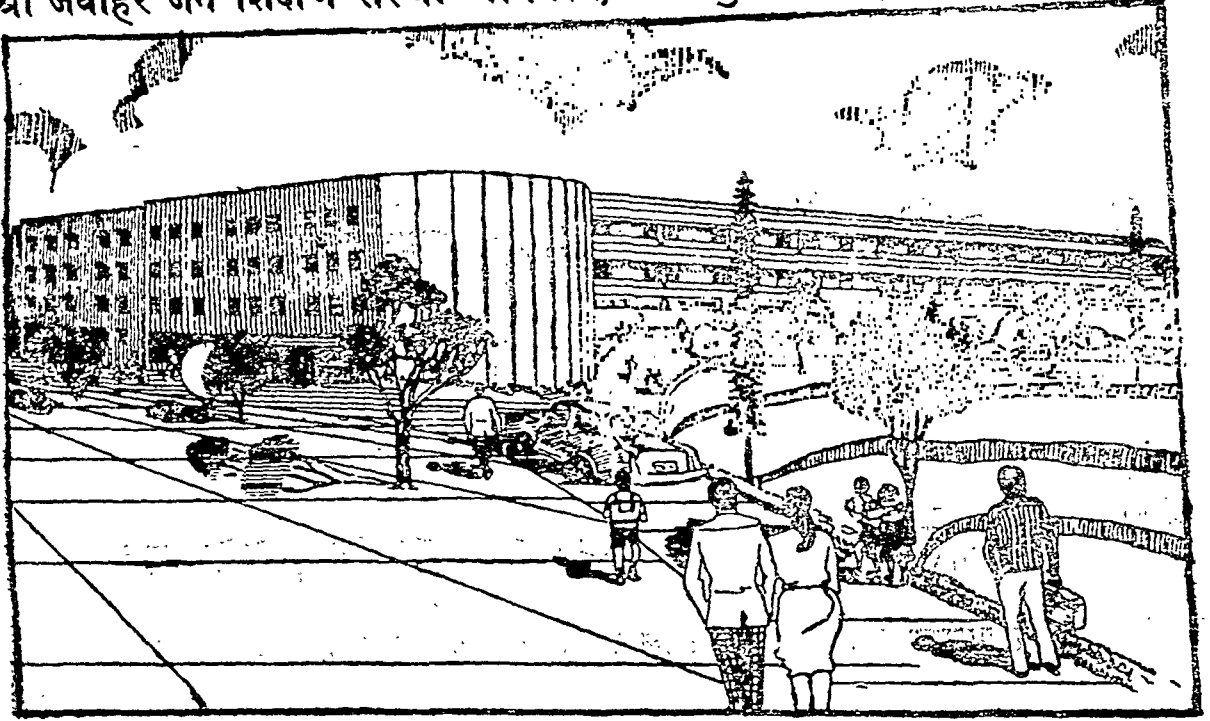
विद्यालय की विशेषताऐं :

- विद्यार्थियों पर व्यक्तिगत ध्यान
- उत्तम परीक्षा परिणाम
- नर्सरी से अंग्रेजी का विशेष शिक्षण
- सभी स्तरों पर सह शिक्षा
- नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा तथा जीवन मूल्यों के विकास पर विशेष बल
- प्रशिक्षित स्थाई, अनुभवी एवं पुरुस्कृत शिक्षक
- सीनियर हायर सैकण्डरी स्तर पर विज्ञान एवं वाणिज्य वर्ग में शिक्षा की व्यवस्था

हम आचार्य श्री के दीर्घ जीवन की कामना करते हैं।

संग्रामसिंह हिरण अध्यक्ष	करणसिंह सिसोदिया उपाध्यक्ष	अमृतलाल सांखला सचिव	विजयसिंह खिमेसरा संयुक्त सचिव
मनोहरसिंह गलूण्डिया कोषाध्यक्ष	चोसरलाल कच्छारा प्रधानाचार्य	नियाजवेग मिर्जा जिला शिक्षा अधिकारी	मोड़ीलाल राजपूत अध्यापक प्रतिनिधि
श्री ललित मट्ठा सदस्य	डॉ. पी. एल. अग्रवाल सदस्य	श्री राजकुमार अग्रवाल सदस्य	श्री दिनेश कोठारी सदस्य
डॉ. यू. एन. दीक्षित सदस्य	रणजीतसिंह सरूपरिया सदस्य	दुल्हेसिंह सिरोहिया सदस्य	हिम्मतसिंह नाहर सदस्य

विशेष अनुग्रहकर्ता:—मदनलाल सिंघवी, मोतीलाल वापना, मनोहरसिंह सरूपरिया

दीक्षा सर्द्ध शताब्दी वर्ष के उपलक्ष में हार्दिक शुभकामनाओं के साथ:-
सरदारमल उमरावमल ढड्ढा
गणेश भवन
परतानियों का रास्ता, जयपुर
With Best Compliments From-
S. Manak Chand Pukhraj
FINANCIERS
Vinayaga Mudali St.
SOWCARPET
Madras-79
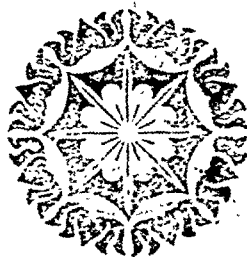
With Best Compliments From:

Shyam Textile Pvt. Ltd.

No. 6, Baneswara Street Chas Street Cross
BANGALORE-560053

With Best Compliments From-

SHAND HOUSE

M/s Pipe Products of India
M/s Diamond Products
M/s Poonam International
M/s Diamond Pipes & Tubes P. Ltd.

Office at-

No. 50, 7th Cross, Wilson Garden
BANGALORE-560027

Phone- 235726 Off.
225734 Res.
Fac. 221506, 238388

Gram-HOSEPIPE

दीक्षा अर्द्धशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में शुभकामनाओं के साथ–

श्री दीपचन्द किशनलाल भूरा
पूर्व बाजार, पो. करीमगंज
(आसाम)-७८८७११

दीक्षा अर्द्धशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में हार्दिक शुभकामनाओं के साथ

एक शुभचिंतक

करीमगंज (आसाम)

मै. फुलबाड़ी पटान टी इस्टेट

कलकत्ता

श्री सम्पतलाल जयचन्दलाल सांड

करीमगंज

श्री कन्हैयालाल प्रकाशचन्द पटवा

करीमगंज

श्री चम्पालाल शांतिलाल भूरा

करीमगंज

श्री तोलाराम प्रकाशचन्द भूरा

करीमगंज

श्री भंवरलाल नथमल तातेड़

करीमगंज

श्री कुम्भराज सुलभ कुमार पटवा

करीमगंज

श्रीमती मानबाई मंजुदेवी चोरड़िया
जयपुर
(सपरिवार)

श्री जयचन्द स्टोर
तेजपुर

श्री सरोज टेक्सटाईल्स
तेजपुर

श्रीमती सूरज देवी मूथा
धर्मपत्नी भंवरलालजी मूथा
उषा, कस्तूरी, नीला, नलिनी, वन्दना मूथा
जयपुर

श्रीमती सुशीला देवी वैद
W/o श्री मगनसिंह वैद
जयपुर

श्रीमती निर्मला देवी मेहता
धर्मपत्नी श्री ज्ञानचन्द मेहता
जयपुर

श्री मिश्री बाई मेहता
W/o श्री कनकराजजी मेहता
जयपुर

श्रीमती उज्जवल देवी चोरड़िया
W/o श्री सम्पत कुमार चोरड़िया
जयपुर

दीक्षा अर्द्ध शताब्दी वर्ष के उपलक्ष में :

श्रीमती कमला देवी बैद

W/o **श्री चन्द्रसिंह बैद**

जयपुर

भैरूंदान मांगीलाल होलसेल डीलर

हवेली कटरा पुरोहितजी, जौहरी बाजार

जयपुर

श्रीमती अनर कंवर बैद

W/o श्री प्रेमसिंह बैद

जयपुर

श्री नयन तारा चोरड़िया

W/o **श्री शांतिलाल चोरड़िया**

जयपुर

श्रीमती भंवरी देवी बैद

W/o स्व. श्री नेमसिंह बैद

जयपुर

श्रीमती मोहनी देवी नाहर

W/o **श्री सतीशचन्दजी नाहर**

जयपुर

श्री शायर देवी कोठारी

धर्मपत्नी श्री उदयचन्दजी कोठारी

जयपुर

श्रीमती सुशीला बाई पालावत

धर्मपत्नी श्री प्रतापचन्दजी पालावत

जयपुर

दीक्षा अर्द्ध शताब्दी वर्ष के उपलक्ष में :

श्री घेवरचन्दजी महेन्द्रकुमार कांकरिया
कलकत्ता

श्रीमती कुसुमदेवी कोठारी W/o श्री प्रकाशचन्दजी कोठारी
(संरक्षक सदस्या समिति)
जयपुर

अरूणोदय मिल्स लिमिटेड
मोरवी (गुजरात)

पारख दाल मील
(उच्च कोटि के दालों के निर्माता)
बसंतपुर राजनांदगांव (म. प्र.)

सुगनचन्द जीवनचन्द बैद
चांदी व कपड़े के व्यापारी
सदर बाजार, राजनांदगांव (म. प्र.)

मै. दुलीचन्द शिवचन्द पारख
(अनाज के व्यापारी व कमीशन एजेन्ट)
गंज लाईन, राजनांदगांव (म. प्र.)

श्री राजमलजी मिलापचन्दजी मुणोत
पाट व स्थानीय उत्पादन के प्रमुख आड़तीया
विलासीपाड़ा, धुवड़ी (आसाम)

श्री तोलारामजी धर्मचन्दजी लूणावत
(कपड़े के थोक व खुदरा व्यवसायी)
विलासीपाड़ा, धुवड़ी (आसाम)

प्रातः स्मरणीय बाल-ब्रह्मचारी, चारित्र चूड़ामणि, समता विभूति, धर्मपाल प्रतिबोधक, जिनशासन, प्रद्योतक समीक्षण ध्यान-योगी, आगम निधि विद्वद् शिरोमणि परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री नानालालजी म. सा. के दीक्षा अर्द्धशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में शुभ-कामनाएं प्रेषित करने वालों की ओर से

शत-शत वंदन-अभिनन्दन

आसाम

सिलचर

श्री भंवरलाल गुलगुलिया
" हडमानमल गुलगुलिया
" जेठमल खटोल
" सुन्दरलाल सिपानी
" जीवराज सेठिया
" तोलाराम बरडिया
श्रीमती नथमल सिपानी

श्री रतनलाल गुलगुलिया
" मानमल गुलगुलिया
" सम्पतलाल सिपानी
" गुलाबचन्द सिपानी
" रोशनलाल सेठिया
" कुंभराज पटवा

कोकड़ाझाड़

श्री मोहनलाल छाजेड़
" आसकरण बोथरा
" हडमानमल भूरा
" भागचन्द भूरा
" रामलाल भूरा

श्री फुसराज बरडिया
" माणकचन्द सिपानी
" भंवरलाल पटावरी
" तोलाराम बांठिया
" किस्तूरचन्द बोथरा

श्री हजारीमल ललवानी
" महावीरचन्द मणोत
" चम्पालाल बोथरा
" नवीन ट्रैडिंग
" डालचन्द संचेती

श्री चैनरूप पींचा (जैन)
" धनराज कातेला
" रामलाल बरड़िया
" तुलछीराम भूरा
" चन्द्र कातेला

करीमगंज

श्री किशनलाल भूरा
श्री दानमल सेठिया
" बंशीलाल भूरा
" सम्पतलाल भूरा
" सुगनचन्द सांड
" हीरालाल बक्सी
" बच्छराज धाड़ीवाल

श्रीमती प्रतिमादेवी भूरा
श्री आनन्दमल भूरा
" दीपचन्द भूरा
" कल्याणचन्द भूरा
" मूलचन्द सांड
" मूलचन्द पारख
" घेवरचन्द सुराणा

धुबड़ी

श्रीमती सीतादेवी सुराना
श्रीमती लक्ष्मीदेवी शामसुखा
श्रीमती पतासीदेवी लुनावत
श्री लाभचन्द सुराना
" शिखरचन्द सुराना
" ईश्वरचन्द शामसुखा
" भंवरलाल बोथरा
" चान्दमल सेठिया
" मूलचन्द सिपानी
" भंवरलाल पटावरी

श्रीमती मोहनीदेवी सुराना
श्रीमती चान्ददेवी बोथरा
श्री भंवरलाल सुराना
" गुलाबचन्द सुराना
" जोहरीमल सुराना
" चम्पालाल छल्लाणी
" गौतमचन्द सुराना
" सुन्दरलाल मरोठी
" स्वरूपचन्द मेहता
" पांचीलाल भूरा

गौहाटी

श्री जेठमल बोथरा
" प्रशान्त टेक्सटाईल्स
" मोहनलाल
" मूलचन्द सिपानी
" बुधमल भंसाली
" चम्पालाल भूरा
" शान्तिलाल सांखला

श्री शान्तिलाल
" अमरचन्द
" चन्द्र लूणावत
" प्रेमचन्द गांधी
" चम्पालाल कांकरिया
" हंसराज
" सुमतिचन्द सांखला

ग्वालपाड़ा

श्री जवरीमल

तिनसुखिया

श्री पन्नालाल सेठिया
" सुन्दरलाल सेठिया

श्री मांगीलाल सेठिया
" सुशीलकुमार सेठिया

बिलासीपाड़ा

श्री केशरीचन्द बोथरा प्रवीन स्टोर, श्री कमलचन्द भूरा

बंगाईगांव

श्री चम्पालाल देसवाल
" मोहनलाल देसवाल
" हनुमानमल देसवाल
" हनुमानमल बैद
" सम्पतलाल बैद
" सोहनलाल

श्री सोहनलाल देसवाल
" ताराचंद देसवाल
" घेवरचन्द गोलछा
" पारसमल बैद
" चम्पालाल बैद
" प्रकाशचन्द बेताला

श्री भंवरलाल मरोठी
" जतनलाल बोथरा
" सुगनचन्द डागा
" केशरीचन्द मरोठी
" निर्मलकुमार गोलछा
" राजेन्द्रकुमार गोलछा

श्री बसन्तीमल सुखलेचा
" दीपचन्द संचेती
" राधाकृष्ण शामसुखा
" सम्पतलाल कांकरिया
" पदमचन्द गोलछा
" रमैशचन्द गोलछा

हवली

श्री चेतनमल बोथरा

श्री शान्तिलाल बोथरा

गोलकगंज

श्री पृथ्वीराज सोनावत
" हनुमानमल बोथरा
" घेवरचन्द
" विजयराज चोरड़िया
" मदनचन्द हीरावत

श्री रामलाल बोथरा
" डूंगरमल डागा
" नेमचन्द चोरड़िया
" बाबूलाल कुम्भट

आंध्रप्रदेश

हैदराबाद

श्री पारसमल पीतलिया
" माणकचन्द डागा
" खेमचंद पीतलिया

श्री हीराचन्द पीतलिया
" थानमल पीतलिया
" वच्छराज पीतलिया

गुजरात

अहमदाबाद

श्री मोतीलाल मालू

कर्नाटक

बेंगलोर

श्रीमती मगनबाई गांधी

श्रीमती सुमनदेवी चोरड़िया

श्री हस्तीमल भंसाली

श्री प्रेमराज वोहरा

श्री कोनार्क आँटो ऐजेन्सी पवन टेक्स

हुवली

श्री धनराज गोलछा

नीलगिरी

श्री पारसमल मूथा एण्ड संस

मुडगिरी

श्री मोहनलाल बोहरा

देहली

श्री लुणकरण हीरावत
" शान्तिलाल कोठारी
" कमलचन्द डागा
" हनुमानमल
" शान्तिलाल बोथरा
" रामलाल गुलगुलिया
" सोहनलाल पींचा
" तुलसीराम सेठिया
" चन्दनमल कातेला
" फतेहचन्द चोरड़िया

श्री रिखबचन्द जैन
" गंभीरमल सेठिया
" नेमचन्द डागा
" भंवरलाल सिपानी
" भंवरलाल बैद
" नरेशकुमार खींवसरा
" भंवरलाल लूणिया
" तोलाराम हीरावत
" शान्तिलाल छल्लाणी
" निर्मलकुमार बैद

श्री घेवरचन्द सुराणा
" जतनलाल पींचा
" उदयचन्द सुखाणी
" अशोककुमार कोठारी
" मांगीलाल बोथरा
श्रीमती गुलाबदेवी भूरा
श्रीमती तारादेवी दस्साणी

श्री किरणकुमार बोथरा
" सूरजमल पींचा
" प्रकाशचन्द सुराणा
" अमरचन्द जैन (सेठिया)
" अमरचन्द सेठिया, शक्तिनगर
श्रीमती प्रभा चोरड़िया

मध्यप्रदेश

इन्दौर

श्री प्रेमराज चौपड़ा
" माणकचन्द आंचलिया
" जितेन्द्र दालमील
" रतनलाल जैन (स्टोनसन)
" बालकिशन चोरड़िया
" पुखराज चौपड़ा
" बसन्तीलाल कांकरेचा
" रतनलाल पावेचा
" मांगीलाल

श्री किशनलाल आंचलिया
" प्रकाशचन्द जैन
" रतन फाइनेन्स कम्पनी
" जैन ऊन स्टोर्स
" विरेन्द्र एण्ड कम्पनी
" समर्थमल डूंगरवाल
" गजेन्द्र सूर्या
" रतनलाल पीतलिया
श्रीमती राजकुंवरवाई कोठारी

दुर्ग

श्री इन्द्रचन्द सुराना
" घेवरचन्द श्रीमाल
" मिश्रीलाल कांकरिया
" चन्दनमल वोथरा
" जेठमल श्रीश्रीमाल

श्री भंवरलाल वोथरा
" भीखमचन्द पारख
" शिरेमल देशलहरा
" दिनेश कुमार देशलहरा

चांगोटोला

श्री गेंदमल जैन

नागदा

श्री मायाचन्द कांठेड
श्री चन्द्रशेखर जैन

बदनावर

श्री झमकलाल दसेडा

मुंगेली

श्री सौभाग्यमल कोटड़यि
श्री पुखराज कोटड़िया

गीदम

श्री कोजमल बुरड

राजनांदगांव

श्री अगरचन्द कोटड़िया
श्री इन्द्रचन्द सुराना
" कन्हैयालाल गोलछा

रायपुर

श्रीमती विजयादेवी सुराना

महाराष्ट्र

बम्बई

श्रीमती सरलादेवी भूरा
श्रीमती मधुदेवी बैद

नागपुर

श्री डागा सुपारी सेन्टर
" सुखानी स्पाईसेस
श्री चन्दनमल बोथरा
" सरदारमल पुगलिया

अलीबाग

मेसर्स प्यारेलाल एण्ड को.

मद्रास

श्रीमती लीलादेवी चोरड़िया
श्री सुगनचन्द धोका

खाचरोद

श्री भूपेन्द्र कुमार नांदेचा
श्रीमती सुशीलादेवी नांदेचा

शाहबाद

श्री रिखबचन्द पीतलिया

तमिलनाडू

चिंगलपेठ

श्री केशरीमल जैन

उड़ीसा

झाड़ सुगड़ा

श्री जयचन्द भूरा

राजस्थान

अलाय

श्रीमती भंवरीदेवी
" चम्पादेवी सुराना
श्री रेखचन्द सुराना

उदयपुर

श्री विजयसिंह खिमेसरा
" डूंगरसिंह वावेल
" गणेशलाल वया
श्री मनोहरसिंह खिमेसरा
" सुन्दरलाल वावेल
" अमृतलाल सांखला

श्री भंवरलाल कटारिया
" राजेन्द्र मशीनरी मार्ट
" सौभाग्यसिंह बापना
" जोधसिंह गहलोडिया
" शिवसिंह बापना
श्री मनोहरसिंह गुलूंडिया
" तेजसिंह मोदी
" सुरेन्द्रसिंह बापना
" डी. एस. हरकावत
श्रीमती कान्ता बापना

जयपुर

श्रीमती कमलाबाई बैद
" सिरह कंवर बाई बैद
" सुशीलाबाई बैद
" विद्याबाई मूथा
" लाडबाई ढड्ढा
" सुनीता ढड्ढा
" कमलादेवी पारख
" प्रेमलता गोलछा
" सूरजदेवी मोदी
" रामीदेवी सांड
" गुलाबबाई रांका
" सोहनबाई सेठिया
" शान्ताबाई सुखलेचा
" ज्ञानचन्द सुखलेचा
" अंजु चोरड़िया
" मीनादेवी रांका
" विजयादेवी मेहता
श्रीमती सुशीलाबाई बैद
" सम्पतबाई बैद
" गुलाबबाई मूथा
" जीवनीदेवी बावेला
" विजय लक्ष्मी ढड्ढा
" उमरावबाई पालावत
" पारुल
" सरदारबाई सिंघि
" रतनदेवी कर्नावट
" पानबाई बोथरा
" चन्द्रकला जैन
" पुष्पा सेठिया
" चेतनबाला सुखलेचा
" हेमलता चोरड़िया
" पारसदेवी चोरड़िया
" डॉ. शान्ता भानावत

जांगलू

श्री हजारीमल भूरा

जोधपुर

श्री गौतममल भण्डारी
" विजयराज सांखला
" उगमराज खिवेसरा
" अरुण चोरड़िया
" सतोंद्ध मिन्नी
" उम्मेदमल गांधी
कुमारी वर्षा गांधी

श्री मांगीचन्द भण्डारी
" विजयचन्द सांखला
" सम्पतराज खिवेसरा
" मंगलचन्द लोढ़ा
" लूणकरण कोटड़िया
श्रीमती उच्छवकंवर गांधी
कुमारी प्रीति गांधी

देशनोक

श्री प्रकाशचन्द दुगड़
" कल्याणचन्द भूरा
" डालचन्द भूरा
" जयन्तकुमार भूरा
" राजेन्द्रकुमार भूरा
" ईश्वरचन्द भूरा
" आनन्दमल भूरा
" चनणमल छल्लाणी
" बंशीलाल भूरा
" सुरेन्द्र कुमार दुगड़
" तोलाराम हीरावत
" धूड़चन्द भूरा

श्री आनन्दमल सांड
" हुलासमल भूरा
" निर्मलकुमार भूरा
" गोपालचन्द भूरा
" मनोजकुमार भूरा
" टीकमचन्द संचेती
" चम्पालाल देसवाल
" रामलाल सामसुखा
" भंवरलाल भूरा
" लूणकरण हीरावत
" हडमानमल बोथरा
" जोगराज आंचलिया

श्री रिधकरण कातेला
" दीपचन्द बोथरा
श्री गुप्तदाता
" पन्नालाल छाजेड़
श्री चम्पालाल भूरा
" जतनमल हीरावत
" दीपचन्द भूरा
" तोलाराम डोसी
" भंवरलाल भूरा
" प्रकाशचन्द्र भूरा
" महावीर प्रसाद भूरा
" मोतीलाल दुगड़
" राजेन्द्र कुमार दुगड़
श्री चतुरभुज वैद
" मदनचन्द हीरावत
" रतनलाल मरोटी
" घेवरचन्द बोथरा
" शुभकरण भूरा
" रामलाल भूरा
" तुलसीराम भूरा
" भीखमचन्द दुगड़
श्रीमती पानादेवी गुलगुलिया
" सम्पतदेवी गुलगुलिया
" मोहनीदेवी गुलगुलिया
" सूरजदेवी दुगड़
श्रीमती धूड़ीदेवी बरड़िया
" भीखीदेवी गुलगुलिया
" भंवरीदेवी हीरावत
" सूवादेवी डोसी
श्रीमती लीलादेवी दुगड़
" दोपादेवी नाहटा
श्रीमती अमानीदेवी सुराना
" सुगनीदेवी दुगड़

नोखा गांव

श्री भंवरलाल लूणावत
" जेठमल लूणावत
" चिमनीराम सुराणा
" मेघराज लूणावत
श्री रेवन्तमल लूणावत
" मेघराज लूणावत
" दीपचन्द सुराणा

नोखा मंडी

श्री मांगीलाल नाहर
श्री जेठमल बाफना

श्री भेरूंदान डागा सुरपुरावाला
" करनीदान जोरावरपुरा
" भूरालाल संचेती
डा. सुन्दरलाल सुराना
श्री गणेशमल मरोठी
" भेरूंदान डागा किशनासरवाला
" इन्द्रचन्द बैद
" फुसराज सुराणा
मै. सुभाष स्टोर
श्री हजारीमल बैद
" फूसराज बैद
मै. बुच्चा ब्रादर्स
श्री तोलाराम लुनावत
" तुलसीराम पींचा
" देवचन्द सुराणा

गंगाशहर

श्री ताराचन्द सोनावत
" प्रेमचन्द सोनावत
" कन्हैयालाल सोनावत
" करणीदान बोथरा
" भंवरलाल डागा
" अर्जुनदास सांड
" नथमल डागा
श्री खूबचन्द सोनावत
" मूलचन्द सोनावत
" धूड़मल डागा
मै. प्रिन्स आईसक्रिम
श्री चम्पालाल बोथरा
" किस्तूरचन्द सुराणा

भीनासर

श्री भंवरलाल दफ्तरी

बीकानेर

श्री केशरीचन्द भूरा
" अवनि पारख
" कुनाल पारख
" देवेन्द्रकुमार पारख
" धर्मेन्द्रकुमार पारख
" श्वेता पारख
श्री निखिल पारख
" अनीषा पारख
" शीना पारख
" पारुल पारख
" पूर्वी पारख
" समीर पारख

गंगानगर

श्री उत्तमकुमार भूरा

बाड़मेर

श्री नवलचंद सेठी

श्री बाड़मल चौपड़ा

श्री ईश्वरदास मांडोतर

श्री भीखमचन्द गोलछा

श्री दांती केवलचंद गोलछा

श्री बच्छराज श्रीश्रीमाल

श्री चंदनमल बांठिया

श्री भंवरलाल चौपड़ा

श्री शिवलाल वागरेचा

छोटीसादड़ी

श्री प्रेमचंद मोगरा (एडवोकेट)

बिरला ग्राम

श्री चंद्रकांत जैन प्राचार्य

फलौदी

श्री रतनलाल बैद

बिहार

पटना

श्री नथमल लूणिया (जैन)

पंजाब

चंडीगढ़

श्री रामलाल सेठिया

बंगाल

कलकत्ता

श्रीमती सूरज कुमारी कांकरिया

श्री सुभाषचन्द कांकरिया

श्रीमती कंचनकुमारी कांकरिया	श्री विनोदचन्द कांकरिया
" सुलेखा कांकरिया	" सन्दीप कांकरिया
श्री चन्द्रकांत कांकरिया	" आदित्य कांकरिया
कुमारी श्रद्धा कांकरिया	" सरदारमल कांकरिया
श्रीमती फूल कुमारी कांकरिया	" मनोहर कांकरिया
" प्रमिला कांकरिया	" ललित कांकरिया
" शशि कांकरिया	हर्ष कांकरिया
गौरव कांकरिया	सौरभ कांकरिया
दिव्या कांकरिया	तृप्ती कांकरिया
श्री भंवरलाल बैद	श्री भंवरलाल बैद
" रिखबचन्द जैन (बैद)	" प्रेमप्रकाश बैद
धर्मेश कुमार बैद	पुष्पेश कुमार बैद
श्रीमती विमलादेवी बैद	श्रीमती कमलादेवी बैद
" कोकिलादेवी बैद	" कलादेवी जैन (बैद)
कुमारी मधु बैद	कुमारी जीवन ज्योति बद
श्री भंवरलाल सेठिया	श्री मालचन्द सेठिया
" जतनलाल सेठिया	" अभयराज सेठिया
" पुखराज सेठिया	" अनूपचन्द सेठिया
" अबीरचन्द सेठिया	राकेश सेठिया
राजीव सेठिया	रीतेश सेठिया
शीशु सेठिया	सीमा सेठिया
रुबी सेठिया	हीना सेठिया
श्रीमती मैनादेवी	श्रीमतो रतनदेवी
" उषा	" शशिकला

श्री भीखमचन्द भंसाली
" कमलसिंह भंसाली
" राजकुमार भंसाली
" ललितकुमार भंसाली
श्रीमती कमलादेवी भंसाली
" प्रभादेवो भंसाली
" कुसुम भंसाली
श्री आलोक बोथरा
" संजय बोथरा
" ऋषि बोथरा
" सुदर्शन बोथरा
" सौरभ बोथरा
" अनुज बोथरा
" रिखबदास भंसाली
" राजेन्द्र कुमार भंसाली
श्रीमती भंवरीदेवी भसाली
" मीना भंसाली
कुमारी सुमित्रा भंसाली
" कीर्ति भंसाली
कुमार राहुल भसाली
श्री प्रदीप कुमार कोठारी
" दिलीप कोठारी
" राजेश कोठारी
" अभिजीत कोठारी

श्री मोहनलाल भंसाली
" विमलसिंह भंसाली
" हेमन्तकुमार भंसाली
श्रीमती चेतनदेवी भंसाली
" पुष्पादेवी भंसाली
" मंजु भंसाली
" संगीता भंसाली
श्री अजय बोथरा
" गौतम बोथरा
" आनन्द बोथरा
" सिद्धार्थ बोथरा
" तुषार बोथरा
" नथमल भंसाली
" राजेश कुमार भंसाली
" अशोक कुमार भंसाली
श्रीमती ज्योत्स्ना भंसाली
कुमारी ममता
" नमिता भंसाली
कुमार गौरव भंसाली
श्री भंवरलाल कोठारी
" हेमन्त कोठारी
" कमल कोठारी
" धर्मेन्द्र कोठारी
" आनन्द ज्योति कोठारी

श्रीमती इचरजदेवी कोठारी
" ललिता कोठारी
" सुतिना कोठारी
श्री तोलाराम बोथरा
" पूनमचन्द बोथरा
" रिधकरण बोथरा
" मेघराज बोथरा
" जयकुमार बोथरा
" पूरणमल कांकरिया
श्रीमती उमरावबाई कांकरिया
श्री शिखरचन्द मिन्नी
श्रीमती शान्तादेवी मिन्नी
कुमार मोहित मिन्नी
श्री जयचन्दलाल मिन्नी
" सुबोध मिन्नी
श्रीमती सरला मिन्नी
कुमारी मीना मिन्नी
कुमार अजय मिन्नी
" अभिषेक मिन्नी
श्रीमती अमरावबाई मिन्नी
श्री पन्नेचन्द मिन्नी
" राजेश कुमार मिन्नी
" वालचन्द भूरा
" दौलत कुमार भूरा

श्रीमती कुसुमदेवी कोठारी
" सरिता कोठारी
कुमारी मधु कोठारी
श्री जसकरण बोथरा
" किशनलाल बोथरा
" कन्हैयालाल बोथरा
" वीरेन्द्र कुमार बोथरा
" मनोज कुमार बोथरा
श्रीमती केशरदेवी कांकरिया
श्री निश्चल मेहता
" प्रकाश मिन्नी
श्रीमती मधु मिन्नी
कुमारी नयना मिन्नी
श्री विनोद मिन्नी
श्रीमती सिरियादेवी मिन्नी
" सुजाता मिन्नी
कुमारी संध्या मिन्नी
कुमार आशीष मिन्नी
श्री माणकचन्द मिन्नी
" मोतीचन्द मिन्नी
" नरेश कुमार मिन्नी
" अरविन्द मिन्नी
" अभय कुमार भूरा
श्रीमती उगमादेवी भूरा

श्रीमती कुमुदश्री भूरा
कुमार श्रेणिक भूरा
" रोहित भूरा
श्री विमल कुमार भूरा
श्रीमती कमलादेवी भूरा
" फूल भूरा
श्री नवरतन भूरा
श्रीमती मृगा कोठारी
कुमारी श्रुति कोठारी
श्री कमल कुमार बच्छावत
श्रीमती सरला बच्छावत
श्री रणजीतमल कांकरिया
" कल्याणचन्द कांकरिया
" शान्ति कुमार लूणिया
श्रीमती कमलादेवी लूणिया
श्री जतनलाल लूणिया
श्रीमती मोहिनीदेवी लूणिया
श्री शान्तिलाल गोलछा
श्रीमती ममोलदेवी गोलछा
" जयश्री गोलछा
एवं परिवार के अन्य ३ सदस्य
श्री पानमल हीरावत
" गौतमचन्द कांकरिया
" राजेश कांकरिया

श्रीमती कुसुम भूरा
कुमार भरत भूरा
श्री डालचन्द भूरा
" सुरेन्द्र कुमार भूरा
श्रीमती करुणा भूरा
श्री श्रीपाल भूरा
" प्रकाशचन्द कोठारी
श्रीमती छगनीदेवी कोठारी
श्री शिखरचन्द बच्छावत
श्रीमती जतनदेवी बच्छावत
" माणकदेवी कांकरिया
" सरला कांकरिया
श्री अमरचन्द लूणिया
श्रीमती मग्गादेवी लूणिया
श्री संजय कुमार लूणिया
" विजय कुमार लूणिया
श्रीमती सरलादेवी लूणिया
श्री हीरालाल गोलछा
श्रीमती चन्द्रकान्ता गोलछा
श्री केशरीचन्द ललवाणी
" श्री भंवरलाल बांठिया
" केवलचन्द कांकरिया
" प्रेमचन्द कांकरिया
" अशोक कांकरिया

श्रीमती कान्तादेवी कांकरिया
श्रीमती कुसुम कांकरिया
श्री सुन्दरलाल मालू
श्री विजयलाल मालू
" संजयलाल मालू
" माणकलाल मालू
" जयचन्दलाल मुकीम
श्रीमती कमलादेवी मुकीम
" राजेन्द्र मुकीम
श्री रवीन्द्र मुकीम
" गौतम मुकीम
" आदित्य मुकीम
" हनुमानमल लूणावत
" शिखरचन्द लूणावत
" गौरव कुमार लूणावत
" बुलाकीचन्द डागा
श्रीमती उमरावदेवी डागा
" अजय कुमार डागा
श्री विजय कुमार डागा
" शांतिलाल डागा
श्रीमती सुशीलादेवी डागा
" राजेश कुमार डागा
श्री सुरेश कुमार डागा
" दीपचन्द डागा
श्रीमती धुड़ीदेवी डागा
" जेठमल डागा
श्री माणकचन्द डागा
" चन्दप्रकाश डागा
" मांगीचन्द डागा
श्रीमती फत्तीदेवी रामपुरिया
श्रीमती कमलादेवी रामपुरिया
श्री कन्हैयालाल रामपुरिया
श्रीमती रितुदेवी भूरा
श्रीमती मैनादेवी नाहटा
श्रीमती विजयश्री भूरा

अलीपुरद्वार

श्री बच्छराज डागा
श्री मोहनलाल सुराणा
श्री उदयचन्द डागा
" मोहनलाल
प्रयोनियर इन्टरपराईसेस

कूचबिहार (पूर्व बंगाल)

श्री कन्हैयालाल भूरा